णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन

अनुसन्धात्री

साध्वी डॉ. धर्मशीला

एम.ए., पी-एच.डी., साहित्यरत्न

णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन

(भगवान् महावीर की २६०० वीं जन्म-जयन्ती के शुभावसर पर)

अनुसन्धात्री

साध्वी डॉ. धर्मशीला

एम.ए., पी-एच.डी., साहित्यरत्न

प्रकाशक

श्री उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, मुंबई

श्री एस. एस. जैन संघ, अयनावरम्, चेन्नई

ग्रन्थ	☆	णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन
अनुसन्धात्री	☆	साध्वी डॉ. धर्मशीला, एम.ए., पी-एच.डी., साहित्यरत्न.
सन्निर्देशन	☆	डॉ. छगनलाल शास्त्री एम. ए.(त्रय), पी-एच.डी. सरदारशहर (राजस्थान)
प्रसंग	☆	भगवान् महावीर की २६०० वीं जन्म-जयन्ती
संस्करण	☆	प्रथम, २०००-२००१.
प्रतियाँ	☆	१०००.
मूल्य	☆	३५० रूपये
प्रकाशक	☆	श्री उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, मुंबई. श्री एस. एस. जैन संघ, अयनावरम्.
प्राप्ति स्थान	☆	डॉ. डी. एम. गोसलिया श्री उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, महेश विला, १२/१०, वी. बी. लेन, घाटकोपर (पश्चिम), मुंबई-४०० ०७७
मुद्रक	☆	भद्रेशकुमार जैन, एम. ए., पी-एच.डी., साहित्यरत्न. जैन प्रकाशन केन्द्र, ५३ (न्यू नं. १०७) आदिअप्पानायकन स्ट्रीट, साहूकारपेठ, चेन्नई-७९. फोन ५२२९७३९.
ग्राफिक्स	☆	जैन कम्प्यूटर्स, चेन्नई-७९. फोन ५२२९७३९.

प्रकाशकीय

उज्ज्वल-धर्म-प्रभाविका परमविदुषी महासतीजी डॉ. धर्मशीलाजी म., एम.ए., पी-एच.डी. द्वारा डी. लिट् हेतु लिखित "णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन" नामक विशाल ग्रंथ को 'उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, मुंबई' तथा 'श्री एस.एस. जैन संघ, अयनावरम्, चेन्नई' की ओर से प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। महासती डॉ. श्री धर्मशीलाजी म. का यह ग्रंथ जैन विद्या के क्षेत्र में उनकी वास्तव में अनुपम देन है।

जैन दर्शन अत्यन्त गहन है। उसके सूक्ष्म तत्त्व विश्वजनीन हैं, सर्वकल्याणकारी हैं। जैन तत्त्वों पर आज व्यापक रूप में अध्ययन, मनन और अनुसंधान की अत्यन्त आवश्यकता है। महासतीजी ने इस ग्रंथ द्वारा जो इसकी पूर्ति की है, वह वास्तव में स्तुत्य है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में चेन्नई महानगर के तथा बाहर के उदारचेता धर्मानुरागी महानुभावों ने जो सहयोग किया, वे सादर धन्यवाद के पात्र हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण तात्त्विक ग्रंथ है। जैन दर्शन, णमोक्कार महामंत्र तथा सिद्ध-पद के जिज्ञासुओं, अध्येताओं एवं अनुसंधाताओं के लिए यह बहुत ही लाभप्रद सिद्ध होगा, ऐसा विश्वास है।

डॉ. धीरेन्द्र एम. गोसलिया
अध्यक्ष
उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, मुंबई

देवराज बोहरा
अध्यक्ष
श्री एस. एस. जैन संघ, अयनावरम्, चेन्नै

प्रस्तावना

साहित्य किसी भी राष्ट्र, समाज और धर्म का प्राण-प्रतिष्ठापक तत्त्व है। वही उनकी व्यापक, स्थावर चिरजीविता का अनन्य उपादान है। भारतवर्ष इसीलिए आज अपनी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना के साथ जीवित है, क्योंकि इसका साहित्य अनेक रूपों में प्राप्त है। साहित्य वह अजर-अमर तत्त्व है, जो कभी न तो पुराना होता है और न कभी नष्ट ही होता है।

साहित्यिक दृष्टि से जैन श्रमण-श्रमणियों का राष्ट्र को अपरिमित, अनुपम अवदान रहा है। उन्होंने अध्यात्म, दर्शन और लोक-कल्याणमूलक साहित्य का विविध विधाओं में सर्जन किया, जो भारत के साहित्य-भंडार की अमूल्य निधि है। बड़े हर्ष का विषय है कि साहित्य-सर्जन का वह महान् उपक्रम आज भी अनवरत गतिशील है। अनेक संत-संतियों ने साहित्य-सर्जन का बहुत बड़ा कार्य किया है और कर रहे हैं।

विद्या के क्षेत्र में आज अनुसंधान या शोध की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर गतिशील है। एक समय था, जब अध्येताओं में जैन धर्म और दर्शन के अध्ययन की बहुत कम रुचि थी, किंतु आज युग ने नया मोड़ लिया है। जैन दर्शन की महत्ता और सूक्ष्मता में अध्ययनशील जन आकृष्ट हो रहे हैं। इसलिए शोधात्मक दृष्टि से देश के अनेक विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों में जैन आगम, दर्शन एवं साहित्य से संबद्ध अनेक विषयों पर शोध-कार्य गतिशील हैं।

जैन संत-सतियों में शास्त्रों के अध्ययन का क्रम तो सदा से प्रचलित था ही, किंतु अध्ययन की युगीन प्रवृत्ति को देखते हुए, उनका ध्यान शास्त्रीय विषयों के अनुसंधानात्मक पक्ष की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। यह लिखते हुए बड़े हर्ष का अनुभव होता है कि शोध (रिसर्च) की वर्तमान पद्धति को लेते हुए परम विदुषी महासती डॉ. श्री धर्मशीलाजी म. ने अपने द्वारा नव तत्त्व पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से लिखे गए शोध-प्रबंध पर सन् १९७७ में पूना विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। उपाधि तो एक शोध संबंधी व्यवस्था और औपचारिकता है। आपका तो एक मात्र लक्ष्य तत्त्वानुशीलन द्वारा अपनी साधना को बलवत्तर बनाना है। वह उपक्रम आज भी गतिशील है। महासतीजी का, इसे मैं परम सौभाग्य मानता हूँ कि उनको परमश्रद्धेया, विश्वसंतस्वरूपा महासतीजी परम पूज्या श्री उज्ज्वलकुमारीजी महाराज जैसी अनुपम गुरुवर्या प्राप्त हुईं, जिनके जीवन के कण-कण में श्रामण्य की दिव्य-ज्योति उजागर थी।

महासतीजी डॉ. धर्मशीलाजी को अपनी श्रुत-चारित्रमयी आध्यात्मिक यात्रा में उन प्रातः स्मरणीया गुरुवर्या का जो मार्गदर्शन, सत्प्रेरणा और आशीर्वाद प्राप्त रहा, निःसंदेह वह उनके लिए वरदान सिद्ध हुआ। महासतीजी चारित्राराधना के साथ-साथ ज्ञानाराधना के पथ पर भी अग्रसर होती रहीं। श्रमणचर्या के सम्यक् परिपालन लोक-जागरण हेतु जनपद-विहार, धर्म-प्रभावना आदि

श्रमण- जीवनोचित अनेकानेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी आपने शास्त्रानुशीलन और तत्त्वानुसंधान का कार्य सदैव गतिशील रखा। जैसा ऊपर की पंक्तियों में संकेत किया गया है, साधु-जीवन में बाह्य उपाधियों के प्रति आकर्षण नहीं होता, किंतु अध्ययन और अनुसंधान में विधिपूर्वक अग्रसर होने में उपयोगिता समझते हुए आपका डी. लिट् हेतु शोध-ग्रंथ तैयार करने का भाव रहा।

पूज्य महासतीजी महाराष्ट्र से आन्ध्र, कर्नाटक और तमिलनाडु की यात्रा हेतु प्रस्थान कर जब सोलापुर में विराजित थीं तब मुझे महासतीजी म. के प्रति अनन्य श्रद्धाशीला चेन्नै निवासिनी मेरी छात्रा डॉ. पूर्णिमा मेहता एम.ए., पी-एच.डी. से महासतीजी म. के तथा उनकी अन्तेवासिनी शोधार्थिनी साध्वियों के शोध-कार्य में मार्गदर्शन एवं सहयोग करने हेतु समय देने का संदेश प्राप्त हुआ। राजस्थान में श्वेतांबर स्थानकवासी श्री नानक आम्नाय के युवामनीषी शासनगौरव श्री सुदर्शनलालजी महाराज तथा उनके आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वियों के अध्यापन आदि महत्त्वपूर्ण कार्यों में अत्यधिक व्यस्त होने के कारण तत्काल तो समय नहीं निकाल सका, किंतु महासतीजी म. के चेन्नै-प्रवास में अहिंसा शोध संस्थान, चेन्नै के निदेशक तथा जैन विद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान, चेन्नै के अध्यक्ष, प्रबुद्ध समाजसेवी, जैन धर्म, दर्शन और साहित्य के अनन्य अनुरागी, आदरणीय श्री सुरेन्द्रभाई एम. मेहता की प्रेरणा से महासतीजी पूज्य डॉ. धर्मशीलाजी के सान्निध्य में उपस्थित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। श्रीमान् मेहता साहब ने अध्ययन-अनुसंधान संबंधी समस्त दायित्व बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ स्वीकार किया। उनकी ओर से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त होती रही। यही कारण है कि महत्त्वपूर्ण शोध-कार्यों में सहयोग प्रदान करने हेतु समय-समय पर मेरा पाँच बार चेन्नै आगमन हुआ। शोध-कार्य उत्तरोत्तर गतिशील रहे।

यहाँ यह ज्ञाप्य है कि महासतीजी डॉ. धर्मशीलाजी म. णमोक्कार और पंच परमेष्ठी पदों पर वर्षों से गहन अध्ययन में संलग्न हैं। उन्होंने डी. लिट् के शोध-प्रबंध के लिए "णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन" को शोध-विषय के रूप में स्वीकार किया। विषय अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं गंभीर है। महासतीजी अनवरत तद्विषयक अध्ययन में निरत हुए, अत एव ऐसे महान् विषय पर उन्होंने बहुत ही थोड़े समय में अपना शोध-कार्य संपन्न कर लिया। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि उनके इस विशाल शोध-कार्य में मेरा निरंतर मार्गदर्शन एवं सहयोग रहा।

महासतीजी डॉ. धर्मशीलाजी ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सिद्धत्व विषयक दर्शन पर विभिन्न अपेक्षाओं से जैन आगमों तथा उत्तरवर्ती जैन साहित्य के अनेकानेक ग्रंथों से महत्त्वपूर्ण सामग्री समुपस्थापित की है। वेदांत, सांख्य, योग, मीमांसा एवं बौद्ध आदि दर्शनों के सिद्धांतों के साथ तुलना करते हुए इस संबंध में जो निष्कर्षमूलक नवनीत प्रस्तुत किया है, वह अत्यंत सारगर्भित है। सिद्धत्व, मोक्ष या निर्वाण साधक के जीवन का परम लक्ष्य है, जिसे साधने को वह सदा उत्कंठित, उद्यत और प्रयत्नशील रहता है। वह निश्चय ही धन्य और कृतकृत्य हो जाता है, जब वह उसे साध पाता है।

सिद्धत्व क्या है ? उसके अधिगत हो जाने पर जीव में क्या परिवर्तन आता है ? वह भोगनिरपेक्ष शाश्वत आनन्द क्या है, जिसके प्राप्त होने पर फिर कुछ भी प्राप्य नहीं रह जाता, सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इन्हीं सब विषयों का महासतीजी ने इस शोध-ग्रंथ में जो विद्वत्तापूर्वक प्रतिपादन किया है, उसमें नि:सन्देह इतनी विपुल और गहन सामग्री समाकलित है कि इसे सिद्धत्व का एक सन्दर्भ-ग्रन्थ कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।

अंग, उपांग, मूल आदि आगमों में भिन्न-भिन्न प्रसंगों में सिद्ध परमात्मा के लक्षण, गुण, स्थान, संख्या, सादित्व, अनादित्व, अवगाहना इत्यादि विषयों पर चर्चाएँ हुई हैं। भगवान् महावीर और उनके प्रमुख अंतेवासी गणधर गौतम के प्रश्नोत्तर, गौतम और पार्श्वापत्यिक कुमार केशीश्रमण के आलाप-संलाप इत्यादि अनेकानेक विषय व्याख्यात हुए हैं, जिन पर प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में सार रूप में प्रकाश डाला गया है। आगम-वाङ्मय में सिद्ध-पद के वैविध्यपूर्ण विश्लेषण का जो संक्षिप्त चित्रांकन इस ग्रंथ में हुआ है, वह सिद्धत्व के जिज्ञासुओं के लिए बहुत ही उद्‌बोधप्रद है।

आगमोत्तरकालीन प्राकृत एवं संस्कृत जैन ग्रंथों में णमोक्कार के अंतर्गत सिद्ध-पद का विद्वान् लेखकों ने जो सारगर्भित वर्णन किया है, उसका भी पूज्या महासतीजी ने सम्यक् अध्ययन कर संक्षेप में इस शोध-ग्रंथ में अनुसंधानात्मक शैली में विवेचन किया है। हिंदी, राजस्थानी, गुजराती आदि अनेक लोकभाषाओं में विद्वानों द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण साहित्य में आए हुए सिद्ध-पद-विषयक विश्लेषण को भी यथाप्रसंग उपस्थित किया है तथा उस संबंध में अपना चिंतन प्रस्तुत किया है।

सिद्ध-पद या परमात्म-पद ऐसा है, जो जैन-जैनेतर सभी के लिए सर्वोत्तम आदर्श है। मार्ग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किंतु सभी का प्रयास उसे प्राप्त करने की दिशा में दृष्टिगोचर होता है। संत-साहित्य और सूफी-साहित्य में इस संबंध में बड़ा विलक्षण वर्णन प्राप्त होता है। उन्होंने लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम या भक्ति की पवित्रता में परिणत कर क्रमश: प्रियतम के रूप में और प्रियतमा के रूप में परमात्मोपासना की विचित्र और सरस पद्धति उपस्थित की। जैन अध्यात्म योगी संतों के साहित्य में भी पति के रूप में परमात्मा या सिद्ध भगवान् की उपासना का भाव दृष्टिगोचर होता है। महासतीजी डॉ. धर्मशीलाजी म. ने इस विषय पर भी बड़ी विद्वत्ता के साथ अपनी लेखिनी चलाई है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जब अंतरात्मा में विशुद्ध भावोद्रेक होता है तो वासना तितिक्षा और विरति के रूप में परिणत हो जाती है।

यह तो आध्यात्मिक उत्थान का पक्ष हुआ, महासतीजी ने वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में भी प्रस्तुत विषय की सामयिकता और उपयोगिता पर जो भाव व्यक्त किए हैं, वे आज के निराश और दु:खित मानव के लिए आत्म-स्फूर्ति का संदेश लिए हुए हैं।

महासतीजी डॉ. धर्मशीलाजी जिस प्रकार स्वयं चारित्राराधना और श्रुताराधना में संलग्न रहती हैं, उसी प्रकार वे अपनी अंतेवासिनी शिष्याओं को भी उनमें सदैव यत्नशील रखती हैं। इसी का

यह परिणाम है कि उनकी छत्रच्छाया में रिसर्च-स्कॉलर साध्वी श्री पुण्यशीलाजी म., एम.ए. ने "भावना योग एक विश्लेषण" पर अपना पी-एच.डी. का शोध-ग्रंथ परिसमाप्त कर लिया है, जो गहन अध्ययन, चिंतन और अनुसंधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उनके इस शोध-कार्य में मेरा सतत मार्गदर्शन और सहयोग रहा।

रिसर्च-स्कॉलर साध्वी श्री चारित्रशीलाजी म., एम.ए. "णमो लोए सव्व साहूणं" पर पी-एच. डी. के लिए मेरे मार्गदर्शन और सहयोग से शोध-कार्य में संलग्न है। आशा है, चेन्नई-प्रवास में उनका भी यह शोध-कार्य संपन्न होगा।

यहाँ यह अवगत कराते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि साध्वी श्री चारित्रशीलाजी म. ने अपनी ज्येष्ठ गुरु-भगिनीवर्या डॉ. श्री धर्मशीलाजी म. के शोध-ग्रंथ हेतु अपेक्षित सामग्री-संकलन में तथा शोध-ग्रंथ की पांडुलिपि (प्रेस-कापी) तैयार करने में समर्पण-भाव से अत्यधिक श्रम किया। वे अपने अध्ययन और अनुसंधान को गौण कर महीनों इस कार्य में संलग्न रहीं, जो श्रामण्य के सामाष्टिक ऐक्य या अद्वैत-भाव का सूचक है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, मुंबई, श्री एस. एस. जैन संघ, अयनावरम् तथा चेन्नई महानगर के साहित्यानुरागी महानुभावों का जो सहयोग रहा, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

यद्यपि समय बहुत कम था, किंतु महासतीजी डॉ. धर्मशीलाजी म. के ६२ वें जन्म-दिन के शुभावसर पर इस ग्रंथ का विमोचन हो, यह कार्यकर्ताओं की भावना रही, तदनुसार ग्रंथ का मुद्रण प्रारंभ हुआ। मुद्रण-विषयक सज्जा और अक्षरगमनिका (**Proof-reading**) में श्रीयुत डॉ. भद्रेशकुमारजी जैन, एम.ए., पी-एच.डी. (जैन प्रकाशन केन्द्र, चेन्नई) तथा मेरे विद्यार्थी श्री महेंद्रकुमारजी रांकावत, बी.एस.सी., एम. ए., रिसर्च-स्कॉलर ने अहर्निश तत्परतापूर्वक जो श्रम किया, वह धन्यवादार्ह है। महासतीजी के श्रुतध्यवसाय तथा समस्त ज्ञात-अज्ञात सहयोगी-वृंद के अथक प्रयासों से ही यह ग्रंथ पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत है।

तत्त्व-ज्ञान में रुचिशील, जीवन के परमशांतिमय लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु समुद्यत एवं उत्तरोत्तर बढ़ते हुए भौतिकवाद से संत्रस्त मानव समाज के लिए यह ग्रंथ नि:संदेह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

भाद्रपद, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, दि. २३-८-२०००
अयनावरम्, चेन्नै
स्थायी पता :
कैवल्य धाम,
सरदारशहर (राजस्थान) - ३३१४०३.

प्रोफेसर डॉ. छगनलाल शास्त्री,
एम.ए. (त्रय), पी-एच.डी, काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि,
पूर्व प्राध्यापक-
प्राकृत-जैन शोध संस्थान, वैशाली तथा
जैन विद्या विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय.

आमुख

महाराष्ट्र की पुण्यभूमि में मेरा एक साधन-संपन्न सुखी परिवार में जन्म हुआ। पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण सांसारिक सुख-सुविधाएँ एवं साधन मुझे आकर्षित नहीं करते थे। मुझे उनमें आत्मतोष और आनंद की अनुभूति नहीं होती थी। शैशव से ही त्याग-तपोमय साध्वीवृंद का सान्निध्य मुझे बड़ा मनोज्ञ और आत्मोल्लासप्रद प्रतीत होता था। विस्तार में न जाते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि क्रमशः मेरे कदम धर्म एवं अध्यात्म की दिशा में बढ़ते गए। मैंने सर्वविरतिमय, जैन श्रमण दीक्षा स्वीकार की। जीवन ने एक नया मोड़ लिया। ज्ञान और साधना में ही मैंने अपने जीवन का सर्वस्व देखा।

मैं अपने को अत्यंत सौभाग्यशीलिनी मानती हूँ कि मुझे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के उत्तुंग हिमाद्रि, राष्ट्रसंत १००८ श्री आनंदऋषिजी म.सा. जैसे महापुरुषों का अनुग्रह प्राप्त हुआ। आध्यात्मिक दृष्टि से सागरवत् गांभीर्यशीला, परमश्रद्धास्पदा, विश्वसंत-विरुद-विभूषिता महासती जी श्री उज्ज्वलकुमारीजी म. का चिर सान्निध्य मिला। उनकी प्रेरणा से विद्याराधना और संयमोपासना के प्रशस्त-पथ पर मैं उत्तरोत्तर गतिशील रही। उनकी सदैव यह शिक्षा रहती कि श्रमण-जीवन में आचार-संहिता के सम्यक् परिपालनपूर्वक ज्ञान के क्षेत्र में अग्रसर होते रहना अत्यंत उपादेय है। उससे आंतरिक शक्ति की वृद्धि होती है। विवेक और प्रज्ञा का अभ्युदय होता है।

महामहिमामयी गुरुणीवर्या की शिक्षा को मैंने अपना जीवन-सूत्र बना लिया तथा उस दिशा में अपने आपको सदैव क्रियाशील रखा। साधु जीवनोचित समस्त आवश्यक क्रियाओं के साथ-साथ मैं अपने अध्ययन में सतत, सोत्साह उद्यत रही। एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैंने नव तत्त्व पर पी-एच.डी. हेतु शोध-कार्य किया, जिसमें गुरुजन के आशीर्वाद से मुझे सफलता प्राप्त हुई।

ज्ञान तो एक महासागर की तरह असीम एवं अगाध है। जो जितना भी इस महासागर में अवगाहन करे, बोधमय अमूल्य रत्नों को प्राप्त करता जाता है। स्वाध्याय एवं श्रुतोपासना एक आभ्यंतरिक तप है, यह मानती हुई मैं अनुसंधानात्मक दृष्टि से जैन एवं जैनेतर शास्त्रों के अध्ययन में यथेष्ट समय देती रही। अपने श्रमण चर्या के नियमों के परिपालन के साथ-साथ अध्ययन का भी मेरा दैनंदिन व्यवस्थित क्रम रहा। चाहे चातुर्मासिक काल हो, चाहे अवशेष काल में विहार यात्राएं हों, वह क्रम यथासंभव गतिशील रहता।

पी-एच.डी. उत्तीर्ण किए मुझे लगभग बाईस वर्ष हो चुके हैं, किंतु मेरा शोध या अनुसंधान की दृष्टि से अध्ययन का वही क्रम अब तक चला आ रहा है, जिससे मुझे आत्मपरितोष की अनुभूति होती है।

जैन आगम, दर्शन एवं साहित्य से संबद्ध अनेक विषयों पर मेरा अध्ययन चलता रहा, किंतु णमोक्कार मंत्र पर मेरा ध्यान अधिक केंद्रित रहा, क्योंकि इस महामंत्र में जैन दर्शन का सार समाया हुआ है। णमोक्कार संबंधी प्राकृत, संस्कृत, हिंदी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में रचित अनेक ग्रंथों का समीक्षात्मक दृष्टि से मैंने अध्ययन किया। अध्ययन के व्यवस्थित उपक्रम में उपयोगी जानते हुए, मेरा चिंतन डी.लिट्. हेतु शोध-प्रबंध तैयार करना था। बहुत चाहते हुए भी तब तक ऐसे किसी विशिष्ट सुयोग्य विद्वान् का सान्निध्य प्राप्त नहीं हो सका, जिनके पथदर्शन और सहयोग से अपने अनुसंधानात्मक अध्ययन को सुव्यवस्थित और सुनियोजित रूप में प्रस्तुत कर पाती। मेरे चेन्नई-प्रवास में प्रमुख समाजसेवी, अनन्य साहित्यानुरागी, उदारचेता श्री सुरेंद्रभाई एम. मेहता के सत्प्रयास से, प्राकृत जैन शोध संस्थान, वैशाली तथा मद्रास विश्वविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक, विद्वद्वर्य डॉ. छगनलालजी शास्त्री के मार्गदर्शन एवं सहयोग का सुअवसर प्राप्त हुआ।

शोध-विषय के संबंध में पुनः गहराई से चिंतन किया गया तो ऐसा अनुभव हुआ कि णमोक्कार महामंत्र के 'सिद्ध-पद' पर अब तक शोध-कार्य विशेष रूप से नहीं हो पाया है, इसलिए इस विषय को परिगृहीत करना अधिक उपयोगी होगा। सिद्धत्व-लाभ ही प्रत्येक साधक के जीवन का अंतिम लक्ष्य है। धर्म, योग, अध्यात्म, उपासना, साधना सभी उस पद को प्राप्त करने हेतु साधे जाते हैं। प्रस्तुत विषय का विश्लेषण, विशदीकरण एवं समीक्षण मेरे अपने लिए , जिज्ञासु तथा मुमुक्षु साधकों के लिए उपयोगी होगा। साथ ही साथ इस महान् लक्ष्य के बोध से आज के मानव-समाज को, जो भौतिक अभीप्साओं और एषणाओं में विभ्रांत है, एक आध्यात्मिक आलोक प्राप्त होगा, जिससे संभव है, सत्त्वोन्मुखी सही दिशा की ओर उनके मन में भावोद्रेक हो। इन्हीं सब भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए "णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन" विषय डी.लिट् के शोध-ग्रंथ हेतु स्वीकार किया।

सिद्ध-पद को केंद्र में रखकर अपनी सम्पूर्ण सामग्री का पुनः अवलोकन, परीक्षण एवं परिशीलन किया तथा उसे अपने इस विषय के अनुरूप सांचे में ढाला। उत्तरोत्तर अग्रसर होते इस कार्य में विद्वद्वर्य डॉ. शास्त्रीजी का सतत वैदुष्यपूर्ण निर्देशन एवं सहयोग रहा, जिससे थोड़े ही समय में इस विशाल कार्य को परिसंपन्न किया जा सका। मुझे बड़े आत्म-परितोष का अनुभव होता है कि प्रातः स्मरणीया, गुरुवर्या की प्रेरणा से जो कार्य मैंने प्रारंभ किया था, वह संपन्न हो सका, किंतु मेरी श्रुतोन्मुखी महतीयात्रा का यह पर्य्यवसान नहीं है, यह तो एक विश्राम है। मेरी यह विद्यामयी यात्रा यावज्जीवन चलती रहे, ऐसी ही मेरी हार्दिक अभिलाषा है। "यावत् जीवेत्, तावत् अधीयेत"- वैदिक ऋषि का यह वाक्य मुझे बड़ा सुखद प्रतीत होता है। जब तक जीवन रहे, तब तक ज्ञानोपासना का पावन-क्रम भी रहे। मैं तो इसे साधना का एक अनन्य अंग मानती हूँ। चित्तवृत्तियों के नियंत्रण या निरोध में ज्ञानोपक्रम या स्वाध्याय की बहुत बड़ी उपयोगिता है।

अस्तु, मैंने अपने द्वारा स्वीकृत विषय पर जैन आगम, दर्शन, अन्यान्य शास्त्रों तथा आधुनिक भाषाओं में लिखित दार्शनिक ग्रंथों का गहन अध्ययन करते हुए तात्त्विक दृष्टि से निष्कर्ष के रूप में जो प्राप्त किया, वह इस शोध-ग्रंथ में अभिव्यक्त है।

यह ग्रंथ सात अध्यायों में विभक्त है। जैन संस्कृति, धर्म, दर्शन, श्रुत, णमोक्कार महामंत्र इत्यादि विषयों का मैंने पारिपार्श्विक रूप में संक्षेप में वर्णन करते हुए सिद्ध-पद के बहुमुखी आयामों का अनुसंधानात्मक भूमिका के साथ विशद विवेचन किया है।

चतुर्दश गुणस्थानों के आध्यात्मिक सोपान-क्रम तथा जैन योग के आधार पर सिद्धत्व-प्राप्ति के मार्गों का भी इस ग्रंथ में विश्लेषण किया गया है। एक ही लक्ष्य तक ले जाने वाले ये विविध पथ हैं, जो पृथक्-पृथक् रुचिशील साधकों के लिए उपयोगी हो सकते हैं।

गुणस्थानों का क्रम आत्मस्वरूप के उद्घाटन का एक दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक मार्ग है, जहाँ विभाव से आगे बढ़ता हुआ भव्य मुमुक्षु जीव अपने लक्ष्य के समीप पहुँच जाता है। आत्म-पराक्रम की प्रबलता बढ़ती है तथा वह अपने ध्येय को प्राप्त कर लेता है।

जैन योग की पद्धति चित्तवृत्ति के नियंत्रण या निरोध के सहारे अग्रसर होती है। चित्त का निरोध करने में साधक को बहुत बल लगाना होता है, क्योंकि चित्त बड़ा चंचल और अस्थिर है, किंतु जीव तो अनंत शक्ति का स्वामी है। जब उसकी शक्ति प्रस्फुटित हो जाती है, तब उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होता। वह विशाल सागर को भी तैर जाता है।

योग, आत्मा को परमात्मा से जोड़ता है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने कितना अच्छा कहा है- चित्त-निरोध रूप योग द्वारा मानसिक, वाचिक एवं कायिक योगों, प्रवृत्तियों का निरोध कर, नाश कर, मानसिक, वाचिक, कायिक योगविहीन क्रियाशून्य अवस्था प्राप्त करना योग है, जो जीवन का परम साध्य है। जैन योग की दृष्टि से सिद्धत्व-प्राप्ति की दिशा में यहाँ विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

विभिन्न धर्मों में परमात्म-पद के संदर्भ में विस्तार से चर्चा आई है। उपनिषदों में परब्रह्म, परमात्मा आदि के रूप में तद्विषयक बहुविध विवेचन हैं।

बौद्ध-परंपरा के अंतर्गत हीनयान और महायान के आचार्यों ने परिनिर्वाण का अनेक प्रकार से विवेचन किया है।

निर्गुणमार्गी संतों तथा सूफियों ने भी अपनी विशेष शैली में इस तत्त्व को व्याख्यात किया है। उन सबका निष्कर्ष उपस्थित करते हुए , उस पर समीक्षात्मक दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में विचार प्रगट किए गए हैं।

इस ग्रंथ के उपसंहार में सार-संक्षेप, निष्कर्ष एवं उपलब्धि की चर्चा की गई है। भौतिक सुखों की मृगमरीचिका में विभ्रांत आज के युग में, जन-जन में आध्यात्मिकता, सदाचार, नीति, समता और मैत्री आदि उदात्त भावों को उजागर करने में सिद्धत्व के आदर्शों का परिशीलन उपयोगी सिद्ध हो सकता है, इस पर भी सविमर्श विचार किया गया है।

इस अनुसंधान कार्य में मेरी कनिष्ठा गुरुभगिनी, विनयान्विता साध्वी श्री चारित्रशीलाजी की जो निरंतर सेवाएँ रहीं वे सर्वथा स्तुत्य हैं। वे भी यद्यपि अपने पी-एच.डी. के शोधकार्य में संलग्न हैं, किंतु अपने कार्य को गौण कर स्वच्छ प्रति (प्रेस कॉपी) तैयार करने आदि में सतत सहयोगिनी रही। यह उनकी सहृदयता, हमारी पारस्परिक तन्मयता एवं एकरूपता का परिचायक है। साध्वी श्री विवेकशीलाजी, साध्वी श्री पुण्यशीलाजी और साध्वी श्री भक्तिशीलाजी का भी इस कार्य को पूर्ण करने में सहयोग रहा।

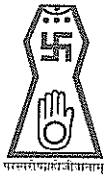
इस शोध ग्रंथ के प्रकाशन का चेन्नई में कार्यक्रम बना। इसे आगे बढाने में श्री सुरेंद्रभाई. एम. मेहता. श्री एस.एस. जैन संघ, अयनावरम् तथा चेन्नई महानगर के तत्त्वानुरागी उपासक-वृंद का जो सौहार्दपूर्ण प्रयत्न रहा, वह उनकी आध्यात्मिक अभिरुचि का सूचक है। इस ग्रंथ से जिज्ञासु, मुमुक्षु, अध्ययनार्थी लाभान्वित हों, यही मेरी अंतर्भावना है।

दिनांक २३-८-२०००,

(कृष्ण-जन्माष्टमी)

- साध्वी डॉ. धर्मशीला

अयनावरम्, चेन्नई-२३.



णमोक्कार महामंत्र

णमो अरिहंताणं,

णमो सिद्धाणं,

णमो आयरियाणं,

णमो उवज्झायाणं,

णमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच णमोक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

सिद्ध-णमोक्कारो

सिद्धाण णमोक्कारो, करेमु भावेण कम्म–सुद्धाण।
भव–सय–सहस्स–बद्धं, धंतं कम्मिंधणं जेहिं ।।

सिज्झंति जे वि संपइ, सिद्धा सिज्झिंसु कम्म–खइयाए।
ताणं सव्वाण णमो, तिविहेणं करण–जोएण।।

जे केइ तित्थ–सिद्धा, अतित्थ–सिद्धा व एक–सिद्धा वा।
अहवा अणेग–सिद्धा, ते सव्वे भावओ वंदे।।

जे वि सलिंगे सिद्धा, गिहि–लिंगे कह वि जे कुलिंगे वा।
तित्थयर–सिद्ध–सिद्धा, सामण्णा जे वि ते वंदे।।

इत्थी–लिंगे सिद्धा, पुरिसेण णपुंसएण जे सिद्धा।
पच्चेय–बुद्ध–सिद्धा, बुद्ध–सयंबुद्ध–सिद्धा य।।

जे वि णिसण्णा सिद्धा, अहव णिवण्णा ठिया व उस्सग्गे।
उत्ताणय–पासेल्ला, सव्वे वंदामि तिविहेण।।

णिसि–दियस–पदोसे वा, सिद्धा मज्झण्ह–गोस–काले वा।
कालऽविवक्खा सिद्धा सव्वे वंदामि भावेण।।

— आचार्य उद्योतन सूरी

समर्पण

जिनके जीवन का क्षण-क्षण वैराग्य की निर्मल,उज्ज्वल भाव-तरंगों से
संप्रक्षालित रहा,
जिनकी वाणी संयम, शील, त्याग एवं तप के अमृत-कणों से
आकलित तथा संसिक्त रहीं,
जिनके हृदय में विश्व-वत्सलता, समता, करुणा की त्रिवेणी सदा
समुच्छलित, संप्रवाहित रही,
जो परम कल्याणकारी आध्यात्मिक आदर्शों को जन-जन-व्यापी बनाने हेतु
सतत सत्पराक्रमशीला रहीं,
जिनके प्रश्रय, संरक्षण तथा शिक्षण से मुझे अपनी जीवन-यात्रा में
उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहने में
असीम शक्ति और संबल प्राप्त होता रहा,
जिन्होंने अपने समग्र जीवन में न केवल हम अंतेवासिनियों को ही
वरन् समस्त मानवता को धर्म-पाथेय के रूप में सदा दिया ही दिया,
उन प्रातः स्मरणीया, शुद्धोपयोगानुभाविता गुरुवर्या विश्वसंतविरुदविभूषिता
महासतीजी श्री उज्ज्वलकुमारीजी म. की सेवा में
चारित्र-विवेक-पुण्य-भक्ति-समन्वित, आदर-श्रद्धा-विनयपूर्वक—
भावत्कं वस्तु गुरुवर्ये ! सर्वश्रेयोविधायिके !
अर्प्यते भक्ति-भावेन, भवत्यै शिष्यया मुदा ।।

चरणारविन्दरेणुरूपा,
साध्वी धर्मशीला.

श्रुत-चारित्र-सौम्यत्व-त्रिवेणी करुणान्विता।
स्मर्य्यते श्रद्धया भक्त्या, गुरुवर्या सदोज्ज्वला।।

यदत्र सौष्ठवं किंचिद्, गुरुवर्या-कृपागतम्।
यदत्रासौष्ठवं किंचित्, तन्ममैव न तद्गतम्।।

णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय
सिद्धत्व-पर्यवसित जैन धर्म, दर्शन और साहित्य

मंगलमय णमोक्कार महामंत्र	१
जगत् का अनादि स्रोत	१
सत्य की खोज	२
भारतीय संस्कृति	३
वैदिक संस्कृति	४
श्रमण-संस्कृति	५
बौद्ध-संस्कृति	५
जैन-संस्कृति	६
संयम और आचार की महत्ता	७
जैनों का धर्म-प्रसार में औदासीन्य	८
जैन धर्म का अनादि स्रोत	८
पंच-महाव्रत : चातुर्याम धर्म	१०
भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन	१०
भगवान् महावीर द्वारा तपश्चरण और साधना	११
आगम का अर्थ	१२
आगमों की भाषा	१२
अर्द्धमागधी में भगवान् द्वारा धर्म-देशना	१३
आगमों की श्रवण-परम्परा	१५
आगमों का संकलन : प्रथम वाचना	१६
द्वितीय वाचना	१६
तृतीय वाचना	१७
आगमों का विस्तार	१७
चार अनुयोग	१८
चरणकरणानुयोग	१८
धर्मकथानुयोग	१९
गणितानुयोग	१९
द्रव्यानुयोग	१९
आगम-परिचय	१९
अंग-आगम	२०
आचारांग-सूत्र	२०
सूत्रकृतांग-सूत्र	२०
स्थानांग-सूत्र	२१
समवायांग-सूत्र	२१
व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र	२१
ज्ञातृधर्मकथा-सूत्र	२२
उपासकदशांग-सूत्र	२२
अन्तकृद्दशा-सूत्र	२२
अनुत्तरौपपातिक-सूत्र	२३
प्रश्नव्याकरण-सूत्र	२३
विपाक-सूत्र	२३
दृष्टिवाद	२३

उपांग-परिचय २४
औपपातिक-सूत्र २४
राजप्रश्नीय-सूत्र २५
जीवाजीवाभिगम-सूत्र २५
प्रज्ञापना-सूत्र २५
जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति-सूत्र २५
चंद्रप्रज्ञप्ति-सूत्र २६
सूर्यप्रज्ञप्ति-सूत्र २६
निरयावलिका-सूत्र २६
कल्पावतंसिका २६
पुष्पिका २६
पुष्पचूलिका २६
वृष्णिदशा २७
चार मूल-सूत्र २७
दशवैकालिक-सूत्र २७
उत्तराध्ययन-सूत्र २८
नंदी-सूत्र २८
अनुयोगद्वार-सूत्र २९
छेद-सूत्र २९
व्यवहार-सूत्र २९
बृहत्कल्प-सूत्र ३०
निशीथ-सूत्र ३०
दशाश्रुतस्कंध-सूत्र ३१
आवश्यक-सूत्र ३१
सामायिक ३२
चतुर्विंशतिस्तव ३२
वंदना ३२
प्रतिक्रमण ३२
कायोत्सर्ग ३३
प्रत्याख्यान ३३
आगमों पर व्याख्या-साहित्य ३३
निर्युक्ति ३४
भाष्य ३४
चूर्णि ३५
संस्कृत में टीकाएँ : वृत्तियाँ ३५
टब्बा ३६
लोकभाषाओं में विविध विधाओं में रचनाएँ ३६
दिगंबर-परंपरा का साहित्य ३७
षट्खंडागम की रचना ३८
षट्खंडागम : संक्षिप्त परिचय ३८
सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ३९
आचार्य कुंदकुंद ३९
आगमोत्तरकालीन जैन साहित्य ३९
आचार्य उमास्वाति ३९
आचार्य समंतभद्र ४०
आचार्य सिद्धसेन ४०
आचार्य हरिभद्र ४०
आचार्य हेमचंद्र ४१
सार-संक्षेप ४१

३२
३२
३२
३२
३३
३३
३३
३४
३४
३५
३५
३६
३६
३७
३८
३८
३९
३९
३९
३९
४०
४०
४०
४१
४१

द्वितीय अध्याय
सिद्धपद और णमोक्कार आराधना

मंत्र-आम्नाय	४४
मंत्र की परिभाषा	४४
मंत्र और अंतश्चेतना	४६
णमोक्कार मंत्र में निर्विकल्प आस्था	४८
णमोक्कार मंत्र की शक्ति	४८
मंत्र : ध्वनि तरंग एवं प्रकाश	४९
ध्वनि की चामत्कारिकता	४९
मंत्र-जप : उपयोग	५१
मंत्राराधना के दो मार्ग : आध्यात्मिक और लौकिक	५२
मंत्र-रूप शब्दब्रह्म द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार	५२
णमोक्कार मंत्र की उत्पत्ति	५४
णमोक्कार मंत्र : जप-विधि	५५
द्रव्य-शुद्धि	५५
क्षेत्र-शुद्धि	५६
समय-शुद्धि	५६
आसन-शुद्धि	५६
विनय-शुद्धि	५७
मन-शुद्धि	५७
वचन-शुद्धि	५७
काय-शुद्धि	५८
जप के क्रम, भेद	५८
कमल-जाप्य	५८
हस्तांगुली-जाप्य	५९
माला-जाप्य	५९
णमोक्कार महामंत्र से ज्ञायक भाव का उदय	६२
णमोक्कार मंत्र : शांति का उद्भव	६३
णमोक्कार महामंत्र के आराधक जैन आराधना में	६५
णमोक्कार मंत्र का महत्त्व	६६
णमोक्कार मंत्र की उत्कृष्टता	६८
णमोक्कार मंत्र : लेश्या विशुद्धि का उपक्रम	७४
णमोक्कार से कृतज्ञता का विकास	७६
नवकार से नम्रता की प्रेरणा	७८
णमोक्कार की अमोघ शक्ति : विलक्षणता	८०
णमोक्कार मंत्र और लय-विज्ञान	८२

णमोक्कार मंत्र द्वारा नवतत्त्व का बोध	८५
नयवाद के परिप्रेक्ष्य में	
णमोक्कार का विश्लेषण	८६
नैगम नय	८७
संग्रह नय	८८
व्यवहार नय	८९
ऋजुसूत्र नय	८९
शब्द नय	८९
समभिरूढ़ नय	९०
एवंभूत नय	९०
शुद्ध नयानुसार आत्मा का स्वरूप	९२
अष्टांगयोग : नवकार महामंत्र परिशीलन	९४
यम	९४
नियम	९५
आसन	९६
प्राणायाम	९६
प्रत्याहार	९७
धारणा, ध्यान और समाधि	९७
णमोक्कार मंत्र में समग्र रसों का समावेश	९९
णमोक्कार मंत्र और	
रंग-विज्ञान का सामंजस्य	१०३
ललित कलाओं में	
नवकार का आध्यात्मिक लालित्य	१०८
णमोक्कार मंत्र का ध्यान और प्रभाव	११२
णमोक्कार मंत्र में मैत्री आदि	
भावना चतुष्टय का समन्वय	११४
णमोक्कार : सकाम निर्जरा का पथ	१२०
ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से	
णमोक्कार मंत्र का मूल्यांकन	१२०
गणितशास्त्र के अनुसार	
णमोक्कार की महत्ता, परिपूर्णता	१२२
राजनैतिक दृष्टि से	
णमोक्कार मंत्र की सर्वोत्कृष्टता	१२६
अर्थशास्त्र के सिद्धान्तानुसार	
णमोक्कार की सर्वाधिक महत्ता	१२९
न्याय-तंत्र के संदर्भ में णमोक्कार मंत्र	१३२
वैधानिक दृष्टि से	
णमोक्कार मंत्र की अपरिवर्तनीयता	१३४
णमोक्कार मंगल-सूत्रों का	
आत्मा के साथ संबंध	१३६
णमोक्कार मंत्र : सुख का अनन्य हेतु	१३६
विकार-विजय में मंगलसूत्रों का सार्थक्य	१४१
णमोक्कार : परमात्म-साक्षात्कार का	
निर्बाध माध्यम	१४१
णमोक्कार की सर्व-सिद्धान्त-सम्मतता	१४५
सार-संक्षेप	१४७

तृतीय अध्याय
आगमों में सिद्धपद का विस्तार

आगम : आप्त-परंपरा	१५०
जीवन का परम साध्य : मोक्ष	१५०
आचारांग-सूत्र में सिद्ध का स्वरूप	१५२
सूत्रकृंताग-सूत्र में	
मोक्ष की महत्ता— सिद्धत्व की गरिमा	१५३
मोक्षाभिमुख साधक की भूमिका	१५४
मोक्ष प्राप्ति की सुलभता : दुर्लभता	१५७
मोक्ष-प्राप्त महापुरुष : उनका स्थान	१५८
स्थानांग-सूत्र में मोक्ष का अस्तित्त्व	१५९
सिद्ध-पद : वर्गणा	१५९
मुक्त-अमुक्त विश्लेषण	१६०
भव्य-सिद्धिक : अभव्य-सिद्धिक	१६१
सिद्धि की एकरूपता	१६२
द्विपदावतार-आख्यान	१६३
सिद्धगति की ओर क्रमशः प्रयाण	१६३
सिद्धायतन-कूट : स्पष्टीकरण	१६४
समवायांग-सूत्र में मोक्ष का विवेचन	१६६
भवसिद्धिक जीवों द्वारा सिद्धत्व-प्राप्ति	१६७
सिद्धत्व-पर्याय का प्रथम समय : गुण	१७०
भगवान् महावीर द्वारा सिद्धत्व-प्राप्ति	१७१
सिद्धत्व-परंपरा	१७१
प्रदेशावगाहना	१७३
सिद्ध गति : विरहकाल	१७४
व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में	
णमोक्कार मंत्र : मंगलाचरण	१७४
णमो सिद्धाणं	१७५
सिद्ध-पद का निर्वचन	१७६
सिद्धत्व-प्राप्ति : शंका : समाधान	१७६
असंसार समापन्नक : सिद्ध	१७८
सिद्धजीव :	
वृद्धि-हानि-अवस्थिति-कालमान	१८०
सिद्धों का वृद्धि-क्रम	१८४
सिद्धों के सोपचयादि का निरूपण	१८५
सिद्ध जीवों की गति	१८५
सोच्चा-केवली और सिद्धत्व	१८७
सिद्धों का संहनन	१८९
भवसिद्धिक जीवों का सिद्धत्व	१९०
केवली तथा सिद्ध का ज्ञान	१९२
मोक्षसूचक स्वप्न	१९४
सिद्धों के प्रथमत्व-अप्रथमत्व की चर्चा	१९४
माकंदी पुत्र के सिद्धत्व विषयक प्रश्न	१९६
उपासकदशांग सूत्र में	
सिद्धत्व-प्राप्ति का संसूचन	१९७
अंतकृद्दशांग-सूत्र में	
सिद्धत्व-प्राप्ति के विलक्षण उदाहरण	१९७
गजसुकुमाल	१९७
अर्जुनमाली	१९८
प्रश्नव्याकरण-सूत्र में	

संवर-आराधना से मुक्ति	२००
औपपातिक-सूत्र में	
योग निरोध : सिद्धावस्था	२०१
सिद्धों का स्वरूप	२०२
सिद्धों के संहनन : संस्थान	२०२
सिद्धों का आवास	२०३
सिद्धों में साकार-अनाकार उपयोग	२०४
सिद्धों का सुख	२०५
राजप्रश्नीय-सूत्र में अर्हत्-सिद्ध-संस्तवन	२०६
जीवों के अभिगम का निरूपण	२०७
तीर्थ-सिद्ध	२०७
अतीर्थ-सिद्ध	२०८
तीर्थंकर-सिद्ध	२०८
अतीर्थंकर-सिद्ध	२०८
स्वयं-बुद्ध-सिद्ध	२०९
प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध	२०९
बुद्ध-बोधित-सिद्ध	२०९
स्त्री-लिंग-सिद्ध	२०९
पुरुष-लिंग-सिद्ध	२०९
नपुंसक-लिंग-सिद्ध	२०९
स्व-लिंग-सिद्ध	२०९
अन्य-लिंग-सिद्ध	२०९
गृहस्थ-लिंग-सिद्ध	२१०
एक-सिद्ध	२१०
अनेक-सिद्ध	२१०
सिद्ध एवं असिद्ध	२११
प्रज्ञापना-सूत्र में	
चरम-अचरम जीव : अल्प-बहुत्व	२१२
सिद्ध जीवों के उपपात का व्यवधान	२१४
सिद्ध तथा औदारिक शरीर	२१५
सिद्धत्व का काल	२१५
सिद्ध-दृष्टि	२१५
सिद्धों का अनाहारकत्व	२१६
सिद्धत्व, संज्ञित्व, असंज्ञित्व	२१७
सूर्यप्रज्ञप्ति-सूत्र में पंच-पद वंदन	२१८
उत्तराध्ययन-सूत्र में	
सिद्ध-श्रेणी— क्षपक-श्रेणी	२१९
प्रमाद और अप्रमाद की व्याख्या	२१९
ब्रह्मचर्य और सिद्धत्व	२२०
जिन शासन : मुक्ति का मार्ग	२२१
सिद्ध-नमन	२२२
क्षेमंकर एवं शिवमय स्थान	२२२
कायोत्सर्ग : सिद्ध-संस्तवन	२२३
मोक्ष-मार्ग-प्ररूपणा	२२५
योगनिरोध द्वारा सिद्धत्व की ओर गति	२२५
तप से विप्रमोक्ष	२२६
सर्व-दुःख-विमुक्ति का पथ	२२७
समस्त कर्मों और दुःखों से	
छूटने का क्रम	२२७
सिद्धिगत जीवों का विशेष निरूपण	२२८
दशवैकालिक-सूत्र में आत्म-शुद्धि	
का चरम विकास : सिद्धत्व	२२९
प्रतिस्रोत : मुक्ति का मार्ग	२३२
भगवान् महावीर द्वारा	
सिद्धत्व प्राप्ति की रात्रि	२३३
सार-संक्षेप	२३४

चतुर्थ अध्याय
उत्तरवर्ती जैन ग्रन्थों में सिद्ध-पद का निरूपण

णमोक्कार-विवेचन	२३६
णमो अरिहंताणं	२३६
णमो सिद्धाणं	२३९
णमो आयरियाणं	२४०
णमो उवज्झायाणं	२४१
णमो लोए सव्वसाहूणं	२४२
सिद्ध-पद का विश्लेषण	२४४
प्राकृत रचनाओं में सिद्ध-पद	२४५
सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति	२४५
आवश्यक-निर्युक्ति में सिद्ध-पद	२४६
नाम-निक्षेप	२४७
स्थापना-निक्षेप	२४७
द्रव्य-निक्षेप, भाव-निक्षेप	२४७
तप-सिद्ध और कर्म-क्षय-सिद्ध के लक्षण	२४९
सिद्धत्व-आराधना के संदर्भ में रत्नत्रय का निरूपण	२५०
सिद्धत्व-प्राप्ति का विश्लेषण	२५२
रत्नत्रयरूप आत्मभाव : सिद्धत्व की भूमिका	२५२
सिद्धों के गुण	२५४
श्री सिद्धिचंद्रगणीकृत व्याख्या	२५५
श्री हर्षकीर्ति सूरि द्वारा सिद्ध-पद का निरूपण	२५५
संस्कृत में जैन मनीषियों द्वारा ग्रंथ-रचना	२५५
तत्त्वार्थ-सूत्र में सिद्ध की व्याख्या	२५७
सिद्धत्वोन्मुख ऊर्ध्वगमन : हेतु	२५७
सिद्धों की विशेषताएं	२५८
क्षेत्र	२५९
काल	२५९
गति	२५९
लिंग	२५९
तीर्थ	२५९
चारित्र	२५९
प्रत्येकबुद्ध-बोधित	२६०
ज्ञान	२६०
अवगाहना	२६०
अंतर	२६०
संख्या	२६०
अल्प-बहुत्व	२६१
तत्त्वार्थ-राजवार्तिक में मोक्ष-मार्ग	२६१
मुक्त पुरुषों का अनाकार है : अभाव नहीं	२६३
सिद्धों का अव्यय, अविनश्वर सुख	२६४
प्रशमरति प्रकरण में सिद्ध-पद का निरूपण	२६५
रत्नत्रय द्वारा मोक्ष की सिद्धि	२६५
सिद्धत्व-प्राप्ति का क्रम	२६६
सिद्ध-पद का विश्लेषण	२६८

धवला में मंगलाचरण : सिद्ध-नमन	२६९
सिद्धत्व— आत्म-विकास का चरम प्रकर्ष	२६९
सिद्धभक्त्यादि संग्रह में सिद्ध-स्वरूप	२७०
सिद्धत्व-प्रतिष्ठा का चित्रण	२७३
तत्त्वानुशासन में	
सिद्धों के ध्यान का निर्देश	२७४
सिद्धों के ध्यान का फल	२७५
अर्हम् एवं सिद्ध-चक्र का विवेचन	२७६
सिद्धत्व की साधना में	
कषाय-विजय का स्थान	२७७
योगशास्त्र में कषाय-विजय का मार्ग	२७७
परमात्म-भाव के साक्षात्कार में	
मनोजय का स्थान	२७९
परमात्म-भाव और रत्नत्रय	२८०
द्व्याश्रय महाकाव्य में	
सिद्ध-चक्र का उल्लेख	२८०
त्रिषष्ठि-शलाका-पुरुष-चरित में	
सिद्ध-नमन	२८१
श्री हरिविक्रमचरित में सिद्ध-प्रणमन	२८२
बहिरात्म-अन्तरात्म-परमात्म-भाव	२८२
बहिरात्म-भाव	२८३
अंतरात्म-भाव	२८३
परमात्म-भाव	२८३
ज्ञानार्णव में सिद्ध-पद का वर्णन	२८४
मोक्ष का लक्षण : स्वरूप	२८५
सिद्ध-पद की गरिमा	२८६
तत्त्वार्थसार दीपक में सिद्ध-विवेचन	२८९
ॐ नमः सिद्धम् मंत्र	२९३
आचार-दिनकर-संदर्भ में सिद्ध-स्तुति	२९४
साम्य का मोक्ष रूप फल	२९४
महाप्रभाविक नवस्मरण में सिद्ध-पद	२९५
सिद्ध भगवान् के आठ गुण	२९५
अनंत ज्ञान	२९५
अनंत दर्शन	२९६
अव्याबाध सुख	२९६
अनंत चारित्र	२९६
अक्षय स्थिति	२९६
अमूर्त्तता	२९६
अगुरु-लघु	२९६
अनंत वीर्य	२९६
ज्ञानावरणीय-कर्म	२९८
दर्शनावरणीय-कर्म	२९८
वेदनीय-कर्म	२९८
मोहनीय-कर्म	२९८
आयुष्य-कर्म	२९८
नाम-कर्म	२९९
गोत्र-कर्म	२९९
अंतराय-कर्म	२९९
घाति-अघाति-कर्म	२९९
पंच-परमेष्ठी-स्तवन में सिद्ध-पद	३००
अरिहंत भक्ति :	
सिद्धत्व-प्राप्ति का पथ	३००
सिद्धों की सिद्ध-साध्यता	३००
सार-संक्षेप	३०१

पंचम अध्याय
सिद्धत्व-पथ : गुणस्थानमूलक सोपान क्रम

परमलक्ष्योन्मुखी उपक्रम	३०३
गुणस्थान का स्वरूप	३०४
गुणस्थान का विस्तार	३०४
आधार	३०५
मिथ्या दृष्टि गुणस्थान	३०६
ग्रंथी-भेद	३०६
अपूर्वकरण	३०६
स्वर्णिम-वेला	३०७
सम्यक्त्व का व्यावहारिक पक्ष	३०८
गुरु का वैशिष्ट्य	३०९
मिथ्यात्व के दस भंग	३०९
सम्यक्त्व के दस भंग	३१०
सम्यक्त्व के विविध पक्ष	३१०
श्रद्धान	३११
लिंग	३११
विनय	३११
स्थविर-विनय	३१२
कुल-विनय	३१३
गण-विनय	३१३
संघ-विनय	३१३
स्वधर्मी-विनय	३१३
क्रियावान्-विनय	३१३
शुद्धि	३१३
दूषण-त्याग	३१४
शंका	३१४
कांक्षा	३१४
विचिकित्सा	३१४
प्रभावना	३१४
कवित्व-प्रभावना	३१५
सम्यक्त्व के भूषण	३१६
जिन शासन में कुशलता	३१६
प्रभावना	३१६
तीर्थ-सेवा	३१६
स्थिरता	३१७
भक्ति	३१७
सम्यक्त्व के पाँच लक्षण	३१७
शम	३१७
संवेग	३१७
निर्वेद	३१७
अनुकंपा	३१७
आस्तिक्य— आस्था	३१८
यतना के छः रूप	३१९
वंदना	३१९
नमस्कार	३१९
आलाप	३१९
संलाप	३१९

दान ३२०
मान ३२०
छः आगार ३२१
राज्याभियोग ३२१
गणाभियोग ३२१
बलाभियोग ३२२
सुराभियोग ३२२
वृत्तिकांतार ३२२
गुरुनिग्रह ३२२
वंदना ३२२
सम्यक्त्व की छः भावनाएं ३२३
मूल-भावना ३२४
द्वार-भावना ३२४
प्रतिष्ठा-भावना ३२४
आधार-भावना ३२५
भाजन-भावना ३२५
निधि-भावना ३२५
सम्यक्त्व के स्थान ३२६
सम्यक्-दृष्टि : मोक्षानुगामी आयाम ३२८
सम्यक्त्व और सम्यक् दर्शन ३२९
सास्वादन-सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान ३३०
मिश्र-गुणस्थान ३३१
अविरत-सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान ३३२
देश-विरति गुणस्थान ३३२
प्रमत्त-संयत : सर्वविरति गुणस्थान ३३३
अप्रमत्त-संयत गुणस्थान ३३४
निवृत्ति-बादर गुणस्थान ३३५
उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी ३३५
अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान ३३६
सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान ३३६
उपशांत-मोह गुणस्थान ३३६
क्षीण-मोह गुणस्थान ३३७
सयोग केवली गुणस्थान ३३७
अयोग केवली गुणस्थान ३३७
गुणस्थानों का कालमान ३३८
आत्मा की तीन अवस्थाएं ३३८
योगवासिष्ठ में
आध्यात्मिक विकास पर चिंतन ३४०
चौदह भूमियाँ ३४१
सात ज्ञान भूमियों का विस्तार ३४१
शुभेच्छा ३४१
विचारणा ३४१
तनुमानसा ३४२
सत्त्वापत्ति ३४२
असंसक्ति ३४२
पदार्थभावनी ३४२
तुर्यगा ३४२
पातंजल योग-दर्शन : चित्त-भूमियाँ ३४४
क्षिप्त ३४४
मूढ़ ३४४
विक्षिप्त ३४४
एकाग्र ३४५
निरुद्ध ३४५
अविद्या और विवेकख्याति ३४७
सप्तविध प्रज्ञाएं ३४७
बौद्ध धर्म के तीन यान ३४९

श्रावकयान	३४९
बोधिसत्त्व-यान	३४९
श्रावकयान की साधना : विकास	३५०
पृथक्जन	३५०
स्रोतापन्न	३५०
बुद्धानुस्मृति	३५१
धर्मानुस्मृति	३५१
संघानुस्मृति	३५१
शीलानुस्मृति	३५१
सकृदागामी	३५१
अनागामी	३५२
अर्हत्	३५२
महायान : बोधिसत्त्व-यान	३५२
सार-संक्षेप	३५३

षष्ठ अध्याय
जैन-योग पद्धति द्वारा सिद्धत्व की साधना

साधना के क्षेत्र में योग का स्थान	३५५
योगमूलक जैन साहित्य	३५६
योग का आरंभ : पूर्व-सेवा	३५७
गुरुजन-सेवा	३५७
दानशीलता	३५८
सदाचार	३५९
मोक्ष में अद्वेष	३५९
असदनुष्ठान वर्जन	३६०
अनुष्ठान के भेद	३६१
विष-अनुष्ठान के भेद	३६१
गर-अनुष्ठान के भेद	३६१
अननुष्ठान	३६२
तद्हेतु-अनुष्ठान	३६२
अमृत-अनुष्ठान	३६२
योग के भेद	३६४
इच्छा-योग	३६४
शास्त्र-योग	३६५
सामर्थ्य-योग	३६६
सामर्थ्य-योग के भेद	३६७
योगों की अयोगावस्था	३६८
दृष्टि और उसके भेद	३६९
ओघ-दृष्टि	३७०
योग-दृष्टि	३७१
सापाय-निरुपाय	३७२
मित्रादृष्टि	३७३
योगबीज	३७४
भावयोगियों का महत्त्व	३७५
बीज-श्रुति का फल	३७७
भाव-मल का क्षय और उसके लक्षण	३७७
अवंचक के तीन भेद	३७७
यथाप्रवृत्तिकरण एवं अपूर्वकरण	३७८
तारादृष्टि	३७८

बलादृष्टि	३८२
आसन-स्थान	३८२
स्थान के भेद	३८२
ऊर्ध्व स्थान	३८३
निषीदन-स्थान	३८३
शयन-स्थान	३८३
योगशास्त्र में आसनों का निरूपण	३८३
योगसूत्र में आसन : परिभाषा एवं सिद्धि	३८४
गीता में आसनों की चर्चा	३८५
हठयोग में आसनों का विस्तार	३८५
गीता में राजयोग का निरूपण	३८६
बलादृष्टि की विशेषताएं	३८७
दीप्रादृष्टि	३८८
प्राणायाम का स्वरूप	३८८
प्राणायाम के प्रकार	३८९
योग-सूत्र में प्राणायाम	३८९
दीप्रादृष्टि की विशेषताएं	३८९
स्थिरादृष्टि	३८९
प्रत्याहार का लक्षण	३९०
प्रत्याहार और प्रतिसंलीनता का समन्वय	३९०
कांतादृष्टि	३९०
धारणा का लक्षण	३९१
कांतादृष्टि की विशेषताएं	३९१
अनासक्त कर्मयोग के साथ समन्वय	३९१
प्रभादृष्टि	३९१
योगसूत्र में ध्यान	३९२
परादृष्टि	३९२
योगसूत्र में समाधि	३९२
परादृष्टि की विशेषताएं	३९३
परम निर्वाण : सिद्धत्व-प्राप्ति	३९३
मुक्त-तत्त्व-मीमांसा	३९४
योगविंशिका में योग का विवेचन	३९४
योगसिद्धि	३९६
योगियों के भेद	३९७
कुलयोगी	३९८
कुलयोगियों की विशेषता	३९८
गोत्रयोगी	३९८
प्रवृत्तचक्र-योगी	३९९
योगदृष्टि समुच्चय की उपयोगिता	४०१
सत्-तत्त्वाभिरुचि का वैशिष्ट्य	४०२
सहजाभिरुचि	४०२
ध्यान का विश्लेषण	४०३
योगशास्त्र में ध्यान	४०३
ध्यान की योग्यता	४०४
ध्येय का स्वरूप	४०४
पिंडस्थ ध्यान एवं धारणाएं	४०४
पार्थिवी धारणा	४०५
आग्नेयी धारणा	४०५

वायवी धारणा	४०६
वारुणी धारणा	४०६
तत्त्वभू धारणा	४०७
पदस्थ ध्यान	४०७
रूपस्थ ध्यान	४०८
रूपस्थ ध्यान का परिणाम	४०८
रूपातीत ध्यान	४०९
ध्यान का क्रम	४०९
मनोजय के संदर्भ में अनुभूतिमूलक निरूपण	४१०
विक्षिप्त एवं यातायात मन	४१०
श्लिष्ट तथा सुलीन मन	४११
शुक्ल-ध्यान : उत्कर्ष : भेद	४१२
पृथक्त्व-श्रुत-सविचार	४१२
एकत्व-श्रुत-अविचार	४१३
सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति	४१३
समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाति	४१३
केवली के साथ ध्यान का संबंध	४१३
अयोगी के साथ ध्यान का संबंध	४१४
शुक्ल-ध्यान की फल-निष्पत्ति	४१४
केवली की उत्तर क्रिया और समुद्घात	४१५
समुद्घात का विधि-क्रम	४१५
योगों का सर्वथा निरोध	४१६
सार-संक्षेप	४१८

सप्तम अध्याय
सिद्धत्वोपलब्धि, ब्रह्मसाक्षात्कार एवं परिनिर्वाण

जीवन का चरम साध्य	४२०
शुद्धोपयोग से सिद्धत्व	४२१
शुद्धात्मा की अबद्धावस्था	४२३
ज्ञानावरणादि का अभाव : सिद्धत्व का सद्भाव	४२४
सिद्धत्व का निरुपाधि ज्ञान, दर्शन और सुख	४२५
शुद्ध भाव की आराधना	४२६
सिद्धों का वैशिष्ट्य	४२८
सिद्ध एवं ब्रह्म : तुलना-समीक्षा	४२९
जैन श्रुत-परम्परा की अनादिता	४२९
वेदों की अपौरुषेयता	४२९
ब्रह्म का स्वरूप	४३१
लीलाकैवल्य का स्पष्टीकरण	४३६
स्वरूपावबोध : ब्रह्मसाक्षात्कार	४३८
जीवन्मुक्ति : विदेहमुक्ति	४३८

मनोलय— ब्रह्मप्राप्ति ४४०
परमपद के सोपान ४४१
प्रणव ४४१
स्वरूपज्ञान ४४१
स्वत्वानुभूति ४४२
वैराग्य, तत्त्वज्ञान एवं समाधि ४४३
निर्मलज्ञान ४४४
विवेक चूड़ामणि में
ब्रह्मज्ञान का मार्गदर्शन ४४५
मुक्ति हेतु शिष्य की पृच्छा ४४६
गुरु द्वारा समाधान ४४६
अपरोक्षानुभूति से मुक्ति ४४८
अज्ञान का नाश : परमात्मानुभूति ४४९
आत्मज्ञान— मुक्ति का उपाय ४४९
ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रशस्त-पथ ४५०
आत्मनिष्ठा एवं विमुक्ति ४५०
समाधि द्वारा अद्वैत स्वरूपानुभूति ४५१
चित्त का चैतन्य स्वरूप में अवस्थापन ४५२
अवधूत गीता में
ब्रह्मानुभूति का विवेचन ४५३
अवधूत एवं धूत : विश्लेषण ४५४
परात्मभावानुभूति ४५५
आत्मकर्तव्य बोध ४५६
परमात्मभाव— अदेहावस्था ४५६
बौद्ध दर्शन में निर्वाण का स्वरूप ४६२
निर्गुणमार्गी संत-परंपरा में
परमात्मोपासना का मार्ग ४६७
सूफी-परंपरा ४६८
जैन साधना पद्धति में
प्रेम का सामंजस्य ४६९
सार-संक्षेप ४७१

उपसंहार : उपलब्धि : निष्कर्ष

मृगमरीचिका में विभ्रान्त मानव ४७२
साधना का निर्भ्रान्त पथ ४७२
सिद्धों का परमोपकार ४७३
सिद्धों को नमन ४७४
सार-संक्षेप ४७५
अज्ञान-ज्ञान-विज्ञान ४८७
एक ज्वलंत प्रश्न ४८९
सार्वजनीन धर्म ४९१
अधिकार और कर्तव्य का समन्वय ४९१
निष्कर्ष ४९३

परिशिष्ट : प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

(पृष्ठ : ४९५ से ५२१)

४५०
४५१
४५२
४५३
४५४
४५५
४५६
४५६
४६२
४६७
४६८
४६९
४७१
४८७
४८९
४९१
४९१
४९३

प्रथम अध्याय

सिद्धत्व-पर्यवसित जैन धर्म, दर्शन और साहित्य

मंगलमय णमोक्कार महामंत्र

विश्व के धर्मों में जैन धर्म का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन धर्म अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह और विश्वशान्ति के सर्वकल्याणकारी आदर्शों पर संप्रतिष्ठित है। प्रत्येक धर्म के अपने-अपने नमस्कार-मंत्र अथवा मंगलसूत्र होते हैं; जो धार्मिक जन में चेतना, स्फूर्ति और ऊर्जा का संचार करते हैं। णमोक्कार जैन धर्म का महामंत्र है। है तो यह नमस्कार रूप किन्तु इस महामंत्र में जैनदर्शन का तात्त्विक स्वरूप अत्यन्त सुन्दर ढ़ंग से अनुस्यूत है। इस मंत्र में वंदनीय अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु– वे महनीय पाँच पद हैं– जिनके साथ साधना के ऊर्ध्वमुखी सूत्र संपृक्त हैं। सिद्ध पद, इस महामंत्र में यद्यपि दूसरे स्थान पर प्रयुक्त है किन्तु वह आत्मा का परम विशुद्ध रूप है। प्रत्येक साधक का परम लक्ष्य सिद्धत्व अधिगत करना है। सिद्धत्व के विश्लेषण तक पहुँचने से पूर्व यह आवश्यक है कि यहाँ धर्म, संस्कृति, जैन-परम्परा, आगमादि साहित्य की सम्यक् चर्चा की जाय क्योंकि यह साहित्य ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा सिद्धत्व के स्वरूप को स्वायत्त किया जा सकता है। साथ ही साथ सिद्धत्वरूप परम लक्ष्य की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग भी जैन वाङ्मय में प्रतिपादित किये गये हैं, जिन्हें अवगत कर सिद्धत्वरूप परमसाध्य की दिशा में अग्रसर होने वाला साधक अपनी साधना में सम्बल प्राप्त कर सकता है। अतः विश्व में संप्रवहणशील धार्मिक स्रोत, उनके उद्गम, विकास आदि की चर्चा करते हुए जैसा ऊपर उल्लेख हुआ है, जैन धर्म और साहित्य पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है, जिससे यह अनुसंधेय विषय भलीभाँति गृहीत किया जा सके। इसी दृष्टि से प्रस्तुत प्रकरण में जैन धर्म, दर्शन और साहित्य की तात्त्विक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विस्तार पर प्रकाश डाला गया है।

जगत् का अनादि स्रोत

यह संसार बड़ा व्यापक है। छोटे-बड़े, सूक्ष्म-स्थूल, अज्ञ-विज्ञ, सभ्य-असभ्य न जाने कितने ही प्राणी इस संसार में व्याप्त हैं। प्राणी जगत् के विकास की चर्चा विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। इसके विकास और उन्नयन की बात वे अपने-अपने ढ़ंग से बतलाते हैं किन्तु अब तक इसका रहस्य कोई नहीं जान पाया।

भारतीय दार्शनिकों ने इस विषय पर बड़ी गंभीरता से चिन्तन और मनन किया, जिनमें जैन चिन्तकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने इस जगत् को अनादि बतलाया क्योंकि अब तक उस

प्रारम्भिक छोर या मूल स्थान तक कोई पहुँच नहीं पाया, न समय की सीमा का ही स्पर्श कर पाया। इसलिये इसका अनादित्व माना जाना न केवल शास्त्र-संगत है अपितु युक्ति-संगत भी है।

सत्य की खोज

संसार में जितने भी प्रकार के प्राणी हैं, उनमें बुद्धि, मनन, चिन्तन तथा हित-अहित के विमर्श की अपेक्षा से मानव सर्वाधिक श्रेष्ठ माना जाता है। वह अपने लिये श्रेयस् और कल्याण के संबंध में चिंतन करने की सहज उत्सुकता और उत्कंठा लिये होता है। उसका जीवन उस सत्य की गवेषणा में अभिरुचिशील होता है, जिससे उसे शांति, सुख और परितोष मिले।

आत्मा तथा शरीर का समन्वित रूप जीवन है। आत्मा रहित शरीर निष्प्रयोजन होता है। आत्मा शरीर का साहचर्य पाकर ही कृतित्वशील बनती है, इसलिए जब जीवन का चिंतन किया जाय तो इन दोनों को लेकर आगे बढ़ना होता है। यद्यपि आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग एवं नरक आदि में विश्वास नहीं करने वाले चार्वाक दर्शन ने आत्मा को महत्त्व नहीं दिया। पंचभौतिक शरीर को उसने परम सत्य स्वीकार किया। कहा गया है :-

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ? ।।

अर्थात्- ऋण करके भी घृत का पान करो, संसार का भोग करो। जब तक जीओ, तब तक सुख पूर्वक जीओ। जब शरीर जला दिया जायेगा तो सब कुछ जल जायेगा, फिर उसका किसी रूप में आगमन-जन्म आदि नहीं होगा।[1]

यद्यपि भौतिक सुखों की दृष्टि से चार्वाक की यह उक्ति बड़ी आकर्षक है किंतु इससे मानव को आंतरिक संतोष प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि उसने अनुभव किया, सांसारिक भोग नश्वर हैं। इतना ही नहीं, उनका निरंतर अधिकाधिक सेवन अनेक व्याधि और दुःख रूप में परिणत होता है। संयोग, वियोग में बदल जाता है। अनुकूलता, प्रतिकूलता का रूप ले लेती है। भौतिक भोगोपभोग क्षणिक सुख प्रदान करते हैं, जो एक प्रकार से दुःख ही है। उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा है :-

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।।[2]

भगवान् बुद्ध को ऐसी ही लोक की दुःखात्मक स्थितियों से सत्य की गवेषणा की प्रेरणा मिली और

---

१. सर्वदर्शन संग्रह, श्लोक-१८ पृष्ठ : २४.
२. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-१४, गाथा-१३.

उन्होंने राज्य-सुख का परित्याग कर अपने आपको परम सुख की खोज में लगाया। उन्होंने अपनी गवेषणा का निष्कर्ष चार आर्य सत्यों में प्रस्तुत किया :—

(१) दु:ख है, (२) दु:ख का कारण है,

(३) दु:ख का नाश किया जा सकता है, (४) दु:ख के नाश का उपाय है।[१]

इन्हीं चार आर्य सत्यों के विस्तार से बौद्ध धर्म, दर्शन और बौद्ध वाङ्मय प्रस्तुत है।

सांख्य दर्शन ने भी आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दु:खों से पीड़ित जगत् को देखकर उनसे छूटने की प्रेरणा दी। अर्थात् सांख्य दर्शन का प्रारंभ भी दु:खवाद से होता है। उसने दु:खनाश के लौकिक, पारलौकिक उपायों को ऐकांतिक और आत्यंतिक रूप में स्वीकार नहीं किया। तत्त्वज्ञान को ही दु:खों से छूटने का मार्ग बताया।[२]

जैन परंपरा के वर्तमान युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने, जो अपनी साधना के परिणाम-स्वरूप सर्वज्ञत्व प्राप्त कर चुके थे, प्राणियों को दु:ख से छूटने का ही नहीं अपितु परम आनंद-प्राप्ति का मार्ग बतलाया, जो संयम और आत्मसाधना के रूप में विकसित हुआ।

सत्य की खोज के ये विभिन्न उपक्रम भारतीय चिंतनधारा के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं।

भारतीय संस्कृति

गहन चिंतन, मनन और निदिध्यासन द्वारा कर्म संस्कार पाता है। संस्कार प्राप्त कर्म असत्य और अनाचरण की विकृतियों से विमुक्त होता है। वैसे चिंतन और कर्म की समन्वित चेतनामयी शाश्वत धारा संस्कृति है।

भारत में इस प्रकार का जो विचार, आचार और तन्मूलक तत्त्वचिंतन गतिशील, उत्तरोत्तर परिपुष्ट एवं विकसित हुआ, वह भारतीय संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है। संस्कृति के साथ किसी देश विशेष का विशेषण लगाना युक्ति संगत नहीं होता क्योंकि उसका संबंध तो उद्‌बुद्ध मानवीय चेतना के साथ होता है। भारत में इस कोटि का चिंतन पल्लवित, पोषित और संवर्धित हुआ, इसलिये उसे भारतीय संस्कृति का नाम दिया जाता है किंतु यह ज्ञातव्य है कि भारतीय कही जाने वाली संस्कृति केवल भारत या किसी देश विशेष तक ही सीमित नहीं है, उसकी व्यापकता विश्वव्यापिनी है।

भारतीय संस्कृति की मुख्यत: वैदिक-परंपरा तथा श्रमण-परंपरा— ये दो धाराएं हैं, जिनका अपना विशिष्ट चिंतन तथा विशाल वाङ्मय हमें प्राप्त है।

---

१. बौद्ध दर्शन मीमांसा, षष्ठ परिच्छेद, पृष्ठ : ५४.
२. सांख्यकारिका- कारिका-१,२, पृष्ठ : १,२.

वैदिक संस्कृति

वैदिक संस्कृति का मुख्य आधार वेद हैं। वेद शब्द संस्कृत की 'विद्' धातु से बना है, जो ज्ञान के अर्थ में है। वेद उस वाङ्मय का सूचक है, जिसमें ज्ञान-विज्ञान के अनेक महत्त्वपूर्ण विषय व्याख्यात हुए हैं। वैदिक धर्मानुयायियों की वेदों के संबंध में यह मान्यता है कि वेद अपौरूषेय हैं। किसी सांसारिक पुरुष या व्यक्ति द्वारा रचित नहीं हैं। परब्रह्म परमात्मा ने ऋषियों के मन में ज्ञान का उद्योत किया। उसके आधार पर ऋषियों ने ऋचाओं और मंत्रों की संयोजना की अर्थात् यह परब्रह्म परमात्मा का ज्ञानमय संदेश है। ऋषि केवल उसके संप्रेषण के माध्यम बनें। इसलिये ऋषि मंत्रों के स्रष्टा नहीं हैं, द्रष्टा हैं। उन्होंने परमात्मा द्वारा संप्रेषित, उद्योतित तत्त्वों का दर्शन किया और उन्हें प्रकट किया।

वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेदों में कर्म-काण्ड, ज्ञान-काण्ड तथा उपासना-काण्ड– मुख्यत: तीन काण्ड हैं। कर्म-काण्ड– यज्ञ आदि पर, ज्ञान-काण्ड– आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक आदि पर तथा उपासना-काण्ड– परमात्माराधना पर प्रकाश डालता है।

वेदों के अतिरिक्त स्मृतियाँ, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि विपुल साहित्य प्राप्त है। अहिंसा, सत्य और सदाचार के पालन का उनमें संदेश दिया गया है।

वैदिक धर्म में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास- ये चार आश्रम माने गये हैं। अर्थात् मनुष्य के जीवन को चार भागों में बांटा गया है। पहले में विद्याध्ययन, दूसरे में गृहस्थ का जीवन, तीसरे में परमात्माराधना का अभ्यास, चौथे में संन्यास सर्वस्व त्याग तथा परमात्म-भाव में सर्वथा लीन होने का उपक्रम स्वीकार किया गया है। ईश्वर को सर्वव्यापी और जगत् का स्रष्टा माना गया है।

वेदों का ज्ञानकांड वेदांत कहलाता है। उसमें ब्रह्म, जीव और माया- ये तीन तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। इस सम्बन्ध में एक बहुत प्रसिद्ध उक्ति है–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थ-कोटिभि: ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपर: ।।

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या, असत्य या भ्रांति है। जीव ब्रह्म– परमात्म-स्वरूप ही है। यह वेदांत का सार तत्त्व या निष्कर्ष है।

वेदांत 'ज्ञान' पर सबसे अधिक जोर देता है– 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:'– ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। भारत में संख्या की दृष्टि से वैदिक-परंपरा के अनुयायियों का सर्वाधिक विस्तार है।

विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक, भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार– "महर्षि गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, कपिल का सांख्य, पतंजलि का योग, जैमिनी का पूर्व मीमांसा

और बादरायण का उत्तर मीमांसा अथवा वेदांत– ये सब वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं।"[1]

श्रमण–संस्कृति

'श्रमण' शब्द मूलत: प्राकृत के 'समण' शब्द का संस्कृत रूप है। समण में विद्यमान सम के 'सम', 'शम' और 'श्रम' ये तीन रूप होते हैं।

'सम' का अर्थ समत्व या समता है, जो संसार के प्राणी मात्र के प्रति समानता के भाव पर आधारित है। प्राणित्व के नाते संसार के छोटे-बड़े, पशु-पक्षी, कीट-कीटाणु, मनुष्य आदि समान हैं। सबको जीने का अधिकार है। उसके अधिकार को छीनना, किसी प्राणी की हिंसा करना अविहित, अनुचित है।

'शम' का अर्थ निर्वेद, वैराग्य या प्रशांत भाव है। यह तत्त्वातत्त्व विवेक तथा तदनुकूल, सत्यानुरंजित चर्या से सिद्ध होता है।

'श्रम' का अर्थ उद्यम, अध्यवसाय, प्रयत्न या क्रियाशीलता है। जीवन का परम लक्ष्य अपने पुरुषार्थ से ही सिद्ध होता है, किसी की कृपा या अनुग्रह से नहीं।

श्रमण-संस्कृति के ये मुख्य तीन आधार हैं। इन तीनों से ही ऐहिक और पारलौकिक जीवन सफल होता है। इसका निष्कर्ष यह है कि जीवन में ज्ञान परमावश्यक है किंतु ज्ञान की सफलता या सार्थकता तभी सिद्ध होती हैं, जब वह उसके कार्य-कलापों में व्याप्त हो सके।

इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण-संस्कृति केवल ज्ञान पर ही जोर नहीं देती अपितु क्रिया पर भी बल देती है। वहाँ जन्माश्रित जातिवाद का महत्त्व नहीं है। कोई व्यक्ति उच्च वंश, उच्च जाति में उत्पन्न होने से ही ऊँचा नहीं होता किंतु वह अपने उच्च पवित्र सात्त्विक कर्मों से ही ऊँचा होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी कर्मों से ही होता है।

श्रमण-संस्कृति की मुख्य दो धाराएं हैं – १. बौद्ध-संस्कृति, २. जैन-संस्कृति।

१. बौद्ध–संस्कृति

सामान्यत: यह माना जाता है कि भगवान् बुद्ध ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। वे कपिलवस्तु के राजकुमार थे। उनका नाम सिद्धार्थ था। संसार को दु:खपूर्ण देखकर उन्हें वैराग्य हुआ। उन्होंने माता, पिता, पत्नी, पुत्र आदि परिवार तथा राज्य-वैभव का त्याग कर सत्य की खोज हेतु महाभिनिष्क्रमण किया। साधना द्वारा जब उन्होंने सम्यक् बोध प्राप्त किया, तब वे बुद्ध कहलाये।

---

१. भारतीय दर्शन (डॉ. राधाकृष्णन्), भाग-२, पृष्ठ : १७.

उन्होंने मध्यम प्रतिपदा के रूप में साधना का मार्ग बताया। अर्थात् उन्होंने न तो अधिक सरल, न ही अधिक कठिन; मध्यम (बीच का) मार्ग स्वीकार किया, जिस पर चलने में साधारण लोगों को भी कठिनाई न हो। उन्होंने भिक्षुसंघ की स्थापना की, जिसमें भिक्षु और भिक्षुणियों का समावेश था। उनका कार्यक्षेत्र वह प्रदेश रहा, जो आज 'बिहार' कहलाता है।

बौद्ध-परंपरा में जहाँ साधु-भिक्षु ठहरते हैं– प्रवास करते हैं, उसे विहार कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के समय में उस प्रदेश में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रसार था। स्थान-स्थान पर भिक्षुओं के ठहरने के लिये विहार बने हुए थे। बौद्ध-विहारों की बहुलता के कारण ही वह प्रदेश 'बिहार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने हाथ से कुछ नहीं लिखा। किसी ग्रंथ की संरचना नहीं की। उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को स्मरण रखा, उसे लिखा। लिखकर सुरक्षा के लिये पिटकों– पेटियों में रखा इसलिये इन्हें 'पिटक' कहा गया। पिटक तीन हैं– विनय-पिटक, सुत्त-पिटक तथा अभिधम्म-पिटक।

इतिहास के अनुसार ऐसा माना जाता है कि भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनों समसामयिक महापुरुष थे। दोनों का विचरण क्षेत्र भी अधिकांशत: बिहार रहा किंतु दोनों के मिलन का प्रसंग नहीं बना। इसका क्या कारण रहा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् चंद्रगुप्त मौर्य के पौत्र सम्राट् अशोक के प्रयत्न से बौद्ध धर्म का भारत के अतिरिक्त बाहर के देशों में भी प्रचार-प्रसार हुआ। आज भी विश्व के अनेक देशों में बौद्ध धर्मावलंबी बड़ी संख्या में हैं।

जैन-संस्कृति

श्रमण-संस्कृति के अंतर्गत जैन-संस्कृति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज एक मात्र यही संस्कृति अपने पुरातन रूप में अक्षुण्णतया प्राप्त है। एक समय था, बौद्ध परंपरा के अंतर्गत भिक्षु और भिक्षुणियाँ अपने विनय और आचार के नियमों का पालन करते हुए देश में पैदल भ्रमण करते थे।

बौद्ध धर्म में विनय शब्द आचार का वाचक है। आचार-संहिता के सभी नियम, उपनियम जो भिक्षुओं द्वारा पालनीय हैं, वे विनय में समाविष्ट हैं। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, बौद्ध धर्म का बाहर बहुत प्रचार हुआ किन्तु उसका मूल स्वरूप उत्तरोत्तर सिमटता गया। आज विश्व के अनेक देशों में बौद्ध भिक्षु बड़ी संख्या में हैं किंतु भगवान् बुद्ध के समय में जो आचार-संहिता, पाद-विहार आदि चर्यामूलक उपक्रम थे, वे आज प्राप्त नहीं होते किन्तु जैन साधु-साध्वियों का जीवन, सहस्रों वर्षों पूर्व जो आचार-परंपरा प्रचलित थी, उसके नियमों से निबद्ध है।

कुछ एक वैयक्तिक अपवादों को छोड़कर प्राय: सभी साधु-साध्वी जो सहस्रों की संख्या में हैं, वे

आज भी भगवान् महावीर के काल से प्रवर्तित चर्या का अनुसरण करते हैं तथा पैदल परिभ्रमण करते हैं। भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। सर्वथा अपरिग्रही होते हैं। ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय-साधना, एवं धर्म-प्रसार में अपने जीवन का उपयोग करते हैं।

केवल बौद्ध ही नहीं और भी धार्मिक परंपराओं के संन्यासियों और साधुओं का आज वैसा कोई समुदाय नहीं है, जो अपने शास्त्रों द्वारा निर्धारित आचार का पालन करते हुए कार्यरत हो।

यह कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है कि आज के अत्यधिक साधन-बहुल युग में भी जैन साधु-साध्वियाँ महाव्रतमूलक परंपरा का सर्वथा पालन करते हैं।

संयम और आचार की महत्ता

सहस्रों वर्षों में आए हुए अनेक परिवर्तनों के बावजूद जैन परंपरा एवं धर्म अपरिवर्तित और अविकृत रहे, इसका मुख्य कारण था कि संयम और आचार की मौलिकता किसी भी स्थिति में भग्न नहीं होनी चाहिए, वह सदैव अक्षुण्ण रहनी चाहिये। जैन धर्म का यह मुख्य सिद्धान्त रहा।

'आचारः प्रथमो धर्मः'– यह सिद्धांत इस संस्कृति में सर्वोपरि रहा। किसी भी मूल्य पर आचार-हीनता को स्वीकार नहीं किया गया। जैन श्रावक समाज द्वारा भी आचार-मर्यादा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। धर्म के व्यापक प्रसार के नाम पर सुविधावाद को कभी स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि जैन आचार्यों का यही चिंतन रहा कि यदि सुविधाओं को जरा भी महत्त्व देकर आचार के नियमों में शिथिलता लाई गई तो वह उत्तरोत्तर वृद्धि पाती जाएगी तथा बढ़ते-बढ़ते एक दिन मूल को ही बदल देगी। इसलिये आचार में दुर्बलता लाना कभी किसी को स्वीकार्य नहीं रहा तथा समितियाँ और गुप्तियाँ आचार को सुदृढ़ बनाए रखने में सदैव सहायक रही। [१]

'चइज्ज देहं न हि धम्मसासणं'– देह को त्यागना पड़े तो त्याग दो किन्तु धर्म-शासन को, धर्म की आज्ञाओं और सिद्धांतों का कभी भी त्याग मत करो। जैन धर्म के इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, जहाँ साधकों ने धर्म की रक्षा के लिये, धार्मिक जीवन को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अपने प्राणों की आहुति तक दे दी। इसी का यह परिणाम है कि सहस्राब्दियों के व्यतीत होने पर भी जैन धर्म आज अक्षुण्ण है। "जैन धर्म पुरुषार्थ-सिद्धि से सर्वार्थ-सिद्धि की सफल तीर्थ-यात्रा है। वह सिद्ध-पुरुषों अर्थात् शूरवीरों का धर्म है।" [२]

युग का प्रभाव है कि जन-जन के जीवन में, दैनंदिन व्यवहार में तो धार्मिकता का वह समुज्ज्वल रूप कम दृष्टिगोचर होता है पर श्रद्धा और विश्वास के रूप में जैन धर्म के आदर्शों के प्रति जन-जन

१. उपमिति भव प्रपंच कथा (प्रथम व द्वितीय खण्ड), पृष्ठ : ६०८.
२. तीर्थंकर (मासिक) (णमोकार मंत्र विशेषांक- १), वर्ष १०, अंक ७, ८ (नव.-दिस. १९८०), पृष्ठ : ७४.

का असीम आदर है। अपने सिद्धांतों की सार्वजनीनता, उदारता, व्यापकता तथा असंकीर्णता के कारण यह धर्म ही एक ऐसा माध्यम है, जो समस्त मानव जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध कर सकता है।

जाति, वर्ण, वर्ग तथा संप्रदाय के संकीर्ण भेदों से सर्वथा अपराभूत यह धर्म आत्म-साधना का एक महान् राजपथ है, जिस पर बिना किसी भेद-भाव के सभी जन आगे बढ़ सकते हैं और जीवन में शांति प्राप्त कर सकते हैं।

जैनों का धर्म-प्रसार में औदासीन्य

इतने उच्च, उदार, विश्वजनीन, सर्वकल्याणकारी, युक्ति-न्याय-संगत सिद्धांतों को विश्व में जिस रूप में पहुँचाया जाना चाहिए, वैसा जैनों द्वारा अब तक विश्वव्यापी आंदोलन या प्रसार नहीं किया गया, यह अत्यन्त खेद का विषय है।

जिस प्रकार भगवान् महावीर का युग हिंसा के घोर विकराल तांडव से व्याप्त था, उसी प्रकार आज का युग भी भौतिकता, लोकैषणा, स्वार्थपरायणता, संग्रहात्मकता, वैमनस्य और क्रूर भावनाओं की दावाग्नि से पूरी तरह दग्ध हो रहा है। इस समय अहिंसा, विश्वमैत्री एवं समतामूलक सिद्धांतों के प्रसार की नितांत आवश्यकता है। दूसरी ओर खेद की बात यह है कि इस धर्म के गहन, सूक्ष्म-दर्शन को भलीभांति समझने का प्रयत्न भी वे नहीं करते, जो जैन नाम से अभिहित होते हैं। अत एव आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि जन-जन को जैन सिद्धांतों का परिचय हो।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ का विषय 'णमो सिद्धांण' है। सिद्धों को नमन, प्रणमन में सिद्धत्व की गरिमा और महिमा का संसूचन है। यह आवश्यक है कि जिस धर्म-दर्शन का इतिहास एवं परंपरा सिद्धत्व पर अवस्थित है, उस पर संक्षेप में समीक्षात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला जाय, जिससे मूल विषय को पुष्टि मिलेगी तथा उसकी पारिपार्श्विक स्थितियों का विशेष रूप से परिचय प्राप्त होगा।

जैन धर्म का अनादि स्रोत

जैन धर्म कब प्रारंभ हुआ ? सबसे पहले इसकी किसने स्थापना की ? इस संबंध में कोई समाधान या उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि धर्म का यह स्रोत अनादि माना जाता है। अनादि का तात्पर्य है– जिसकी कोई शुरूआत या प्रारंभ नहीं है। कुछ स्थानों पर इतिहास की पुस्तकों में यह भूल भी होती रही है, जहाँ भगवान् महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक बतलाया गया है। वास्तव में भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं थे, वे वर्तमान युग के अंतिम तीर्थंकर थे। उन्होंने-धर्म देशना दी तथा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के रूप में चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना की।[1] जैन दृष्टि के अनुसार अवसर्पिणी,

१. श्री जिन भक्ति कल्पतरू, पृष्ठ : ६०.

उत्सर्पिणी के रूप में दो प्रकार का कालचक्र स्वीकार किया गया है।[1] जिस प्रकार रथ के चक्र या पहिये के आरक लगे रहते हैं उसी प्रकार प्रत्येक कालचक्र को छह भागों में बांटा गया है।

उत्सर्पिणी काल में सभी वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्षण या उन्नयन होता जाता है। अवसर्पिणी में सभी पदार्थों में उत्तरोत्तर अपकर्ष– न्यूनता या कमी आती जाती है। इस समय अवसर्पिणी नामक कालचक्र का पाँचवाँ आरा चल रहा है। यह कालचक्र अनादि काल से चलता आ रहा है। अनंत अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी काल व्यतीत हो चुके हैं। वस्तुत: काल का कोई अंत नहीं है।[2]

वर्तमान अवसर्पिणी के तीसरे-चौथे आरक में चौबीस तीर्थंकर हुए, जो निम्नांकित हैं :-

१. श्री ऋषभदेव	२. श्री अजितनाथ	३. श्री संभवनाथ
४. श्री अभिनन्दनस्वामी	५. श्री सुमतिनाथ	६. श्री पद्मप्रभ
७. श्री सुपार्श्वनाथ	८. श्री चंद्रप्रभ	९. श्री सुविधिनाथ
१०. श्री शीतलनाथ	११. श्री श्रेयांसनाथ	१२. श्री वासुपूज्यस्वामी
१३. श्री विमलनाथ	१४. श्री अनंतनाथ	१५. श्री धर्मनाथ
१६. श्री शांतिनाथ	१७. श्री कुन्थुनाथ	१८. श्री अरनाथ
१९. श्री मल्लिनाथ	**२०. श्री मुनिसुव्रतस्वामी**	**२१. श्री नमिनाथ**
२२. श्री नेमिनाथ	**२३. श्रीपार्श्वनाथ**	**२४. श्री महावीर स्वामी**[3]

श्री जैन-सिद्धांत-बोल-संग्रह, भाग-६ में चौबीस तीर्थंकरों के च्यवन, विमान, जन्म-स्थान, जन्म, मातृ-पितृ-नाम, लांछन एवं शरीर-प्रमाण आदि का उल्लेख है।[4]

तीर्थंकरों की ऐसी अनंत चौबीसियाँ हो चुकी हैं और होती रहेंगी।[5]

तीर्थंकर अपने युग में 'धर्म-तीर्थ' की स्थापना करते हैं और धर्म की देशना देते हैं। यद्यपि अर्थ-रूप में या तत्त्वरूप में भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की धर्म-देशना में कोई अंतर नहीं होता किंतु धर्मोपदेश की, सिद्धांत-निरूपण की शब्दात्मकता अपनी-अपनी होती है।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर की देशना पंच महाव्रतात्मक होती है और द्वितीय से तेबीसवें तक तीर्थंकरों की चातुर्याम-संवरमूलक धर्म-देशना होती है। इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में स्वीकार कर लिया गया है।

---

१. (क) जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ : ८४. (ख) जैनागम स्तोक संग्रह, पृष्ठ : १४५.
२. (क)जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-सूत्र, २, २४ (ख) स्थानांग-सूत्र, ६, २३-२४ पृष्ठ : ५४०.
३. (क) यंत्र-मंत्र-तंत्र विज्ञान, भाग-२, पृष्ठ : ३४. (ख) आगम के अनमोल रत्न, पृष्ठ : २-२५२.
४. श्री जैनसिद्धांत बोल संग्रह, भाग-६, पृष्ठ : १७७,१८७. ५. बड़ी साधु वंदना, पद-१.

पंच-महाव्रत : चातुर्याम धर्म

पंच-महाव्रत और चातुर्याम-धर्ममूलक देशना-भेद का आधार जनता का मानसिक स्तर रहा है। भगवान् ऋषभदेव के समय के लोग बहुत ऋजु (भोले) और जड़ (सरल) थे। उनको भलीभाँति अलग-अलग समझाने के लिए प्राणातिपात विरमण– अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का आख्यान किया गया तथा ब्रह्मचर्य को एक पृथक् महाव्रत के रूप में व्याख्यात किया गया। अपरिग्रह के साथ इसे मिला देने से उस समय के भोले और सरल लोग संभवत: भलीभाँति समझ नहीं पाते। भगवान् महावीर के समय के लोग बहुत वक्र (चतुर) और जड़ (चालाक) हो गये थे। इसलिये उन्हें वक्र-जड़ कहा गया है। वैसे लोग कोई प्रतिकूल मार्ग न निकाल लें, व्रतों में कमी न आ जाय, इसलिये उस समय भगवान् ने प्रथम तीर्थंकर के समान पाँच महाव्रतों के रूप में ही धर्म उपदेश दिया।

द्वितीय से तेबीसवें तीर्थंकर तक के समय के लोग ऋजु (सरल) थे और प्राज्ञ (बुद्धिमान) भी थे। जो जैसे भाव हों, उनको उसी रूप में समझने और स्वीकार करने में वे कुशल थे। इसलिये मध्य के इन बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम संवर की देशना दी। अर्थात् उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चार महाव्रतों का उपदेश दिया। स्त्री को परिग्रह के रूप में स्वीकार कर लिया गया। अत: अपरिग्रह के अंतर्गत धन, संपत्ति, वैभव, आदि के त्याग के साथ-साथ स्त्री का त्याग भी गृहीत हुआ। इस प्रकार चार यामों में पाँचों महाव्रत समाविष्ट हो जाते हैं।

आचार्य श्री हस्तीमलजी ने 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास', प्रथम-भाग में चातुर्याम धर्म के उद्गम, प्रवर्तन तथा बहिद्धादान नामक चौथे याम के अंतर्गत ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के समावेश पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।[1]

महासती श्री उज्ज्वलकुमारीजी ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय एवं अपरिग्रह का सैद्धांतिकता के साथ-साथ वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में विस्तृत वर्णन किया है, जिससे इनकी सार्वजनीनता, सार्वकालीन उपयोगिता सिद्ध होती है।[2]

याम शब्द भी व्रत का ही द्योतक है। 'याम' शब्द महर्षि पतंजलि द्वारा प्रयुक्त यम शब्द के सदृश है। उन्होंने भी इसका 'व्रत' के अर्थ में प्रयोग किया है।[3]

भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन

भगवान् महावीर के लिए जैसा पहले कहा जा चुका है, वे इस अवसर्पिणी काल– वर्तमान युग

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम-भाग, पृष्ठ : ४९७.
२. उज्ज्वल-वाणी, पृष्ठ : ५४-८५.
३. योग-सूत्र, साधनपाद, सूत्र-३०.

के अंतिम तीर्थंकर थे। इस समय जो जैन-धर्म प्रचलित है, वह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है। अर्थ रूप में जैसे पहले सूचित किया गया, यह वही धर्म है, जो भगवान् ऋषभ आदि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने प्रतिपादित किया किंतु देशना या द्वादशांगी रूप में यह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है।[1]

इतिहास के अनुसार भगवान् महावीर का जन्म ईस्वी पूर्व ५९९ में उत्तर बिहार के तत्कालीन लिच्छवी गणतंत्र के अंतर्गत कुंड ग्राम में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ। उनका नाम 'वर्धमान' रखा गया। भगवान् महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था।

श्वेतांबर-मान्यता के अनुसार युवावस्था में माता-पिता के अनुरोध से वर्धमान ने विवाह कर लिया था। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था। उनकी पुत्री के प्रियदर्शना तथा अनवद्या— ये दो नाम प्राप्त होते हैं।[2]

दिगंबर-मान्यता के अनुसार वर्धमान का विवाह नहीं हुआ था। भगवान् महावीर के माता-पिता तेबीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। भगवान् पार्श्वनाथ भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुए थे।[3]

तीस वर्ष की आयु में माता-पिता के देहावसान के बाद वर्धमान ने गृह-त्याग कर आत्म-साधना के लिये महाभिनिष्क्रमण किया।

भगवान् महावीर द्वारा तपश्चरण और साधना

भगवान् महावीर ने अपने आपको दुर्दम तप, ध्यान और साधना के पथ पर सर्वतोभावेन संलग्न कर दिया था। आचारांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के उपधान श्रुत नामक अध्ययन में भगवान् महावीर की चर्या का बहुत ही मार्मिक विश्लेषण हुआ है। वे घोर तपस्या करने एकांत स्थान में जाते और अनेक प्रकार से ध्यान करते। उनका ध्यान अत्यंत उज्ज्वल और निर्मल कहा गया है। उनके ध्यान के संबंध में—'एग-पोग्गल-निविट्ठ-दिट्ठि'— पद आया है, जिसका तात्पर्य यह है कि कभी-कभी वे एक पुद्गल पर अपनी दृष्टि एकाग्र कर ध्यान करते थे। अनार्य देश में अनार्य लोगों ने उन्हें स्थान-स्थान पर बड़ा कष्ट दिया। किंतु वे समभाव से सहते गये। १२ वर्ष, ६ मास, ५४ दिन के साधना-काल के पश्चात् उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की।

संसार के समस्त स्थूल, सूक्ष्म, पदार्थों को वे हस्तामलकवत् देखने में सक्षम हुए। तुमुल आत्म-संग्राम में शौर्य और पराक्रम द्वारा, वीरता द्वारा सफल होने से वे महावीर कहलाये। जिस सत्य का

१. जैन धर्म क्या कहता है ?, पृष्ठ : ६, ७.
२. कल्पसूत्र, भाग-२, पृष्ठ : १०७, १०८.
३. जैन धर्म क्या कहता है ?, पृष्ठ : ७.

उन्होंने साक्षात्कार किया, उससे जन-जन को उपकृत करने हेतु उन्होंने धर्म-देशना दी।

अर्थ-रूप में उन्होंने तत्त्वों का विवेचन किया। उनके प्रमुख शिष्य गणधरों ने धर्मशासन के हितार्थ सूत्र-रूप में उनका संग्रथन किया।[1] भगवान् का जो उपदेश इस प्रकार सूत्र-रूप में संकलित हुआ, वही आगमों के रूप में आज हमें प्राप्त है।

आगम का अर्थ

आगम विशिष्ट ज्ञान के सूचक हैं। उनमें जो ज्ञान दिया गया है, वह परंपरा से प्राप्त है क्योंकि सभी तीर्थंकर जो धर्म-देशना देते हैं, भावात्मक रूप में उसमें भेद नहीं होता, इसलिये वह ज्ञान आगम है। वह प्रत्यक्ष या तत्-सदृश बोध से जुड़ा हुआ है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञानावरणीय कर्मों के अपगत– क्षीण हो जाने से जिनका ज्ञान सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध और अविसंवादि परस्पर विरोध रहित हो जाता है, ऐसे महापुरुष आप्त कहे जाते हैं।

"वे जो कहते हैं वह सर्वथा विश्वास योग्य और श्रद्धा योग्य होता है। ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का संकलन आगम है।"[2]

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी ने 'जैनागम साहित्य' नामक विशाल ग्रंथ में आगम साहित्य का महत्त्व, आगम के पर्यायवाची शब्द, आगम की परिभाषा इत्यादि विभिन्न पक्षों को लेते हुए प्राक्तन आचार्यों के मन्तव्यों का विस्तार से विवेचन से किया है, जिससे अध्येताओं को इस संबंध में यथेष्ट परिचय मिलता है।[3]

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, जैनागमों के रूप में वर्तमान काल में जो साहित्य हमें प्राप्त है, वह भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म-देशना के आधार पर संग्रथित है।

आगमों की भाषा

भाषा का जीवन के साथ अन्यतम संबंध है। भाषा ही अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाषा द्वारा एक व्यक्ति दूसरे के भावों को समझ सकता है तथा अपने भावों को व्यक्त कर सकता है, जिसे सुनकर दूसरे लोग भी उसके विचारों से अवगत हो सकते हैं। आज हमें सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी तीर्थंकरों, महापुरुषों, आचार्यों, विशिष्ट ज्ञानियों आदि के विचार भाषा के ही कारण प्राप्त हैं।

---

१. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-९२.
२. प्रमाणनयतत्त्वालोक, अध्याय-४, सूत्र-१.
३. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृष्ठ : ३-१०.

विचारों का जगत् बड़ा विस्तीर्ण है। उसकी तुलना में भाषा की शक्ति सीमित होती है, इसलिये भाषा विचारों का समग्र रूप में तो प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती पर उनका बहुत कुछ आशय व्यक्त करने में वह सक्षम होती है।

प्राचीन काल में वैयाकरणों ने भाषा पर बहुत विचार किया। आज के युग में भी भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र (Linguistics) में भाषा-तत्त्व पर बड़ा सूक्ष्म विचार किया गया है। भाषाओं के अनेक परिवार (Language Families) स्वीकार किये गये हैं, जिनमें से एक-एक परिवार के साथ अनेक भाषाएं जुड़ी हुई हैं।

उत्तर भारत में प्राचीन काल में प्रयुक्त संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश आदि एवं वर्तमान युग में प्रवृत्त हिंदी, पंजाबी, काश्मीरी, डोंगरी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, बंगला, असमिया तथा उड़िया आदि भाषाएं भारोपीय भाषा परिवार (Indo-European Language Family) के अंतर्गत हैं।

दक्षिण भारत में प्रचलित तमिल, तेलगू, कन्नड़ तथा मलयालम आदि भाषाएं द्रविड़ भाषा परिवार (Dravedian Language Family) के अंतर्गत समाविष्ट हैं।

भगवान् महावीर के समय में उत्तर भारत में लोगों की बोलचाल की भाषा के रूप में प्राकृत भाषा का प्रयोग होता था। जन-जन द्वारा बोले जाने के कारण तथा क्षेत्रीय भिन्नता के आधार पर इसके मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची आदि मुख्य भेद थे।

भगवान् महावीर उत्तर भारत के पूर्वांचल में उत्पन्न हुए थे, जहाँ मागधी और अर्धमागधी का प्रचार था। अर्धमागधी, मागधी तथा शौरसेनी के बीच की भाषा है। उसमें कुछ नियम मागधी के तथा कुछ नियम शौरसेनी के लागू होते हैं। इस प्रकार वह मागधी और शौरसेनी दोनों भाषाओं के क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों द्वारा समझी जा सकती थी। इस प्रकार वह उस समय प्राकृत क्षेत्र की एक प्रकार से संपर्क-भाषा (Lingua Franca) के रूप में प्रयुक्त थी, जो बाद में भी कुछ शताब्दियों तक चलती रही। कुछ विद्वानों का ऐसा मन्तव्य है कि अशोक के शिलालेखों की मूल भाषा अर्धमागधी ही है, जिसका भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के स्थानीय रूपों में यत्किंचित् परिवर्तन कर प्रयोग किया गया।[१]

अर्द्धमागधी में भगवान् द्वारा धर्म-देशना

भगवान् महावीर ने अपनी धर्म-देशना का माध्यम अर्धमागधी भाषा को बनाया, जिस तक जनसाधारण आम जनता की सीधी पहुँच थी, जिसे सभी लोग समझने में सक्षम थे।[२]

---

१. भाषा-विज्ञान (डॉ. भोलानाथ तिवारी), पृष्ठ : १७८.
२. नवकार-प्रभावना, पृष्ठ : ७.

समवायांग सूत्र में इस संबध में उल्लेख प्राप्त होता है कि भगवान् महावीर अर्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं। उनके द्वारा धर्म-देशना में प्रयुक्त अर्धमागधी भाषा सभी आर्य, अनार्य पुरुषों के लिये तथा द्विपद दो पैरोंवाले तथा चतुष्पद चार पैरोंवाले मृग-पशु-पक्षी आदि के लिये एवं पेट के बल पर रेंगकर चलने वाले सर्प आदि प्राणियों के लिये उनकी अपनी-अपनी हितप्रद, कल्याणकर एवं सुखद भाषा के रूप में परिणित हो जाती है।[1]

समवायांग-सूत्र का वर्णन भगवान् के भाषा अतिशय से संबद्ध है। उनकी अन्यान्य विशेषताओं के साथ भाषा की भी यह विशेषता थी कि योग-बल के कारण वह श्रोताओं को सहजतया उनकी अपनी-अपनी भाषाओं के रूप में स्वायत्त हो जाती थी। वे उसका भाव समझ लेते थे। यह विवेचन श्रद्धा और आस्था के साथ जुड़ा हुआ है, तर्क का विषय नहीं हैं।

दशवैकालिक-वृत्ति में भगवान् द्वारा धर्म-सिद्धांतों का प्राकृत में निरूपण करने का उल्लेख है--

बाल-स्त्री-वृद्ध-मूर्खाणां, नृणां चारित्र-कांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः कृतः।।[2]

चारित्र-ग्रहण की अभिलाषा रखने वाले बालक, स्त्रियाँ, वृद्ध, अज्ञानी तथा अनपढ़ जनों पर अनुग्रह कृपा करने हेतु तत्त्वज्ञों ने धर्म-सिद्धांतों का निरूपण, प्राकृत भाषा में किया। जैसा बतलाया गया है, अर्धमागधी प्राकृत का ही एक भेद है। प्राकृत को कुछ विद्वानों ने प्रकृति से संबद्ध बतलाया है। प्रकृति का तात्पर्य स्वभाव या स्वाभाविक स्थिति है। साथ ही साथ उसका एक अर्थ जगत् भी है। जन-जन की स्वाभाविक भाषा होने के कारण उसका नाम प्राकृत पड़ा।

वैदिक, धार्मिक क्षेत्र में संस्कृत का व्यवहार होता था। भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि में यद्यपि संस्कृत उच्च भाषा है, किन्तु व्याकरणनिष्ठ होने के कारण जन-साधारण तक उसकी पहुँच नहीं है। आम जनता उसे समझ नहीं सकती। इसलिये भगवान् महावीर ने अपनी धर्म-देशना संस्कृत में न देकर प्राकृत में दी। वे तो सर्वज्ञ थे। संस्कृत भाषा के ज्ञान से परिपूर्ण थे परंतु उन्हें अपना पांडित्य प्रदर्शित नहीं करना था, लोगों का कल्याण करना था। यह भगवान् महावीर की, भाषा के क्षेत्र में एक अभिनव क्रांति थी। वे यथार्थ द्रष्टा थे। सत्य को जानते थे, परखते थे, उसका आचरण करते थे तथा औरों से सदा आचरण कराने में प्रयत्नशील रहते थे।

आचार्य हेमचंद्र ने अर्धमागधी को आर्ष भाषा कहा है--'ऋषीणामिदमार्षम्'[3]-- यह आर्ष शब्द की

१. (क) समवायांग-सूत्र, समवाय-३४, सूत्र-२२, २३.
(ख) प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ : ३२, ३३.
२. दशवैकालिक-वृत्ति, पृष्ठ : २२३.
३. सिद्ध हेमशब्दानुशासन, अध्ययन-१, सूत्र-३.

व्युत्पत्ति है। ऋषि द्रष्टा अथवा ज्ञानी से संबद्ध विषय को आर्ष कहा जाता है। धर्म-देशना में भगवान् महावीर द्वारा जो अर्द्धमागधी[1] का प्रयोग हुआ है, वह भाषा की दृष्टि से आर्ष है।

आचार्य हेमचन्द्र ने आर्ष के संबंध में लिखा है–'आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति'– अर्थात् आर्ष प्राकृत में प्राय: बहुल या विकल्प होते हैं।

प्राकृत के ख्यातनामा विद्वान् पं. बेचरदास जोशी ने अंग-आगमों की शैली और भाषा पर विशेष रूप से प्रकाश डालते हुए उनके वैविध्य पर तलस्पर्शी विश्लेषण किया है।[2]

आगमों की श्रवण-परम्परा

भगवान् महावीर ने जो धर्म-देशना दी, गणधरों ने बारह अंगों के रूप में उसका संकलन किया।[3] आगम-पुरुष की कल्पना की गई। जैसे पुरुष के शरीर के भिन्न-भिन्न अंग होते हैं, वैसे ही आगम रूपी पुरुष के ये बारह अंग माने गये हैं। इसी के आधार पर द्वादशांगी शब्द का प्रयोग होने लगा।

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशा, अंतकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक, दृष्टिवाद– ये बारह अंग हैं।

आगमों के अध्ययन की एक विशेष परंपरा थी। संघ में उपाध्याय से साधु अंगों की वाचना लेते थे। अपने विद्वान् गुरुजनों से भी वाचना लेते थे। आगमों का मूल पाठ शुद्ध रूप में उच्चारित करना सीखते थे। उसे कंठस्थ करते थे। आचार्य उनको सीखे हुए पाठ का अर्थ समझाते थे। व्याख्या और विश्लेषण करते थे। यह सब श्रवण के आधार से चलता था। कोई आगम लिखित नहीं था। गुरु-शिष्य परंपरा से यह क्रम चलता रहा।

श्रुत या श्रवण के आधार से चलने के कारण आगमों को 'श्रुत' भी कहा गया है। शास्त्रों को कंठस्थ रखने की परंपरा जिस प्रकार जैनों में थी, वैसी ही बौद्धों और वैदिकों में भी थी। वेदों का अध्ययन गुरु-मुख से ही होता था। विद्वान् पिता, पुत्र को बाल्यावस्था से ही वेदों का पाठ सिखाते थे। अथवा गुरु ब्रह्मचर्याश्रम में वेद-पाठ की शिक्षा देते थे। तब वेद भी लिखित नहीं थे। श्रवण के आधार पर या सुनकर सीखे जाने के कारण ही वेदों को श्रुति कहा जाता है। भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित पिटकों को भी कंठस्थ-परंपरा से ही याद रखा जाता था।

---

१. (क) जैन परम्परा का इतिहास, पृष्ठ : ६६
(ख) श्री केवल नवकार मंत्र प्रश्नोत्तर ग्रन्थ, भाग-४, पृष्ठ : ५३
२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-१, पृष्ठ : ५४
३. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश-भाग-२, पृष्ठ : २१२

आगमों का संकलन : प्रथम वाचना

जैन इतिहास में ऐसी मान्यता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग ५६० वर्ष तक आगम-ज्ञान की परंपरा यथावत् रूप में चलती रही। उस समय उत्तरी भारत के पूर्वांचल में जैन धर्म का विशेष प्रचार था।

बिहार का दक्षिणी भाग 'मगध' कहलाता था। पाटलिपुत्र वहाँ की राजधानी थी। चंद्रगुप्त मौर्य का शासन-काल था। मगध में बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा तथा दुर्भिक्ष की परिस्थिति के कारण भिक्षा-प्राप्ति में कठिनाई होने से जैन साधु यत्र-तत्र बिखर गए।

जैन संघ को आगम-ज्ञान की सुरक्षा की चिंता हुई। इसलिये दुर्भिक्ष समाप्त होने पर पाटलिपुत्र में आगमों को व्यवस्थित करने के लिये साधुओं का एक सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसका नेतृत्व आचार्य स्थूलभद्र ने किया। यहीं पर आगमों का संकलन भी किया गया।

बारहवाँ अंग दृष्टिवाद किसी को याद नहीं था। उस समय दृष्टिवाद के, चतुर्दश पूर्वों के धारक– ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे। वे नेपाल में ध्यान-साधनारत थे। उनके पास स्थूलभद्र आदि साधुओं को भेजा गया। स्थूलभद्र ने दृष्टिवाद के १० पूर्व उनसे अर्थ सहित प्राप्त किये तथा आगे के चार पूर्व केवल पाठ रूप में प्राप्त किये। वे चौदह पूर्व इस प्रकार हैं –

१. उत्पाद २. अग्रायणीय ३. वीर्य-प्रवाद ४. अस्ति-प्रवाद ५. ज्ञान-प्रवाद
६. सत्य-प्रवाद ७. आत्म-प्रवाद ८. कर्म-प्रवाद ९. प्रत्याख्यान-प्रवाद
१०. विद्या-प्रवाद ११. कल्याण-प्रवाद १२. प्राण-प्रवाद १३. क्रियाविशाल तथा
१४. लोकबिन्दुसार।" [1]

पूर्वों के ये चौदह नाम श्वेताम्बर-परंपरा में स्वीकृत हैं। दिगम्बर-परंपरा में तीसरा पूर्व प्रथमानुयोग तथा चौथा पूर्व पूर्वगत माना जाता है।

यह वाचना आगमों की प्रथम वाचना कही जाती है। इस वाचना में आगमों का संकलन तो हुआ किंतु उन्हें याद रखने का क्रम 'कंठस्थ-परंपरा' का ही रहा।

द्वितीय वाचना

प्रथम वाचना के २६७-२८० वर्ष के बीच आगमों को व्यवस्थित करने का एक दूसरा प्रयत्न

१. (क) जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ : २०१, २०२.
(ख) नमस्कार-महिमा, पृष्ठ : ५.

उस समय भी बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा था। मथुरा में साधुओं का सम्मेलन हुआ। आगमों यवस्थित किया गया। इस सम्मेलन का नेतृत्व आर्य स्कंदिल ने किया। इसे 'माथुरी वाचना' कहा है।

इसी समय के आसपास सौराष्ट्र में वलभी नामक नगर में आचार्य नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में वैसा मेलन हुआ, जिसमें आगमों का संकलन किया गया, उसे 'वलभी की प्रथम वाचना' कहा जाता ु परंपरा वही कंठाग्रमूलक रही।

य वाचना

कालक्रम से लोगों की स्मृति कम होने लगी। आगम विस्मृत होने लगे। दुर्लभ आगम-ज्ञान की के लिये दूसरी वाचना के लगभग १५३ या १६६ वर्षों के पश्चात् वलभी में आचार्य देवर्धिगणी मण के नेतृत्व में श्रमणों का सम्मेलन हुआ।

श्रमणों की स्मृति के अनुसार आगमों का संकलन हुआ। उन्होंने माथुरीवाचना को मुख्य आधार विभिन्न श्रमण-संघों में प्रचलित पाठांतर– वाचना-भेद आदि का समन्वय किया गया। त्तर बढ़ती हुई स्मरण-शक्ति की दुर्बलता को दृष्टि में रखते हुए इस सम्मेलन में निर्णय किया कि आगमों को लिपिबद्ध किया जाय।

तदनुसार आगमों का लेखन हुआ। प्रयत्न के बावजूद जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका, वहाँ ांतर का संकेत किया गया। बारहवाँ अंग किसी भी श्रमण को स्मरण नहीं था। इसलिये उसका द घोषित किया गया। इस वाचना को 'द्वितीय वलभी वाचना' कहा जाता है।

वर्तमान काल में हमें जो आगम प्राप्त हैं, वे तृतीय वाचना में लिपिबद्ध किये गये थे।[1] ये आगम बर-परंपरा में स्वीकृत एवं मान्य हैं। दिगंबर-परंपरा में इनको प्रामाणिक नहीं माना जाता। वहाँ स्वीकार किया जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद अंग-साहित्य का विच्छेद या। वे भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के सीधे शाब्दिक रूप में किसी भी ग्रंथ को ार नहीं करते। दिगंबर-परंपरा में षट्खंडागम की विशेष मान्यता है, जिनकी लगभग प्रथम ईस्वी ब्दी में रचना हुई।

गमों का विस्तार

जिस प्रकार वेदों के उपवेद, अंग आदि माने जाते हैं, उसी प्रकार जैन आगमों में भी उपांग, मूल,

क) जैन आगम-साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ : २९, ३०. (ख) आगम-युग का जैन दर्शन, पृष्ठ : १८-२०.

छेद आदि के रूप में विस्तृत वाङ्मय का सर्जन हुआ। उनकी संख्या के संबंध में सभी श्वेतांबर जैन संप्रदायों में एक मत नहीं हैं। श्वेतांबर-परंपरा में इस समय मुख्यत: मंदिरमार्गी, स्थानकवासी तथा तेरापंथी तीन संप्रदाय विद्यमान हैं। मंदिरमार्गियों में तपागच्छ और खरतरगच्छ के रूप में मुख्य दो शाखाएं हैं और अवांतर शाखाएं अनेक हैं।

स्थानकवासी-परंपरा में श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ, साधुमार्गी जैन संघ, कच्छ, सौराष्ट्र एवं गुजरात आदि के संप्रदाय इत्यादि कई शाखाएं हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं है। चर्या विषयक मान्यताओं में कहीं-कहीं अंतर है।

स्थानकवासी-संप्रदाय से लगभग २५० वर्ष पूर्व आचार्य रघुनाथजी से पृथक् होकर उनके शिष्य भीखणजी ने 'तेरापंथ' की स्थापना की।

मंदिरमार्गी संप्रदाय में आगमों की संख्या ४५ से ८४ तक मानी जाती है। स्थानकवासी और तेरापंथी बत्तीस आगमों को ही स्वीकार करते हैं। ये बत्तीस आगम तीनों संप्रदायों में सर्वथा स्वीकृत है।

आचारांग आदि उपलब्ध ग्यारह अंगों के अतिरिक्त औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका एवं वृष्णिदशा– ये बारह उपांग हैं।

१. व्यवहार, २. बृहत्कल्प, ३. निशीथ, ४. दशाश्रुत स्कंध– ये चार छेद सूत्र हैं।

१. दशवैकालिक, २. उत्तराध्ययन, ३. नंदी, ४. अनुयोग द्वार– ये चार मूल तथा एक आवश्यक कुल मिलाकर बत्तीस आगम होते हैं।

चार अनुयोग

आगमों में आये हुए विषय, उनके भेद-प्रभेद, विवेचन-विश्लेषण आदि की दृष्टि से आचार्य आर्य रक्षितसूरि ने आगमों को चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग तथा द्रव्यानुयोग– इन चार अनुयोगों या विभागों में विभाजित किया।[१]

१. चरणकरणानुयोग

चरणकरणानुयोग में वे आगम लिये गये हैं, जिनमें आत्मा के मूलगुण– सम्यक् दर्शन, सम्यक्

१. (क) जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृष्ठ : २४.
(ख) नमस्कार-चिन्तामणि, पृष्ठ : ६४.

ज्ञान, सम्यक् चारित्र, व्रत, संयम, वैयावृत्य, तप, कषाय-निग्रह आदि तथा पिंड-विशुद्धि, समिति, गुप्ति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रिय-निग्रह, प्रतिलेखन तथा अभिग्रह आदि का विवेचन है।

२. धर्मकथानुयोग

धर्मकथानुयोग में– दया, क्षमा, ऋजुता, मृदुता, दान, शील आदि धर्म के अंगों का विवेचन है। इसके लिये विशेष रूप से कथानकों या आख्यानों का आधार लिया गया है।

३. गणितानुयोग

इसमें गणितानुयोग संबंधी विषयों का वर्णन है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, पृथ्वी तथा ग्रहों के गतिक्रम आदि का विवेचन है।

मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' ने 'विश्व प्रहेलिका' नामक पुस्तक में विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन एवं जैन दर्शन के आलोक में विश्व की वास्तविकता, आयतन व आयु की मीमांसा के अन्तर्गत, दिगम्बर-परंपरा एवं श्वेताम्बर-परंपरा की मान्यता के अनुसार जो गाणितिक विवेचन किया है, उससे गणितानुयोग को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।[१]

४. द्रव्यानुयोग

इसमें जीव, अजीव आदि छह द्रव्यों और नव तत्त्वों का विस्तृत एवं सूक्ष्म विश्लेषण है।

बत्तीस आगमों में चारों अनुयोगों से संबद्ध सामग्री को श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के उपाध्याय, पंडित-रत्न श्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने एक-एक अनुयोग के रूप में एक स्थान पर संगृहीत कर पृथक्-पृथक् चार अनुयोगों के रूप में ग्रन्थ संपादित किये हैं, जो वस्तुतः विषयानुक्रम के आधार पर आगमों का अध्ययन करने वालों के लिये बहुत ही उपयोगी है।

आगम-परिचय

आगमों में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र मूलक रत्नत्रय के आधार पर विविध विषयों का विश्लेषण हुआ है। उनमें साधुओं के आचार, मर्यादा एवं दैनंदिन चर्या विषयक नियम, जीव, अजीव आदि तत्त्वों का, दृष्टांतों और कथानकों के आधार पर विश्लेषण तथा उस संदर्भ में जन-जीवन के विविध पक्षों का विस्तृत वर्णन है।

भारत के प्राचीन साहित्य में आगमों का केवल जैन धर्म और दर्शन के विश्लेषण की दृष्टि से ही

१. विश्वप्रहेलिका, पृष्ठ : ९३-१२३.

महत्त्व नहीं है अपितु उस समय की सामाजिक व्यवस्था, रीति-नीति, व्यवसाय, खान-पान, रहन-सहन, कृषि, उस समय प्रचलित धार्मिक मान्यताएं आदि का भी वर्णन पाया जाता है। वैसा वर्णन बौद्ध-पिटकों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता।

वैदिक आदि अन्य वाङ्मय में प्राय: राजा, सामन्त, श्रेष्ठी, विशिष्ट जन, ऋषि-मुनि आदि उच्च वर्ग का विशेष रूप से वर्णन प्राप्त होता है।

जैनागमों का यहाँ संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है–

अंग आगम

१. आचारांग-सूत्र

अंग-साहित्य का यह प्रथम आगम है। इसमें संपृक्त आचार शब्द से यह स्पष्ट होता है कि इसमें आचार का वर्णन है। आचार की दृष्टि से साधु जीवन सर्वोच्च माना जाता है क्योंकि साधु के व्रत निरपवाद होते हैं। 'आचार' मोक्ष प्राप्ति का अनन्य अंग है।

आचारांग में दो श्रुतस्कंध हैं। पहले में नौ और दूसरे में सोलह अध्ययन हैं। इसके प्रथम श्रुत-स्कंध के अन्तर्गत भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है। अत: ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्त्व हैं।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से आचारांग में प्रयुक्त भाषा अर्धमागधी का प्राचीन रूप है। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. हर्मन जेकोबी ने भाषा की दृष्टि से आचारांग का बहुत महत्त्व माना है।

आचार्य शीलांक की इस सूत्र पर संस्कृत में महत्त्वपूर्ण टीका है। और भी व्याख्या-साहित्य इस पर प्राप्त होता है।

२. सूत्रकृतांग-सूत्र

यह दूसरा अंग-सूत्र है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। दार्शनिक दृष्टि से इस आगम का बड़ा महत्त्व है। इसके प्रथम श्रुतस्कंध में अनेक वादों का वर्णन है, जिनमें पंचमहाभूतवाद, एकात्मषष्ठवाद, अकारकवाद, क्षणिकवाद आदि मुख्य हैं। ये प्राचीन वाद थे, जिनका भगवान् महावीर के समय में प्रचार था। यद्यपि जो वर्णन आया है, उसके आधार पर उन वादों को आज के छह दर्शनों के साथ सीधा नहीं जोड़ा जा सकता किन्तु ऐसा लगता है कि उन दर्शनों के प्रारंभ में इसी प्रकार का स्वरूप रहा हो तथा उन्होंने तब तक सुव्यवस्थित रूप प्राप्त नहीं किया हो।

सूत्रकार ने इन दर्शनों का पूर्वपक्ष के रूप में वर्णन कर जैन दर्शन की यथार्थता का प्रतिपादन

किया है। इस आगम में जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है। भाषा की दृष्टि से विद्वानों ने आचारांग के समान इसे प्राचीन बतलाया है।

३. स्थानांग-सूत्र

यह तीसरा अंग है। यहाँ स्थान का अर्थ विभाग है। यह दस स्थानों में विभक्त है। इसमें संख्या के क्रम से विभिन्न विषयों का वर्णन है। जो पदार्थ संख्या में एक हैं, उनका पहले स्थान में तथा दो, तीन, चार से लेकर जो पदार्थ दस तक हैं, उनका क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे से लेकर दसवें तक के स्थानों में वर्णन है।

बौद्ध साहित्य में भी अंगुत्तरनिकाय स्थानांग जैसा ही ग्रंथ है। स्थानांग में जीव, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण, भवन, विमान, पर्वत, नदी, समुद्र, सूर्य आदि विभिन्न विषयों के संकेत प्राप्त हैं।

४. समवायांग-सूत्र

समावायांग चौथा अंग सूत्र है। इसकी भी वर्णन-शैली स्थानांग की तरह है। स्थानांग में जहाँ एक से दस तक के पदार्थों का वर्णन है, वहाँ समवायांग में एक से सौ तक का वर्णन पाया जाता है। आगे बढ़ते-बढ़ते कोटानुकोटि पदार्थों तक का इसमें वर्णन है। स्थानांग में आया हुआ वर्णन विस्तृत है।

समवायांग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चारों दृष्टियों से विवेचन हुआ है। संख्या के आधार पर तत्त्वों को याद रखने की दृष्टि से स्थानांग और समवायांग का अध्येताओं के लिये बहुत महत्त्व है।

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र

अंग-साहित्य में यह पाँचवाँ अंग है। इसे भगवती भी कहा जाता है, जो पूज्यत्व या सम्मान का सूचक है। भगवान् महावीर और गणधर गौतम के प्रश्नोत्तर के रूप में इसमें तत्त्वों की व्याख्या की गई है। इसमें एक श्रुतस्कंध, ४१ शतक, १००० उद्देशक और ३६००० प्रश्नोत्तर हैं, जिनमें अनेक विषय चर्चित हैं। यह आगम अत्यंत विशाल एवं समृद्ध है, इसमें द्रव्यानुयोगादि से संबंधित विषयों का विस्तार से वर्णन है।

इसमें भगवान् महावीर के जीवन का, उनके उपासकों का, अन्य धर्मनायकों तथा उनकी मान्यताओं का यथाप्रसंग वर्णन है। तत्त्व-दर्शन, आचार, लोक, परलोक तथा इनसे संबंधित प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषय इसमें वर्णित हैं। यह एक प्रकार से तत्त्वज्ञान का विशाल समुद्र कहा जा सकता है।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रारंभ में 'णमोक्कार महामंत्र' का मंगलाचरण के रूप में उल्लेख हुआ है। अंग-सूत्रों में सबसे पहले णमोक्कार महामंत्र का प्रयोग इसी में पाते हैं।

गोशालक का, जो भगवान् महावीर का शिष्य था, बाद में विद्रोही होकर जिसने नियतिवाद का सिद्धांत प्रचलित किया, इस आगम में जितना विस्तार से वर्णन है, वैसा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

भगवती-सूत्र को यदि जैन धर्म या दर्शन का विश्वकोश (Encyclopaedia) कहा जाय तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

६. ज्ञातृधर्मकथा-सूत्र

इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन हैं। दृष्टांतों के आधार पर तत्त्वों का विवेचन हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध में १० वर्ग हैं। उनमें कथानकों के आधार पर धर्म का विवेचन है। यह धर्मकथानुयोग का मुख्य ग्रंथ है।

७. उपासकदशांग-सूत्र

इस अंग में एक श्रुतस्कंध और दस अध्ययन हैं। जैन धर्म में गृहस्थ अनुयायी को 'श्रमणोपासक' कहा जाता है। श्रमण का अर्थ साधु है। उपासक का अर्थ समीप बैठकर सुनने वाला होता है। गृहस्थ श्रमण से धर्म का उपदेश सुनता है, इसलिये वह उपासक कहा जाता है। इस आगम में ऐसे दस उपासकों का वर्णन है, जो भगवान् महावीर के प्रमुख अनुयायी थे।

पहले अध्ययन में आनंद श्रावक का विस्तार से वर्णन है। उसने भगवान् महावीर से जो व्रत लिये उनका विवेचन है, जो श्रावकों के लिये पठनीय हैं। आनंद श्रावक के वर्णन से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, व्यापारिक आदि लौकिक स्थितियों का परिचय प्राप्त होता है।

आगे के अध्ययनों में जिन श्रावकों का वर्णन आया है, वे भी बड़े दृढ़धर्मी थे। बाधाएँ आने पर भी उन्होंने धर्म को नहीं छोड़ा। एक साधनाशील श्रावक का जीवन उत्तरोत्तर कितना निर्मल और पवित्र बनता जाता है, यह इस आगम के अध्ययन से ज्ञात होता है।

८. अन्तकृद्दशा-सूत्र

यह आठवाँ अंग-सूत्र है। जिन्होंने जन्म-मरण का अंत किया, उनका इसमें वर्णन है। कषाय-वर्जन और तपश्चरण की साधना से जन्म-मरण का अंत होता है, मोक्ष प्राप्त होता है। इस आगम का यही दिव्य-संदेश है।

९. अनुत्तरौपपातिक-सूत्र

इसमें एक श्रुतस्कंध और तीन वर्ग हैं। इसमें भगवान् महावीर के समय के उन तपस्वी साधकों का वर्णन है, जिन्होंने अपनी साधना द्वारा अनुत्तरविमान देवलोक में जन्म लिया। वे वहाँ से अपना आयुष्य पूर्ण कर, मनुष्य-जन्म प्राप्त कर, मोक्ष प्राप्त करेंगे।

१०. प्रश्नव्याकरण-सूत्र

इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। दोनों में पाँच-पाँच अध्ययन हैं। पहले में प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, और परिग्रह का पाँच आस्रव-द्वारों के रूप में वर्णन है। इनके द्वारा कर्म-प्रवाह आता है, अत: ये आस्रव-द्वार है। दूसरे श्रुतस्कंध में प्राणातिपात-वर्जन, मृषावाद-वर्जन, अदत्तादान-वर्जन, अब्रह्मचर्य-वर्जन और परिग्रह-वर्जन– इन पाँच संवरों द्वारा आस्रवों के निरोध का वर्णन है। इसलिये ये संवर-द्वार कहलाते हैं।

प्रश्नव्याकरण का आज जो रूप प्राप्त है, वह पहले नहीं था, क्योंकि स्थानांग सूत्र में प्रश्न-व्याकरण के दस अध्ययनों का वर्णन है, जहाँ क्रमश: उपमा, संख्या, ऋषि-भाषित, आचार्य-भाषित, महावीर-भाषित आदि का उल्लेख है, जो प्रश्नव्याकरण के वर्तमान रूप से भिन्नता प्रगट करता हैं। समवायांग-सूत्र में भी प्रश्नव्याकरण का भिन्न रूप में उल्लेख है।

यह किस प्रकार, कब परिवर्तन हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। यह परिकल्पना की जा सकती है संभव है, यह आगम किसी भी मुनि को स्मरण न रहा हो, पूर्ति हेतु किसी विद्वान् साधु ने इन दो श्रुतस्कंधों की प्रतिष्ठापना की हो।

११. विपाक-सूत्र

यह ग्यारहवाँ अंग है। विपाक का अर्थ फल या परिणाम होता है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। पहला दु:खविपाक और दूसरा सुखविपाक है। प्रथम श्रुतस्कंध में दूषित या पापपूर्ण व्यक्तियों का वर्णन है। वर्णन इतना मार्मिक है कि पाठक को वैसे जघन्य, पापपूर्ण कार्यो से निवृत्त होने की प्रेरणा प्राप्त होती है। दूसरे श्रुतस्कंध में सत्कृत्य या पुण्यकर्म करने वाले का वर्णन है। पुण्य से ऐश्वर्य, सुख आदि प्राप्त होते हैं। धार्मिक आराधना का अवसर मिलता है तथा जीव साधना-पथ पर आगे बढ़ता हुआ, कर्म क्षय करता हुआ, मोक्ष प्राप्त करता है।

१२. दृष्टिवाद

यह बारहवाँ अंग है। दृष्टि का अर्थ दर्शन तथा वाद का अर्थ चर्चा या विचार-विमर्श है। इसमें संभवत: विभिन्न दर्शनों और विद्याओं की चर्चा रही हो। दृष्टिवाद इस समय लुप्त है। चौदह पूर्वों का ज्ञान दृष्टिवाद के अंतर्गत था।

उपांग-परिचय

संस्कृत में 'उप' उपसर्ग सामीप्य का द्योतक है। उप+अंग = उपांग का अर्थ वे आगम हैं, जो अंग तो नहीं हैं किंतु अंगों के सदृश हैं। अंग-आगमों में जो विषय उल्लिखित हुए हैं, उन पर पूरक सामग्री के रूप में जो और भी सूत्र विरचित हुए, वे उपांगों में परिगृहीत किये गये।

जैन दर्शन में ज्ञान और आचार का बहुत महत्त्व रहा है। अतः अध्ययन, चिंतन, मनन आदि के रूप में शास्त्रीय ज्ञान का उत्तरोत्तर विकास होता रहा।

उपांगों के अंतर्गत आने वाले सूत्र तत्त्वतः अंगों का अनुसरण करते हैं। अंगों के संख्याक्रम के अनुरूप उपांगों का विषय-विवेचन की दृष्टि से तो अंगों के साथ सामंजस्य नहीं है किंतु समुच्चय रूप में उनमें प्रायः वैसे ही विषय व्याख्यात हुए हैं, जैसे अंगों में हैं। अब आगे उपांगों का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया जायेगा।

१. औपपातिक-सूत्र

यह पहला उपांग है। उपपात का अर्थ उत्पन्न होना या जन्म लेना है। इसी से औपपातिक शब्द निष्पन्न हुआ है। इस सूत्र में देवताओं तथा नारकों आदि का जन्म तथा साधकों के सिद्धिगमन का वर्णन है।

इसमें दो अध्ययन हैं। धार्मिक, दार्शनिक आदि सिद्धांतों के सुंदर विवेचन के साथ इसमें सामाजिक, लौकिक जीवन की भी चर्चा है। जैन आगमों के रचना-क्रम की एक विशेषता है। नगर, उद्यान, राजा आदि विषयों का जहाँ भिन्न-भिन्न आगमों में उल्लेख आता है, वहाँ उनका वर्णन नहीं किया जाता है। वहाँ 'वण्णओ' शब्द द्वारा यह संकेत किया जाता है कि यह वर्णन दूसरे आगम से लिया जाय। औपपातिक सूत्र में नगरादि का जो वर्णन आया है, अन्य आगमों में यहीं से उसे लेने का संकेत किया गया है।

भगवान् महावीर के शरीर का, अंगोपांगों का तथा समवसरण का बहुत ही सुंदर और विस्तृत वर्णन जैसा इस आगम में आया है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। एक विशेषता यह है कि इस आगम में जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य संप्रदायों का भी उल्लेख मिलता है। उस समय वानप्रस्थ, परिव्राजक, तापस आदि नामों से और भी अनेक संप्रदाय भारत में प्रचलित थे। उनमें कई ऐसी आचार-परंपरा का पालन करते थे, जो वैदिक और जैन-- दोनों में मिलती थी।

भारत वर्ष में विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के विकास के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह आगम बहुत महत्त्वपूर्ण है।

२. राजप्रश्नीय-सूत्र

यह दूसरा उपांग है। राजप्रश्नीय-सूत्र में एक राजा द्वारा किये गये प्रश्न हैं। सेविया (श्वेतांबिका) नगरी का प्रदेशी नामक राजा था। वह घोर नास्तिक था। आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, स्वर्ग, पुण्य, पाप आदि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था। पार्श्व-परंपरा के महान् संत श्री केशीकुमार का उसे सान्निध्य प्राप्त हुआ। राजा द्वारा किये गये प्रश्नों का उन्होंने बहुत ही सुंदर एवं युक्तिपूर्ण समाधान किया। राजा आस्तिक बन गया। इस सूत्र में साम, दाम, दंड, भेद, कलाचार्य, शिल्पाचार्य, शास्त्र, मंत्र आदि तथा बहत्तर कलाओं का भी उल्लेख है।

३. जीवाजीवाभिगम-सूत्र

यह तीसरा उपांग है। इसमें जीव और अजीव का अभिगम ज्ञान या विवेचन है। वस्तुत: ये दो ही मुख्य तत्त्व हैं, शेष तो इनका विस्तार हैं। इस आगम में गणधर गौतम और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तरों के रूप में जीव एवं अजीव तत्त्व के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन है। इसमें ४७०० श्लोक प्रमाण सामग्री है। इस आगम में संस्कृति, कला, अढ़ाई द्वीप, चौबीस दंडक इत्यादि का वर्णन है।

४. प्रज्ञापना-सूत्र

यह चौथा उपांग है। इसकी रचना क्षमाचार्य ने की, ऐसा माना जाता है। इसमें जैन धर्म तथा दर्शन के सिद्धांतों का बहुत ही विस्तार से विवेचन हुआ है। अंगों में जैसा व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र का स्थान है, वैसा ही उपांगों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रज्ञापना का अर्थ विशेष रूप में ज्ञापित करना या ज्ञान करना है। इस सूत्र से सैकडों थोकड़े-तात्त्विक विवेचन-समुच्चय नि:सृत हैं, जो इसमें व्याख्यात विषय-सामग्री के कारण सार्थक हैं। इसे एक प्रकार से ज्ञान-विज्ञान का कोष कह सकते हैं। इसमें साहित्य, इतिहास, भूगोल आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख है।

कर्म-आर्य, शिल्प-आर्य, भाषा-आर्य आदि आर्यों के भेदों का, पशु-पक्षी आदि के अनेक भेद-प्रभेदों का इसमें संकेत प्राप्त होता है। इसमें ७७८७ श्लोक प्रमाण सामग्री उपलब्ध है।

५. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति-सूत्र

यह पाँचवाँ उपांग है। जैन भूगोल के अनुसार वर्तमान जगत् जंबूद्वीप का एक भाग है। यह सूत्र दो भागों में विभक्त है। पूर्व भाग में चार और उत्तर भाग में तीन वक्षस्कार हैं। इसमें जंबूद्वीप, भरतक्षेत्र, इसके अंतर्गत विद्यमान पर्वत, नदी आदि का तथा उत्सर्पिणी ; अवसर्पिणी कालचक्र आदि का विवेचन किया गया है।

इसमें कुलकरों का, भगवान् ऋषभदेव के जीवनवृत्त का तथा भरत चक्रवर्ती के छः खंड साधने की रीति आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह ४१४६ श्लोक प्रमाण है।

६.-७. चंद्रप्रज्ञप्ति-सूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति-सूत्र

इन्हें छठा और सातवाँ उपांग माना जाता है। इनमें सूर्य, चंद्रमा तथा नक्षत्रों की गति आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। द्वीपों और सागर आदि का भी वर्णन है । उत्तरायण, दक्षिणायन आदि ज्योतिष संबंधी विषय भी इनमें निरूपित हैं।

ये दोनों पाठ की दृष्टि से एक समान हैं। केवल अंतर इतना ही है कि सूर्यप्रज्ञप्ति के प्रारंभ में 'वीरत्थुई' के नाम से मंगलाचरण की चार गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् 'तेणं कालेणं तेणं समएणं मिहिला णामं णयरी होत्था वण्णओ', इस वाक्य से इस आगम का प्रारंभ होता है। चंद्रप्रज्ञप्ति में मंगलाचरण की वे चार गाथाएँ नहीं है, जो सूर्यप्रज्ञप्ति में हैं।

८. निरयावलिका-सूत्र

यह आठवाँ उपांग है। निरयावलिका या कल्पिका के अंतर्गत निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका एवं वृष्णिदशा– ये पाँच उपांग हैं। निरयावलिका या कल्पिका में दश अध्ययन हैं। निरय का अर्थ नरक है। इसमें नरकगामी जीवों का वर्णन है। मगध देश के प्राचीन इतिहास को जानने की दृष्टि से इस आगम में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। संसार के संबंधों की अनित्यता तथा संसार की विचित्रता का इसमें विशद विवेचन है।

९. कल्पावतंसिका

यह नौवाँ उपांग है। इसमें दस अध्ययन हैं। राजा श्रेणिक के दस पौत्रों का इसमें जीवनवृत्त है। उन्होंने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। साधना द्वारा आयुष्य पूर्ण कर वे स्वर्गवासी हुए। वहाँ से वे पुनः आयुष्य पूर्णकर मनुष्य रूप में जन्म लेंगे तथा व्रतमय जीवन स्वीकार कर कर्म-मुक्त हो, सिद्धावस्था को प्राप्त होंगे।

१०. पुष्पिका

यह दसवाँ उपांग है। इसमें दश अध्ययन हैं। चंद्र, सूर्य, शुक्र, मानभद्र आदि के पूर्वभवों का तथा सोमिल ब्राह्मण का वर्णन है। भगवान् पार्श्वनाथ का संवाद एवं बहुपुत्रिका देवी का अधिकार भी उल्लेखनीय है।

११. पुष्पचूलिका

यह ग्यारहवाँ उपांग है। इसमें दस अध्ययन हैं। सौधर्मकल्प में निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति,

कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सूरा, रसा, गंधा आदि देवियों का, जो अपने पूर्वभव में भगवान् पार्श्वनाथ की अनुयायिनी थीं, जो संयम की विराधना करके देवियाँ हुई, वर्णन है। ये सभी देवियाँ आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह-क्षेत्र में उत्पन्न होंगी और संयम की आराधना करके सिद्धत्व प्राप्त करेंगी।

१२. वृष्णिदशा

यह बारहवाँ उपांग है। इसमें बारह अध्ययन हैं। इसमें यादव कुलोत्पन्न बारह राजकुमारों का वर्णन हैं। इन्होंने दीक्षा अंगीकार की। द्वारिका के राजा श्रीकृष्ण वासुदेव तथा बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि का भी विशेष रूप से वर्णन है। यदुवंशी राजाओं का यहाँ जो वर्णन किया गया है, वह भागवत में वर्णित चरितों से तुलनीय है।

चार मूल-सूत्र

तेरहवीं शताब्दी तक 'मूल सूत्र' के रुप में विभाग नहीं हुआ था। आचार्य प्रभाचंद्र ने 'प्रभावक चरित' नामक ग्रंथ में सबसे पहले अंग, उपांग, मूल, छेद रूप में आगमों के विभाजन का उल्लेख किया, तत्पश्चात् आचार्य समयसुंदर ने 'समाचारी शतक' में इसका उल्लेख किया है।

यहाँ आगमों के साथ आया हुआ मूल शब्द श्रमणों के आचार संबंधी मूल गुण, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि से संबद्ध है। इसके अनुसार श्रमण-जीवन की चर्या के अनुसरण में, मूल गुण पालन में मूलत: ये आगम एक प्रकार से सहायक बनते हैं। इसलिए इनका अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है। संभवत: इसी चिंतन के अनुसार दीक्षा लेने के पश्चात् सबसे पहले क्रमश: दशवैकालिक-सूत्र, उत्तराध्ययन-सूत्र आदि का अध्ययन कराया जाता है।

ऐसा प्रसिद्ध है– पहले आगमों का अध्ययन आचारांग-सूत्र से कराया जाता था, क्योंकि आचारांग में साधु के आचार का विवेचन है किंतु जब से आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक-सूत्र की रचना की, तब से सबसे पहले दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन कराया जाने लगा।[1]

प्रायश: दशवैकालिक-सूत्र, उत्तराध्ययन-सूत्र, नंदी-सूत्र तथा अनुयोगद्वार-सूत्र– इन चार आगमों को मूल सूत्र माना जाता है।

१. दशवैकालिक-सूत्र

विकाल शब्द का अर्थ 'संध्या' है। संध्या-काल में अध्ययन किये जाने के कारण इसका नाम दशवैकालिक पड़ा। इसकी रचना आचार्य शय्यंभव ने की। वे विद्वान् आचार्य थे। उनके पुत्र मणक ने

१. व्यवहार भाष्य, उद्देशक-३, गाथा-१७३.

उनके पास दीक्षा ली, जो शैशवावस्था में ही था। उन्होंने दिव्य ज्ञान से जाना कि बालमुनि का आयुष्य केवल छह महिने का ही है। उन्होंने उसे आगमों का ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र की रचना की।

इसमें बड़े ही सरल और संक्षिप्त रूप में आगमों के सिद्धान्त एवं आचार वर्णित हैं। साधुचर्या के सम्यक् निर्वाह के लिये वास्तव में यह संक्षिप्त होते हुए भी बहुत उपयोगी कृति है।

२. उत्तराध्ययन-सूत्र

यह केवल मूल-सूत्रों में ही नहीं परन्तु समस्त आगम-साहित्य में एक बहुत उपयोगी रचना है। वैदिक साहित्य में 'गीता' का और बौद्ध साहित्य में 'धम्मपद' का जो स्थान है, जैन साहित्य में इसका वही स्थान है।

आचार्य भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति की रचना की। जिनदासगणी महत्तर ने इस पर चूर्णि लिखी। और भी अनेक आचार्यों ने इस पर संस्कृत में टीकाएँ लिखीं। यह सूत्र साहित्यिक शैली में रचा गया है। काव्य की तरह इसमें रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, दृष्टांत, विभावना, विशेषोक्ति आदि अलंकारों का बहुत सुंदर प्रयोग हुआ है। काव्यात्मक शैली में संवाद तथा कथोपकथन इसमें बड़े रोचक रूप में प्राप्त हैं। वैराग्य, त्याग, धैर्य, समत्व तथा संयम आदि का इसमें उपदेश दिया गया है।

सुप्रसिद्ध जर्मन के विद्वान्, जैन आगमों के गहन अध्येता डॉ. विन्टरनीत्ज ने इसे श्रमण-काव्य कहा है। विषयों की विविधता और सुरुचिपूर्ण शैली के कारण यह बड़ा आकर्षक है।

इसके ३६ अध्ययनों में अनेक महत्त्वपूर्ण उपाख्यान, कथानक आदि हैं। रथनेमि और राजीमती का प्रकरण बड़ा मार्मिक है। तेबीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा के प्रमुख श्रमण केशीकुमार तथा भगवान् के प्रधान गणधर गौतम का पंच-महाव्रत एवं चातुर्याम-संवर आदि विषयों पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण वार्तालाप है।

प्राकृत-व्याकरण के जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. पिशल ने दशवैकालिक-सूत्र और उत्तराध्ययन-सूत्र को भाषा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है।

जैन-परंपरा में ऐसा माना जाता है कि भगवान् महावीर जब अपने अंतिम समय में पावापुरी में थे, तब उन्होंने मोक्षगमन से पूर्व वहाँ उपस्थित अठारह देश के राजाओं आदि की परिषद् के समक्ष विपाक के ११७ और उत्तराध्ययन-सूत्र के छत्तीस अध्ययनों का सोलह प्रहर तक उपदेश किया था। उत्तराध्ययन में दो हजार एक सौ (२१००) श्लोक-प्रमाण सामग्री है।

३. नंदी-सूत्र

विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि नंदी-सूत्र और अनुयोगद्वार-सूत्र अन्य आगमों की तुलना में

आर्वाचीन हैं। जैन-आचार्य-पट्टावली में दूष्यगणी का नाम प्राप्त होता है। उनके शिष्य का नाम देववाचक था। उन्होंने नंदी-सूत्र की रचना की।

कुछ विद्वान् वलभी में संपादित तृतीय आगम-वाचना के निर्देशक आचार्य देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तथा देववाचक को एक ही मानते हैं परंतु उन दोनों का अलग-अलग परिचय प्राप्त है, जिससे दोनों का एक होना साबित नहीं होता।

इस सूत्र पर आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि ने टीकाएँ रचीं। इसमें ज्ञान के भेद-प्रभेदों का विस्तार से विवेचन हुआ है। इसमें अन्यान्य शास्त्रों और दर्शनों की भी चर्चा आई है।

इसमें अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में श्रुत के दो भेद बतलाएं हैं। जो आगम गणधरों द्वारा संग्रथित हुए, वे अंगप्रविष्ट कहलाते हैं तथा जो स्थविरों द्वारा रचे गएं, वे अंगबाह्य कहलाते हैं।

४. अनुयोगद्वार-सूत्र

प्राकृत तथा आगम-साहित्य के विद्वानों द्वारा यह माना जाता है कि अनुयोगद्वार-सूत्र की भाषा विषम-विवेचन की दृष्टि से अर्वाचीन है। आर्यरक्षित नामक आचार्य ने इस सूत्र की रचना की। जिनदासगणी महत्तर ने इस पर चूर्णि की रचना की। आचार्य हरिभद्र तथा मलधारी हेमचंद्र ने टीकाओं की रचना की।

इस आगम में प्रश्नोत्तर-शैली में पल्योपम, सागरोपम आदि प्रमाणों का, नयों, निक्षेपों और नव-काव्य-रसों का उल्लेख है। संगीत-शास्त्र की भी चर्चा है। अन्य शास्त्रों और दर्शनों का भी उल्लेख है।

छेद-सूत्र

'छेद' शब्द का अर्थ काटना, छिन्न करना या मिटाना है। यद्यपि साधु अपने आचार-पालन में जागरूक रहते हैं किन्तु फिर भी दोष लगने की आशंका रहती हैं क्योंकि वे भी मानव हैं, गृहस्थ समाज से साधु-जीवन में आए हैं, त्रुटियाँ– स्खलनाएँ हो सकती हैं। दोष लगते ही साधु उस पर ध्यान दे, यह आवश्यक है। जो वैसा नहीं करता– वह अपने स्थान से च्युत हो जाता है। यह उसके लिये पतन की बात है। इसलिये यदि दोष लग जाये तो प्रायश्चित्त द्वारा उसे मिटाये– नष्ट करे। छेद-सूत्रों में प्रायश्चित आदि के विविध विधिक्रमों का प्रतिपादन किया गया है।

१. व्यवहार-सूत्र

जैन-परंपरा में ऐसी मान्यता है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने इसकी रचना की। इस पर

निर्युक्ति और भाष्य लिखे गए। यह दस उद्देशकों में विभाजित है। इसमें कहा गया है कि अज्ञान और प्रमाद के कारण कोई दोष लग जाए तो आलोचना और प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रायश्चित्त किस प्रकार किये जाएँ, इस संबंध में इस में विवेचन किया गया है। साधु, साध्वी के आहार-व्यवहार, एकाकी-विहार इत्यादि के संदर्भ में अनेक नियमों का इसमें वर्णन आया है। भिक्षु प्रतिमा तथा आचार्यों, अंतेवासियों और स्थविरों के भेद आदि का भी इसमें विवेचन है।

इसमें स्वाध्याय करने की विशेष प्रेरणा दी गई है। योग्य समय में स्वाध्याय करने को कहा है, अयोग्य समय में नहीं। साधु के आवास-स्थान, शास्त्राध्ययन, चर्या, तपस्या आदि का विस्तार से इसमें विवेचन हुआ है। यह ६०० श्लोक-परिमित है।

२. बृहत्कल्प-सूत्र

इस सूत्र में जैन श्रमणों की प्राचीन आचार-संहिता का विवेचन है। इसमें छह उद्देशक हैं। उनमें स्थान, वस्त्र, पात्र, आदि का वर्णन है, जो साधु, साध्वी के लिये संयम-पालन में सहायक तथा बाधक दोनों ही बन सकते हैं। यदि उन्हें नियमपूर्वक ग्रहण किया जाय तो वे साधु-चर्या के सम्यक् निर्वाह में सहायक सिद्ध होते हैं और यदि अनियमित रूप में उनका सेवन किया जाय तो संयम में बाधक और विघ्नोत्पादक होते हैं।

इस सूत्र में साधु, साध्वी के विहार-संबंधी नियमों का प्रतिपादन है। किन स्थितियों में एक साधु एक साध्वी को या एक साध्वी एक साधु को सहयोग करे– इस संबंध में वर्णन किया गया है। इसके रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। इसमें ४३७ श्लोक-प्रमाण सामग्री है।

३. निशीथ-सूत्र

संस्कृत में निशीथ का अर्थ 'अर्धरात्रि' है। अर्धरात्रि अंधकार-बहुल होती है। साधु-साध्वी जब नियम भंग करते हैं तो उनका यह कार्य अंधकार के तुल्य है। प्रकाश ज्ञान का और अंधकार अज्ञान का सूचक है।

साधु-साध्वी अपने संयम-पालन में, जीवन की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने में सदा जागरूक रहें, यह आवश्यक है। निशीथ-सूत्र में उनके का आचार का वर्णन है। साधु-साध्वियाँ परस्पर किस प्रकार व्यवहार करें, इसकी चर्चा है। उत्सर्ग-मार्ग और अपवाद-मार्ग की दृष्टि से भी वर्णन है। आचार संबंधी नियमों का भंग होने पर तदनुरूप कैसा प्रायश्चित्त दिया जाय, इस संबंध में भी उल्लेख है। यह सूत्र २० बीस उद्देशकों में विभक्त है।

इसके पहले उद्देशक में ब्रह्मचर्य-पालन के संबंध में विशेष रूप से उद्‌बोधन दिया गया है। इसमें

विविध प्रकार के प्रायश्चित्तों की विधियों का विशेष रूप से विवेचन है। साधुओं को दोष लगने पर आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं। अतः आचार्य के लिए इस सूत्र का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

निशीथ-सूत्र को आचारांग-सूत्र की द्वितीय चूलिका के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसका एक नाम आचारकल्प भी है। इसमें ८१५ श्लोक-परिमित सामग्री है।

४. दशाश्रुतस्कंध-सूत्र

इसके रचनाकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और दशाश्रुतस्कंध के रचनाकार भद्रबाहु एक ही थे या भिन्न थे ?

विद्वानों का ऐसा मानना है कि ये दोनों अलग-अलग थे। यहाँ कठिनाई यह है कि भद्रबाहु नाम के कई आचार्य हुए हैं। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से इस सम्बन्ध में हैं कुछ कहा नहीं जा सकता कि इसके रचनाकार कौन से भद्रबाहु थे।

दशाश्रुतस्कन्ध का दूसरा नाम आचारदशा है। इसमें दस विभाग हैं। इस सूत्र के प्रारंभ में अब्रह्मचर्य विषयक कर्म, रात्रि-भोजन, राजपिंड-ग्रहण तथा एक मास के अंतर्गत एक गण का परित्याग कर दूसरे गण में चले जाने वाले साधु के लिये क्या-क्या प्रायश्चित्त हैं। इसका उल्लेख है।

इसमें आचार्यों की आठ संपदाओं तथा गणि-संपदाओं की विशेष रूप में चर्चा है। आचार, श्रुत, देह, वाणी, वाचना, मति, प्रयोगमति तथा संग्रह का आठ संपदाओं में समावेश है।[1]

भगवान् महावीर के जीवन-वृत्त का, पंच-कल्याणक का भी इसमें उल्लेख आता है। इसकी भाषा में प्रौढ़ता और शैली में काव्यात्मकता दृष्टिगोचर होती है। इसमें क्रियावादी, अक्रियावादी इत्यादि अन्य संप्रदायों का भी वर्णन है। भगवान् ऋषभदेव, भगवान् अरिष्टनेमि तथा भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र भी संक्षेप में प्रतिपादित हैं। इसमें १८३० श्लोक-प्रमाण सामग्री है।

आवश्यक-सूत्र

जैन आगम-साहित्य में आवश्यक-सूत्र का अत्यंत महत्त्व है। एक साधु अपने जीवन में भलीभाँति संयम का पालन करता रहे, इस हेतु उसे जागरित रहना अत्यन्त आवश्यक है।

साधु-जीवन में जागरूकता हेतु सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान के रूप में छह आवश्यक निर्देशित किये गये हैं, जिन्हें नित्य करना आवश्यक है, इसलिये यह सूत्र आवश्यक सूत्र के नाम से अभिहित हुआ।

---

१. दशाश्रुतस्कंध, चौथी दशा, सूत्र- १-८, पृष्ठ : २०, २१.

१. सामायिक

यह प्रथम आवश्यक है। यह जावज्जीव (यावज्जीवन) सावद्य-योग के प्रत्याख्यान तथा त्याग-वैराग्य प्राप्त करने का प्रतिज्ञा-सूत्र है। सामायिक में साधु विषम भाव का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होता है तथा राग-द्वेष आदि भावों के परित्याग का आंतरिक संकल्प लेता है, जिससे साधु में आत्म-पराक्रम का संचार होता है।[१]

सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्रतिपादित 'सामायिक' मोक्ष का अंग– प्रधान कारण है। यह वासीचन्दनकल्प महात्माओं को होता है। जैसे चन्दन तो स्वयं को काटने वाली कुल्हाड़ी को भी अपनी शीतलता और सुरभि ही देता है, वैसे ही सामायिक-व्रती संत-महात्माओं को भी कोई द्वेषवश कितना ही परिताप, कष्ट, निन्दादि से दुःखी करें तो भी वे उसे अपने सुहृद्-भाव से सुखी ही बनाते हैं।[२]

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी 'सामायिक-सूत्र' नामक ग्रंथ में लिखते हैं :–

"सामायिक की साधना हृदय को विशाल बनाने के लिए है। अत एव जब तक साधक का हृदय विश्व-प्रेम से परिप्लावित नहीं हो जाता, तब तक साधना का सुंदर रंग निखर ही नहीं पाता।"[३]

२. चतुर्विंशतिस्तव

चौबीस तीर्थंकर साधु के लिये अनुकरणीय एवं स्तवनीय हैं। उनके स्तवन से उसमें उनके जैसे उच्च गुणों को जीवन में उतारने की तथा उस पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा स्फुरित होती है।

३. वंदना

साधु के जीवन में तीर्थंकरों के पश्चात् अपने गुरुजन का सर्वोपरि स्थान है। तीसरे आवश्यक में गुरु-वंदन का विधान है। साधु के मन में अपने गुरुजन के प्रति भक्ति, श्रद्धा, प्रशस्त भावना, आदर आदि वंदन के अंतर्गत ही आते हैं।

४. प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैन-परंपरा का बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है। इसका अर्थ है वापस लौटना। अर्थात् स्वभाव से विभाव की ओर गमनोद्यत आत्मा को पुनः अपने स्वभाव में लौटाना अथवा अपने स्वरूप में आना प्रतिक्रमण है।

---

१. आवश्यक-सूत्र का सारांश, परिशिष्ट-९, पृष्ठ : १.
२. अभिधान राजेन्द्रकोश में सूक्ति-सुधारस, खण्ड-७, पृष्ठ : १०१.
३. सामायिक-सूत्र, पृष्ठ : ७३.

यह केवल मुँह से बोले जाने वाले शब्दों तक ही सीमित नहीं है। यह आंतरिक भावों की ऐसी संवेगमय दशा है, जिससे मन बाह्य भावों को छोड़ कर आत्मभाव में आने को प्रयत्नशील होता है।

५. कायोत्सर्ग

यह काय+उत्सर्ग इन दो शब्दों के सम्मिलन से बना है। उत्सर्ग का अर्थ परित्याग है। काय या शरीर का त्याग 'कायोत्सर्ग' कहा जाता है। यहाँ यह विचारणीय है कि कोई काय या शरीर का त्याग नहीं कर सकता। शरीर तो जितना आयुष्य-कर्म बंधा हुआ है, वहाँ तक विद्यमान रहता ही है। अत: यहाँ शरीर के उत्सर्ग या त्याग का अर्थ शरीर के प्रति आसक्ति और ममता का त्याग है।

बुद्धियाँ दो प्रकार की बतलाई गई हैं– (१) देहबुद्धि और (२) आत्मबुद्धि। जहाँ आत्म-तत्त्व को ही सत्य अथवा प्रधान माना जाता है, उसे आत्मबुद्धि कहा जाता है। जहाँ देह को ही प्रधान माना जाता है, उसे देहबुद्धि कहा जाता है।

जहाँ आत्मबुद्धि की प्रधानता होती है, वहाँ मनुष्य यह सोचता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ। कायोत्सर्ग में साधक अपने मन में इसी भाव को प्रबल बनाता है। इसकी प्रबलता से आत्म-भाव की वृद्धि होती है।

६. प्रत्याख्यान

यह छठा आवश्यक है। प्रत्याख्यान का अभिप्राय–मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयममय भावों का तथा बाह्य भोज्य पदार्थों का परित्याग करना है, जो क्रमश: भाव-प्रत्याख्यान और द्रव्य-प्रत्याख्यान कहलाते हैं। प्रत्याख्यान से व्रत रूप गुणों का सम्मार्जन होता है। दुष्प्रवृत्तियों का निरोध तथा सत्प्रवृत्तियों का स्वीकार इससे सधता है, इच्छाओं का नियन्त्रण, तृष्णा का परिहार और सद्गुणों का विकास होता है।

आगमों पर व्याख्या–साहित्य

जैन संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के मुख्य आधार आगम हैं। उनमें उन सिद्धांतों, मर्यादाओं तथा आचार-संहिताओं का विस्तृत विवेचन है, जिनके आधार पर जीवन को बल प्राप्त होता है, क्योंकि जीवन का आधार विचार-चेतना है। वैचारिक भित्ति पर ही उसका समग्र विस्तार और विकास टिका हुआ रहता है।

आगमों में ऐसी ही महत्त्वपूर्ण विचार-संपदा सन्निविष्ट है, जिसमें ज्ञान और क्रिया दोनों को परिमार्जित, परिष्कृत और शुद्ध बनाने का मार्ग दिखलाया गया है।

आगमों में संग्रथित तत्त्वों और रहस्यों को विस्तृत रूप में समीचीनतया जानने का सुअवसर जिज्ञासुओं, अध्येताओं तथा पाठकों को प्राप्त हो, इस हेतु आगमों पर आचार्यों, मुनियों और विद्वानों ने व्याख्यामूलक साहित्य की रचना की। वह साहित्य रचनाकारों की अपनी-अपनी रुचि और शैली की दृष्टि से संक्षिप्त, विस्तृत आदि अनेक रूपों में विरचित है। मुख्यतया वह निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका तथा टब्बा आदि के रूप में प्राप्त है।

निर्युक्ति

निर्युक्ति का अर्थ युक्तिपूर्वक मूल आगमों के विषय का विवेचन है। निर्युक्तियों की रचना प्राकृत गाथाओं में हुई। विस्तृत विषय को थोड़े शब्दों में कहने में गद्य की अपेक्षा पद्य में अधिक अनुकूलता होती है। पद्यों को आसानी से स्मृति में रखा जा सकता है।

आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तियों के रचनाकार माने जाते हैं। चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु से वे भिन्न थे, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।

भाष्य

विद्वानों को निर्युक्तियों द्वारा की गई व्याख्या संभवत: पर्याप्त न लगी हो। अत: उन्होंने भाष्यों के रूप में नये व्याख्या-ग्रंथ लिखे।

'भाषितुं योग्यं भाष्यम्' जो भाषित या व्याख्यात करने योग्य होता है अर्थात् जिसके द्वारा विशेष व्याख्या की जाती है, उसे भाष्य कहते हैं। शिशुपालवध में महाकवि माघ ने एक स्थान पर भाष्य का विवेचन करते हुए लिखा है– संक्षिप्त किंतु अर्थ-गरिमा या अर्थ-गंभीरता से युक्त वाक्य का सुविस्तृत शब्दों में विश्लेषण करना भाष्य है।[1]

विद्वानों ने भाष्य की एक अन्य प्रकार से भी व्याख्या की है। "जहाँ सूत्र का अर्थ, उसका अनुसरण करने वाले शब्दों द्वारा किया जाता है, अथवा अपने शब्दों द्वारा उसका विशेष रूप में वर्णन किया जाता है, उसे भाष्य कहा जाता है।"[2] भारतीय साहित्य में भाष्य का व्याख्या-ग्रंथ के रूप में विशेषत: प्रयोग हुआ है।

महर्षि पतंजलि का व्याकरण-महाभाष्य सुप्रसिद्ध है, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी पर उन द्वारा रचित है। आदि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता पर जो व्याख्याएं लिखीं, वे शांकरभाष्य

---

१. शिशुपालवध महाकाव्य, सर्ग- २, श्लोक- २४.
२. संस्कृत हिंदी कोश (वामन शिवराम आप्टे), पृष्ठ : ७३९.

के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य रामानुज, मध्व, निंबार्क, वल्लभ आदि ने भी ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे।

जैन आगमों पर भाष्य भी निर्युक्तियों की ज्यों गाथात्मक शैली में प्राकृत में रचे गये, जिनमें आगमों में वर्णित सिद्धांतों का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का विशेषावश्यक-भाष्य बहुत प्रसिद्ध है।

चूर्णि

भाष्यों के बाद आगमों पर चूर्णियों की रचना हुई। चूर्णि का अर्थ पिसी हुई या चूर्ण की हुई एक वस्तु या मिली हुई एकाधिक वस्तुओं का चूर्णित रूप है। चूर्णियों में आगमों के अनेक विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है। चूर्णियाँ गद्य में रची गईं। उनमें एक विशेष शैली का प्रयोग हुआ है। संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं के मिले-जुले रूप में उनकी रचना हुई, जो मणिप्रवाल-शैली कही जाती है। एक साथ मिश्रित मणि और मूंगे जैसे अलग-अलग दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही उनमें संस्कृत और प्राकृत अलग-अलग दृष्टिगोचर होती है। चूर्णिकारों में जिनदासगणी महत्तर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है।

संस्कृत में टीकाएँ : वृत्तियाँ

आगमों पर जैनाचार्यों, साधुओं तथा श्रावकों की सदैव असीम श्रद्धा रही। आगमों का सर्वाधिक महत्त्व माना गया। इसलिये विद्वानों में यह सदैव उत्साह बना रहा कि इनकी उत्तम व्याख्याएँ की जाती रहें।

व्याख्या और विश्लेषण के लिये संस्कृत का विशेष महत्त्व है। यह बहुत समृद्ध भाषा है। संक्षिप्त शब्दावली द्वारा गहनतम, विस्तृत अर्थ को प्रगट करने में संस्कृत की अपनी अद्‌भुत विशेषता है। भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि से संस्कृत का विश्व की भाषाओं में अनुपम स्थान है। इसका शब्दकोश बहुत विशाल है तथा सूक्ष्मतम भावों को सहजरूप में व्यक्त करने में इस भाषा का असाधारण सामर्थ्य है। अत: जैनाचार्यों ने अंग, उपांग, मूल, छेद आदि आगम-ग्रंथों पर संस्कृत में विशालकाय टीकाएँ लिखीं।

आचारांग तथा सूत्रकृतांग पर आचार्य शीलांक द्वारा संस्कृत में रचित टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। बाकी के नौ अंगों पर आचार्य अभयदेवसूरि ने टीकाएँ रचीं। अत: वे नवांगी टीकाकार कहलाते हैं। और भी अनेक आचार्यों ने अंग, उपांग, मूल आदि ग्रंथों पर टीकाएँ लिखीं। ये टीकाएँ वास्तव में जैन तत्त्वज्ञान की एक अमूल्य-निधि हैं।

टब्बा

आगमों के विशेष शब्दों पर पुरानी गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा में संक्षिप्त अर्थ भी लिखा गया। उन्हें टब्बा कहा गया। टब्बा शब्द संस्कृत के स्तबक शब्द से बना है। स्तबक का अर्थ गुच्छा है। गुच्छों की तरह टब्बों में शब्दों का घुला-मिला अर्थ किया जाता है। साधारण पाठकों को टब्बों द्वारा आगमों का सरल रूप में अर्थ समझने में सुविधा होती है। जो संस्कृत, प्राकृत नहीं जानते हैं, वे भी टब्बों की सहायता से आगमों का सार– रहस्य ज्ञात कर सकते हैं।

लोकभाषाओं में विविध विधाओं में रचनाएँ

प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के पश्चात् आधुनिक भाषाओं का युग आया और ये भाषाएं पारस्परिक व्यवहार, बोलचाल तथा साहित्य-सर्जन के रूप में प्रयुक्त होने लगीं।

जैन साधुओं और उपदेष्टाओं का सदा से इस बात की ओर विशेष ध्यान रहा कि उन द्वारा ऐसे साहित्य की रचना हो, जिससे साधारण जन-समुदाय को शास्त्रीय सिद्धांतों को समझने का एवं स्वाध्याय करने का सुअवसर प्राप्त हो सके। यही कारण है कि गुजराती, राजस्थानी, हिंदी आदि में अनेक ग्रंथों की रचनाएँ हुई।

कविता, गीतिका तथा ढ़ालों के रूप में एवं गद्यात्माक शैली में भी रचनाएँ हुईं। तत्त्व-विवेचन, संस्तवनात्मक भक्ति-काव्य तथा चरित-काव्य आदि के रूप में अनेक विधाओं में ग्रंथ लिखे गए।

कतिपय लेखकों ने आगमों का भी गीतिकाओं या ढ़ालों में अनुवाद किया। उनमें जैन श्वेतांबर स्थानकवासी आचार्य श्रीजयमलजी, आचार्य श्रीरायचंदजी, आचार्य श्री आसकरणजी आदि आचार्यों का अत्यन्त योगदान है तथा तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्री जीतमलजी, जो जयाचार्य के नाम से प्रसिद्ध है, महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने समग्र भगवती-सूत्र का जो अत्यंत विशाल आगम है, राजस्थानी भाषा में गीतिकाओं या ढ़ालों में अनुवाद किया। उन्होंने राजस्थानी में और भी आगम आदि से संबद्ध तथा स्वतंत्र गीतिबद्ध रचनाएं कीं। उन रचनाओं का विस्तार लगभग तीन लाख गाथा-प्रमाण है। जैन विश्व भारती लाडनूं से राजस्थाती-गीतिबद्ध भगवती-सूत्र का प्रकाशन हुआ है।

हिंदी वर्तमान समय में भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत है। इस (बीसवीं) शताब्दी में सबसे पहले स्थानकवासी परंपरा के विद्वान् आचार्य श्री अमोलकऋषिजी ने बत्तीस आगमों का राष्ट्रभाषा हिंदी में अनुवाद किया, जिसका हैदराबाद से प्रकाशन हुआ। वास्तव में आगमों पर उनका यह महान् कार्य था। तत्पश्चात् आचार्य श्री जवाहरलालजी, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ

के प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री आत्मारामजी, आचार्य श्री हस्तीमलजी, जैन श्वेतांबर तेरापंथ के आचार्य श्री तुलसीजी तथा वर्तमान में आचार्य श्री महाप्रज्ञजी द्वारा कतिपय आगमों का हिंदी अनुवाद एवं विवेचन सहित प्रकाशन हुआ है।

इस मध्य बत्तीस आगमों का, जैन शास्त्राचार्य विद्वद्रत्न श्री घासीलाल जी द्वारा रचित संस्कृत टीका तथा हिंदी एवं गुजराती में अनुवाद सहित प्रकाशन हुआ, जो वास्तव में आगम-वाङ्मय के क्षेत्र में उनका महान् योगदान है।

श्रमण संघीय द्वितीय पट्टधर आचार्य श्री आनंदऋषि जी के शासनकाल में पंडित-रत्न युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' द्वारा बत्तीस आगमों के हिंदी अनुवाद तथा विवेचन सहित संपादन का महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में लिया गया, जो अधिकांशत: उनके जीवन-काल में पूर्ण हो गया। जो कुछ अवशिष्ट रहा, वह उनकी अंतेवासिनी, परम विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना' द्वारा पूर्ण किया गया।

महावीर जैन विद्यालय, ग्वालियाटैंक, मुंबई द्वारा मुनिवर्य श्री जंबूविजयजी के संपादकत्व में संस्कृत टीकाओं सहित अंग आगमों के प्रकाशन का कार्य चल रहा है।

स्थानकवासी परंपरा के अंतर्गत श्री नानक आम्नाय के आचार्य श्री सुदर्शनलालजी के निर्देशन में ग्यारह अंगों तथा उनकी संस्कृत टीकाओं के हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशन की योजना है। उसके अंतर्गत विद्वद्वर्य डॉ. श्री छगनलालजी शास्त्री तथा मुनि श्री प्रियदर्शनजी द्वारा संपादित, अनूदित सूत्रकृतांग-सूत्र का श्री श्वेतांबर स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ, गुलाबपुरा (राजस्थान) द्वारा प्रकाशन हुआ है। श्री जैन साधुमार्गी संरक्षक संघ, सैलाना (मध्यप्रदेश) तथा ब्यावर (राजस्थान) द्वारा भी हिंदी अनुवाद सहित अनेक आगमों का प्रकाशन हुआ है।

दिगंबर-परंपरा का साहित्य

चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली आचार्य श्री भद्रबाहु के अनंतर कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ। चवदह पूर्व में से चार पूर्व उनके साथ ही लुप्त हो गए। उनके पश्चात् ग्यारह अंग और दस पूर्व के ही ज्ञाता रहे।

दिगंबर-परंपरा में यह माना जाता है कि आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् भी पाँच आचार्य ग्यारह अंगों के ज्ञाता हुए। पूर्वों का ज्ञान लगभग लुप्त हो गया। थोड़ा कुछ बाकी रहा। तत्पश्चात् चार आचार्य केवल आचारांग के ही ज्ञाता रहे। अंगों का ज्ञान भी लुप्त हो गया। इस प्रकार कालक्रम से विच्छिन्न होते-होते भगवान् महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अंगों और पूर्वों का शेष रहा ज्ञान भी लुप्त होने लगा।

षट्खंडागम की रचना

गिरनार पर्वत पर धरसेन नामक आचार्य साधनारत थे। उन्हें पूर्वों का यत्किंचित् ज्ञान था। इसलिये जैन संघ ने भूतबली और पुष्पदंत नामक दो उत्तम प्रतिभाशील साधुओं को उनके पास ज्ञान प्राप्ति हेतु भेजा। आचार्य धरसेन ने उन्हें श्रुताभ्यास कराया। अध्ययन कर दोनों मुनि वापस लौटे। उन्होंने 'षट्खंडागम' की रचना की, जो छः खंडों में विभाजित हैं। ये शौरसेनी प्राकृत में रचे गए। इस प्राकृत का भारत के पश्चिमी भाग में प्रचार था। मथुरा के चारों ओर का क्षेत्र, जो आज ब्रजभूमि कहा जाता है, प्राचीन काल में शूरसेन देश कहलाता था। उस प्रदेश से विशेष संबंध होने के कारण इस भाषा का नाम शौरसेनी पड़ा।

डॉ. जगदीशचंद्र जैन ने 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में षट्खण्डागम का महत्त्व, उसके छः खण्ड, उनमें वर्णित विषय तथा उन पर रचित धवला आदि टीकाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[1] मथुरा दिगंबर जैनों का मुख्य केंद्र रहा है। जंबूस्वामी से उसका विशेष संबंध माना जाता है। इस क्षेत्र से विशेष संपर्क होने के कारण दिगंबर आचार्यों, विद्वानों और लेखकों ने अपनी रचनाओं में शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया। श्वेतांबर-परंपरा में जिस प्रकार अर्धमागधी का महत्त्व माना गया, उसी प्रकार दिगंबरों ने शौरसेनी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

षट्खंडागम : संक्षिप्त परिचय

दिगंबर-परंपरा के सर्वमान्य एवं सर्वोत्कृष्ट शास्त्र षट्खंडागम की केवल एक ही ताड़पत्रीय प्रति सुरक्षित थी। वह कर्नाटक में स्थित मूडबिद्री नामक दिगंबर जैन तीर्थ के प्रमुख मंदिर में विद्यमान थी।

वह ग्रंथ केवल समय-समय पर लोगों को दर्शन हेतु प्राप्त होता था। उसके प्रकाशन की वहाँ के अधिकारी– भट्टारकों ने आज्ञा नहीं दी, फिर किसी प्रकार प्रयत्न करने से उसका प्रकाशन हुआ।

षट्खंडागम के रचना काल के आसपास गुणधर नामक आचार्य हुए। उन्होंने 'कषाय पाहुड़' (कषाय प्राभृत) नामक ग्रंथ की रचना की। यह भी षट्खंडागम के समकक्ष ही माना जाता है। आचार्य गुणधर को विशिष्ट ज्ञानी स्वीकार किया जाता है।

नौवीं ईस्वी सदी के दूसरे दशक में आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम पर धवला नामक टीका की रचना की, जो ७२००० श्लोक प्रमाण है। उन्होंने कषाय पाहुड़ पर भी टीका लिखना प्रारंभ किया किंतु २०,००० श्लोक प्रमाण टीका लिखने के बाद उनका स्वर्गवास हो गया। बाकी का कार्य इनके विद्वान्

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ : २७४-२९०.

शिष्य जिनसेनाचार्य ने ४०,००० श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर पूरा किया। इस टीका का नाम 'जय धवला' है।

धवला और जय धवला में प्राकृत और संस्कृत का मिलाजुला या मिश्रित प्रयोग हुआ है, जैसा श्वेतांबर-आगमों पर रचित चूर्णियों में प्राप्त होता है। धवला-टीका में जैन दर्शन एवं धर्म के तत्त्वों के साथ-साथ विविध प्रसंगों पर अन्यान्य दर्शनों एवं सिद्धातों पर भी बड़ी मार्मिक चर्चा की गई है। वस्तुत: आचार्य वीरसेन अनेक विषयों के प्रखर विद्वान् थे।

सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र

दसवीं ईस्वी शताब्दी में दक्षिण में नेमिचन्द्र नामक आचार्य हुए, जो सिद्धांत चक्रवर्ती के उपाधि से विभूषित थे। उन्होंने षट्खंडागम के सार रूप में गोमट्टसार तथा लब्धिसार नामक दो ग्रंथ प्राकृत गाथाओं में लिखे, जिनमें जीव-तत्त्व और कर्म-क्षय आदि का विवेचन है।

आचार्य कुंदकुंद

जैन परंपरा में आचार्य कुंदकुंद द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, तथा पंचास्तिकाय आदि का आगमों के सदृश ही महत्त्व माना जाता है।

दिगंबर-परंपरा में निम्नांकित मंगल-सूचक श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है–

मंगलं भगवान्वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

इस श्लोक में गणधर गौतम के पश्चात् आचार्य कुंदकुंद का नामोल्लेख हुआ है, जिससे उनका गौरव स्पष्ट है।

आगमोत्तरकालीन जैन साहित्य

आचार्य उमास्वाति

जैन आगम तथा उनके व्याख्या-साहित्य के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथों की रचना हुई। मुख्यत: ये ग्रंथ दर्शनशास्त्र पर हैं। उनमें अधिकांश ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए। उन ग्रंथों में तत्त्वार्थ-सूत्र बहुत प्रसिद्ध है। यह सूत्रबद्ध रचना है। इसके रचनाकार आचार्य उमास्वाति थे। यह ग्रंथ दिगंबर

१. जैन धर्म, पृष्ठ : २६२.

और श्वेतांबर दोनों संप्रदायों में मान्य है। केवल थोड़े से सूत्रों में भेद किया जाता है। दिगंबर-परंपरा में उमास्वाति के बदले उमास्वामी नाम प्रसिद्ध है।

श्रवणबेलगोला के १०८ वें शिलालेख में उनका वर्णन है।[१] आचार्य उमास्वाति का समय वि.सं. प्रथम शती से तीसरी शती के मध्य माना जाता है।

आचार्य समंतभद्र

आचार्य समंतभद्र दिगंबर-परंपरा में बहुत प्रभावक आचार्य थे। उन्हें भावी तीर्थंकर माना जाता है। अनुमानत: उनका समय विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी है। उन्होंने आप्तमीमांसा, बृहद्-शयंभू-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुति-शतक तथा रत्नकरंडश्रावकाचार नामक ग्रंथ लिखे।

आचार्य सिद्धसेन

विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में आचार्य सिद्धसेन हुए, ऐसा माना जाता है। जिस प्रकार उमास्वाति दिगंबर एवं श्वेतांबर दोनों परंपराओं में मान्य हैं, उसी प्रकार आचार्य सिद्धसेन भी दोनों संप्रदायों में समादृत हैं, श्वेतांबर-परंपरा में वे सिद्धसेन दिवाकर के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने प्राकृत में 'सन्मतितर्क' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की। प्राकृत भाषा में नैयायिक शैली में जैनदर्शन पर लिखा गया यह ग्रंथ अति महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने सूक्तिमुक्तावली नामक ग्रंथ की भी रचना की।

आचार्य देवनंदी, अकलंक, मल्लवादी, हरिभद्र, माणिक्यनंदी अनंतवीर्य, प्रभाचंद्र, शुभचंद्र, जिनभद्र, अभयदेव, हेमचंद्र तथा यशोविजय आदि दिगंबर-श्वेतांबर परंपराओं में महान् विद्वान् हुए, जिन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। आचार्य हरिभद्र, हेमचंद्र तथा शुभचंद ने जैन योग पर भी महत्त्वपूर्ण रचनाएं कीं; जो आध्यात्मिक साधना एवं योगाभ्यास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार्य हरिभद्र

हरिभद्र जैन जगत् के परम प्रभावक, विद्यानिष्णात आचार्य थे। ये चित्तौड़ के राजपुरोहित थे। घटना-विशेष द्वारा प्रभावित होकर जैन धर्म में प्रव्रजित हुए। उन्होंने अपने वैदुष्य एवं प्रभावशाली व्यक्तित्त्व द्वारा जैन धर्म की अत्यधिक प्रभावना की।

आचार्य हरिभद्र अनेक विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। ऐसी मान्यता है कि उन्होंने १४४४ ग्रंथों की रचना की। आज उन द्वारा रचित लगभग १०० ग्रन्थ प्राप्त हैं। कतिपय आगमों की टीकाओं के अतिरिक्त उन्होंने योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक, योगविंशिका, धर्मबिन्दु, शास्त्रवार्ता-समुच्चय आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचे। उन द्वारा प्राकृत में रचित समराइच्चकहा का कथा-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उन्होंने साधुओं में चारित्रिक जागरण हेतु बड़ा प्रयत्न किया। उन द्वारा रचित 'संबोध-प्रकरण' नामक ग्रंथ से यह स्पष्ट है। उनका समय नौवीं ई. शती माना जाता है।

आचार्य हेमचंद्र

चौलुक्यवंशीय गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का शासनकाल गुजरात के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विकास का स्वर्णिम युग कहा जाता है।

उसकी निष्पत्ति में आचार्य हेमचंद्र का अद्‌भुत योगदान रहा। आचार्य हेमचंद्र महान् विद्वान्, कवि एवं लेखक थे। सिद्धराज जयसिंह के अनुरोध पर उन्होंने सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरण की रचना की। व्याकरण के प्रयोगों को व्यक्त करने हेतु उन्होंने 'द्‌व्याश्रय' महाकाव्य रचा जो भट्टि-काव्य की तरह संस्कृत की एक अनुपम कृति है। संस्कृत के अध्येता गुजरात में रचित पाठ्य-ग्रंथों को अपना सकें, इस हेतु आचार्य हेमचंद्र ने अभिधानचिन्तामणि, देशीनाममाला, निघण्टु आदि कोश-ग्रंथों की रचना की। प्रमाणमीमांसा, काव्यानुशासन, छंदोनुशासन आदि ग्रंथ भी उन्होंने लिखे। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित उन द्वारा रचित अति विशाल प्रबंध-काव्य है। परिशिष्ट-पर्व भी उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

आचार्य हेमचंद्र की एक अप्रतिम देन यह रही कि उनके उपदेश से गुर्जरेश्वर कुमारपाल ने अपने समस्त राज्य में अमारि घोषणा की। उसने मांस विक्रेताओं को तीन-तीन वर्ष की आय तथा कृषि-भूमि देकर मांस-विक्रय से निवृत्त किया। लगभग १२ वर्ष तक कुमारपाल द्वारा शासित समग्र राज्य में पशुवध सर्वथा बंद रहा। राज्य में एक भी मांस-विक्रय का केंद्र नहीं था। आचार्य हेमचंद्र ने द्‌व्याश्रय महाकाव्य में बड़े ही भावनापूर्ण शब्दों में लिखा है कि संन्यासियों को मृगछालाएं भी अनुपलब्ध हो गई।

अपने असाधारण वैदुष्य एवं गौरवमय साहित्यिक कृतित्व आदि के कारण आचार्य हेमचंद्र अपने युग में 'कलिकालसर्वज्ञ' के विरुद से विभूषित किये गये।

सार-संक्षेप

जैन धर्म का स्रोत अनादि काल से गतिशील है। यह निःसंदेह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि आज भी जैन धार्मिक परंपरा जैसी भगवान् महावीर के समय में थी, उसी प्रकार साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकामय चतुर्विध धर्म-संघ के रूप में अखंडित विद्यमान है। अन्यान्य धार्मिक परंपराएँ आज अपने प्राचीनतम आचार-संहितामूलक रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती।

जैन धर्म का साहित्य-भंडार बड़ा विशाल है। आगमों के संबंध में पूर्व पृष्ठों में यह उल्लेख किया

ही जा चुका है कि प्राचीन भारतीय जीवन, समाज एवं चिंतन धारा पर उनमें बड़े व्यापक रूप में प्रकाश डाला गया है।

आगमोत्तर-काल में विविध शैलियों में विपुल मात्रा में साहित्य रचा गया। जैन साहित्यकारों, कवियों और लेखकों का इस बात की ओर सदा से ही विशेष ध्यान रहा कि वे ऐसे ग्रंथों की रचना करें, जिनसे साधु-साध्वियों को तो लाभ पहुँचे ही, गृहस्थ-जिज्ञासुओं और साधकों को भी मार्ग-दर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त हो।

साहित्य समाज की अनुपम निधि है। उसे समाज का दर्पण कहा जाता है। जिस तरह दर्पण में व्यक्ति का आकार दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही साहित्य में समाज का सजीव चित्रण विद्यमान रहता है, वह कभी पुरातन नहीं होता। जितनी बार उसका अध्ययन किया जाता है, उसे पढ़ा जाता है, उतनी ही उसमें नवीनता प्राप्त होती है।

महाकवि कालिदास ने लिखा है– 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।'

जो प्रतिक्षण नवीनता प्राप्त करता जाए, वही रमणीयता या सुंदरता का रूप है। अर्थात् साहित्य का सौंदर्य कभी पुरातन नहीं होता, कभी मिटता नहीं। इसलिये उसमें समग्र मानव-जाति का आकर्षण, हित एवं कल्याण सन्निहित रहता है।

इस दृष्टि से जैन-साहित्य की अपनी अनुपम विशेषता है। उससे सहस्राब्दियों तथा शताब्दियों से कोटि-कोटि जनता लाभान्वित होती रही है। आज भी वह साहित्य अपने उसी प्राचीन गौरव को लिये हुए है। साहित्य को 'सत्यम्-शिवम्-सुंदरम्' कहा जाता है। वह सुंदर होने के साथ-साथ सत्य है, त्रैकालिक शाश्वतता लिये हुए है तथा शिव या परम कल्याणकारी है।

जिस समाज एवं धर्म का साहित्य जीवित होता है, वह समाज और धर्म कभी मरता नहीं, मिटता नहीं। वह अजर-अमर होता है। जैन साहित्य इसी कोटि में आता है। विभिन्न विधाओं तथा शैलियों में– पद्यात्मक, गीतात्मक, गद्यात्मक आदि रूपों में दर्शन विषयक सूत्र-ग्रंथ, महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तककाव्य, चंपूकाव्य, चरितकाव्य, कथानक, रास इत्यादि अनेक प्रकार की रचनाएँ हुईं।

उन सबमें लेखकों का, रचनाकारों का मुख्य उद्देश्य यही रहा कि जन-जन को उनसे धार्मिक जीवन अपनाने की प्रेरणा प्राप्त हो। लोग आध्यात्मिक उत्थान के पथ पर आगे बढ़ें। संयम, शील, त्याग, वैराग्य, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि की दिशाओं में सदैव प्रगति करते जाएं। इस प्रकार निरंतर आगे बढ़ते हुए आवागमन से, जन्म-मरण से छूट जाएं, मोक्ष-लक्ष्मी या सिद्धावस्था को प्राप्त करें तथा परम आनंद का अनुभव करें।

इससे आगे के अध्यायों में जैन आगम तथा उत्तरवर्ती जैन साहित्य के आधार पर णमोक्कार महामंत्र का बहुमुखी विश्लेषण, सिद्ध पद का विवेचन, सिद्ध का लक्षण, स्वरुप, भेद, सिद्धत्व-प्राप्ति की दिशा, सिद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग, सिद्ध-शिला का स्वरूप इत्यादि विषय समीक्षात्मक दृष्टि से विवेच्य हैं।

जैन धर्म का परम लक्ष्य अथवा परमोपलब्धि सिद्धत्व है, जहाँ साधक का साध्य सर्वथा सफल-सिद्ध हो जाता है, फिर उसके लिए कुछ भी करणीय अवशिष्ट नही रह जाता। सिद्ध-पद सम्प्राप्ति की आराधना में 'णमोक्कार मंत्र' की अनुपम भूमिका है। इस पृष्ठभूमि का अवलम्बन कर साधक सिद्धत्व की दिशा में उत्तरोत्तर गतिशील रहता है, अंततः साफल्य-मंडित हो जाता है। द्वितीय अध्याय में इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डालने का विनम्र प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय

सिद्धपद और णमोक्कार-आराधना

मंत्र-आम्नाय

भारतीय विद्या का क्षेत्र बहुत विशाल है। इसमें ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं पर जो गहन चिंतन, मनन, अनुशीलन और विश्लेषण हुआ है, वह वास्तव में विलक्षण है। भारतीय मनीषियों ने जीवन के हर पक्ष को बहुत ही गहराई से, सूक्ष्मता से देखा और परखा। उनकी दृष्टि केवल बहिरंग ही नहीं रही, उन्होंने सूक्ष्मतम अंतरगता का संस्पर्श भी किया।

भारतीय विद्या के अंतर्गत जैन-विद्या का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन मनीषी ज्ञान और चारित्र के परम आराधक थे। ज्ञान भी स्वाध्याय और चिंतन के रूप में साधना या चारित्र का अंग बन जाता है। जैन-विद्या और साधना के क्षेत्र में मंत्र-विद्या का भी बहुमुखी विकास हुआ। णमोक्कार मंत्र के पदों की आराधना के साथ भी मंत्रात्मक पद्धति को संलग्न किया गया।

"आर्य देश में मंत्र-शास्त्र तथा विद्या-शास्त्र तत्त्व ज्ञान के युग जितने ही प्राचीन हैं। इसके समर्थन में जैन शास्त्रों के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में असंख्य वर्ष पूर्व हुए, प्रथम तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव द्वारा अपने प्रथम गणधर शिष्य श्री पुंडरीक स्वामी को दिया गया सूरिमंत्र प्रस्तुत किया जा सकता है। उसी प्रकार उन प्रभु द्वारा दी गयी त्रिपदी के आधार पर श्री पुंडरीक स्वामी द्वारा रचित द्वादशांगी के बारहवें अंग दृष्टिवाद के एक विभाग– दसवें पूर्व 'विद्या-प्रवाद' को भी विद्या और मंत्र की प्राचीनता का पूरक कहा जा सकता है।"[1]

मंत्र की परिभाषा

गहन चिन्तन एवं आत्मानुभवपूर्वक सूक्ष्मतम शब्दों में निक्षिप्त रहस्यात्मक भाव, जिसके मनन द्वारा ज्ञात हो सकें, वह मंत्र है।

'मननात् त्रायते इति मन्त्रः' – इस व्युत्पत्ति के अनुसार मंत्र वह है, जो मनन-मात्र से आराधक का त्राण या परिरक्षण करे।[2]

सिद्ध होने पर मंत्र वास्तव में एक अक्षय-कवच का काम देता है। जिस प्रकार योद्धा को कवच, उस पर होने वाले आघातों से बचाता है, उसी प्रकार मंत्र अपने आराधक की सभी विघ्नों, संकटों और बाधाओं से रक्षा करता है। वह एक आध्यात्मिक कवच है।

---

१. भुवनभानुनां अजवाळा, पृष्ठ : ३६.
२. श्री नवकार महामंत्र, पृष्ठ : १०.

आचार्य महाप्रज्ञ ने मंत्र का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है :–

"मंत्र एक प्रतिबोधात्मक शक्ति है, मंत्र एक कवच है, मंत्र एक प्रकार की चिकित्सा है। संसार में होने वाले प्रकंपनों से कैसे बचा जा सकता है, उनके प्रभावों को कैसे कम किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर है, व्यक्ति प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास करे और मंत्र की भाषा में कहा जा सकता है– कवचीकरण का विकास करे।[1]"

मंत्र त्रैकालिक होता है। वह किसी काल-विशेष से संबद्ध नहीं है। उसका प्रभाव शास्त्रोक्त है। इसलिये कोई यह कहे कि वर्तमान युग में मंत्राराधना की कोई महत्ता या उपादेयता नहीं है तो यह सर्वथा अयथार्थ है। मंत्र सत्य है। सत्य सर्वकालवर्ती होता है।

मंत्र-रहस्य में कहा गया है :– "मंत्र की सत्ता अपने आप में सर्वोपरि है। इसका प्रभाव निश्चित और स्थायी होता है परंतु दुःख इस बात का है कि धीरे-धीरे हमारी वर्तमान पीढ़ी मंत्र की उपयोगिता के महत्त्व को अस्वीकार करने लगी है तथा इसकी उपयोगिता को नकारने लगी है। लोगों में इतना धैर्य नहीं रह गया है कि वे सही गुरु की खोज कर मंत्र की मूल ध्वनि को प्राप्त कर सकें।[2]"

जिस प्रकार मनन का मानव-जीवन के साथ सार्वदिक संबंध है, उसी प्रकार मंत्र के साथ भी उसका संबंध है। मंत्र मानव-जीवन के उन्नयन का निःसंदेह अनन्य हेतु है।

मंत्र शब्द 'मन्' धातु (दिवादि ज्ञाने) से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है। इसका व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ भी होता है–'मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेनेति मन्त्रः'। अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश– निजानुभव जाना जाए, वह मन्त्र है।

दूसरी तरह से तनादिगणीय 'मन्' धातु से (तनादि अवबोधे) 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगाकर मंत्र शब्द बनता है, उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है–

'मन्यते विचार्यते आत्मदेशो येन स मन्त्रः'– अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जाए, वह मंत्र है।

तीसरे प्रकार से सम्मानार्थक मन् धातु से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर मन्त्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–

"मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिता आत्मानः यक्षादिशासनदेवता वा अनेन इति मन्त्रः।"

अर्थात् जिनके द्वारा परमपद में स्थित पाँच उच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन-देवों का सत्कार किया जाए, वह मन्त्र है।

---

१. एसो पंच णमोक्कारो, पृष्ठ : १२.
२. मंत्र रहस्य, पृष्ठ : २२.

इन तीनों व्युत्पत्तियों के द्वारा मंत्र शब्द का अर्थ अवगत किया जा सकता है। णमोक्कार मंत्र ही वह मंत्र है, जिसमें समस्त पापों, दुष्कर्मों को भस्म करने की शक्ति है।[1]

विशिष्ट मनन सम्यक् ज्ञान का साधन बनता है और वह सम्यक् ज्ञान शुभ भाव जगाकर जीव का रक्षण करता है। अयोग्य मार्ग से योग्य मार्ग पर लगाने वाला मंत्र होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र में रहना योग्य मार्ग है और मिथ्या ज्ञान, दर्शन, चारित्र में रहना अयोग्य मार्ग है। मंत्र मिथ्यात्व से जीव को छुड़ाकर सम्यक् रत्नत्रय की तरफ ले जाता है।[2]

यह समस्त ब्रह्मांड मंत्र-आबद्ध है। जीवन की प्रत्येक हलचल मंत्र-संचालित है। प्राणि-मात्र का छोटे से छोटा कार्य मंत्र-संबद्ध है, अत: जीवन में मंत्रों के बिना प्राणी के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

जब ब्रह्मांड का अणु-अणु मन्त्रबद्ध है तो जीवन को भलीभांति समझने के लिये मंत्र के मूल रहस्य को हृदयंगम करना भी मानव का पुनीत और प्रथम कर्तव्य है।[3]

मंत्र और अंतश्चेतना

अंतश्चेतना से अनुप्रणित होकर ही मंत्र फलप्रद, समर्थ तथा सिद्ध होता है। मानव-शरीर कितना रहस्यमय है, सैकड़ों, हजारों वर्षों से वैज्ञानिक, चिकित्सक, योगी एवं साधक इसके रहस्यों को ज्ञात करने का प्रयत्न कर रहे हैं किंतु अभी तक इस रहस्य को शतांशत: भी जान नहीं सके हैं। फिर भी मानव का वह जिज्ञासामूलक प्रयत्न आज भी गतिशील है, जो भावी पीढ़ी के लिये हितप्रद सिद्ध होगा।

कहा गया है– मंत्र शब्द का मूल अर्थ है– गुप्त परामर्श। श्रद्धा से जब मंत्राक्षर अंतर्दर्शन में प्रवेश कर, एक दिव्य आहिण्डन करते हैं, तब ज्वलंत, जीवंत और जागरित रूप चमक उठता है और वही दिव्य-रूप होकर सिद्धि में परिणत हो जाता है।[4]

सूक्ष्मत: मानव-मन दो भागों में बंटा हुआ है। एक को अंतर्मन या अंतश्चेतना तथा दूसरे को बाह्यमन या बहिश्चेतना कहा जा सकता है। इसमें अंतश्चेतना सर्वदा शुद्धता एवं निर्मलता के साथ सक्रिय रहती है। मनुष्य में असत्य, छल, प्रपंच आदि जो उत्पन्न होते हैं, कार्यशील होते हैं, उसका कारण बहिश्चेतना है, अंतश्चेतना नहीं है।

अंतश्चेतना विशुद्धिपरक होती है। बहिश्चेतना पर अज्ञान, अहंकार, काम, क्रोध, मोह आदि का सघन आवरण पड़ सकता है। वह मनुष्य को उसके वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों से नीचे गिरा

---

१. मंगलमंत्र णमोकार एक अनुचिंतन, पृष्ठ : ८.
२. त्रैलोक्य दीपक, पृष्ठ : ३८०, ३८१.
३. मंत्र रहस्य, (नारायणदत्त श्रीमाली), दो शब्द, पृष्ठ : ३.
४. मंत्र-रहस्य, पृष्ठ : १५९.

सकती है। अंतश्चेतना इससे परे–विमुख रहती है। उस पर किन्हीं भी प्रकार की विकृतियों का असर नहीं होता और वह भ्रांत भी नहीं होती, क्योंकि उसमें पूर्णत: दिव्यता बनी रहती है। वही मानव को सही अर्थ में मानव बनाए रखती है। आगे वह उसको देवत्व का साक्षात्कार करा सकती है।[1]

ऋषि, महर्षि, साधु–संत, योगी आदि सभी अपने परम लक्ष्य–सिद्धत्व, ब्रह्मत्व या मुक्तत्व को प्राप्त करने हेतु इसी अंतश्चेतना को विकसित करने में संलग्न रहते हैं। मंत्र इस अंतश्चेतना से अनुप्राणित होते हैं। इसलिये उनमें एक विस्मयकारी विशेषता उत्पन्न हो जाती है। मंत्र–शक्ति अपार है। उस शक्ति को बढ़ाने के लिये आसन, प्राणायाम, यम, नियम, ध्यान और धारणा आदि का अभ्यास आवश्यक है।

'मंत्र–विज्ञान अने साधना–रहस्य' नामक पुस्तक में मंत्र–जप के अधिकार के संबंध में एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है :–

"एक समय किसी जिज्ञासु साधक ने श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रश्न किया– महाराज ! मंत्र क्या है ? कोई व्यक्ति किसी ग्रंथ आदि में से मंत्र को ग्रहणकर उसका रटन या साधन करे तो क्या उससे उसको लाभ होगा ?"

रामकृष्ण परमहंस ने उत्तर दिया– नहीं, मंत्र तो तभी फलप्रद होता है, जब योग्य गुरु से योग्य अधिकारी ग्रहण कर उसकी साधना करे।[2]

जप का जितना एकाग्रता के साथ संबंध है, उतना ही गंभीरता के साथ भी है । बीज को जैसे धरती में बोना पड़ता है, उसी तरह णमोक्कार मंत्र के प्रत्येक अक्षर को उच्च भावपूर्वक मन द्वारा प्राणों में पहुँचाना चाहिए। अक्षर में स्थित चैतन्य, प्राण का योग पाकर प्रगट होता है, जिससे जप करने वाले पुण्यशाली की भावना अधिक उज्ज्वल बनती है तथा स्वभावत: सर्वोच्च आत्मभाव संपन्न भगवंतों की भक्ति की तरफ अग्रसर होते हैं।[3]

सुप्रसिद्ध जैन लेखक शतावधानी पंडित श्री धीरजलाल टोकरशी शाह 'जिनोपासना' नामक ग्रंथ में नाम–स्मरण का महत्त्व बतलाते हुए लिखते हैं :–

"उपास्य देव को याद करना, उनका नाम का रटना, जप करना, नाम स्मरण कहा जाता है । कई उसको भगवत्–स्मरण या प्रभु–स्मरण भी कहते है। नाम–स्मरण सहज साधन है, क्योंकि वह बहुत सहजता से हो सकता है। अरिहंत, वीतराग, परमात्मा– इन जिन सूचक शब्दों को मन द्वारा स्मरण किया जाए या मुख द्वारा बोला जाए तो क्या कष्ट होता है ? चाहे मनुष्य छोटा हो या बड़ा हो अथवा

१ मंत्र–रहस्य, पृष्ठ : १००.
२. मंत्र विज्ञान अने साधना रहस्य, भाग–४, पृष्ठ : ११६.
३. अखंडज्योत, पृष्ठ : ५४.

वह चाहे जिस स्थान में स्थित हो, चाहे जैसी अवस्था में विद्यमान हो तो भी इन नामों को बोल सकता है।[1]

नमस्कार-मीमांसा में पूज्य श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर मंत्र-चैतन्य के उन्मेष का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं :–

"आम्नाय का अनुसरण, विश्वास का बाहुल्य और ऐक्य का भावन– ये तीन मंत्र-सिद्धि में सहकारी कारण हैं। शब्द, अर्थ और प्रत्यय का परस्पर संबंध है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् दूर विद्यमान पदार्थ भी शब्द के बल द्वारा विकल्प के रूप में अथवा मानसिक आकृति के रूप में प्रतीत होता है, उपस्थित होता है।

पद का पदार्थ के साथ वाच्य-वाचक संबंध है। पद के उच्चारण, स्मरण अथवा ध्यान द्वारा वाच्य पदार्थ की प्रतीति होती है। शब्दानुसंधान द्वारा अर्थानुसंधान एवं अर्थानुसंधान द्वारा तत्त्वानुसंधान होता है। तत्त्वानुसंधान से स्वरूपानुसंधान होता है।[2]

णमोक्कार मंत्र में निर्विकल्प आस्था

जैन शासन में आज तक अनेक संप्रदाय बने, शाखा प्रशाखाएँ निकलीं। उत्तरकालीन जैन साहित्य में घोर पक्षापक्ष की झलक आयी तथापि नमस्कार महामंत्र की निर्विकल्प आस्था पर कोई असर नहीं आया।

हिन्दू धर्म में जो स्थान 'गायत्री-मंत्र' का है और बौद्ध-संप्रदाय में जो स्थान 'त्रिशरण' का है, वही स्थान जैन शास्त्र में 'णमोक्कार महामंत्र' का है।

इस महामंत्र में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके संसारवर्ती सभी वीतराग तथा त्यागी आत्माओं को नमस्कार किया गया है। इस मंत्र में प्रयुक्त सभी आत्माएँ पवित्र जीवन की प्रतिमूर्तियाँ हैं। जो लोग इन निष्काम विभूतियों के स्वभाव से कुछ लौकिक अभिसिद्धियाँ पाना चाहते हैं, वे भूल करते हैं क्योंकि कुछ मंत्र जहाँ कामना करने से आवश्यकता-पूर्ति करते हैं, वहाँ यह मंत्र निष्काम भाव से जप करने वालों की मनोभावनाएँ पूर्ण करता है।[3]

णमोक्कार मंत्र की शक्ति

णमोक्कार मंत्र की शक्ति साक्षात् शुद्ध आत्म-द्रव्य की शक्ति है। एक आत्म-द्रव्य की नहीं किंतु

---

१. जिनोपासना, पृष्ठ : १५०.
२. नमस्कार-मीमांसा, पृष्ठ : ३, ४.
३. नमस्कार महामंत्र (साध्वी राजीमतीजी), पृष्ठ : १.

तीनों काल के सर्व अरिहन्त, सर्वसिद्ध भगवन्त, सर्व आचार्य, उपाध्याय, और साधु भगवंतों की एकत्रित बनी हुई विराट् आत्म-शक्ति है।

जिनके हृदय में पंच परमेष्ठियों के प्रति, णमोक्कार के प्रति गहरा आदर हो जाता है, उनके पुण्य-पाप के प्रश्न सुलझ जाते हैं। साधक के हृदय में ऐसी प्रक्रिया का निर्माण होता है, जो पुण्य का सर्जन एवं पाप का विसर्जन करती है।

णमोक्कार मंत्र जो कुछ भी देता है, वह कभी कम नहीं होता, उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। पुण्य का छोटा सा कण, जो णमोक्कार ने दिया, वह अंततोगत्वा विराट् ज्योति बनकर ही रहता है और साधक को मुक्ति के द्वार तक पहुँचा देता है।[१]

मंत्र : ध्वनि तरंग एवं प्रकाश

मंत्र-जप प्रत्यक्षत: ध्वनि-तरंगात्मक है। यदि जप-ध्वनि के अभ्यास में क्रमबद्धता, लयबद्धता और तालबद्धता हो तो एक गति-चक्र बनता है। वह ध्वनिमय तरंग-युक्त होता है। यदि निरंतर जप-ध्वनि-मूलक शब्दोच्चारण हो तो देह के आकाश-तत्त्व में घर्षण उत्पन्न होता है, जिससे प्रकाश का उद्‌भव होता है। जब तक वह प्रकाश विद्यमान रहता है, जप करनेवाले को असीम आनंद की अनुभूति होती रहती है।

मंत्र-जप में, शब्दों के उच्चारण में, श्वासोच्छ्वास का आवागमन; एक लयबद्धता, एक तालबद्धता लिये हुए है। प्राणवायु की गति में भी एक विशिष्टता होती है, रक्त आंदोलित होता है, उससे शरीर में एक ऊष्मा उत्पन्न होती है। फलत: दिव्य-चेतना के केंद्र उत्तेजित और जागरित होते हैं, घर्षण उत्पन्न होता है, जिससे प्रकाश तथा उष्णता का उद्‌भव होता है।

वहाँ धीरे-धीरे ध्वनि-तरंगें शब्द से अशब्द में चली जाती हैं। यह अजपा-जाप की अवस्था है। जब जप-ध्वनि बंद होती है, तब भीतर से स्वयं जप की एक आवाज अनवरत आती रहती है, सुनाई देने लगती है और मन के भीतर एक प्रकार का विलक्षण आनंद अनुभूत होने लगता है। देह का हिलना-डुलना बंद हो जाता है। उस जप को अजपाजाप कहा जाता है। अर्थात् जप करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता, स्वयं ही जप होने लगता है। जप की एक धारा प्रवाहित होने लगती है। वहाँ मंत्र की अपनी विशेष सार्थकता सिद्ध होती है।[२]

ध्वनि की चामत्कारिकता

मातृका-ध्वनियों, स्वरों और व्यंजनों के सहयोग से ही समस्त बीजाक्षर उत्पन्न हुए हैं। इन

१. जपयोग (कलापूर्णसूरिजी), पृष्ठ : ५, ६. २. आलोक-स्तंभ, पृष्ठ : ७.

मातृका-ध्वनियों की शक्ति मंत्र में सन्निविष्ट होती है।

णमोक्कार मंत्र से ही मातृका-ध्वनियाँ निकली हैं। अत: समस्त मंत्रशास्त्र का प्रादुर्भाव णमोक्कार मंत्र से ही हुआ है। कहा गया है–

'निर्बीजमक्षरं नास्ति'– अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं है, जिसमें मंत्र-शक्ति न हो अथवा 'नास्ति अनक्षरो मंत्र:'– अर्थात् अक्षरों के बिना मंत्र नहीं है।

अक्षर और अक्षर के समूहात्मक शब्द में अपरिमित शक्ति विद्यमान है। आज सभी इसे स्वीकार करते हैं। जैसे गाना, बजाना, हंसना, रोना– ये वातावरण पर विशेष प्रकार का प्रभाव ड़ालते हैं। ये ध्वन्यात्मक शब्द-शक्ति के ही रूप हैं। युद्ध में सैनिकों को उत्साहित करने के लिये 'मारू' राग गाया जाता था। वह राग सैनिकों में इतना उत्साह भर देता कि वे जान हथेली पर लेकर शत्रुओं के साथ जूझ पड़ते थे।

अंग्रेजी की एक कविता है, जिसका शीर्षक **Trumpter** (बिगुलवाला या तुरहीवाला) है।

प्राचीन काल में सेनाओं के आगे बिगुल बजानेवाला व्यक्ति चलता था, जो शौर्योत्पादक संगीत की स्वर-लहरी में बिगुल बजाता था।

यूरोप की एक घटना है। दो देशों में युद्ध छिड़ा। एक देश की सेना पराजित होकर भाग छूटी। उस पक्ष के बिगुल बजाने वाले ने ओजपूर्ण संगीतात्मक बिगुल बजाया और प्रेरणा दी कि राष्ट्र की एवं जाति की प्रतिष्ठा के लिये योद्धाओं ! मर मिटो। यह मृत्यु जीवन से भी अधिक उत्तम है।

बिगुलवाले के प्रेरक संगीत ने मैदान छोड़कर भागने वाले सैनिकों के मन में एक नया जोश पैदा कर दिया। वे वापस मुड़े और शत्रु-सेना से जूझ पड़े। दोनों पक्ष के सैनिक मारे गए। शत्रु-सेना ने उस बिगुलवाले को बंदी बनाया। उसे सैनिक-अदालत में प्रस्तुत किया गया, उसके लिये मृत्युदंड घोषित हुआ। उस बिगुलवाले ने बड़े अनुनय के साथ कहा कि मुझे क्यों मृत्यु दंड देते हो ? मैंने तो एक भी सैनिक नहीं मारा। मैंने तो केवल बिगुल बजाया।

न्यायाधीश ने कहा– बिगुलवाले ! यह सही है कि तुमने एक भी व्यक्ति को नहीं मारा परंतु तुमने अपने बिगुल से अपने पक्ष के सैनिकों में जोश और उत्साह भर दिया। जो युद्ध समाप्त हो गया था, फिर से छिड़ गया। सहस्रों योद्धा मरे। उन सबकी मृत्यु के तुम ही जिम्मेदार हो। तुम यदि अपने बिगुल की ओजस्विनी ध्वनि द्वारा सैनिकों को प्रोत्साहित नहीं करते तो पुन: युद्ध नहीं छिड़ता।

क्या तुम नहीं समझते, जो कार्य तलवार नहीं कर सकती, वह ध्वनि कर सकती है। तुम ही एक मात्र अपराधी और दंडनीय हो।

ध्वनि का, शब्दों का, अक्षरों का कितना बड़ा प्रभाव होता है, यह इस कविता के सारांश से प्रगट होता है। जब एक साधारण ध्वनि इतनी शक्ति का संचार कर सकती है तो मंत्रात्मक ध्वनि की शक्ति तो अपार होती है। इसीलिये मंत्र-शक्ति की अद्‌भुत विशेषता स्वीकार की गयी है।

मंत्र-जप : उपयोग

शब्द-शक्ति के सदुपयोग और दुरुपयोग से मनुष्य चिरकाल से परिचित है। जिसे जप का अनुभव नहीं, उसे वह क्रिया निरर्थक और यांत्रिक लगती है क्योंकि सत्य को जानने का और उसका परीक्षण करने का वैसे व्यक्तियों को अवसर ही नहीं मिलता। लोग अपना समय मात्र तर्क-वितर्क में व्यतीत करते हैं, इसलिये वे शब्द-शक्ति की महत्ता का और सदुपयोग का रहस्य नहीं समझ सकते।

वास्तविकता यह है कि जैसे ही हम शब्द का उच्चारण करते हैं, वैसे ही वातावरण को आंदोलित एवं उत्तेजित करते हैं। तदनुसार हमारे मन में भाव उत्पन्न होते हैं। हम बार-बार जिस भाव का स्मरण करते हैं, वैसे ही भाव हमारे में उत्तरोत्तर प्रस्फुटित होते हैं। मंत्र के साथ इसे जोड़ना होगा किंतु एक बात को विशेष रूप से समझना होगा कि मंत्र की शुद्धता, प्रभावशालिता, प्रयोजकता एवं अनुभवसिद्धता के लिये उसे गुरु से ही ग्रहण करना उपयुक्त होता है।

'नवकार-यात्रा' नामक ग्रंथ में उल्लेख हुआ है :-

"भारतीय मंत्र-विज्ञान के अनुसार प्रत्येक अक्षर अमुक गुप्त शक्ति का वाहक होता है । अक्षरों की शक्ति से संबंधित यह विद्या मातृका-विद्या कहलाती है। महापुरुष अपनी एकाग्र बनी हुई संकल्प-शक्ति को अमुक शब्दों में आरोपित करते हैं। तब उन शब्दों के अक्षरों की सहज रूप में ऐसी स्थायी प्रतिष्ठापना हो जाती है कि उन मिले हुए भिन्न-भिन्न अक्षरों की निकटता के कारण शक्तियों का बाहुल्य उत्पन्न हो जाता है।"[१]

'चिन्तनधारा' नामक पुस्तक में भी प्रतिपादित हुआ है :-

"मंत्र जप के अभ्यास से रजोगुण-तमोगुणमूलक मल दूर होता है। इड़ा एवं पिंगला नाड़ियाँ स्तंभित या स्थित हो जाती हैं। सुषुम्ना उद्‌घाटित हो जाती है। प्राणशक्ति की सहायता से शुद्ध हुई मंत्र-शक्ति ऊर्ध्वगमन करती है। इस अवस्था में अनाहत-नाद का अनुभव प्रारंभ हो जाता है, उसे मंत्र-चैतन्य का उन्मेष कहा जाता है। चैतन्य का अर्थ नाद-शक्ति का आविर्भाव है।"[२]

"करोड़ गायों का दान, समुद्रवलयांकित पृथ्वी का दान, काशी, प्रयाग जैसे अत्यन्त पुण्य क्षेत्रों में कोटिकल्पपर्यन्त प्रवास तथा यज्ञसहित मेरुतुल्य स्वर्ण का दान– ये भगवान् के नामस्मरण के पुण्य-पासंग से भी तुलित नहीं किए जा सकते अर्थात् नामस्मरण का पुण्य इन सबसे बढ़कर है।"[३]

१. नवकार-यात्रा, पृष्ठ : १. २. चिन्तनधारा, पृष्ठ : ११२, ११३. ३. नामजपाचें महत्त्व, पृष्ठ : १८.

मंत्राराधना के दो मार्ग : आध्यात्मिक और लौकिक

सांसारिक वैभव और उन्नति लौकिक जीवन में अपेक्षित अवश्य है किंतु जीवन का अंतिम ध्येय नहीं है। इस विषय को कई स्थानों पर यथाप्रसंग विवेचित किया गया है। अंतिम लक्ष्य तो आत्मा के नितांत शुद्ध स्वरूप का अवगम– जानना, अधिगम– प्राप्त करना ही है, इसलिए णमोक्कार मंत्र की सबसे पहली उपयोगिता आत्म-कल्याण की सिद्धि है। साधुओं के लिए वह समुपादेय है ही क्योंकि उनका तो एक मात्र वही लक्ष्य है, परंतु लौकिक व्यक्ति सांसारिक लाभ से सर्वथा विरत नहीं हो सकते, इसलिये लौकिक दृष्टि से भी णमोक्कार मंत्र का उपक्रम चलता रहा है।

आध्यात्मिक साधना ही जिनके जीवन का लक्ष्य है, वे साधु न तो लौकिक समृद्धि के लिये णमोक्कार मंत्र की आराधना करते हैं और न वैसा करना उनके लिये समुचित ही है। यदि वे वैसा करते हैं, तो एक प्रकार से वापस उसी ओर मुड़ते हैं, जिसका वे परित्याग कर चुके हैं।

लौकिक समृद्धि तो परिग्रह है। अपरिग्रह जिनके जीवन का साध्य हो, उनके लिये परिग्रह निश्चित रूप में एक विघ्न या बाधा है। अतः उस ओर सोचना तक साधुओं के लिये वर्जित है, क्योंकि वे मानसिक, वाचिक एवं कायिक– तीनों योगों द्वारा तथा कृत, कारित एवं अनुमोदित– तीनों करणों द्वारा परिग्रह से विरत हैं।

लौकिक दृष्टि से चिंतन का मापदंड कुछ भिन्न होता है। गृहस्थ धर्मोपासक या श्रावक सर्वस्व त्यागी नहीं हो सकते। वे जब प्रत्याख्यान करते हैं तो अपने सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय आदि सभी दायित्वों को, कर्तव्यों को ध्यान में रखते हैं। तदनुसार वे ग्राह्यमान व्रतों में अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न अपवाद रखते हैं क्योंकि सबका सामर्थ्य, सबकी पारिवारिक, सामाजिक स्थितियाँ एक समान नहीं होतीं, सबका सामाजिक स्तर भी भिन्न-भिन्न होता है। इसलिये वे त्याग करते समय उन सब पक्षों को ध्यान में रखते हैं, जिनमें उनको अर्थ की विशेष रूप से आवश्यकता होती हैं। इसलिए उन आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए परिग्रह का परिमाण किया जाता है। अर्थात् उन आवश्यक कार्यों हेतु अर्थ-राशि संगृहीत करना वे अपेक्षित मानते हैं। वैसा करना गृहस्थ के लिये उसकी दृष्टि से अनुचित नहीं कहा जाता, किंतु साधु गृहस्थी के ऐसे कार्यों में सहयोगी या प्रेरक नहीं बनते।

मंत्र-रूप शब्दब्रह्म द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार

भारतीय दार्शनिकों ने शब्द को अनंत शक्तिमय माना है। प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार व्याकरण का कार्य केवल शब्दों का शुद्ध पठन और लेखन बताने तक ही सीमित नहीं होता। वैयाकरणों ने शब्द को ब्रह्म-स्वरूप माना है :–

अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं तदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ।।

शब्द-तत्त्व आदि रहित है, अंत रहित है तथा वह विकार शून्य है। संसार की विभिन्न रूप में प्रतिभासित होने काली प्रक्रियाएँ शब्द रूपी ब्रह्म का ही विवर्त है।[1]

भर्तृहरि के इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि शब्द-शक्ति ब्रह्म या परमात्म-शक्ति की तरह असीम एवं विलक्षण है। वह साधना द्वारा प्रगट की जा सकती है।

इस दृष्टि से चिंतन करें तो णमोक्काररूप शब्दब्रह्म में निष्णात साधक ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

'नित्तरां स्नातं येन स निष्णातः'– यह निष्णात शब्द की व्युत्पत्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसने श्रुत-समुद्र में गहराई से अवगाहन कर नमस्कार रूप महनीय रत्न को प्राप्त किया, वह निष्णात कहा जाता है।

शब्द-ब्रह्मरूप श्रुत-समुद्र की निगूढ़ता में, अत्यंत गहराई में परब्रह्म रूप महारत्न है। णमोक्कार मंत्र के अड़सठ अक्षरों के बिना परब्रह्म का अधिगम नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि णमोक्कार मंत्र परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी– चतुर्विध वाणी रूप है। पहली परा-वाणी शब्दब्रह्म का बीज है। वही परब्रह्म हैं। नवकार मंत्र द्वारा परा-वाणी तक पहुँचा जा सकता है, उसका साक्षात् अनुभव किया जा सकता है।

निर्विकल्परूप– बिना किसी विकल्प के अनुभव करना साक्षात् अनुभव है। उसी द्वारा परब्रह्म का अधिगम होता है। यहाँ जो अधिगम शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका विशेष अर्थ है। 'अधि' का तात्पर्य भाव-सान्निध्य है। अर्थात् अभिन्नानुभाव द्वारा गम– ज्ञान का, कैवल्य का साक्षात्कार है।

अभिन्नानुभव का आशय आत्मा और परमात्मा की अभेदानुभूति है। यही चतुर्दश पूर्व का रहस्य है। शब्द-ब्रह्म में निष्णातता, निपुणता, सिद्धता आदि उसी के पर्यायवाची रूप हैं।[2]

विमर्श

जो शब्द हम सुनते हैं, वह तात्त्विक दृष्टि से उसका बाह्य रूप है। शब्द की उत्पत्ति या निष्पत्ति पर तत्त्व-द्रष्टा मनीषियों ने गहन चिंतन-मनन किया है। शब्द के प्रगट होने से पूर्व उसका सूक्ष्मतम, अव्यक्त– अमूर्त-रूप आत्मा में, आत्म-परिणमन में उद्भूत होता है, उसे 'परा-वाणी' कहा जाता है। वह प्राकट्य हेतु प्राणवायु द्वारा चित्त को आंदोलित करता है, उसे 'पश्यन्ती-वाणी' कहा जाता है।

---

१. (क) वाक्यपदीय, १, १. (ख) सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ : ५९१.

जिससे वह ध्वनि अधिक स्पष्टता हेतु अग्रसर होती हुई ध्वनियंत्र (Vocal Chord) द्वारा वागिंद्रिय तक पहुँचती है। जहाँ कुछ विशदता प्राप्त करती है, उसे 'मध्यमा वाणी' कहा जाता है। जब वह वाणी मुखवर्ती कंठ, ओष्ठ आदि उच्चारण-स्थानों का सहयोग पाकर शब्द रूप में प्रगट होती है, तब उसे 'वैखरी' कहा जाता है। जो भी हम बोलते हैं, वह वैखरी-वाणी का विषय है।

णमोक्कार मंत्र की उत्पत्ति

णमोक्कार मंत्र शब्दात्मक है। शब्द द्रव्य-रूप में नित्य है तथा पर्याय-रूप में अनित्य है। अतः णमोक्कार मंत्र भी द्रव्य-रूप में नित्य माना जाता है और पर्याय-रूप में अनित्य माना जाता है। द्रव्य-भाषा पुद्गलात्मक है। पुद्गल के पर्याय अनित्य हैं, इसलिये भाषा के पुद्गल भी अनित्य हैं किंतु भाव-भाषा, जो आत्मा का क्षयोपशमात्मक रूप है, वह आत्म-द्रव्य की तरह नित्य है।

श्री णमोक्कार मंत्र द्रव्य एवं भाव दोनों दृष्टियों से शाश्वत है अथवा शब्द और अर्थ की अपेक्षा से नित्य है। जैन शास्त्रकार णमोक्कार मंत्र को शाश्वत या अनुत्पन्न मानते हैं। वह सर्वसंग्राही नैगम-नय की अपेक्षा से है। विशेषग्राही नैगम– ऋजुसूत्र तथा शब्द आदि नयों की अपेक्षा से णमोक्कार मंत्र उत्पन्न भी माना जाता है। इस तथ्य को अधिक विशद रूप में स्पष्टतया समझने हेतु नैगम आदि न्यों के स्वरूप को संक्षेप में समझना अति आवश्यक है।[1]

समीक्षा

णमोक्कार मंत्र का सूक्ष्म विश्लेषण करें तो उसके शब्दात्मक, अर्थात्मक अथवा द्रव्यात्मक, भावात्मक दो रूप हैं।

जैन दर्शन के अनुसार श्रुत की– ज्ञान की परंपरा अर्थरूप में, भावरूप में, या तत्त्वरूप में अनादि है, नित्य है। अपने-अपने युगों में तीर्थंकर उसी सत्य को अपने शब्दों द्वारा व्याख्यात करते हैं, जो पूर्ववर्ती परंपरा के माध्यम से अस्तित्व के रूप में विद्यमान है।

णमोक्कार मंत्र श्रुत का ही प्रतीक है। इसलिये उसकी आदि नहीं है। जिसकी आदि नहीं होती, उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती, इसलिये वह अनुत्पन्न है, शाश्वत है, नित्य है। उसका शब्दात्मक रूप द्रव्य-दृष्टि से नित्य है तथा पर्याय-दृष्टि से अनित्य है। जैसे एक व्यक्ति किसी शब्द का उच्चारण करता है, उसके मुँह से शब्द निकलता है, आकाश में विलीन हो जाता है। जो विलीन होता है, वह शब्द का पर्याय या अवस्था है।

अर्थ और भावरूप में तो वह नित्य है ही। जैन दर्शन अनेकांत द्वारा नित्य और अनित्य के

१. (क) त्रैलोक्य दीपक, पृष्ठ : ४४, ४५ (ख) नमस्कार-महामंत्र (श्री भद्रंकरविजयजी), पृष्ठ : ९५-९६

समन्वित करता है। एक पदार्थ जो नित्य है, वह किसी अन्य अपेक्षा से अनित्य भी है।

इस प्रकार अपेक्षा-भेद से नित्यत्व और अनित्यत्व-- दोनों एक ही पदार्थ में सिद्ध होते हैं, इसीलिये जैन दर्शन न तो एकांत रूप में नित्यवाद को स्वीकार करता है और न वह एकांत रूप में अनित्यवाद को भी स्वीकार करता है। वह परिणामि-नित्यवाद को स्वीकार करता है, जो अनेकांत-दृष्टि से सर्वथा संगत है, सिद्ध है।

णमोक्कार मंत्र : जप-विधि

जप करने से पूर्व जप-कर्ता को, अपने आप को, आठ प्रकार से शुद्ध करना आवश्यक है –

१. द्रव्य-शुद्धि, २. क्षेत्र-शुद्धि, ३. समय-शुद्धि, ४. आसन-शुद्धि,
५. विनय-शुद्धि, ६. मन-शुद्धि, ७.वचन-शुद्धि, ८. काय-शुद्धि.

ये आठ प्रकार की शुद्धियाँ मानी गई हैं।[1] कोई भी पवित्र कार्य सर्वथा बाह्य तथा आंतरिक शुद्धता के साथ करना चाहिये। ऐसा करने से उसकी फलवत्ता असंदिग्ध होती है। साधक के मन में उत्तरोत्तर उत्साह और उद्यम बना रहता है। वह अविश्रांत रूप में जप-साधना में संलग्न रहता है।

उन आठ शुद्धियों का विवेचन निम्नांकित है –

१. द्रव्य-शुद्धि

अपनी पाँचों इंद्रियों को तथा मन को वश में करना, अपनी शक्ति के अनुरूप क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषायों को छोड़ना, चित्त में मृदुता और दयालुता का भाव जागरित करना 'द्रव्य-शुद्धि' है।

द्रव्य-शुद्धि का अभिप्राय साधक की आंतरिक शुद्धि से है। जप करने वाले को चाहिये कि जप प्रारंभ करने से पूर्व अपने भीतर के विचारों को हटाने का प्रयास करे। उसके मन में जहाँ तक हो, कामना, मोह, अहंकार तथा प्रवंचना आदि के कुत्सित भाव न रहें। यद्यपि यह आंतरिक-शुद्धि जितना कहते है, उतनी सरल नहीं है। इस शुद्धि को साधने में चिरकाल तक अभ्यास करना अपेक्षित है। अतः जो में संलग्न होने वाला साधक जप से पूर्व अंतः परिष्कार करने का प्रयत्न करे। जप के समय जगरूक रहे कि पूर्वोक्त भाव मन में उत्पन्न न हों। मन इतना चंचल और दुर्बल है कि वह विकृत भवों को आने से सर्वथा रोक पाए, यह संभव नहीं है।

यहाँ जो साधक जागरूक रहता है, वह आंतरिक दृष्टि से विकारों को अपने में न आने देने का स्तत प्रयत्न करता रहता है। ऐसा होने से क्रमशः अभ्यास के साथ मन जप में संलग्न होता जाता है।

---

१ मंगलमय णमोक्कार महामंत्र, एक अनुशीलन, पृष्ठ : ४०-४९.

२. क्षेत्र-शुद्धि

क्षेत्र का तात्पर्य उस स्थान से है, जहाँ स्थित होकर जप किया जाए। वह स्थान ऐसा हो, जहाँ कोलाहल- शोर न होता हो। मच्छर, डाँस आदि पीड़ोत्पादक जंतु न हों। ऐसे उपद्रव, जो चित्त को क्षुब्ध करते न हों। स्थान न अधिक ठंडा हो, न अधिक गर्म हो। स्थान एकांत और निर्जन हो तो और भी उत्तम है। घर का कोई एकांत भाग भी उपयोग में आ सकता है, जहाँ किसी प्रकार की बाधा न हों।

यद्यपि जप का मूल केन्द्र तो साधनाशील व्यक्ति स्वयं है किन्तु बाह्य स्थान की अनुकूलता-प्रतिकूलता का भी प्रभाव पड़ता है। प्रतिकूलता में जप बाधित होता है। अत: क्षेत्र-शुद्धि की भी परम आवश्यकता है।

३. समय-शुद्धि

वैसे तो जप की आराधना कभी भी की जा सकती है। जब मन में स्थिरता, तन्मयता एवं लगन हो तो जप गतिशील रह सकता है; फिर भी जप के लिये प्रात: काल, मध्याह्न-काल और सांयकाल का समय उपयुक्त माना गया है। कम से कम साधक पैंतालीस मिनट तक इस मंत्र का जप करे, यह वांछित है।

जप करते समय जागरूक रहे, मन में संसार की चिंता न लाये। प्राय: देखा जाता है कि सामायिक, जप आदि के समय मन में तरह-तरह के विचार और सांसारिक चिंतन आते रहते हैं। इसका कारण लोगों के चित्त का सांसारिक उपलब्धियों में अत्यधिक आसक्त रहना है।

ऐसे समय सामायिक, जप आदि यांत्रिक हो जाते हैं। जो आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रस्फुटन होना चाहिए, वह नहीं हो पाता, इसलिये जप करते समय निश्चिंतता, निराकुलता का अभ्यास परम आवश्यक है।

४. आसन-शुद्धि

जप करने के लिये किस प्रकार बैठा जाए, कौन से आसन में स्थित होकर जप किया जाए, आसन में काष्ठ, चटाई आदि किसका उपयोग किया जाए- इत्यादि विषयों में ज्ञानियों ने चिंतन किया है। आसन के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि अमुक वस्तु का ही बिछाने के रूप में उपयोग किया जाए। भूमि पर बैठकर भी जप किया जा सकता है। काष्ठ, शिला या चटाई आदि पर बैठकर भी जप किया जा सकता है। अनुभवी लोगों का ऐसा कहना है कि सफेद ऊन का आसन जप के लिये उत्कृष्ट होता है।

ऊन का पुद्गल-परमाणु-संचयन ऐसा होता है कि अन्य वस्तु का उस पर कम प्रभाव पड़ता है।

योग में पद्मासन, खड्गासन, अर्द्धपद्मासन आदि अनेक आसनों का वर्णन किया गया हैं।

आचार्य हेमचंद्र ने जप और ध्यान में आसन-प्रयोग के संबंध में लिखा है कि अमुक आसनों का प्रयोग किया जाए, अमुक का नहीं किया जाए-- ऐसा कोई प्रतिबंध या नियम नहीं है। जिस आसन का प्रयोग करने से मन सुस्थिर होता है, उसी का जप या ध्यान-साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए।[1]

जिस आसन में बैठने से अंगों का खिंचाव हो, बैठे रहने में कठिनाई का अनुभव हो, वैसे आसन में नहीं बैठना चाहिए। जप करने काले व्यक्ति को अपना मुँह पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर रखना चाहिए। उसे काल का प्रमाण कर, 'मैं इतने काल तक जप करूंगा'-- ऐसा निश्चित कर, मौन पूर्वक जप करना चाहिए।

५. विनय-शुद्धि

विनय का अर्थ-- आराध्य के प्रति विनत भाव है। णमोक्कार मंत्र का जप करते समय साधक को अपने मन में पंच-परमेष्ठियों के प्रति अनवरत विनय-भाव रखना चाहिये। हिंसापूर्ण या अविनयपूर्ण परिवेश से सर्वथा दूर रहना चाहिए। जिस आसन पर स्थित होकर जप करना हो, उस आसन का सावधानी पूर्वक प्रतिलेखन करना चाहिए। ईर्यापथ-शुद्धि के साथ-साथ भूमि का अवलोकन करना चाहिए। मन में जप के प्रति अनुराग एवं आंतरिक उत्साह नहीं होगा, तब तक सच्चे मन से जप नहीं होगा।

६. मन-शुद्धि

जप में अभिरत साधक को विचारों के कालुष्य का त्याग करना चाहिये। मन बड़ा चंचल है, जब भी व्यक्ति जप या ध्यान में बैठता है तो मन इधर-उधर भटकता है। जिनका जप किया जाता है, वे मन से सर्वथा दूर हो जाते हैं। केवल अक्षरों का उच्चारण होता है, विचारों में और ही कुछ अन्यभाव आने लगते हैं। इसलिये साधक मन को एकाग्र रखे, विकारों से अस्पृष्ट रहे तथा मन को पवित्र रखने का प्रयास करे। इस प्रकार मन के परिष्कार का सतत प्रयत्न करने से मन क्रमशः स्थिर होता जाता है।

७. वचन-शुद्धि

वचन का अर्थ बोलना या उच्चारण करना है। मंत्र का उच्चारण सर्वथा शुद्ध होना चाहिए। उच्चारण का अत्यधिक महत्त्व है। शास्त्रों में उच्चारण, स्वर और ध्वनि आदि की शुद्धि पर बहुत जोर दिया गया है। मंत्र के मूल स्वरूप में अक्षर, मात्रा आदि की दृष्टि से तिल-मात्र भी अशुद्धता न हो, इसका ध्यान रखा जाए। अशुद्ध मंत्र फलदायी नहीं होता।

१. योग-शास्त्र, चतुर्थ-प्रकाश, श्लोक-१३४, पृष्ठ : १४९.

कुछ लोग ऐसा कहते हैं– शुद्ध भाव से खोटा-खरा कुछ भी बोला जाए, अच्छा ही है। उन्हें यह समझना चाहिए कि शब्द का अपना एक विज्ञान है। ज्यों ही वह उच्चरित होता है, वातावरण में अपने कलेवर या अवयव के अनुरूप तरंगें उत्पन्न करता है। वह आकाश में व्याप्त हो जाता है। न्यायशास्त्र में–'शब्दगुणमाकाशम्'– ऐसा कहा गया है। अर्थात् शब्द आकाश का गुण है। आकाश में शब्द के उच्चारण के साथ उत्थित तरंगें अपना विशेष प्रभाव रखती हैं। अशुद्ध उच्चारण से वैसी फल निष्पत्ति नहीं होती, जो शुद्ध उच्चारण द्वारा होती है क्योंकि शब्दों का, उनकी तरंगों का तथा उनके प्रभाव का परस्पर वैज्ञानिक (Scientific) संबंध है। इसके साथ-साथ मंत्र का उच्चारण यदि मन के भीतर ही किया जाए तो अति उत्तम होता है।

८. काय-शुद्धि

मंत्र-जप में बैठने से पूर्व शरीर शुद्धि आवश्यक है। शौच आदि दैहिक शंकाओं से निवृत्त हो जाना चाहिए। यत्नापूर्वक शरीर को शुद्ध कर लेना चाहिए। जप में बैठने के पश्चात् दैहिक हलन-चलन नहीं करनी चाहिए। हाथ, पैर, अंगुलि आदि किसी अंग-प्रत्यंग को नहीं हिलाना चाहिए। शरीर को स्थिर रखने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए।

जप के क्रम, भेद

यदि खड़े होकर जप करना हो तो तीन-तीन श्वासोच्छ्वास में एक बार णमोक्कार का जप होना चाहिये। एक सौ आठ बार जप में तीन सौ चौरासी श्वासोच्छ्वास लेने चाहिए। जप करने के तीन क्रम बतलाये गये हैं– १. कमल-जाप्य, २. हस्तांगुली-जाप्य, ३. माला-जाप्य।

कमल-जाप्य

साधक अपने हृदय में अष्ट पंखुडी युक्त एक श्वेत कमल का चिंतन करे। उसकी प्रत्येक पंखुडी पर पीले वर्ण के बारह-बारह बिंदुओं की कल्पना करे। कमल की मध्यवर्तिनी कर्णिका में भी बारह बिंदुओं की कल्पना करे।

इस प्रकार एक सौ आठ बिंदु हो जाते हैं। उन बिदुओं में से प्रत्येक बिंदु पर एक-एक मंत्र का जप करे। इस प्रकार एक सौ आठ बार मंत्र-जप हो जाता है।

एक सौ आठ बार मंत्र-जप करने के पीछे एक चिंतन है। ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति प्रतिदिन एक सौ आठ प्रकार के पाप करता है। पाप का उद्भव–आरंभ–समारंभ और संरंभ इन तीनों से होता है। इन तीनों के साथ मन, वचन और शरीर जुड़ता है। इस प्रकार ३ x ३ का गुणन करने से ९ गुणनफल आता है। कृत, कारित और अनुमोदित– इन तीन का नव से गुणन करने से सत्ताईस गुणनफल होता है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ– इन चार कषायों का सत्ताईस से गुणन करने से

एक सौ आठ गुणन फल आता है। इस प्रकार एक सौ आठ पाप प्रतिदिन व्यक्ति द्वारा होते हैं। उनके नाश के लिये एक सौ आठ बार जप किया जाता है।[1]

हस्तांगुली-जाप्य

हाथ की अंगुली पर भी नवकार मंत्र के जप की विधि है। दाहिने हाथ की कनिष्ठा अंगुलि के नीचे के पर्व(पौरवे) से जपना प्रारंभ करें। इस प्रकार क्रम से कनिष्ठा के तीनों पर्व, चौथा अनामिका के ऊपर का, पाँचवाँ मध्यमा के ऊपर का, छठा तर्जनी के ऊपर का, सातवाँ तर्जनी के मध्य का, आठवाँ तर्जनी के नीचे का, नौवाँ मध्यमा के नीचे का, दसवाँ अनामिका के नीचे का, ग्यारहवाँ अनामिका के मध्य का और बारहवाँ मध्यमा के मध्य का– इस प्रकार बारह जप हुए। अस्तु, नौ बार गिन लेने से एक माला पूर्ण हो जाती है।[2] चारों अंगुलियों के बारह पौरवे होते हैं। बारह के साथ नौ का गुणन करने से गुणनफल एक सौ आठ होता है। इस विधि का सारांश यह है कि एक विशेषक्रम के साथ चारों अंगुलियों के बारह पौरवों पर नौ बार जप करने से एक सौ आठ बार जप हो जाता है।

माला-जाप्य

एक सौ आठ मनकों की माला पर जप करना माला-जाप्य कहा जाता है। सूत, चंदन, स्फटिक, रुद्राक्ष तथा वैजयंती आदि अनेक प्रकार की मालाएं होती हैं, जिन पर जप किया जाता है।

माला तो बाह्य साधन है। उससे मंत्रों की संख्या की गिनती होती है। मंत्र का मुख्य संबंध तो आत्मा के साथ है। इसलिये मंत्र का जप करते समय, जप करने वाले का मन मंत्र के आशय या भाव के साथ जुड़ा हुआ होना चाहिए। यदि मन, मंत्र के आशय से बिलकुल दूर रहे, केवल माला के मनके गिनते रहे तो उस जप से उतना लाभ नहीं होता, जितना होना चाहिये। इसलिये संत कबीर ने कहा है–

माला फेरत जुग भया, मिटा न मनका फेर ।
करका मनका डारिके, मन का मनका फेर ।।

संत कबीर के कथन का अभिप्राय यह है कि माला फेरने वाला यदि मन को भी उसमें लगा दे तो माला फेरना सार्थक हो जाए। यदि माला के साथ अंतःकरण नहीं जुड़ता तो उसका लक्ष्य पूरा नहीं होता। ये तीन प्रकार के जप-क्रम बतलाए गए हैं– उनमें कमल-जाप्य-विधि सर्वोत्तम है। उसमें मन का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक स्थिर रहता है। कर्मों के बंधन को क्षीण करने के लिये यह विधि अधिक उपयोगी है। सरलता की दृष्टि से मानसिक स्थिरता पूर्वक माला द्वारा भी जप किया जा सकता है।[3]

---

१. मंगलमय नवकार, पृष्ठ : ४१ २. मंगलवाणी, पृष्ठ : ३८१. ३. मंगलमय नवकार, पृष्ठ : ४२.

'महामंत्रनां अजवाळा' नामक पुस्तक में श्री उपदेशप्रासाद, श्राद्धविधि आदि के आधार पर जप के संबंध में उल्लेख हुआ है– "मेरू का उल्लंघन करते हुए अंगुलि के अग्र भाग से व्यग्रचित्तपूर्वक यदि जप किया जाय तो प्रायः अल्प फलप्रद होता है।"

इससे यह ध्वनित होता है कि अंगुलि से जप करना उचित नहीं हैं। यहाँ कुछ लोग अंगुली के अग्रभाग का अर्थ नख करते हैं। अतः नख को सटाकर जप नहीं करना नहीं चाहिए। अंगूठे से निरन्तर जप करे तो मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है। तर्जनी द्वारा जप करे तो शत्रु का नाश होता है। मध्यमा द्वारा जप करे तो सभी दास– वशगत हो जाते हैं। अनामिका द्वारा जप किया।[1]

भारतीय मनीषियों ने जप पर अनेक दृष्टियों से बड़ा सूक्ष्म चिंतन किया है। उस संदर्भ में मुनि श्री कुन्दकुन्दविजयजी ने 'नमस्कार चिंतामणि' में– "(१) रेचक, (२) पूरक, (३) कुंभक,(४) सात्विक, (५) राजसिक, (६) तामसिक, (७) स्थिरकृति, (८) स्मृति, (९)हक्का, (१०) नाद, (११) ध्यान, (१२) ध्येयकत्त्व और (१३) तत्त्व"[2]– जप के इन तेरह भेदों का उल्लेख किया है तथा प्रत्येक की व्याख्या की है। जप-तत्त्व को विशद रूप में जानने की इच्छा वालों के लिए यह विवेचन मननीय है।

जप के अन्तर्गत ॐ-जप, हृदय-जप, नित्य-जप, काम्य-जप, प्रायश्चित्त-जप, अचल-जप, चल-जप, वाचिक-जप, उपांशु-जप, मानस-जप, अखंड-जप एवं अजपा-जप आदि का भी विवेचन हुआ है।[3]

"नाम-जप के साथ ध्यान जरूर होना चाहिए। वास्तव में नाम के साथ नामी की स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तु के नाम का उच्चारण करता है, उस-उस वस्तु के स्वरूप की स्मृति उसे अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसी के अनुसार भला, बुरा परिणाम भी अवश्य होता है।"[4]

पर्य्यवगाहन

णमोक्कार मंत्र तत्त्व-ज्ञान और आचार-दर्शन का दिव्य प्रतीक है। यह श्रुत का नवनीत है। इसका उत्कर्ष अध्यात्म-विकास की दृष्टि से सर्वातिशायी है। उत्तम वस्तु का प्रयोग उत्तम रीति से, विधि से हो तो वह उत्तम फलप्रद होती है।

उदाहरणार्थ– एक व्यक्ति को किसी दूसरे गाँव में पहुँचना है। उस गाँव की ओर जाने वाला एक मार्ग है। वह व्यक्ति यदि उस मार्ग का अवलंबन न लेकर गाँव की दिशा में उन्मार्ग से चलता जाए तो उसे पहुँचने में बहुत कठिनाई होती है, रास्ते में उबड़-खाबड़ जमीन, कंटीले पौधे आदि आते

---

१. महामंत्रनां अजवाळा, पृष्ठ : १२०, १२१
२. नमस्कार-चिन्तामणि, पृष्ठ : ८७-८९.
३. मंत्र विज्ञान अने साधना रहस्य, पृष्ठ : १४०-१४७
४. नाम जप (जयदयाल गोयन्दका), पृष्ठ : १४, १५.

हैं, जिन से उसे आगे बढ़ने में कष्ट होता है। वह किसी तरह उस नगर में पहुँच तो जाता है, किंतु वहाँ पहुँचकर बहुत खिन्न हो जाता है। यदि वह अच्छे मार्ग का सहारा लेकर चलता तो चलने में ये बाधाएं और कठिनाइयाँ नहीं आती।

णमोक्कार-मंत्र की जपाराधना में समुचित रीति का, मार्ग का अवलंबन लेना आवश्यक है। विद्वानों ने बाह्य-आभ्यंतर-शुद्धि को ध्यान में रखते हुए स्थान-चयन, आसन-चयन, समय-चयन इत्यादि के संबंध में जो निर्देश दिये हैं, वे अत्यंत उपयोगी हैं।

जपाराधना का प्रथमत: मुख्य आधार तो अंत:करण है। द्वितीय, मंत्र का उच्चारण है। मंत्रोच्चारण की दो विधियाँ बतलाई गई हैं। वे भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। एक उच्चारण वह है, जिसमें केवल मानसिक स्मरण होता है। मन द्वारा मंत्राक्षरों का आवर्तन या सूक्ष्मोच्चारण होता है। दूसरा, स्पष्ट उच्चारण है, जिसमें साफ-साफ सुनाई देता है।

आंतरिक उच्चारण का अत्यधिक महत्त्व है। आंतरिक उच्चारण से मन अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होता है। वह मंत्राक्षरों से संयुक्त रहता है। इससे उत्तरोत्तर मंत्राधिष्ठित तत्त्वों में उसकी तन्मयता होती है। वैसा होने पर जप के साथ-साथ ध्यान भी स्वाभाविक रूप में सधने लगता है।

जहाँ मंत्र का उच्चारण स्पष्ट सुनाई पड़ता है, वहाँ मन मंत्रों को वागिन्द्रिय तक प्रेषित करता है। वागिंद्रिय उसे वैखरी-वाणी के रूप में उच्चारित करती है। उस समय मन के साथ उसका उतना गहरा सामीप्यपूर्ण संबंध नहीं रह पाता, जितना मौन जप में रहता है। मौन शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'मुनेर्भावो मौनम्'– इस व्युत्पत्ति के अनुसार मौन का अभिप्राय मुनिभाव या मुनित्व है। मौन रखने से मुनित्व-भाव परिपुष्ट होता है। इसलिये ज्ञानी कहते है कि वाणी का प्रयोग कम से कम करें। उसके प्रयोग में ऊर्जा का जो व्यय होता है, उसको बचाएं। उस ऊर्जा का उपयोग विधायक रूप में आत्म-तत्त्व के विकास में करें।

यह जप की उच्च भूमिका है। यह एकाएक सिद्ध नहीं होती। इसलिये सामान्य साधक उच्चारण के साथ जप की साधना करता है। जैसा विधिक्रम में सूचित किया गया है कि उच्चारण अत्यंत शुद्ध होना चाहिए। गुरुजनों से साधक को मंत्र-दीक्षा और मंत्र-शिक्षा लेनी चाहिए। गुरु के मुख से प्राप्त मंत्र दिव्य होता है, क्योंकि गुरु के जीवन की पवित्रता और महत्ता उसके साथ जुड़ जाती है। सभी धर्मों में गुरु की महत्ता है। कहा गया है :–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु:, गुरुर्देवो महेश्वर:।
गुरु: साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरवे नम:।।[१]

१. श्री अर्हद्गीता, पृष्ठ : १९

इस श्लोक से स्पष्ट है कि गुरु का स्थान सर्वोपरि है। गुरु-पूजा परमात्म-पूजा है, तभी तो संत कबीर कहते है :—

गुरु-गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

इस दोहे में कबीर ने बड़े मर्म की बात बताई है। परमात्मा और गुरु दोनों को अपने सम्मुख देखने की परिकल्पना कर संत कबीर कहते हैं— मेरे लिये तो ये दोनों महान् हैं परंतु किसको प्रथम प्रणाम करूँ ? मेरे लिये परमात्मा से भी बढ़कर गुरु का स्थान है, पहले वे ही प्रणाम-योग्य हैं, क्योंकि उन्होंने ही मुझे परमात्म-दर्शन का मार्ग बतलाया।

इसलिए णमोक्कार मंत्र सद्गुरु से श्रवण कर स्वायत किया जाए, यह वांछित है। अन्य सभी शुद्धियों का पालन करते हुए साधक को सबसे पहले अपनी मानसिक स्थिरता पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। जप की गति में अनवरतता रहनी चाहिये। यदि साधक विधिपूर्वक दीर्घकाल तक जप का अभ्यास करता रहे तो फिर जप आत्मा का स्वभाव बन जाता है और योग की भाषा में कहे तो अजपा-जाप की स्थिति निष्पन्न होती है।

णमोक्कार महामंत्र से ज्ञायक भाव का उदय

आत्मा ज्ञाता है, द्रष्टा है, यह वास्तविकता है। आत्मा द्वारा अपने को परभाव का कर्ता मानना अज्ञानजनित मोहावस्था है। णमोक्कार मंत्र आत्मा के ज्ञातृत्त्व-भाव या ज्ञायक-भाव का दिशादर्शन देता है। ज्ञायक-भाव आत्मा का स्वभाव है, राग-द्वेष आदि विभाव हैं। सांसारिक आत्माएं अधिकांशत: विभावोन्मुख होती हैं। णमोक्कार मंत्र उन्हें स्वभावोन्मुख बनाता है। 'अर्हम्' वर्णमाला का एवं शब्दब्रह्म का संक्षिप्त स्वरूप है। तत्त्वत: शब्दब्रह्म, परब्रह्म का वाचक है। परब्रह्म शुद्ध-ज्ञान-स्वरूप है, क्योंकि उसमें विशुद्ध ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे कोई भाव समाविष्ट नहीं हैं। वही शुद्ध परब्रह्म-स्वरूप ही उपास्य या उपासना-योग्य है, पूज्य या पूजा-योग्य हैं, वही आराध्य या आराधना-योग्य है। उसके अतिरिक्त अन्य स्वरूप उपासना-योग्य, पूजा-योग्य अथवा आराधना-योग्य नहीं हैं— यह जैन सिद्धांत है।

उपास्य, पूज्य या आराध्य भाव का हेतु वीतरागत्व आदि गुण हैं। वीतरागता, सर्वज्ञता के साथ व्याप्त है। अर्थात् जहाँ वीतरागता होती है, वहाँ सर्वज्ञता फलित होती है, अत: वीतराग एवं सर्वज्ञ जैसे सर्व-दोष-विवर्जित ज्ञान-स्वरूप की उपासना ही परम पद की प्राप्ति का बीज है। णमोक्कार महामंत्र उसका अनन्य साधन है। वह शब्दबह्म है, उसी का सिद्धिमूलक रूपांतर परब्रह्म है। णमोक्कार रूप शब्दब्रह्म, आराधना द्वारा परब्रह्म के रूप में परिणत हो जाता है क्योंकि उससे ज्ञायक-

भाव का उदय होता है। ऐसा होना आत्मा की शुद्धावस्था है, जिसके प्राप्त होने पर समग्र कर्म-कालुष्य प्रक्षालित हो जाते हैं।[1]

णमोक्कार मंत्र में जो मातृका-पद के अड़सठ अक्षर आए हैं, वे चारों प्रकार की वाणी को अपने में समाविष्ट किए हुए हैं। णमोक्कार मंत्र का उच्चारण, जप, स्तवन वैखरी-वाणी का रूप है। मानसिक जप, चिंतन आदि पश्यन्ती-वाणी का रूप हैं। उच्चारण युक्त जप से पूर्व उपांशु-जप होता है, जिसमें जिह्वा और ओष्ठ गतिशील रहते हैं, किंतु ध्वनि बाहर सुनाई नहीं देती, अर्थात् केवल ओष्ठ हिलते हुए प्रतीत होते हैं तथा जब इस महामंत्र में समाविष्ट पंच आध्यात्मिक पूज्य, दिव्य-आत्माओं के स्वरूप की अनुभूति करते हैं, तब परा-वाणी तक पहुँचते हैं। यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि णमोक्कार मंत्र का परम साध्य सिद्धत्व है, जो सिद्ध पद के अतिरिक्त चारों पदों का ध्येय है। अतः भावात्मक दृष्टि से वे सभी सिद्धत्व के साथ पूर्वापर संबंध से संपृक्त हैं । वहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय का एकीकरण हो जाता हैं।

इस विवेचन के अनुसार णमोक्कार मंत्र वह शब्दात्मक माध्यम है, शब्द ब्रह्म है, जिसकी आराधना द्वारा वैखरी-वाणी से शुरू कर परा-वाणी तक पहुँचते हुए परब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है, किंतु इसके लिये उच्चारण, स्मरण तथा जप के साथ-साथ इसके निगूढ़तम स्वरूप का साक्षात्कार करना आवश्यक है। इससे आत्मा और परमात्मा के अभिन्नानुभव का साक्षात्कार होता है।

इस सम्बन्ध में इतना ज्ञातव्य है कि इन चारों में से प्रत्येक वाणी के जप में पृथक्-पृथक् परिणाम होते हैं। वैखरी-वाणी में जप करने का बाह्य परिणाम यह होता है कि उससे उत्तम ध्वनि-तरंगों से शारीरिक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। चित्त पर जमे हुए स्थूल विचार, हलके होते हैं। मध्यमा-वाणी द्वारा जप करने से यथा-प्रवृत्तिकरण निष्पन्न होता है। पश्यन्ती-वाणी द्वारा जप करने से अपूर्वकरण प्राप्त होता है तथा परा-वाणी द्वारा जप करने से अनिवृत्तिकरण उपलब्ध होता है, आत्मदर्शन होता है। यह क्रम आगे बढ़ता-बढ़ता, भावोत्कर्ष प्राप्त करता-करता, साधक को उसके गंतव्य पथ पर आगे बढ़ाता जाता है। परिणामस्वरूप साधक का जीवन सफल हो जाता है । वह भव-भ्रमण का लंघन कर उससे सदा के लिये विमुक्त होकर अपना शाश्वत, शुद्ध स्वरूप अधिगत कर लेता है ।

णमोक्कार मंत्र : शांति का उद्भव

प्रत्येक व्यक्ति का सबसे पहले यह कर्तव्य है कि वह परीक्षण, निरीक्षण द्वारा अपने सच्चिदानंद-स्वरूप का निश्चय करे। आत्मा के स्वरूप का निश्चय करने पर भी जब तक अनुकरणीय आदर्श

---

१. मंत्राधिराज (भद्रंकरविजयजी), भाग-२, पृष्ठ : ३४८.

निश्चित नहीं होते, तब तक अपने स्वरूप को प्राप्त करने का मार्ग मिलना संभव नहीं है। आदर्श-शुद्ध, सच्चिदानंदस्वरूप आत्मा या परमात्मा ही हो सकता है। कोई भी विकार-ग्रस्त प्राणी विकार-रहित आदर्शों को अपने समक्ष रखकर अपने भीतर उत्साह, स्फूर्ति तथा दृढ़ संकल्प उत्पन्न कर सकता है। चिदानंदमय, प्रशांत परमात्म-स्वरूप को अपने हृदय-स्थल में स्थापित करने से विकार शांत होते हैं। वीतराग, अलौकिक, दिव्यज्ञानधर, अनुपम, दिव्य आनंदमय, अनंत सामर्थ्ययुक्त आत्माओं का आदर्श सामने रखने से मिथ्या बुद्धि नष्ट होती है तथा दृष्टिकोण में परिष्कार और परिमार्जन होता है। राग-द्वेषात्मक भाव हृदय से निःसृत हो जाते हैं। अर्थात् अध्यात्म-चेतना विकसित होने लगती है।

णमोक्कार मंत्र ऐसे ही आदर्श रूप को लिये हुए हैं। वह उत्कृष्टतम मंगल-वाक्य है। उसमें द्वादशांग-वाणी का सारभूत परम दिव्यात्म-स्वरूप पंच परमेष्ठियों का पावन नाम निरूपित है, इसके श्रवण, स्मरण, चिंतन-मनन से कोई भी व्यक्ति राग-द्वेषात्मक विकारों को अपने से पृथक् कर सकता है, विकारों को मिटाने के लिये पंच परमेष्ठी के आदर्श से उत्तम और कोई आदर्श विश्व में विद्यमान नहीं है। यह शक्ति का अमोघ उपाय है।[1]

वासनाओं में इधर-उधर भटकने वाला मन, इस मंत्र के उच्चारण और जप द्वारा शुद्ध और स्वस्थ बन सकता है। इस मंत्र में जिस भावना का प्रतिपादन हुआ है, वह प्रारंभिक साधक से लेकर उच्चातिउच्च श्रेणी के साधक तक के लिये शांतिप्रद और श्रेयस्कर है।

भारतीय दार्शनिकों का ही नहीं, संसार के सभी दार्शनिकों का यह मंतव्य है कि जब तक व्यक्ति में आस्तिकता का भाव नहीं होता, मंगल-वाक्य के प्रति श्रद्धा नहीं होती, तब तक उसका मन स्थिर नहीं हो सकता।

जिस व्यक्ति के मन में आस्तिकता या श्रद्धा होती है, वह अपने आराध्य महापुरूषों की आराधना द्वारा शांति प्राप्त कर सकता है। दृढ़ आस्था के साथ सर्व-दोष-विवर्जित आत्माओं का आदर्श अपने सामने रखना तथा राग-द्वेष जीतने वाली आत्मा के समान अपने को बनाने का प्रयत्न करना, प्रत्येक साधक का परम कर्तव्य है।

जो शांति चाहता है, राग-द्वेष से विरत होना चाहता है तथा अपने हृदय को शुद्ध, निर्मल और सबल बनाना चाहता है, उसे अपने समक्ष कोई आदर्श अवश्य रखना होगा तथा उस आदर्श को निरूपित करने वाले मंगल-वाक्य का चिंतन-मनन करना होगा। अपने समक्ष आदर्श रखने का यह आशय नहीं है कि अपने को हीन तथा आदर्श को उच्च मानकर उपासना, आराधना की जाए। वास्तव में इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध और उच्च आदर्शों को सामने रखकर उन्हीं के सदृश शुद्ध एवं

---

१. समरो मंत्र णवकार, पृष्ठ : २३.

उच्च बनने की भावना की जाए तथा उस दिशा में साधनामूलक प्रयत्न किया जाए।

मंगलवाक्य में वर्णित शुद्ध आत्माओं के समान राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने का यत्न किया जाए। आत्मोन्नति के लिये परम शांत, सौम्य, भव्य, आराध्य वीतराग आत्माओं का चिंतन एवं मनन करना, उनके नाम और गुणों को प्रतिपादित करने वाले वाक्यों का स्मरण, पठन एवं आवर्तन करना आवश्यक है।

सांसारिक विकारों से ग्रस्त व्यक्ति आदर्श आत्माओं के गुण-स्तवन, चिंतन एवं अनुभावन द्वारा अपने जीवन पर विचार करता है। जिस प्रकार उन शुद्ध और निर्मल आत्माओं ने राग-द्वेष आदि वैभाविक स्थितियों पर विजय प्राप्त की तथा नवीन कर्मों के आस्रव को अवरूद्ध कर, संचित कर्मों को क्षीण कर, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया, उसी प्रकार उन आदर्श शुद्ध आत्माओं के स्मरण, ध्यान और मनन से साधक भी अपनी आत्मा को निर्मल बना सकता है।

णमोक्कार मंत्र में निरूपित आत्माओं की शरण लेने का तात्पर्य उन्हीं के समान शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है। साधक किसी आलंबन को पाकर ऊर्ध्वगमन कर सकता है एवं साधना की उच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है। णमोक्कार मंत्र में प्रतिपादित महान् आत्माओं का आलंबन विश्व की समस्त आत्माओं से उन्नत परमात्म-स्वरूप है। उनके निकट पहुँचकर साधक उसी प्रकार शुद्ध हो सकता है, जैसे लोहा पारस का संयोग प्राप्त कर स्वर्ण बन जाता है।

जैसे जलते हुए एक दीपक की लौ से दूसरा दीपक प्रज्वलित हो जाता है, वैसे ही सांसारिक विषय, कषाय, दोष आदि से युक्त आत्मा उत्कृष्ट मंगलवाक्य में प्रतिपादित महान् आत्माओं का सान्निध्य प्राप्त कर उनके सदृश बन जाती है। यही कारण है कि मंगल-सूत्रों का मानव-जीवन के उत्थान और उन्नयन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

णमोक्कार महामंत्र के आराधक

णमोक्कार मंत्र का उच्चारण करने से शुभोपयोग निष्पन्न होता है। जब इस महामंत्र के प्रति आभ्यंतरित आस्था जागरित होती है और इस मंत्र में वर्णित महान् उच्च आत्माओं के गुणों का स्मरण, चिंतन और मनन किया जाता है तो साधक का आत्म-परिणति की दिशा की ओर झुकाव हो जाता है तथा वह शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की दिशा में अग्रसर होता है।

शुभोपयोग की दशा में शुभ या पुण्यमूलक बंध होता है। इसलिए जब साधक साधना की उच्च स्थिति में पहुँच जाता है, तब वह शुभोपयोग से ऊँचा उठ जाता है तथा शुद्धोपयोग की भूमिका को अपना लेता है।

शुद्धोपयोग आत्मा की शुद्धावस्था है। वहाँ कर्मों का बंध नहीं होता। कर्मबंध तो शुभोपयोग तक ही रहता है। शुद्धोपयोग के संबंध में जैन जगत् के महान् अध्यात्मयोगी आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार में लिखा है :–

"धर्म-परिणत-स्वरूप-युक्त आत्मा यदि शुद्धोपयोग सहित हो तो वह निर्वाण-सुख या मोक्ष सुख-प्राप्त करती है। यदि वह शुभोपयोग युक्त हो तो स्वर्ग के सुख को, जो बंधमूलक है, प्राप्त करती है। शुद्धोपयोग से निष्पन्न आत्माओं का, केवलियों और सिद्धों का सुख अत्यंत आत्मोत्पन्न, परम आध्यात्मिक सुख है। वह विषयातीत है। अनुपम, अनंत और अविच्छिन्न है ।

जैन आराधना में णमोक्कार मंत्र का महत्त्व

जैन परंपरा या धर्म का अंतिम लक्ष्य आत्मस्वरूपोपलब्धि है। उसका मार्ग कृत्स्न-कर्म-क्षय है।[1] समग्र कर्मों का क्षय या नाश हो जाने से आत्मा की वैभाविक दशा अपगत हो जाती है। उसके शुद्ध स्वरूप पर आच्छन्न कार्मिक आवरण ध्वस्त हो जाते हैं। उसी का परिणाम आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति है। यह प्राप्ति कहीं बाहर से नहीं होती। कोई ऐसा वैशिष्ट्य नहीं है, जो बाहर से आकर आत्मा में विलक्षणता उत्पन्न कर दे। आत्मा अपने आप में सर्वथा परिपूर्ण है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। इसके अपने स्वरूप के आवृत हो जाने पर न्यूनता दिखलायी पड़ती है।

कार्मिक आवरणों को मिटाने के लिए जैन दर्शन में दो उपाय बतलाए गए हैं। उनमें एक ज्ञान है और दूसरा क्रिया है। ज्ञान तब ज्ञान कहा जाता है, जब उसके साथ सम्यक् दर्शन, सम्यक् निष्ठा और सम्यक् आस्था का योग बनता है। क्रिया, तब सम्यक् क्रिया कही जाती है, जब उसका संचालन सम्यक्-ज्ञान द्वारा होता है। सम्यक् क्रिया के दो रूप बनते हैं– अवरोधात्मक तथा तपोमय अध्यवसायात्मक।

कार्मिक प्रवाह का अवरोध आवश्यक है। यदि कर्मों का प्रवाह सदा गतिशील रहे तो फिर उनका कभी अंत नहीं आता। ज्यों-ज्यों कर्म कटेंगे, अन्य संगृहीत होते जायेंगे, इसलिये पहला कार्य निरोधात्मक है।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि अवरोध और निरोध को प्रवृत्ति, उद्यम या अध्यवसाय कैसे कहा जाए ? यह तो निवृत्त होने की या रुकने की स्थिति है। यह शंका उचित है, किंतु यहाँ एक बात पर विशेष रूप से चिंतन करना आवश्यक है कि अपनी किसी प्रवृत्ति को रोकने के लिये भीतर ही भीतर बड़ा प्रयत्न करना होता है। अत्यधिक अध्यवसाय करना होता है। यह कार्य सरल नहीं है। यह बहुत

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्ययन-१०, सूत्र-३.

कठिन और दुर्गम है। यह अपने आप नहीं हो जाता, क्योंकि मनुष्यों की या प्राणियों की स्वार्थवश, लोभवश, काम या मोह के कारण दुष्कार्यों में लग जाने की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गई हैं कि उसने उनके स्वभाव का सा रूप ले लिया है। यद्यपि वह स्वभाव नहीं है, वह तो विभाव ही है, किंतु अज्ञान-जनित मोहवश तथा चिरकालगत अभ्यास से, वह स्वभाव जैसा बन गया है। अत: उसका निरोध या अपाकरण करने के लिए बड़ा आंतरिक संग्राम करना पड़ता है। उसमें बहुत ही उद्यम और उत्साह की आवश्यकता होती है। जीव उस दिशा में अत्यंत उत्साहित होकर आत्म-पराक्रम के सहारे कर्म-प्रवाह को रोकने का घोर उद्यम करता है, तब वह कर्म-प्रवाह कहीं रुक पाता है। ऐसा होने पर फिर दूसरी प्रवृत्ति गतिशील होती हैं, जो आभ्यंतरिक और बाह्य तपश्चरण से संबंधित है; जिससे पूर्व संचित कर्म-समुदाय का नाश होता है। यह ज्ञान-क्रियामूलक वह मार्ग है, जिससे समस्त कर्मों का क्षय होता है।

णमोक्कार मंत्र जीवन के इस साध्य को पूर्ण करने में सर्वाधिक सहायक सिद्ध होता है। यह महामंत्र समग्र जैन शासन में समान रुप से प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसलिए नित्य प्रति णमोक्कार मंत्र के जप पर धार्मिक क्षेत्र में बहुत जोर दिया जाता है।[१]

सबसे पहले बालक-बालिकाओं को णमोक्कार मंत्र सिखाया जाता है। यह धर्म-क्षेत्र में प्रवेश का पहला कदम है। शाब्दिक कलेवर की दृष्टि से इस छोटे से मंत्र में समग्र शास्त्रों का मानो सार भरा हुआ है। इस मंत्र का निरन्तर जाप करने से या इसे स्मृति में रखने से मानव में यह प्रेरणा जागती है कि मंत्र में जिन महान् पाँच परमेष्ठियों को वंदन, नमन किया गया है– हम भी वैसी स्थिति प्राप्त करें क्योंकि मुक्तत्व या सिद्धत्व का संबंध किसी व्यक्ति-विशेष के साथ नहीं है, इसका संबंध प्राणी मात्र के, सभी भव्यजीवों के साथ है। यह जप करने वालों, स्मरण करने वालों में आध्यात्मिक भाव का जागरण करता है। उन आराध्य देव की छवि, आभा और व्यक्तित्व प्राप्त करने की प्रेरणा देता है।

विशेष

णमोक्कार मंत्र बहुत संक्षिप्त शब्दों में इतना उदात्त भाव लिये हुए है कि इसे मंत्राधिराज कहा जाता है। यह सभी मंत्रों का राजा या सर्वश्रेष्ठ है। इतर धर्मों में भी उनके मंत्रों में अपने आराध्य देवों की उपासना, उनके नाम-स्मरण और जप की शिक्षा दी गई है। णमोक्कार मंत्र से उनमें एक भेद या भिन्नत्व दृष्टिगोचर होता है। अन्य मंत्रों में अधिकांशत: उन देवों के नाम हैं, जिन को उन-उन धर्मों के अनुयायी पवित्र एवं आदर्श मानते हैं। णमोक्कार मंत्र में किसी व्यक्ति-विशेष का

१. ऐसो पंच णमोक्कारो, भूमिका, पृष्ठ : ४.

नाम नहीं है।

णमोक्कार मंत्र आत्म-विकास के प्रशस्त मार्ग को अपनाने के लिए वास्तव में प्रेरणास्रोत का काम करता है। उसका जितना जाप किया जायेगा, बार-बार वह प्रेरणा उजागर होती जाएगी, वह वैशिष्ट्य जागरित होगा, जिसके कारण हम अपने इन महान् आराध्यों की आराधना कर सकें, उनका स्मरण कर सकें। णमोक्कार मंत्र के जप के रूप में जो आत्मा का अध्यवसाय होता है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उस अध्यवसाय के अंतर्गत जो शुद्ध परिणाम आते हैं, उनसे सहज ही कर्मों की निर्जरा होती है। उसी अध्यवसाय से, जो मंत्र के उच्चारण के रूप में, आवर्तन के रूप में शुभ-योगों की प्रवृत्ति होती है, उससे पुण्यार्जन होता है। उसके परिणाम स्वरूप लौकिक अभ्युदय और उन्नति प्राप्त होती है। उन्नति में बाधक विघ्नों और बाधाओं का नाश होता है।

जिस प्रकार णमोक्कार मंत्र एक ओर मोक्षाराधना की प्रेरणा जगाने के कारण सबके लिये धर्ममार्ग का संदेश वाहक है, साथ ही साथ वह ऐहिक और पारलौकिक दृष्टि से जन-जन का हित संपादित करने वाला है।

णमोक्कार मंत्र की उत्कृष्टता

आगमों एवं शास्त्रों में णमोक्कार मंत्र का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। आत्मशोधन का हेतु तो यह मंत्र है ही, नित्य जप करने वाले के रोग, शोक, व्याधि, दुःख, पीड़ा आदि सभी बाधाएं मिट जाती है। णमोक्कार मंत्र सद्बुध्दि, सद्विचार और सत्कर्मों की परंपरा का सर्जन करता है।[1] अज्ञान एवं अहंमन्यता के आग्रह को मिटाने हेतु नमस्कार अनिवार्य है।[2]

पवित्र, अपवित्र, रोगी, दुःखी आदि किसी भी अवस्था में इस मंत्र का जप करने से व्यक्ति बाह्य आभ्यंतर दोनों दृष्टियों से पवित्र हो जाता है। यह सब प्रकार के विघ्नों को नष्ट करने वाला है। सब प्रकार के मांगलिक उपक्रमों में प्रथम या उत्कृष्ट है। किसी भी कार्य के प्रारंभ में णमोक्कार का स्मरण करने से वह कार्य निर्विघ्न रूप में निष्पन्न होता है। इसके विषय में निम्नांकित चूलिका सर्वत्र प्रचलित है :—

एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

सिद्धचंद्र गणी ने इस चूलिका की व्याख्या करते हुए लिखा है— यह नमस्कार मंत्र जिसमें पंच परमेष्ठियों को नमन किया गया है, सब प्रकार के पापों को नष्ट करता है। पापी से पापी व्यक्ति भी

---

१. नवकार मीमांसा, पृष्ठ : २२.
२. मंत्राधिराज, भाग- २, पृष्ठ : ३६१.

इस मंत्र के स्मरण से पवित्र हो जाता है। नवकार मंत्र दधि, दुर्वा, अक्षत, चंदन, नारियल, पूर्णकलश, स्वस्तिक, दर्पण, भद्रासन, मत्स्ययुगल, श्रीवत्स, नंद्यावर्त इत्यादि सभी मंगल वस्तुओं में उत्कृष्ट है।

णमोक्कार का स्मरण करने से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ उपलब्ध होती है। अमंगल दूर होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी वस्तु की महिमा उसके गुणों द्वारा प्रगट होती है। इस महामंत्र के गुण इतने हैं, जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। इसमें एक ऐसी विद्युत्-शक्ति विद्यमान है, जिससे इसके उच्चारण मात्र से पाप और अशुभ का नाश हो जाता है। इस मंत्र की महिमा में अनेक ग्रंथ रचे गए हैं। कहा जाता है– जन्म, मृत्यु, भय, क्लेश, पीड़ा, दुःख, दारिद्र्य आदि इस महामंत्र के जप से क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं।

यह महामंत्र संसार में परम सारभूत तत्त्व है। यह संसार से मुक्त होने का सुलभ अवलंबन है। तीनों लोकों में अनुपम है। इसके सदृश और कोई मंत्र चामत्कारिक और प्रभावशाली नहीं है। अतएव यह तीनों लोकों में अद्वितीय है। जिस प्रकार अग्नि का एक कण घास की बहुत बड़ी राशि को जला डालता है, उसी प्रकार यह मंत्र सब प्रकार के पापों को जला देता है। यह संसार का उच्छेदक है।

यह मनुष्य के भाव-संभार– राग-द्वेष आदि, द्रव्य संभार– ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को विनष्ट करता है। तीक्ष्ण विषयों का विनाश करता है। कर्मों का उन्मूलन करता है। योग-निरोध पूर्वक इसका स्मरण करने से कर्मों के बंधन ध्वस्त होते हैं।भाव सहित विधिपूर्वक इसका जप करने से लौकिक, अलौकिक सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। दुर्लभ, कठिन, असंभव कार्य भी णमोक्कार मंत्र से सिद्ध हो जाते हैं। यह मंत्र 'केवलज्ञान' मंत्र कहलाता है, अर्थात् इसके जप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अंत में यह निर्वाण-सुख, मोक्ष-सुख प्रदान करता है।[1]

आचार्य वादीभसिंह ने एक प्रसंग में लिखा है :–

श्री जीवन्धर स्वामी ने एक मरणोन्मुख श्वान को णमोक्कार मंत्र सुनाया था। मंत्र सुनाने का इतना प्रभाव हुआ कि वह श्वान देव के रूप में उत्पन्न हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मंत्र आत्म-विशुद्धि और कल्याण का बहुत बड़ा हेतु है।[2]

आचार्य सिद्धसेन ने 'नमस्कार-माहात्म्य' में लिखा है :–

नवकार महामंत्र को भावसहित स्मरण किया जाए तो यह समस्त दुःखों का क्षय करता है तथा समस्त ऐहिक और पारलौकिक सुख प्रदान करता है। इस पंचम काल में यह मंत्राधिराज कल्पवृक्ष के समान सभी मनोरथों को पूर्ण करता है। सांसारिक प्राणियों को इसका अवश्य जप करना चाहिए।

---

१ मंगलमंत्र णमोकार-एक अनुचिंतन, पृष्ठ : ३४-३६. २. क्षेत्र चूड़ामणि, अध्ययन- १०, श्लोक- ४.

जिस अज्ञान, पाप और संक्लेश के अंधकार को न सूर्य, न चंद्र, न दीपक दूर कर सकता है, उस सघन अंधकार को यह मंत्र नष्ट कर देता है।[1]

परमेश्वरोपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान एवं गुरुभक्ति के साथ प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल भक्ति-भाव पूर्वक जो इसका जप करता है, वह इतना पुण्य-बंध करता है, जिसके परिणाम-स्वरूप चक्रवर्ती, अहमिन्द्र आदि के पदों को प्राप्त करने की योग्यता उसमें उत्पन्न हो जाती है।

अपने पुण्यों के अतिशय के कारण वह तीर्थंकर-पद भी प्राप्त कर सकता है। मंत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जीव में व्याप्त अनादिकालीन मूर्च्छा को तोड़ना है। णमोक्कार मंत्र मूर्च्छा को भग्न करता है तथा जीव को अनासक्त बनाता है। यह एक बड़ा विलक्षण और अद्‌भुत मंत्र है। इसमें तंत्र, मंत्र, यंत्र, दर्शन, अध्यात्म, चिकित्सा, मनोविज्ञान, तर्क, ध्वनि-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, लिपि-विज्ञान, तथा ज्योतिष आदि अनेक विषय गर्भित हैं। यह श्रुतज्ञान का सार और नवनीत है।

यह शक्ति-जागरण का महामंत्र है। इससे सुषुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, संस्फुरित होती हैं। यह शब्द को अशब्द की ओर ले जाता है। यह अंतर्मुख होने की एक सूक्ष्म प्रक्रिया है। णमोक्कार मंत्र के जप द्वारा एक व्यक्ति उच्च कोटि की महान् उत्कृष्ट आत्माओं से जुड़ता है, जिन्होंने सैंकड़ों, हजारों वर्ष पूर्व इसका जप किया था, साधना की थी।

णमोक्कार में जो पाँच पद हैं उनके क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत, नील और श्याम– ये पांच वर्ण–रंग माने गए हैं। ध्यान में श्वास-प्रक्रिया के साथ इनका विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। णमोक्कार के अक्षरों के ध्यान से हम अक्षर-क्षय या नाश रहित बनने की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं। णमोक्कार मंत्र एक सार्वभौम और संप्रदायातीत मंत्र है। इस महामंत्र में साधक जितनी यात्रा करना चाहे, करें, जप, स्मरण, मनन के रूप में समुद्यत रहना चाहे, रहे। यह एक प्रकार की आध्यात्मिक तीर्थ-यात्रा है। इसमें व्यक्ति जितनी एकाग्रता से अग्रसर होता है, वह अध्यात्म-ज्योति की अनुभूति करता है।

विभिन्न चिंतकों एवं लेखकों ने णमोक्कार मंत्र के उत्कर्ष के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किए हैं। उनमें से कतिपय यहाँ उपस्थापित हैं :–

"जिस प्रकार धन की रक्षा के लिए तिजौरी, शरीर की रक्षा के लिए वस्त्र आदि का महत्त्व है, उसी प्रकार मन की रक्षा के लिए, जिसका मानव-देह में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, महामंत्र अत्यन्त आवश्यक है।"[2]

---

१. नमस्कार माहात्म्य, (डॉ. नेमीचन्द शास्त्री), अध्याय-६, श्लोक-२३, २४.
२. चुंटेलुं चिंतन, पृष्ठ : ३.

"अरिहंत-भगवंत, सिद्ध-भगवंत, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु– इनमें से प्रत्येक का प्रथम अक्षर लेने से 'असिआउसा' ऐसा महत्त्वपूर्ण वाक्य निर्मित होता है, जिससे ॐ के रूप में योगबिन्दु का स्वरूप निष्पन्न होता है, इसलिए इस मंत्र का अवश्य ही विमल भावपूर्वक जप करना जाहिए।"[१]

श्री आर.बी. प्राग्वाट् नवकार महामंत्र के संबंध में लिखते हैं :–

One who recites the Navakara Mantra must consider himself as really very fortunate. That he has the most precious gem like Pancha Parmeshti Namaskar in this beginningless past and endless future, ocean of life."[२]

"जैन धर्म में साधना का केन्द्र कोई व्यक्ति नहीं है। वह गुणपूजक धर्म है। उसकी यह विशेषता णमोक्कार मंत्र में पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। यहाँ किसी देव विशेष को नहीं वरन् आत्मिक गुणों के विकास पर आधृत आध्यात्मिक विभूति को आविर्भूत करने वाले महापुरुषों को ही नमस्कार किया गया है, जिससे यह मंत्र मानव-मात्र की अनमोल निधि है।"[३]

"श्री णमोक्कार पंचपरमेष्ठी भगवंतों के साथ मिलन करवाता है। मोक्ष का सीधा रास्ता बतलाता है। संसार में किस रीति से जीया जाए, यह समझाता है। प्रत्येक प्राणी के साथ अपने संबन्धों की पवित्रता स्थापित करता है। दुष्कृत के प्रति गर्हा, सुकृत के प्रति अनुमोदन करना सिखलाता है। णमोक्कार अपना जन्म-जन्म का सच्चा साथी है।"[४]

"णमोकार मंत्र की ध्वनियों में ओज है, बल है, आत्म-विश्वास है। बीजाक्षरों के रूप में इसमें जो अग्नि-बीज निहित हैं, उनकी ऊर्जा निश्चित रूप से आत्म-जागृति के लिए फलदायी है।"[५]

"णमोकार मंत्र जैन धर्म का सबसे बड़ा प्रभावशाली अनादि-सिद्ध मंत्र है। जैन साहित्य का प्रत्येक क्षेत्र उसके गौरव-गान से गुंजित है। जैनाचार्यों ने कहा है– चौदह पूर्व का विशाल-ज्ञान एक तरफ और नवकार मंत्र की महत्ता एक तरफ ! कल्पना कीजिए, दोनों को तोला जाय तो नवकार मंत्र का ही पलड़ा भारी रहेगा।"[६]

"मंत्र में जप, भक्ति और ध्यान का सामंजस्य है। मंत्र का प्रादुर्भाव शब्दों से होता है, परंतु मंत्र-जप का उद्देश्य और परिणाम शब्द से अशब्द की तरफ जाने का है। यह इसलिए कि मंत्र शब्दमय तभी तक रहेगा, जब तक वह चेतना में साकार न हो जाए।"[७]

---

१. णमोकार महामंत्र, (दिनेशभाई मोदी), पृष्ठ : २९.
२. Navakar Maha Mantra, Page :16.
३. ओंकार एक अनुचिंतन, पृष्ठ : २७.
४. श्री नवकार साधना, पृष्ठ : १०९, ११०.
५. तीर्थंकर (मासिक) वर्ष १०, अंक-९, पृष्ठ : ७८.
६. जैन धर्म : महामंत्र नवकार, पृष्ठ : ९, १०.
७ अरिहंत: स्वरूप-साधना-आराधना, पृष्ठ : ५५.

"नमस्कार मंत्र, मंत्राधिराज है। सभी शास्त्रों में उसे प्रथम स्थान प्राप्त है। संसाररूपी रण-क्षेत्र में कर्मरूपी शत्रुओं से लड़ कर, उन पर विजय प्राप्त करने का यह अमोघ अस्त्र है। नवकार-मंत्र साधकों को आत्म-शत्रुओं पर विजय दिलाता है।"[१]

"नवकार के पाँच अथवा नव पदों को अनानुपूर्वी से भी चित्त की एकाग्रता के लिए गिना जाता है। नवकार का एक-एक अक्षर अथवा एक-एक पद का जप भी बहुत फल देने वाला है।"[२]

"धरती में बोया हुआ अनाज का दाना, धरती के रस को चूसकर यथासमय मनोहर अंकुर के रूप में बाहर निकलता है, उसी प्रकार साधक के अंत:करण में बोये गए नमस्कार महामंत्र के अक्षर आत्मा के अमृत का पान कर यथासमय तेज के स्रोत के रूप में बाहर आते हैं।"[३]

"श्री नमस्कार महामंत्र एक प्रकार की बिजली है अथवा भाप है, एक प्रकार की अग्नि है अथवा जल है। बिजली से जैसे प्रकाश होता है, उसी प्रकार श्री नमस्कार महामंत्र के ध्यान से आत्म-प्रकाश होता है। भाप से जैसे यंत्र चलता है, उसी प्रकार श्री नमस्कार महामंत्र के जप से जीवन-यंत्र व्यवस्थित रूप में चलता है। अग्नि से जिस प्रकार ईंधन जलता है, उसी प्रकार श्री नमस्कार महामंत्र की स्मरणरूपी अग्नि से पाप रूपी ईंधन जल जाता है। जल से जैसे मैल दूर होता है, उसी प्रकार श्री नमस्कार महामंत्र के आराधन रूपी जल से कर्ममल प्रक्षालित होता है।"[४]

"नवकार के ध्यान का योग मानव को विश्वमय पवित्र जीवन की समग्र अनुपम सामग्री प्रदान कर सकता है।"[५]

"द्रव्य और भाव से महामंत्र के साथ संबंध जोड़े बिना अपना भव-भ्रमण रुकने वाला नहीं है। जब तक भाव से महामंत्र की प्राप्ति न हो जाए, तब तक भाव-प्राप्ति के लक्ष्य हेतु द्रव्य से भी प्रयास चालू रखने होंगे।"[६]

"आत्मा अनादि, अनन्त एवं शाश्वत है। नवकार महामंत्र भी अनादि, अनंत और शाश्वत है। दोनों नित्य-भाव की दृष्टि से शाश्वत हैं। नित्य पदार्थ तत्त्वों की गिनती में आते हैं। जगत् के क्षणिक एवं नश्वर भोगों की अपेक्षा नित्य एवं अविनाशी भावों की विशेषता अधिक हैं। नमस्कार धर्म है, आत्मा उसका धर्मी है। धर्म-धर्मी, गुण-गुणी अन्योन्याश्रयी होते हैं। गुणी नित्य होता है, तो उसके गुण भी नित्य ही होते हैं। आत्मा अनादि-अनंत, अजर-अमर, नित्य, शाश्वत, अविनाशी,

---

१. मंत्राधिराज भाग-१, पृष्ठ ३३.
२. नमस्कार-चिंतामणि, पृष्ठ : ८१
३. श्री नमस्कार-निष्ठा, पृष्ठ : ७३.
४. नमस्कार-चिंतामणि, पृष्ठ : ३०.
५. श्री नमस्कार-निष्ठा, पृष्ठ : ७९.
६. मंत्राधिराज, भाग-३, पृष्ठ ८१३.

गुणी या धर्मी है। अत: उसका धर्म-गुण नमस्कार भी नित्य, शाश्वत और अविनाशी ही है।"[१]

"सफलता प्राप्त करने का पहला उपाय बुद्धि की निर्मलता है। णमोक्कार द्वारा वह सिद्ध होती है। णमोक्कार से नम्र भाव आता है। गुरु की गुरुता और प्रभु की प्रभुता का चिन्तन होता है। उनकी महत्ता और अपनी अल्पता का भान होता है। हृदय में भक्ति का संचार होता है।"[२]

"श्री नवकार महामंत्र के बीज द्वारा वासित कोई भी मंत्र की आराधना करने वाले आराधक जन्म-जन्मान्तरों में अनेक प्रकार का लाभ करते हैं तथा इस संसार में भी वे विभिन्न प्रकार के साक्षात् लाभ प्राप्त करते हैं।"[३]

णमोक्कार मंत्र का वास्तविक माहात्म्य एवं महत्ता उसके अंतरंग स्वरूप में सन्निहित है। उसका बाहरी स्वरूप शब्दात्मक है और आंतरिक स्वरूप अर्थात्मक है। शब्द को यदि शरीर कहा जाए तो अर्थ उसके प्राण-सदृश हैं। जिस प्रकार प्राण-रहित शरीर शव कहलाता है, उसी प्रकार अर्थ-रहित शब्द-समवाय का कोई महत्त्व नहीं होता।

णमोक्कार महामंत्र का अर्थ के रूप में आख्यान करने वाले श्री तीर्थंकर देव हैं। उसका शब्दों के रूप में संग्रथन करने वाले श्री गणधर भगवंत हैं। अरिहंत या तीर्थंकर गुरु हैं, गणधर उनके शिष्य हैं। इससे यह फलित होता है कि अर्थ गुरुस्थानवर्ती है और शब्द शिष्यस्थानीय है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है :—

सूत्र या शब्द राजा है, अर्थ मंत्री है। इन दोनों मे से एक की भी अवगणना— अवहेलना महा अनर्थ का कारण है। सूत्र या शब्द को राजा की और अर्थ को मंत्री की जो उपमा दी है, उसका अभिप्राय यह है कि गणधरों ने शब्द रूप में जो सूत्रों की रचना या ग्रंथन किया, वह राजा-स्थानीय है तथा निर्युक्तिकारों, भाष्यकारों, टीकाकारों तथा चूर्णिकारों ने जो अर्थरूप में व्याख्या की, वह मंत्री-स्थानीय है।

उन्होंने आगे लिखा है :— सूत्र छाया है तथा अर्थ पुरुष है। जिस प्रकार पुरुष चलता है, छाया उसी का अनुकरण करती है। जब पुरुष स्थिर होता है, ठहरता है, तब छाया भी स्थित रहती है। इसी प्रकार अर्थ-रूप पुरुष जब गतिशील होता है, तब छाया भी उसका अनुसरण करती है।

सूत्र और अर्थ का समन्वय समझाने के लिये उन्हें अंध और पंगु की भी उपमा दी है। अंध और पंगु मिल जाते हैं तो दोनों अपने इच्छित स्थान पर पहुँच जाते हैं। क्योंकि अंध पंगु को अपने

१. श्री नमस्कार महामंत्रनुं अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान-(प्रथम पदनुं विवेचन), पृष्ठ : ५३.
२. जैन तत्त्व रहस्य (भद्रंकरविजयजी), पृष्ठ : ७८. ३. आराधनानो मार्ग, पृष्ठ ९९.

कंधे पर बिठा लेता है। पंगु उसे गंतव्य मार्ग बतलाता रहता है, अंध तदनुसार चलता रहता है। इसी प्रकार सूत्र और अर्थ मिलकर ही यथेष्ट स्थान पर पहुंच सकते हैं।

जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ है– णमोक्कार का अर्थ के रूप में कथन करने वाले श्री अरिहंत देव हैं तथा सूत्र के रूप में संकलन करने वाले गणधर देव हैं। इसलिये अर्थ को प्राण और सूत्र को देह की उपमा दी गई है। अर्थ को सजीव पुरुष और सूत्र को उसकी छाया की भी उपमा इसी प्रकार दी गई है।

णमोक्कार का प्रथम पद 'णमो अरिहंताणं' है। इसमें तीन पद हैं और सात अक्षर हैं। प्रथम पद के सात अक्षरो में से प्रत्येक अक्षर में एक-एक भय को अपगत करने की, नष्ट करने की विलक्षण शक्ति है। ये सात अक्षर सात क्षेत्रों की तरह शाश्वत और सफल हैं। प्रथम पद के तीन शब्दों में पहला शब्द 'णमो' है। इसका अर्थ नमस्कार है। णमोक्कार– नमन या प्रणमन की एक क्रिया है। इससे भक्ति श्रद्धा और पूज्य-भाव व्यक्त होता है। इसकी महत्ता का बोध; इसके स्वरूप और परिणाम को जानने से प्राप्त हो सकता है।

किसी भी वस्तु को जानने के लिये उसके कारण, कार्य और स्वरूप– इन तीन अवस्थाओं का ज्ञान आवश्यक होता है। वर्तमान काल में जो अवस्था होती है, उसको स्वरूप कहा जाता है। भूतकाल में जो अवस्था होती है, उसको कारण कहा जाता है। आगामी या भविष्य काल में जो अवस्था होती है उसे कार्य कहा जाता है। णमोक्कार रूप क्रिया के स्वरूप, उसके कारण तथा उसके फल या कार्य के सही ज्ञान से णमो पद का वास्तविक अर्थ समझा जा सकता है।

शास्त्रकार यह बतलाते हैं कि नमस्कारात्मक क्रिया का हेतु नमस्कार को आवृत करने वाले कर्म का क्षयोपशम है। मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, दर्शनमोहनीय तथा वीर्यांतराय-कर्म के क्षयोपशम से यह प्रगट होता है। कर्म-क्षय या क्षयोपशम के लिये केवल अकाम-निर्जरा से सफलता नहीं मिलती, किंतु सकाम-निर्जरा की भी अत्यंत आवश्यकता है।

णमोक्कार मंत्र : लेश्या विशुद्धि का उपक्रम

णमोक्कार की क्रिया से जो लेश्यात्मक विशुद्धि होती है, वह नमस्कार का स्वरूप है। आत्मा के शुभ तथा अशुभ परिणामों को लेश्या कहा जाता है। कर्म-युक्त आत्मा का पुद्गल-द्रव्य के साथ गहरा संबंध रहता है। आत्मा द्वारा पुद्गल गृहीत होते हैं और वे उसके चिंतन को प्रभावित करते हैं, उसे द्रव्य-लेश्या कहा जाता है। उत्तम पुद्गल, उत्तम विचारों के सहायक बनते हैं तथा अधम पुद्गल, दुर्विचारों के सहायक बनते हैं। किसी क्षेत्र में ऐसे अनुत्तम या अनिष्टकारी पुद्गल होते हैं, जो आत्मा के शुद्ध विचारों को एकाएक परिवर्तित कर देते हैं।

'आराधनानी वैज्ञानिकता' नामक पुस्तक में कहा गया है :—

"लेश्या शब्द जैन साहित्य में बहुत प्रचलित मनोवैज्ञानिक शब्द है। मनुष्य के मन की शुभ और अशुभ भावनाओं की अभिव्यक्ति उसके माध्यम से होती है। सबसे विशिष्ट बात तो यह है कि आचार्यों ने मन की भावना के अनुरूप रंगों की भी कल्पना की है। सामान्य जीवन व्यवहार में भी मनुष्य की वृत्ति-प्रवृत्ति के अनुसार, उसके चेहरे पर भाव प्रदर्शित होते हैं। ऐसे छः प्रकार के भावों को जैनाचार्यों ने लेश्या शब्द द्वारा समझाया है।"[1]

"लेश्या पद के अन्तर्गत सम-कर्म, सम-वर्ण, सम-लेश्या, सम-वेदना, सम-क्रिया, सम-आयु तथा कृष्ण, नील, कापोत, तैजस्, पद्म और शुक्ल-लेश्या के आश्रय से प्रभावित जीवों का वर्णन किया गया है।"[2]

यद्यपि आत्मा का स्वरूप सर्वथा स्वच्छ है, किंतु कर्म-पुद्गलों से आच्छादित होने से उसका स्वरूप विकृत होता जाता है, उसे भाव-लेश्या कहा जाता है। कर्मों से होने वाली उस विकृति की अल्पता और अधिकता के आधार पर आत्मा के परिणाम सद्-असद् होते रहते हैं। जब विकृतियों की न्यूनता होती है, तब आत्मा के परिणाम शुभ होते हैं।

परिणामों की यह तरतमता— न्यूनता-अधिकता अनेक प्रकार की होती है। उसे छः भागों में विभक्त किया गया है, जो कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या, तैजस्-लेश्या, पद्म-लेश्या तथा शुक्ल-लेश्या के नाम से प्रसिद्ध हैं।[3] इनमें पहली तीन अधर्म-लेश्याएं कही जाती हैं और अंतिम तीन धर्म-लेश्याएं कही जाती हैं।[4]

णमोक्कार मंत्र की आराधना से क्षमता, दमता तथा शमता आदि गुणों का विकास होता है। क्षमता का अर्थ— क्षमाशीलता और क्रोध रहितता है। दमता का अभिप्राय— इंद्रिय-दमन तथा काम-रहितता है। शमता का अर्थ— लोभ-वर्जन है। जो दूसरे को अपने समान समझता हो, वह उस पर क्रोध कैसे कर सकता है ? जो दूसरे की पीड़ा को समझता हो, वह कामना और लोभ के वशीभूत होकर दूसरे को कैसे कष्ट पहुँचा सकता है? वैसा व्यक्ति माया, मिथ्यात्व एवं निदानरूप शल्य से भी विमुक्त रहता है। णमोक्कार मंत्र द्वारा होने वाली लेश्या-विशुद्धि का यह परिणाम है।

---

१. आराधनानी वैज्ञानिकता, पृष्ठ : १२२.
२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, पृष्ठ : ९८.
३. (क) उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-३४, गाथा-३, पृष्ठ : ६१२.
   (ख) आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृष्ठ : ४१६.
४. जीव-अजीव, पृष्ठ : ११६.

णमोक्कार महामंत्र समस्त जीवों में समता और स्नेह का परिणाम विकसित करता है। उससे विश्व-वात्सल्य की भावना उत्पन्न होती है। आत्मा शांत, दांत, निष्काम, निर्दंभ और नि:शल्य होकर उत्तम कार्यों में तत्पर होती है।[1]

णमोक्कार से कृतज्ञता का विकास

णमोक्कार चतुर्दश पूर्वों का सार है तथा यह श्रुत-ज्ञान का रहस्य है। इसका एक कारण यह है कि इससे कृतज्ञता का गुण उत्पन्न होता है एवं परोपकार का भाव उदित होता है। परोपकार के गुण को सूर्य और कृतज्ञता के गुण को चंद्र की उपमा दी जा सकती है। जिसका अपने पर उपकार हो, उपकृत व्यक्ति को उसके प्रति कृतज्ञ रहना चाहिये। यह धर्म की नींव या आधार है। णमोक्कार महामंत्र मूल रूप में यह ज्ञान प्रदान करता है, इसलिये इसे मूलमंत्र या महामंत्र कहा गया है।

अरिहंत आदि पंच-परमेष्ठी, जो णमोक्कार मंत्र में वंदित हैं, हमारे परमोपकारक हैं। उनके उपकार को मानना, उनका आदर करना, सम्मान करना, उपकृत व्यक्तियों का कर्तव्य है। णमोक्कार महामंत्र हमें यह संदेश प्रदान करता है, क्योंकि पंच-परमेष्ठी, जन-जन का सदा से अत्यंत उपकार करते आए हैं। उन्होंने अतीत में उपकार किया है, वर्तमान में वे हमारे लिये प्रेरणाप्रद हैं, इसलिये उपकारी हैं। भविष्य में भी वे सदैव समस्त प्राणियों के लिये प्रेरणाप्रद तथा उपकारी रहेंगे।

"अज्ञान एवं अहंमन्यता के आग्रह को मिटाने हेतु णमोक्कार अनिवार्य है। णमोक्कार का अर्थ है– देव, गुरु की अधीनता का स्वीकार।"[2] "पंच परमेष्ठियों की पहचान करना आवश्यक है। वैसा कर, उन्हें नमस्कार करना अपेक्षित है। इस प्रकार यदि नमस्कार करना आ जाता है तो अपने लिए सभी पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं।"[3]

"मन का बल मंत्र से ही विकसित होता है। मंत्रों में सबसे श्रेष्ठ मंत्र णमोक्कार महामंत्र है। उसके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष तथा मोह रूप आन्तरिक शत्रु जीत लिए जाते हैं।"[4]

"श्रद्धापूर्वक नवकार महामंत्र के स्मरण द्वारा, बार-बार उसके जप द्वारा अनुप्रेक्षा और स्वाध्याय की योग्यता आती है तथा उससे ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है।"[5]

णमोक्कार के बिना तप, चारित्र और शास्त्र-ज्ञान निष्फल कहा गया है, क्योंकि यदि णमोक्कार की आराधना नहीं होगी तो कृतज्ञ-भाव नहीं होगा। णमोक्कार की आराधना के बिना तप आदि

---

१. त्रैलोक्य दीपक, पृष्ठ : ४००-४०२.
२. महामंत्र की अनुप्रेक्षा, पृष्ठ : २८.
३. नवकार मंत्र तत्काल केम फले ? पृष्ठ : २६.
४. अनुप्रेक्षा किरण- १, २, ३, पृष्ठ : ३.
५. श्री नमस्कार महामंत्रनुं दर्शन, पृष्ठ : ५१.

अंक-विहीन शून्य की संख्या के समान है। सम्यक्त्व-गुण भी कृतज्ञ-भाव का द्योतक है। सम्यक्त्व में देव-तत्त्व, गुरु-तत्त्व तथा धर्म-तत्त्व के प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव है, नमन है, श्रद्धा-युक्त बहुमान है।

ये तीनों तत्त्व आत्मा के लिये परमोपकारी हैं। ऐसे हार्दिक भावों की इनमें स्वीकृति है, जिनसे सब शुभ, उत्तम सुखप्रद पदार्थ प्राप्त हो रहे हैं, होंगें, उनका स्मरण करना, उनके प्रति विनम्रता व्यक्त करना, कृतज्ञता है। कृतज्ञता कल्पवृक्ष है। वह नमस्कार है। कर्त्तव्यता कामकुंभ है। वह क्षमापना है। नवकार से सुकृतानुमोदन होता है। क्षमापना से दुष्कृत-गर्हा होती है ।

कृतज्ञता ऐसा गुण है, जो ऋण-मुक्ति की भावना उत्पन्न करता है। ऋण-मुक्ति का यह तात्पर्य है कि तीर्थंकरों का, ज्ञानियों का, साधकों का हमारे पर बड़ा उपकार एवं ऋण है। उन्होंने धर्म-देशना, शिक्षा आदि के रूप में हमें बहुत प्रदान किया है और करते हैं। उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति की अभिव्यक्ति, समर्पण, प्रणमन– कृतज्ञता है। ऋण-मुक्ति और कर्म-मुक्ति इन दोनों का उसमें समन्वय है। ये दोनों अव्याबाध सुखस्वरूप मोक्ष प्रदान कराने वाली है। जो योग्य को नमन करता है, उसका विकास होता है। जो नमन नहीं करता, उसका पतन होता है। यह संसार का अविचल नियम है।

णमोक्कार मंत्र दानरुचि का भी प्रेरक है। णमोक्कार सर्वश्रेष्ठ पुरुषों के सर्वोत्कृष्ट सद्गुणों के प्रति दान है, समर्पण है। दान की रूचि के बिना जैसे दानादि कार्य गुण नहीं बन सकते, वैसे ही नमस्कार के बिना पुण्य-कार्य, पुण्यानुबंधी– पुण्यस्वरूप नहीं बन सकते। नम्रता का मूल– कृतज्ञता है। कृतज्ञता का बीज– परोपकार है। परोपकार का बीज– जगत् का स्वभाव है। इस संसार का धारण, पालन तथा पोषण परोपकार से ही हो रहा है ।

कोई भी क्षण ऐसा नहीं है, जिसमें एक जीव दूसरे जीव का उपकार नहीं करता हो। तत्त्वार्थ सूत्र में उल्लेख है :–

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।

जीव परस्पर एक-दूसरे के उपग्रह– आधार या सहयोग पर ही अवस्थित हैं।[1]

नीतिकारों ने बहुत ही सुन्दर कहा है :–

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नांभः, स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।
नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः, परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-५, सूत्र-२१.

अर्थात् नदियाँ स्वयं अपना जल नहीं पीतीं, वृक्ष अपने फल नहीं खाते, बादल अपनी वृष्टि द्वारा उत्पन्न धान्य को स्वयं नहीं खाते, सत्पुरुषों की संपत्तियाँ औरों के उपकार के लिये ही होती है।[1]

परकार्याय पर्याप्ते, वरं भस्म वरं तृणम् ।
परोपकृतिमाधातु – मक्षमो न पुनः पुमान् ।।

सूर्यचन्द्रमसौ व्योम्नि, द्वौ नरौ भूषणं भुवः ।
उपकारे मतिर्यस्य, यश्च तं न विलुम्पति ।।

भस्म तथा तृण तक भी किसी न किसी रूप में दूसरों का उपकार करते हैं। मनुष्य तो दूसरों के उपकार करने में कभी भी असमर्थ नहीं है। अर्थात् वह तो औरों का अनेक प्रकार से उपकार कर सकता है। जिस प्रकार सूर्य और चंद्रमा आकाश के अलंकार हैं, उसी प्रकार दो पुरुष इस पृथ्वी के अलंकार हैं। एक तो वह, जिसकी बुद्धि दूसरे के उपकार में लगी रहती है, और दूसरा, जो अपने प्रति किये हुए उपकार को विलुप्त नहीं करता, भूलता नहीं। कृतज्ञ पुरुष कभी भी उपकार को भूलते नहीं है।[2]

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः,
त्रिभुवनमुपकार-श्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।।

जिनके मन, वचन और कर्म में पुण्यरूपी अमृत भरा रहता है, जो तीनों लोकों का उपकार करते हुए बड़े प्रसन्न रहते हैं, दूसरों के परमाणु जितने उपकार को पर्वत के सदृश समझकर मन में हर्षित होते हैं, ऐसे सज्जन पुरुष इस संसार में विरले ही हैं।[3]

नवकार से नम्रता की प्रेरणा

अहिंसा आदि समग्र धर्मों का मूल नम्रता है। नमस्कार का भाव धर्म को सानुबंध बनाता है। धर्म को प्राप्त करने का पहला सोपान विनम्र बनना है।

धर्म को समझने के लिये जो कर्म स्वरूप को जानता है, वह अवश्य ही नम्र बनता है। नम्र बनकर संयमी बनने वाला जीव आते हुए कर्मों का निरोध करता है तथा पुराने संचित कर्मों को निर्जीर्ण करने हेतु तपश्चरण आदि की साधना करता है। उसमें सदा उल्लसित-प्रफुल्लित रहता है। उसका णमोक्कार में अहिंसा, संयम, तप– इन तीनों धर्मांगों को अपने आप में समाविष्ट करने का सामर्थ्य है।

---

१. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, पृष्ठ : ४९, श्लोक १७०.
२. त्रैलोक्य-दीपक, पृष्ठ : ४०७, ४०८.
३. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, पृष्ठ : ५१, श्लोक २२१.

जो धर्म करके अहंकार करता है, उसका वह धर्म वस्तुत: धर्म नहीं है, धर्म का आभास मात्र है। कर्म की भयानकता या दु:खोत्पादकता के ज्ञान से जो नम्रता होती है, वह वास्तविक नम्रता है। कर्म के स्वरूप का ज्ञान होते ही जीव में नम्रता आती है।

कर्म के स्वरूप का ज्ञान हुए बिना, कर्म रूपी कचरे को आत्मा से निकालने की तथा उसे रोकने की वृत्ति ही नहीं होती। नम्रता को उत्पन्न करने वाला तत्त्वज्ञान यदि प्राप्त न हो तो आत्मा कर्म को क्षीण करने वाला तात्त्विक धर्म कैसे पा सकती है ?

अहिंसा, संयम तथा तप-रूप सत्य-धर्म को स्वायत्त करने के लिये कर्म की सत्ता, बंध, उदय, उदीरणा आदि, जिनका सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् ने प्रतिपादन किया है, जानना आवश्यक है। उनको जानने से ही अहिंसा आदि धर्मों की प्राप्ति हो सकती है।

आठ कर्मों को दूर करने की शक्ति विनय में ही है। इसका तात्पर्य यह है कि आठ कर्मों के बंधने में मुख्य कारण आठ प्रकार के मद हैं। उनका समूलोच्छेद विनय-गुण द्वारा ही हो सकता है।

यह आत्मा अनादि-कर्म-संबंध से तुच्छ, क्षुद्र, परतंत्र और परवश दशा में है, जिनवचन द्वारा ऐसा ज्ञान होता है। जिससे जाति, कुल, रूप, बल, लाभ, ऐश्वर्य आदि से उत्पन्न होने वाले अभिमान युक्त भावों का नाश हो जाता है तथा वास्तविक नम्रता आती है। इस प्रकार णमोक्कार-भाव आत्मा को धर्म के साथ जोड़ता है।

आठ प्रकार के मद के कारणभूत आठ कर्म, आठ कर्मों के कारणभूत चार कषाय, चार संज्ञा तथा पाँच विषय आदि से भयभीत हुआ जीव सद् धर्म पाने योग्य होता है। अर्थात् धर्म का वास्तविक पात्र या अधिकारी होता है।

जिन जीवों ने धर्म को प्राप्त किया है, उनके प्रति साधक के मन में भक्ति और प्रमोदभाव उदित होता है। उनको देखकर वह प्रमुदित और प्रसन्न होता है। जो धर्म को नहीं प्राप्त कर सकते; उनके प्रति, साधक के मन में करुणा और माध्यस्थ भाव आता है। वह सोचता है कि इतना उत्तम धर्म ये नहीं प्राप्त कर सके, बड़े अभागे हैं, दया के पात्र हैं । साथ ही साथ वह माध्यस्थ भाव, औदासीन्य भाव या तटस्थ भाव का चिंतन करता हैं, क्योंकि इस संसार में करोड़ों की संख्या में ऐसे लोग हैं, जिन्होंने सद्धर्म को प्राप्त नहीं किया है। उनके प्रति माध्यस्थ भाव रखना ही साधु के लिये समीचीन होता है, क्योंकि साधु की चर्या या धर्म का मुख्य लक्ष्य परमात्म-पद पाना है। इसलिये वह विशेषत: आत्मानोन्मुख होता है। वह जब देखता है कि लोगों की मनोवृत्ति ऐसी हो गई है कि वे अति मोहवश लोक-प्रवाह में बहे जा रहे हैं, उस द्वारा शिक्षा दिये जाने पर भी वे उसकी बात मानेंगे, यह संभव नहीं लगता, ऐसी स्थिति में वह उस ओर से उदासीन या तटस्थ रहता है।

अस्तु, जो तीनों लोकों के लिए नमस्करणीय हैं, वे इसी भाव का स्पर्श कर ऐसे बने हैं। वस्तुत: नमस्करणीय को नमस्कार करने से सच्चा नमस्कार-भाव, विनय-भाव अपने में अवतरित होता है।[1]

णमोक्कार की अमोघ शक्ति : विलक्षणता

णमोक्कार मंत्र कभी निष्फल नहीं जाता। उसका निष्फल होना मानो समग्र प्रकृति के कार्य-तंत्र का निष्क्रिय और निष्फल होने के समान है। जिस प्रकार यह प्रकृति-जगत् अपने नियमों में बंधा हुआ सर्वथा कार्यशील रहता है, उसी प्रकार णमोक्कार का भी अमोघ प्रभाव एवं शक्ति है। जिस प्रकार ब्रह्मांड में विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धांत अविरत रूप में कार्य करते हैं, उसी प्रकार णमोक्कार मंत्र स्थिरता पूर्वक स्मरण करने से उत्कृष्ट मंगल-कार्य सिद्ध करता है।

अनंत काल का शाश्वत प्रवाह जैसे एक क्षण भी अवरूद्ध नहीं होता, उसी प्रकार णमोक्कार मंत्र न कभी निष्फल हुआ है और न कभी निष्फल होगा। णमोक्कार मंत्र का भावपूर्वक उच्चारण करने से एक ही पद में मानव तन्मय और तदाकार हो जाता है। प्रथम पद का उच्चारण करते समय समवसरण में भगवान्, सर्वज्ञदेव की वाणी में, दूसरे पद का स्मरण करते समय सिद्धशिला पर आनंदमय एकांत स्थान में विद्यमान सिद्ध भगवंत में, तीसरे पद का स्मरण करते समय पंचाचार रूपी कुसुमों की सुगंध से भरे हुए नंदनवन में, चौथे पद का स्मरण करते समय ब्रह्मांड-विज्ञान के सूक्ष्म सिंद्धांतों के समुद्र में तथा पांचवें पद का स्मरण करते समय पाँच महाव्रतों के आंतरिक सामर्थ्य के समान महामेरु पर्वत पर मानो पहुँच गये हों– ऐसा प्रतीत होता है।

णमोक्कार मंत्र से अल्प पाप ही नहीं किंतु समग्र पापों का ऐकांतिक या निश्चय रूप में, आत्यंतिक या समग्र रूप में क्षय होने की अनुभूति होती है तथा उत्कृष्ट मंगल रूपी गंगोत्री से निकलते हुए गंगा के महाप्रवाह की तरह ध्यान की वज्रमय सुस्थिर पीठिका पर स्थित हो गये हों– ऐसा अनुभव होता है।

'पढ़मं हवइ मंगलं' में जो प्रथम शब्द प्रयुक्त है, उसका अर्थ निरंतर विस्तार पाता हुआ मंगल है, अर्थात् यह ऐसा मंगल है, जो उत्तरोत्तर कल्याणकारी होता जाता है। 'हवइ' शब्द के प्रयोग के बिना भी अर्थ समझा जाता है किंतु इसके प्रयोग का विशेष कारण– नवकार का मंगल निरंतर विद्यमान रहता है, यह सूचित करना है।

णमोक्कार मंत्र-रूप माता का वात्सल्य अपने दोनों हाथ फैला कर सबको अपनी गोद में लेने को उद्यत है। इसी का दूसरा नाम उत्कृष्ट मंगल है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट मंगल सतत समवस्थित रहता है तथा भविष्य में निरंतर विस्तार पाता जाता है।

---

१. त्रैलोक्य दीपक, पृष्ठ : ४०९, ४१०.

णमोक्कार के विशिष्ट प्रयोगों द्वारा यह अनुभव किया जा सकता है कि उस मंगल का स्वरूप क्या है ? उसकी आदि, मध्य क्या है ? उसके प्रगट होने के प्राथमिक नियम क्या हैं ? उस मंगल में संग्रथित शृंखलाबद्ध परिणाम-परंपरा क्या है ? उस मंगल को उत्कृष्ट विशेषण का अलंकरण क्यों दिया गया ? उसमें ऐसी कौन सी विशेषता है ? उस मंगल के समग्र बल का प्रमाण क्या है ? उस उत्कृष्ट महामंगल की तुलना में समग्र प्रकृति की विविधिता तुच्छ प्रतीत होती है। ऐसी कौन सी विलक्षणता णमोक्कार मंत्र में विद्यमान है ? समस्त विश्व में रमणशील सर्वोच्च रस-बिंदू उत्कृष्ट मंगलरूप नवकार में कैसे समाविष्ट हैं ?

हमारे वर्तमान जीवन के सामान्य क्षण से लेकर सिद्धशिला के सर्वोत्कृष्ट, सर्वोच्च स्थान पर्यंत यह णमोक्कार मंत्र उत्कृष्ट महामंगलमय-अभयप्रद-वज्रमय कवच की तरह चारों ओर विद्यमान रहता है। भय, चिंता तथा शोषणमय संसार के दावानल में जलते हुए व्यक्ति में अखंडतामय ध्यान-प्रतिमा का अमर-सर्जन करता है। अर्थात् शोक-संलग्न जगत् में यह सिद्धि प्रदान करता है। ऐसी अत्यंत उत्कृष्ट महामंगलमय विविध प्रतीतियाँ, अनुभूतियाँ प्रयोगों द्वारा अर्थात् तन्मयतापूर्वक जपाभ्यास द्वारा साधक प्राप्त कर सकता है।

आज हम विश्व में उठते हैं, बैठते हैं चलते हैं, श्वासोच्छ्वास लेते हैं, वायुमंडल में घूमते हैं, ये सब कार्य कार्मिक अणु की, कर्म-परमाणुओं की चामत्कारिक शक्ति का परिणाम है।

चक्रवर्ती आदि कितने भी शक्तिशाली, बलवान् क्यों न हो, किंतु वे अति सूक्ष्म कार्मिक कर्म पुद्गलों की अविरल शक्ति के तुच्छ उत्पाद (उत्पत्ति) मात्र हैं। इस संसार में ऐसा कोई भी नहीं है, जिस पर कर्म-पुदगलों की विपाक-शक्ति ने मृत्यु की छाया का करुण-रस न बहाया हो। अर्थात् जिसने आयुष्य-कर्म के परिणाम-स्वरूप मरण प्राप्त न किया हो।

संसार के छोटे से छोटे प्राणी से लेकर बड़े से बड़े प्राणी तक अर्थात् साधारण मनुष्य से लेकर आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक तक इतना ही नहीं, गौतमस्वामी या भगवान् महावीर तक के मानव-मस्तिष्क में कर्म पुद्गलों की गणितात्मक गणना परिव्याप्त है अर्थात् कर्म-पुद्गलों के प्रभाव से इस जगत् में कोई नहीं बच पाया है।

सर्वज्ञ प्रभु जब सिद्धशिला पर पहुँचते हैं, तभी कार्मिक पुद्गलों की विकारमयी छाया से वे अस्पृष्ट होते हैं। वहाँ पहुँचने के पूर्व तक कर्म के अणु लगे रहते हैं।

इस संसार में सिद्धशिला के अतिरिक्त कोई ऐसा स्थान नहीं है, जिसका प्रत्येक पदार्थ कर्म-पुद्गलों से और उनकी विकृति से प्रभावित और व्याप्त न हो, जिनकी अशुभ छाया से भ्रष्ट होकर वह शुद्ध भाव से पृथक् न होता हो। मात्र एक णमोक्कार मंत्र ही ऐसा है, जो सिद्धशिला की तरह कर्म-पुद्गलों की भ्रष्ट छाया के विकृत प्रभाव से सर्वथा मुक्त है, इसलिये उसको दूसरी सिद्धशिला कहा जा सकता है।

लोकाग्र में स्थित सिद्धशिला पर जब पहुँचेंगे, तब कर्म-पुद्गलों की वज्रमय बंधन-पीड़ा से मुक्त होंगे किंतु नमस्कार-महामंत्र एक ऐसी सिद्धशिला है, जो इस संसार के दावानल के मध्य में विद्यमान है, जहाँ जाकर ज्ञान और आनंद में लीन होना थोड़े ही प्रयत्न से साध्य है। णमोक्कार मंत्र रूप सिद्धशिला ऐसी धातु से बनी हुई है, जो अपनी दृढ़ता द्वारा कार्मिक पुद्गलों के मजबूत अणुओं का पराभव कर सकती है। णमोक्कार महामंत्र के वर्तुल के समीप आने की तो बात ही क्या, कार्मिक पुद्गल हत्यारे अपराधी की तरह उससे लाखों योजन दूर भाग जाते हैं।

णमोक्कार मंत्र की वज्रमय धातु से जो कर्म-पुद्गलों के हृदय को, मर्म को छिन्न-भिन्न करने में, चीरने में सक्षम हैं, चित्त जब संयुक्त हो जाता है, तब उसमें महामंत्र के वज्रमय तेज, वर्तुल का फौलादी तत्त्व उत्पन्न होता है। उस फौलादी तत्त्व के समक्ष कार्मिक-पुदगलों की समग्र शक्ति, प्रलय-काल में तांडव-नृत्य करते हुए शिव के पैरों के नीचे कुचले जाते मूंगफली के छिलके की तरह नष्ट हो जाती है।[१]

णमोक्कार मंत्र एक पूर्ण योग है और साधक के जीवन में प्रकाश तथा प्रसन्नता देने वाला है। णमोक्कार मंत्र श्रुत ज्ञान है, चौदह पूर्व का सार है।

णमोक्कार मंत्र और लय-विज्ञान

णमोक्कार मंत्र की एक-एक मातृकाओं का गणित और विज्ञान समझने के लिये अनेक जन्मों की साधना आवश्यक है। इन मातृकाओं का गणित ऐसी रीति से रचित है, जिससे साधक का चित्त जप में से ध्यान में, ध्यान में से लय में, लय में से समाधि में तथा समाधि में से प्रज्ञा में दिव्य गति द्वारा गमन करता है।

मातृका की रचना में ऐसा गूढ़तम रहस्यमय बल है, जिसके द्वारा ध्यान-प्रवाह का ऊर्ध्वीकरण सहज ही हो जाता है। इन मंत्राक्षरों की संयोजना में एक ऐसी कलात्मक, गणितात्मक तथा विज्ञानात्मक सर्जना है, जिसके द्वारा थोड़े ही प्रयत्न से मंत्र-सिद्धि हो जाती है।

जप द्वारा जितनी अधिक परिणामों की विशुद्धि होगी, उतनी अधिक मंत्र-शुद्धि होगी। कोई भी मंत्र परिणामों की जितनी विशुद्धि नहीं कर सकता, नवकार मंत्र थोड़े ही प्रयत्नों से उतनी अधिक भाव-विशुद्धि कर सकता है, इसलिये इसे मंत्राधिराज कहा गया है।

उदाहरणार्थ– जैसे कोई व्यक्ति फाँसी के तख्ते पर चढ़ा हो, पानी का अंतिम ग्लास पी रहा हो, तब तक जिसने धर्म, परमेश्वर तथा तत्त्वज्ञान का जीवनभर विरोध किया हो, वैसा हत्यारा या चोर

१. महामंत्रनां अजवाळा - पृष्ठ ६०-६६.

नमस्कार मंत्र की अपूर्व तेजस्वी मातृकाओं के थोड़े-से श्रवण मात्र से पाप-लोक का, अपने सघन पाप-पुञ्ज का प्रलय कर डालता है।

श्रवण की अपेक्षा उच्चारण, उच्चारण की अपेक्षा रटन, रटन की अपेक्षा सहज ध्वनि का स्फुरण, सहज स्फुरण की अपेक्षा एकाकार तादात्म्यपूर्ण विलोपन तथा विलोपन के बाद एकांत रूप से मातृका में चित्त का सर्वथा शून्यीकरण– इन सब की उत्तरोत्तर प्राप्ति होती जाती है। इससे आगे ध्यानाश्रित मंत्र के विकास का रहस्य स्वायत्त होता है। फिर उससे आगे रहस्य के आचरण का, उस रहस्य भूत गूढ़ तत्त्व के अनुसार चलने का स्वाभाविक बल, नवकार मंत्र की मातृकाओं की शाश्वत रचना में से प्राप्त होता है। चौदह रज्जु-परिमाण लोक, जिसकी केवल एक मातृका में से संरक्षण, संवर्धन तथा संपूर्णत्त्व प्राप्त कर सकता है, उस णमोक्कार मंत्र की एक-एक मातृका में अवस्थित अगम्य रहस्य रूपी समुद्र को कैसे समझा जा सकता है ? परम-पवित्र पदार्थ स्वरूप श्री नवकार मंत्र की केवल एक मातृका का सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम बलों का माप निकालना असंभव है।

मानव समग्र प्रकृति की विराट् कार्यवाही या सर्वसत्ताधीश्वरी प्रकृति की अखंड समग्रता की उड़ान, श्री नमस्कार मंत्र की एक मातृका की उड़ान के सामने कुछ नहीं है। केवल नवकार मंत्र की स्थूल, शब्द-स्वरूपात्मक एक छोटी सी मातृका की जब यह बात है तो श्री नवकार मंत्र के नवपद या पाँच पद के समग्र बल का तो माप ही नहीं हो सकता।

यदि प्रकृति को किसी भी शक्ति या समृद्धि की आवश्यकता हो तो णमोक्कार महामंत्रराज उन आवश्यकताओं को पूरी कर सकता है, क्योंकि समग्र प्रकृति ने अपना समस्त शुभ, संपत्ति, वैभव श्री णमोक्कार महामंत्र में स्थापित किया है। वैसा करके प्रकृति सार्थक और निश्चिंत हुई है।

प्रकृति ने अपनी संपूर्ण समृद्धि का एकत्रीकरण अपनी शोभा और सफलता के लिये या अपनी सुरक्षा और वृद्धि के लिये, णमोक्कार महामंत्र की एक मातृका में स्थापित किया है। प्रकृति के समग्र बल का कोई माप नहीं कर सकता। जब प्रकृति ने अपनी समस्त समृद्धि को एकत्रित कर नवकार मंत्र में स्थापित कर दिया है तो फिर नवकार मंत्र की समृद्धि और विभूति का माप ही क्या हो ?

णमोक्कार मंत्र सुख-दुःख की मूलभूत कल्पनाओं को, जो हमारे भीतर एक रोग-ग्रंथि के रूप में विद्यमान हैं, विच्छिन्न कर अभिनव आनंदपूर्ण स्थान का सर्जन करता है, जिसे सिद्धशिला कहा जाता है।

इस प्रकार णमोक्कार मंत्र की पवित्र कुक्षि से चेतनारूपी सिद्धशिला का जन्म होता है। जो णमोक्कार मंत्र के जप में डूब जाता है, निमग्न हो जाता है, वह सब प्रकार के सत्यों को जानने की भूमिका को पार कर अनुभव की भूमिका पर आ जाता है। सत्य मात्र को ही देखना और जानना

पर्याप्त नहीं है। उसका अनुभव आवश्यक है। जब तक सत्य का अनुभव नहीं हो जाता, तब तक सत्य आत्मसात् नहीं होता, केवल शास्त्र में रहता है। शास्त्र के गिरिशिखर से गंगा के प्रवाह को हमें अपनी जटा में उतारना होगा।

संसार दुःख रूप है और केवल मोक्ष में ही परम सुख है। इस सत्य को यदि कोई नहीं जाने तो जितनी बार चाहे उसे पुस्तक में पढ़े, उपदेशों और भाषणों में सुने, उसे सत्य का साक्षात्कार नहीं होगा। प्रत्येक अनुभवात्मक सत्य की वैज्ञानिक रूपरेखा नहीं होती क्योंकि अनुभव का क्षेत्र ऐसा विद्युत् स्वरूप है, जहाँ बहिर्भूत विचार, शब्द और भावों के पक्षी पहुँच नहीं सकते। यह नवीन दृष्टि मंत्राधि ाराज नवकार हमें प्रदान करता है। जिसके द्वारा एक ऐसे स्थान को देख सकते हैं, जहाँ संसार का न सुख है, न दुःख है। इस प्रकार मंत्राधिराज श्री णमोक्कार हमें समस्त सत्यों में परमसत्य का शिक्षण देता है।

णमोक्कार के मातृका पद का परम सौंदर्य हमारी अनुभूति में आएगा, तब णमोक्कार हमें मातृरूप प्रतीत होगा। जब ऐसा क्षण होगा, तब हमें यह संसार एक जलते हुए घर जैसा लगेगा, जिसमें एक क्षण भी रहना समीचीन प्रतीत नहीं होगा।[१]

अनुचिंतन

णमोक्कार मंत्र की गरिमा एवं महिमा के विषयों में अनेक जैन मनीषियों और ग्रंथकारों ने स्थान-स्थान पर अपने भावोद्‌गार व्यक्त किए हैं। यह महामंत्र जैन तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से जहाँ अपनी विशेषता लिए हुए है, वहाँ साधना के संयम, तप और शील-संयुक्त सोपनों का भी सुंदर रूप में दिग्‌दर्शन कराता है।

'साधु' और 'सिद्ध' पद विशेष रूप से विचारणीय हैं। साधुत्व साधना का निरपवाद उद्‌घाटन है। सिद्धत्व उसका सम्यक्, संपूर्ण समापन है। इस उद्‌घाटन और समापन के बीच, जो अध्यात्म-यात्रा गतिशील होती है, उसमें साधना के विविध आयाम सहजतया समाविष्ट होते हैं।

जो मंत्र ज्ञान और साधना का इतना उत्कर्ष अपने आप में समाविष्ट किए हुए हो, यह स्वाभाविक है कि उसका माहात्म्य अपूर्व, अद्‌भुत और विलक्षण होता है। प्रखर प्रज्ञाशील विद्वज्जनों ने शब्द-विज्ञान, लय-विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान इत्यादि दृष्टियों के साथ-साथ प्रकृति जगत् की विविध शक्तियों और ऊर्जाओं के साथ भी इस महामंत्र पर सूक्ष्म चिंतन किया है और यह सिद्ध किया है कि यह मंत्र एक अखंड शक्ति-पुञ्ज है।

---

१. महामंत्रनां अजवाळा, पृष्ठ : ६७-७४.

आध्यात्मिक दृष्टि से वह शक्तिमत्ता, ऊर्जस्वलता जीव को सिद्धत्व की दिशा में गतिशील रहने में अत्यधिक बल प्रदान करती है किन्तु अन्न के साथ उत्पन्न होने वाले भूसे की तरह संपद्यमान पुण्य-संभार उसे ऐहिक दुःख-निवृत्ति, समृद्धि और विभूति भी प्रदान करता है।

इस प्रकार लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टियों से इस मंत्र की इतनी असीम महिमा है, जो शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है।

णमोक्कार मंत्र द्वारा नवतत्त्व का बोध

जैन धर्म एवं दर्शन नव तत्त्वों की पृष्ठभूमि पर आधारित है। जिस प्रकार एक विशाल उच्च अट्टालिका के लिये सुदृढ़ आधारस्थली की आवश्यकता है, उसी प्रकार धर्म के लिये तात्त्विक आधार अत्यधिक आवश्यक है।

जैन दर्शन में जो नव तत्त्व स्वीकार किये गए हैं, वे दर्शन-पक्ष और आचार-पक्ष दोनों के ही पूरक हैं। अस्तित्व की दृष्टि से जीव और अजीव दो तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। अर्थात् संसार में जीवात्मक और अजीवात्मक दो प्रकार के अस्तित्व हैं। णमोक्कार मंत्र सबसे पहले जीव-तत्त्व का बोध प्रदान करता है, क्योंकि अरिहंत से लेकर साधु तक पाँचों पद जीवात्मक हैं।

जीव को जब जाना जाता है तो उसके विपरीत तत्त्व का भी बोध हो जाता है। जैसे प्रकाश को जब जाना जाता है तो अंधकार की प्रतीति हो जाती है। अंधकार के बिना प्रकाश के उद्‌भव का बोध ही नहीं हो पाता है।

जीव के बद्ध और मुक्त दो प्रकार हैं। मुक्त जीव– चिन्मय, आनंदमय, शक्तिमय या शाश्वत सुखमय अवस्था में विद्यमान हैं। बद्ध जीव उस पद को पाना चाहते हैं, जो सिद्ध पद से, मुक्तत्व से संबद्ध है, जो मोक्ष-तत्त्व का बोध कराता है।

बद्ध जीव मुक्तावस्था पाने की दिशा में गतिशील और उद्यमशील होते हैं। तब उन्हें दो मार्ग अपनाने होते हैं। पहला अवरोध का और दूसरा नाश का।

कर्मों का प्रवाह सर्वथा अवरोध प्राप्त करले, इसके लिए उन्हें संवर-तत्त्व को अपनाना होता है। संचित कर्म उच्छिन्न हो जाएं, इसके लिये निर्जरा का आश्रय लेना होता है। इन दोनों मार्गों का अवलंबन करने तथा सफलता पूर्वक उन पर अग्रसर होने से ही मोक्ष की सिद्धि होती है।

बद्ध जीवों की अवस्था का जब पर्यावलोकन किया जाता है, तब यह ज्ञात होता है कि ये कर्मों द्वारा बंध हुए हैं। इससे मोक्ष के प्रतिपक्षी बंध-तत्त्व का परिचय होता है। संसारी जीव सुखात्मक एवं

दु:खात्मक स्थितियों में से गुजरते हैं। उन पर जब गहराई में जाते हैं तो पुण्य और पाप-तत्त्व को जानते है, क्योंकि जिन आत्माओं के साथ जो पुण्य-कर्म बंध हुए हैं, वे उदय में आकर सुखप्रद होते हैं और जो पाप-कर्म-बंध हुए हैं, वे उदित होकर दु:खप्रद सिद्ध होते हैं। पाप-पुण्य का स्रोत ही आस्रव तत्त्व है।

नवकार की तात्त्विक पृष्ठभूमि पर चिंतन करने से जिज्ञासु साधक नवतत्त्वों का बड़ी सरलता से बोध प्राप्त कर सकता है। साधना की दृष्टि से वह जब नवकार पर चिंतन करता है, तब अरिहंत और सिद्ध के ध्यान से शुद्ध आत्म-तत्त्व का अनुभव करता है, जिससे अनात्म-तत्त्व तथा अजीव-तत्त्व का बोध तो हो ही जाता है।

आचार्य की सन्निधि से जब साधक आचार, व्रत-आराधना तथा संयम की दिशा में प्रगतिशील होता है, तो संवर और निर्जरामूलक अध्यवसाय में संलग्न बनता है। आचार्य और उपाध्याय का संसर्ग साधक को ज्ञान की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा देता है, जिससे उसको हेय और उपादेय-तत्त्व का बोध होता है। वह पुण्य को, पाप को जानता है। पुण्य को अपनाता है, पाप को छोड़ता है, पाप-पुण्य के प्रवाह रूप आस्रव को निरूद्ध करता है, फलस्वरूप बंध मिट जाते हैं।

पंचमहाव्रतधारी साधुओं के सत्संग से मुमुक्षु अपने द्वारा जाने हुए पथ पर आगे बढ़ने की, स्वाध्याय, ध्यान, तप, प्रत्याख्यान आदि द्वारा अपनी साधना को उत्तरोत्तर निर्मल, उज्ज्वल बनाने की, अनवरत प्रेरणा प्राप्त करता है, जिसकी अंतिम परिणति सिद्ध पद में होती है।

इस प्रकार णमोक्कार मंत्र की प्रज्ञात्मक और साधनात्मक आराधना साधक को इतनी उच्च सफलता प्रदान करती है कि वह णमोक्कार मंत्र में स्थान प्राप्त कर लेता है।

नयवाद के परिप्रेक्ष्य में णमोक्कार का विश्लेषण

अनेक धर्मात्मक वस्तु का, उसके अन्यान्य धर्मों का निषध किये बिना, उसके किसी एक धर्म की अपेक्षा से ज्ञान करना या कथन करता 'नयज्ञान' या 'नयवाद' कहा जाता है।

एक वस्तु में दो मूल धर्म हैं। एक द्रव्य और दूसरा पर्याय। इस दृष्टि से मूल नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकार के हैं। इन मूल दो नयों के अंतर्गत विस्तृत भेद सात या सात सौ भी हैं। अथवा जितने-जितने जानने के या कथन करने के प्रकार हैं, वे सभी नयवाद के अंतर्गत आते हैं। इसलिये कहा गया है कि जितने प्रकार के वचन भेद हैं, उतने प्रकार के नय हैं। इतना होते हुए भी शास्त्रकारों ने स्पष्टतया समझने या समझाने की दृष्टि से इन्हें सात भेदों में संग्रहीत किया है। उन सात भेदों के नाम इस प्रकार हैं– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, समभिरूढ़ तथा एवंभूत।

यहाँ एक बात का समाधान करना आवश्यक है कि यदि एक वस्तु को एक साथ अनंत धर्मात्मक न माने तो क्या कठिनाई आती है ? यह प्रश्न उपस्थित होना सहज है। किन्तु द्रव्य एवं पर्याय रूप वस्तु के उभयात्मक स्वरूप को समझने वाले व्यक्ति के लिये उसका समाधान भी उतना ही सहज है।

वस्तु द्रव्य-पर्याय-धर्म-युक्त है। वस्तु के त्रिकालवर्ती पर्याय अनंत होते हैं। एक समय में भी वस्तु अनेक पर्याय-युक्त रहती है।

एक आम में रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि सहभावी या युगपद्भावी पर्याय हैं, अर्थात् ये पर्याय आम में एक साथ रहते हैं। नयापन तथा पुरानापन आदि क्रमभावी या अयुगपद्भावी पर्याय हैं। अर्थात् किसी वस्तु के नूतनरूप में जो पर्याय हैं, अवस्थाएं हैं, उसके पुरातनरूप में पर्यायों या अवस्थाओं से भिन्न है। ये एक साथ नहीं होते, क्रमशः होते हैं, इसलिये इन्हें अयुगपद्भावी या एक साथ न होने वाले कहा जाता है।

इस प्रकार एक वस्तु के अपने द्वारा या अन्य द्वारा किये गये अपेक्षाकृत, संबंधकृत, शब्दकृत तथा अर्थकृत पर्यायों से उसकी एक ही साथ अनेक धर्मात्मकता सिद्ध होती है और त्रिकालवर्ती पर्याय अनंतानंत बनते हैं।

ऐसी अनंतानंत धर्मात्मक वस्तुओं का किसी एक धर्म की अपेक्षा से कथन करना– वचनात्मक नय है। उसको जानना– ज्ञानात्मक नय है। वचनात्मक नय– द्रव्यनय एवं ज्ञानात्मक नय– भावनय कहा जाता है। द्रव्यनय– औपचारिक है और भावनय– तात्त्विक है।

द्रव्यार्थिक नय सामान्य को विशेष रूप में ग्रहण करता है तथा पर्यायार्थिक नय विशेष को सामान्य रूप में ग्रहण करता है। वस्तु सामान्य-विशेष के रूप में उभयात्मक है। इसी कारण नय ज्ञान के ये दो भेद हैं। पहले तीन या चार भेद द्रव्यार्थिक नय के और अंतिम तीन या चार भेद पर्यायार्थिक नय के हैं।

१.नैगमनय

संकल्पमात्र को विषय रूप में जो ग्रहण करता है, वह 'नैगम नय' कहा जाता है। 'निगम' शब्द का अर्थ संकल्प भी है, इसीलिये संकल्प को विषय रूप में स्वीकार करने वाला नय भी नैगम शब्द द्वारा संबोधित किया जाता है।

नैगम नय के तीन भेद हैं:– (१) भूत नैगम, (२) भावी नैगम, (३) वर्तमान नैगम। अतीत काल में वर्तमान का संकल्प करना 'भूत नैगम' है। जैसे यदि कहा जाय कि 'आज भगवान् महावीर का जन्म दिन है।' यहाँ 'आज' शब्द का अर्थ वर्तमान होते हुए भी इसका संकल्प ढ़ाई हजार वर्ष से भी अधिक पूर्व की चैत्र-शुक्ला-त्रयोदशी में किया जाता है। इसलिये इसे भूत नैगम कहते है।

भविष्य काल में वर्तमान काल का या भूतकाल का संकल्प करना 'भावि नैगम' है। जैसे राजकुमार को राजा कहना अर्थात् भविष्य काल में होने वाले राजा का वर्तमान में संकल्प करना और भूतकाल में जो अरिहंत हुए हैं उनको सिद्ध कहना, यह भूतकाल का भविष्य में संकल्प है। कोई कार्य प्रारंभ किया हो और वह पूर्ण नहीं हुआ हो, उससे पूर्व पूर्ण कहना यह 'वर्तमान नैगम' है। जैसे रसोई के प्रारंभ में ही कहना कि आज हलवा बनाया है।

निगम शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की जाती हैं :–

"निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमा:, लौकिका अर्था:। तेषु निगमेषु भवो योऽध्यवसाय: ज्ञानाख्य: स नैगम:। यथा लोको व्यवहरति तथानेन व्यवहर्तव्यम्। लोकश्चोपदिष्टै: प्रकारै: समस्तैर्व्यवहरति।"

जो जाने जाते हैं या पहचाने जाते हैं उन्हें निगम कहा जाता है। अर्थात् लौकिक पदार्थ निगम शब्द द्वारा अभिहित होते हैं। उन पदार्थों के संबंध में ज्ञान रूप अध्यवसाय नैगम है। लोक जिस प्रकार व्यवहार करते हैं, उसी रीति से व्यवहार करना नैगम नय का कार्य है।

लोगों का व्यवहार या उपदेश ज्ञानानुसार सब प्रकार का होता है, वैसे नैगम का व्यवहार भी सब प्रकार का होता है।

"निगमेषु येऽभिहिता: शब्दा: तेषामर्थ: शब्दार्थ परिज्ञानं च देशसमग्र ग्राही नैगम:।"

निगमों, जनपदों, देशों में जो प्रचलित शब्द हैं, वे नैगम कहे जाते हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों में प्रयोग में लिये जाते 'घट' आदि शब्द नैगम है। घट आदि शब्दों के अर्थों का ज्ञान अथवा जल धारण करने का सामर्थ्य रूप अर्थ का घट वाचक है, ऐसे ज्ञान को 'नैगम नय' कहते है।

२. संग्रह नय

एक शब्द द्वारा अनेक पदार्थों को ग्रहण करना 'संग्रह नय' है। जैसे जीव शब्द को कहने से सब प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों का ग्रहण हो जाता है। संग्रह नय के दो प्रकार हैं– 'पर संग्रह' और 'अपर संग्रह'।

पर संग्रह को सामान्य और अपर संग्रह को विशेष कहा जाता है। सब द्रव्यों को ग्रहण करने वाला 'सामान्य संग्रह नय' है, जैसे– द्रव्य शब्द में जीव-अजीव आदि सब का ग्रहण हो जाता है। थोड़े द्रव्यों को ग्रहण करने वाला 'विशेष संग्रह नय' कहा जाता है, जैसे जीव शब्द के कहने से सब प्रकार के जीवों का संग्रह हो जाता है, किंतु अजीव द्रव्य का उसमें संग्रह नहीं होता। इसलिये उसे 'संग्रह नय' कहा जाता है।

३. व्यवहार नय

संग्रह नय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पदार्थों का जो योग्य रीति से विभाग करता है, उसे 'व्यवहार नय' कहा जाता है। वह दो प्रकार का है– एक सामान्यभेदक और दूसरा विशेषभेदक।

सामान्य संग्रह में जो भेद करता है, वह सामान्यभेदक व्यवहार कहा जाता है। जैसे द्रव्य के दो भेद हैं– जीव और अजीव। जो 'विशेष संग्रह' में भेद करता है, उसे विशेष भेदक व्यवहार कहा जाता है। जैसे जीव के दो भेद है, संसारी और मुक्त। इसी प्रकार भ्रमर पांच वर्णो से युक्त है, किन्तु उसका श्याम वर्ण स्पष्ट है। अत: व्यवहार उसे श्याम वर्ण वाला ही मानता है।

४. ऋजुसूत्र नय

ऋजु का अर्थ अवक्र है। वस्तु को अवक्रता से, सरलता से कहना 'ऋजुसूत्र नय' है। ऋजु का अभिप्राय– प्रत्युत्पन्न (वर्तमान कालीन) और स्वकीय (अपना) ऐसा विवक्षित है। अतीत वस्तु नष्ट हो चुकी है, अनागत वस्तु उत्पन्न नहीं है, परकीय वस्तु परधन की तरह अपने उपयोग में नहीं आती, अत: निष्प्रयोज्य है। इसलिये ये नय वस्तु, असत् और अवस्तु– तीनों को मानता है।

इसका यह कहना है कि जो व्यवहार की उपलब्धि से रहित है, अर्थात् जो व्यवहार में उपयोग में नहीं आता, वह सामान्य असत् माना जाता है। वस्तु का वर्तमान कालीन स्वकीय-पर्याय ही सत् है। इसके दो भेद हैं– (१) सूक्ष्म (२) स्थूल।

'सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय'– 'समय' मात्र के वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, जैसे– पदार्थ प्रतिक्षण क्षयशील या परिणमनशील है। 'स्थूल ऋजुसूत्र नय' अनेक समय में वर्तमान पदार्थ को ग्रहण करता है। जैस– मनुष्य पर्याय।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र– ये नय, 'अर्थ नय' है। इसके पश्चात्वर्ती तीन 'शब्द नय' है। इस प्रकार ये सात नय ज्ञानात्मक और शब्दात्मक हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त चारों नैगम अर्थप्रधान है। शब्दादि तीन नय शब्द प्रधान हैं।

५. शब्दनय

शब्दों में लिंग आदि के भेद के आधार पर जो अर्थ का भेद बतलाता है, वह शब्द नय है। शब्द में जो लिंग आदि का व्यवहार होता है, वह अर्थ की अपेक्षा से होता है। अर्थ में जो लिंग होता है, उसके समान शब्द में लिंग का प्राय: व्यवहार होता है और इस लिंग को शब्द का लिंग मान लिया जाता है। इस कारण 'शब्द नय' की यह मान्यता है कि जहाँ लिंग आदि का भेद है, वहाँ अर्थ में भी भेद पड़ जाता है, जैसे पहाड़ और पहाड़ी, नद और नदी, नल और नली आदि। बड़े पहाड़ को पहाड़

और छोटे पहाड़ को पहाड़ी कहा जाता है। बड़ी नदी को नद और छोटी नदी को नदी कहा जाता है। बड़े नाले को नला और छोटे नाले को नाली कहा जाता है। इसी प्रकार संख्या, पुरुष, उपसर्ग, काल, कारक आदि के भेद से अर्थ-भेद स्वीकार करने वाला यह 'शब्द नय' है।

वर्तमान कालीन प्रत्युत्पन्न वस्तु को 'ऋजुसूत्र नय' कहा जाता है। उसी को 'शब्द नय' विशेष रूप से बतलाता है। उसे शब्द नय इसीलिये कहा जाता है कि वह शब्द के वाच्यार्थ को ही मुख्यता से ग्रहण करता है।

इस नय के अनुसार जल धारण करने की क्रिया में जो समर्थ होता है, उसे ही 'घट' कहा जाता है। जिसका नाम केवल घट हो, जो जल धारण आदि क्रिया में समर्थ नहीं हो, उसे घट नहीं कहा जा सकता। अर्थात् इस नय के मत से 'घट' शब्द नाम-स्थापनादि रहित केवल 'भावघट' को ही ग्रहण होता है।

६.समभिरूढ़ नय

जहाँ शब्द का भेद है, वहाँ अर्थ का भेद अवश्य होता है, समभिरूढ़ नय ऐसा मानता है। 'शब्द नय' अर्थ-भेद वहीं मानता है, जहाँ लिंग आदि का भेद हो। परंतु यह नय प्रत्येक शब्द के अर्थ को भिन्न-भिन्न मानता है, चाहे वे शब्द पर्यायवाची हों। जैसे इंद्र और पुरंदर शब्द दोनों इंद्र या देवराज के सूचक हैं। 'इंदनात्-इंद्रः'- के अनुसार इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्य का अनुभव करने वाला है। 'पुरो दारणात् पुरन्दरः'- के अनुसार दानवों के नगर को नष्ट करने के कारण इंद्र- पुरन्दर कहा जाता है। इन्द्र और पुरंदर, इन दोनों का आधार एक ही व्यक्ति है, अर्थात् वे दोनों पर्यायवाची हैं किन्तु अर्थ दोनों का पृथक्-पृथक् है। इन दोनों शब्दों में भिन्न अर्थ बताने का सामर्थ्य है। इस प्रकार यह नय समभिरूढ़ नय कहा जाता है।

७. एवंभूत नय

जिस शब्द का अर्थ जिस क्रिया को प्रगट करता है, उस क्रिया में तत्पर पदार्थ को या व्यक्ति को उस शब्द का वाच्य मानना एवंभूत नय का विषय है। जैसे– एक व्यक्ति , पुजारी, सेवक या योद्धा तभी कहा जाता है, जब वह पूजा में, सेवा में, युद्ध में तत्पर हो। प्रत्येक शब्द का अर्थ किसी न किसी के साथ संबंध रखता है।

इन सातों नयों में अल्प या सीमित पूर्ववर्त्ती नय स्थूल– अनेक विषयों को ग्रहण करने वाले हैं तथा पश्चाद्वर्ती नय सूक्ष्म विषय को ग्रहण करने वाले हैं। नैगम नय सत् और असत् दोनों पदार्थों को विषय रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि संकल्प सत् और असत् दोनों में हो सकता है। 'संग्रह नय' में मात्र सत् ही विषय के रूप में आता है। 'व्यवहार नय' सत् के एक विभाग को जानता है।

ऋजुसूत्र सिर्फ वर्तमान काल के सूक्ष्म या स्थूल पर्याय को विषय के रूप में स्वीकार करता है।

शब्द नय ऋजुसूत्र नय से भी अल्प विषय को ग्रहण करता है, क्योंकि 'ऋजुसूत्र' में तो लिंग आदि का भेद हुए भी अर्थ-भेद नहीं होता। शब्द में वह माना जाता है। शब्द नय की अपेक्षा समभिरूढ़ का और समभिरूढ़ की अपेक्षा एवंभूत का विषय अत्यंत अल्प बन जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट रूप ज्ञात होता है कि 'ऋजुसूत्र' पर्यंत चार नय अर्थ को मुख्य मानते हुए और शब्द को गौण मानते हुए, वस्तु का प्रतिपादन करते हैं। पश्चात्वर्ती शब्दादि तीन नय शब्द को मुख्य और अर्थ को गौण मानकर वस्तु का प्रतिपादन करते हैं। इन सातों नयों का समन्वय नवकार में है। एक-एक नय को लेकर जो भिन्न-भिन्न दर्शन प्रवृत्त हुए, वे सर्वांगीण नहीं है। किसी पदार्थ का एक अपेक्षा से प्रतिपादित स्वरूप सर्व अपेक्षाओं से ग्राह्य या मान्य नहीं होता।

जैन दर्शन विभिन्न दृष्टियों को लेते हुए सत् का विश्लेषण करता है। वह सभी अपेक्षाओं को लेकर चलता है। नयवाद उसी का सूचक है।

नय-विज्ञान में कुशल पुरुष एक-एक नय के अभिप्राय से प्रवर्तित दर्शनों की अयथार्थता को भलीभाँति जान सकता है। इसलिये वह अपने सिद्धांत में स्थिर रह सकता है और दूसरों को स्थिर रख सकता है।[1]

विमर्श

'सर्वसंग्राही नैगम' और 'परसंग्रह नय' सामान्य मात्र का ही अवलंबन करते हैं। इसलिये उनके अनुसार सब कोई उत्पाद-व्यय-रहित है। शेष नय अर्थात् 'विशेषग्राही नैगम' और 'अपरसंग्रह व्यवहार' आदि दूसरे नय विशेष का ग्रहण करते हैं, इसलिये वे वस्तु को उत्पाद-व्यय-सहित मानते हैं।

णमोक्कार को उत्पन्न मानने वाले नयों में विशेषग्राही नैगम, अपरसंग्रह और व्यवहार नय उसकी उत्पत्ति के समुत्थान, वाचना और लब्धि– तीन कारण मानते हैं। समुत्थान जिससे सम्यक् उत्पत्ति हो, वह नमस्कार का आधार रूप शरीर है। वाचना का तात्पर्य गुरु आदि के पास से मंत्र का श्रवण, शिक्षण आदि से हैं। लब्धि का अभिप्राय– ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।

'ऋजुसूत्र नय' के अनुसार समुत्थान के सिवाय केवल वाचना और लब्धि से ही णमोक्कार उत्पन्न होता है क्योंकि वाचना और लब्धि रूप कारण के न होने पर शरीर रूप कारण के विद्यमान होने पर भी णमोक्कार की उत्पत्ति नहीं होती। तीन नय एक लब्धि को ही कारण मानते है, क्योंकि लब्धि रहित अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय के बिना अभव्य जीव के वाचना और देह इन दोनों के

१. त्रैलोक्य-दीपक, पृष्ठ : ४२-५९.

होने पर भी नमस्कार की उत्पत्ति नहीं होती। लब्धियुक्त प्रत्येक बुद्ध आदि महापुरूषों को वाचना आदि न होने पर भी नमस्कारादि की उत्पत्ति होती है।

सत्ता-मात्र-ग्राही 'सर्वसंग्राही नैगम नय' और 'परसंग्रह नय' के अनुसार णमोक्कार सर्वथा सत् या विद्यमान है, जो सर्वदा सत् होता है। वह आकाश की तरह कभी उत्पन्न नहीं होता। यदि नित्य की उत्पत्ति मानी जाए तो उत्पन्न की फिर उत्पत्ति मानने का प्रसंग घटित होता है। वैसा होने से 'अनवस्था' नामक दोष आता है।

एक प्रश्न उपस्थित होता है, णमोक्कार महामंत्र विद्यमान है तो जीव को मिथ्यात्वदशा में क्यों नहीं दिखाई देता ?

इसका समाधान इस प्रकार है— णमोक्कार रूप ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म वहाँ विद्यमान हैं, इसलिये वह मिथ्यात्व-दशा में दिखाई नहीं देता। अतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुष, सर्वज्ञानी महापुरुष मिथ्यात्व-दशायुक्त जीव में भी प्रच्छन्न— गुप्तरूप में विद्यमान णमोक्कार महामंत्र को देख सकते हैं। उनके सिवाय अन्य आत्माएं उन्हें देख नहीं सकती।

आत्मा का स्वरूप सदा विद्यमान रहता है किन्तु अमूर्त्त होने के कारण केवलज्ञानी महापुरुष के अतिरिक्त उसे कोई देख नहीं सकता। उसी प्रकार मिथ्यात्व अवस्था में जीव के भीतर सत्ता रूप में विद्यमान णमोक्कार मंत्र केवल ज्ञानावरणीय कर्म के कारण छद्मस्थ आत्माओं को दिखाई नहीं देता।

सप्त नयों के आधार पर णमोक्कार मंत्र नित्य है। वह अनादि-अनुत्पन्न है किन्तु विशेषग्राही नय प्रक्रिया के अनुसार उसे उत्पन्न भी माना जाता है, क्योंकि साधक जब उच्चारण करता है, तब उसका शाब्दिक रूप प्रगट होता है। उसके शाश्वत रूपों को नयवाद के आधार पर प्रमाणित मानने से साधक की श्रद्धा, आस्था और विश्वास में दृढ़ता आती है, जिससे वह आराधना में विशेष उत्साह प्राप्त करता है। ज्ञान द्वारा समर्पित, अनुमोदित, आचार-अभ्यास उत्तरोत्तर विकसित और संवर्धित होता है।

शुद्ध नयानुसार आत्मा का स्वरूप

सामान्यत: नय के दो भेद माने जाते हैं—'निश्चय नय' और 'व्यवहार नय'। निश्चय नय, शुद्ध नय कहलाता है क्योंकि वह एकांतत: आत्मा के शुद्धस्वरूप के साथ संबद्ध है। आत्मा ही परम सत्य या शुद्ध-तत्त्व है। आचार्य कुंदकुंद ने समयसार में शुद्धनय के अनुसार आत्मा का जो वर्णन किया है, वह उसे शुद्धोपयोग की भूमिका में ले जाता है।

उन्होंने लिखा है:—"जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित है, निश्चय-दृष्टि से उसे स्व-समय— आत्मस्वरूपमय है, ऐसा समझे।" जो जीव पुद्गल-कर्मों के प्रदेशों में स्थित हैं, उसे पर-समय

जानो। स्व-समय का अर्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। पर-समय का अर्थ उसकी विभावावस्था है दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र जीव का स्वभाव है। कर्म-पुद्गलों से बद्ध अवस्था पर-भाव है। जब तक आत्मा पर-भाव में विद्यमान रहती है, तब तक वह संसारावस्था में, सुख-दुःख में अवस्थित होती है।

निश्चयनयानुरूप सिद्धान्त के अनुसार आत्मा लोक में सुंदर या उत्तम है। वहाँ दूसरे के साथ बंधने का प्रसंग नहीं बनता। अर्थात् शुद्ध स्वरूप स्थित आत्मा के साथ कर्मों का बंध नहीं होता।[1]

शुद्ध आत्मा का चिंतन इस प्रकार अग्रसर होता है– "मैं शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, कोई भी अन्य पदार्थ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।"[2]

जीव शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है, अव्यक्त है– इंद्रिय गोचर नहीं है, उसका गुण चेतना है। वह निर्दिष्ट लिंग, चिह्न, संस्थान या आकार से परे है।

ज्ञानी पुरुष विचार करता है– "निश्चय दृष्टि से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ, अपने स्वभाव में स्थित होता हुआ, चैतन्य अनुभाव में लीन होता हुआ, क्रोध आदि सभी आस्रवों का– कर्म प्रवाहों का, मैं नाश करता हूँ।"[3]

जीव-अजीव पदार्थों का श्रद्धान् सम्यक्त्व है, उनका अधिगम ज्ञान है। रागादि का परिहरण या त्याग चारित्र है। वही मोक्ष का मार्ग है।[4]

जिस जीव में, लेशमात्र भी राग आदि विद्यमान हैं, वह जीव समस्त आगमों का ज्ञान रखता हुआ भी आत्मा को नहीं जानता अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप का उसको बोध नहीं है। जो आत्मा को नहीं जानता, वह अनात्मा को भी नहीं जानता । आत्मा के अतिरिक्त अजीव पदार्थ को नहीं जानता। उनके स्वरूप का उसको यथार्थ बोध नहीं होता, वह सम्यक् दृष्टि कैसे हो सकता है।[5]

अनुचिंतन

निश्चय-दृष्टि से जब चिंतन किया जाता है, तब आत्मा ही वह परम तत्त्व है, जो ध्येय, उपास्य और आराध्य है। 'ध्यांतु योग्यं ध्येयं'– के अनुसार ध्येय का अर्थ ध्यान करने योग्य या ध्यान का विषय है। 'उपासितुं योग्यं उपास्यम्'– जो उपासना करने के योग्य होता है, उसे उपास्य कहा जाता है। उपासना का अभिधेय अर्थ– समीप बैठना है। उसका लक्ष्यार्थ भावात्मक दृष्टि से गुरु का अथवा पूज्य का सामीप्य प्राप्त करना है, उनके मार्गदर्शन से ध्येय के शुद्ध स्वरूप के समीप पहुँचना है,

१. समयसार, गाथा-३-४
२. समयसार, गाथा-३८.
३. समयसार, गाथा- ७३,
४. समयसार, गाथा- १५५,
५. समयसार, गाथा- २०१,

उसे अपनी अनुभूति में ढ़ालना है। 'आराधितुं योग्य आराध्यम्'– जो आराधना करने योग्य है, उसे आराध्य कहा जाता है। आराधना का सूक्ष्म अर्थ– ध्येय, उपास्य या आराध्य के स्वरुप की अपने में अवतारणा करना है।

आत्मा ही ध्येय, ध्याता और ध्यान है। तीनों का उसी में समावेश होता है। उसी प्रकार वही उपास्य, उपासक और उपासना है। वही आराध्य, आराधक और आराधना है। यह शुद्ध नयमूलक दृष्टिकोण है, जो शुद्धोपयोग से सिद्ध होता है। णमोक्कार मंत्र साधक को शुद्धोपयोग की भूमिका में अवस्थित होने की प्रेरणा प्रदान करता है।

अष्टांगयोग : नवकार महामंत्र परिशीलन

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में योग का अत्यंत महत्त्व है। योग चित्तवृत्तियों के निरोध का पथदर्शन देता है।[1] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, तथा समाधि– योग के ये आठ अंग हैं।[2]

इनके अभ्यास और साधन द्वारा साधक अपने चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करता हुआ समाधि-अवस्था प्राप्त करता है, जो परम शांतिमय है।[3] योग-साधना का यह एक ऐसा वैज्ञानिक मार्ग है, जिससे अनुप्राणित होकर विभिन्न-परंपराओं में साधना-पद्धतियों का विकास हुआ।

अष्टांग योग के संदर्भ में णमोक्कार मंत्र का गंभीरता से परिशीलन करने पर यह सिद्ध होता है कि इसके द्वारा जीवन का समाधिमय महान् साध्य सहजरूप में स्वायत्त हो जाता है।

१. यम

योग का प्रारंभ यम के साथ हो जाता है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह योग में ये पाँच यम स्वीकार किये गए हैं। जब यमों का जाति ,देश, काल, समय के अपवाद, विकल्प या छूट के बिना पालन किया जाता है, तब वे व्रत कहलाते हैं।[4]

जाति का तात्पर्य गो आदि पशु अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि है। जब व्यक्ति इन जातियों की हिंसा आदि का विकल्प नहीं रखता, तब वह जाति निरपेक्ष यम महाव्रत का रुप ले लेता है। उसी प्रकार जब हरिद्वार, मथुरा, काशी आदि स्थानों का विकल्प नहीं रखा जाता, तब वह यम देश विषयक

---

१. योग-सूत्र, समाधिपाद, सूत्र-२.
२. (क) योग-सूत्र, साधनपाद, सूत्र-२९. (ख) मंत्राधिराज भाग-२, पृष्ठ : ३२९
३. जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ, पृष्ठ : १४० ४. योग-सूत्र, साधनपाद, सूत्र-३१.

अपवाद से रहित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एकादशी, चतुर्दशी आदि तिथियों का विकल्प स्वीकार नहीं किया जाता, तब वह काल के अपवाद से रहित होता है।

यहाँ प्रयुक्त समय शब्द काल का सूचक नहीं है किंतु विशेष नियम या प्रयोजन-सिद्धि का सूचक है। अर्थात् जब साधक किसी भी विशेष प्रयोजन का अपवाद न रखता हुआ यम का पालन करता है, तब वह यम समय के अपवाद से रहित होता है। यमों का अपवाद रहित पालन महाव्रत कहा जाता है। योग-दर्शन में प्रयुक्त महाव्रत शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैन धर्म में भी इसी शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] वहाँ मन, वचन, काय इन तीन योगों तथा कृत, कारित, अनुमोदितै– तीन करणों द्वारा व्रत-पालन का विधान है। अर्थात् महाव्रत स्वीकार करने वाले के लिये किसी भी प्रकार का अपवाद नहीं होता। वह समग्रतया इनका पालन करता है।

णमोक्कार मंत्र में पाँचवें पद में साधु है। साधु उन्हें कहा जाता है– जो निरपवाद रूप में महाव्रतों का पालन करते हैं। जब तक एक साधक ऐसी भूमिका अपनाने में अपने को सक्षम नहीं समझता, तब तक वह अपनी क्षमता के अनुरूप विभिन्न अपवादों के साथ विभिन्न व्रतों का पालन करता है– वे अणुव्रत कहलाते हैं। वे एक प्रकार से यमों का ही रूप लिये हुए हैं। अणुव्रती साधक के मन में सदा यह भावना बनी रहती है कि उसे कब वह सौभाग्य प्राप्त होगा, जब वह जीवन को महाव्रतमय आराधना के साथ जोड़ सकेगा। श्रमणोपासक या अणुव्रती साधक के जीवन में यह भावना रहती है– 'कयाणमहं मुंडा, भवित्ता पव्वइस्सामि'– मैं संयमी जीवन कब स्वीकार कर पाऊंगा, वैसा शुभ अवसर मुझे कब मिलेगा।

उत्कंठा, उत्साहशीलता एवं अभिरूचि जब तीव्र होती है, तब भावना नि:संदेह फलवती एवं सिद्ध होती है। एक समय आता है कि वह अपवादों को छोड़कर अणुव्रतों या यमों से महाव्रतों की दिशा में प्रयाण करता है। णमोक्कार मंत्र के पाँचवें पद का अधिकारी बन जाता है। जीवन एक नया मोड़ ले लेता है। साधक व्रत-पालन में सावधान रहता हुआ, आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर रहता है।

२. नियम

यम के बाद योग का दूसरा अंग नियम है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, तथा परमात्मोपासना– ये पाँच नियम हैं।[2]

णमोक्कार के पंचम पद के अधिकारी साधु के जीवन के साथ यदि इन नियमों को जोड़ा जाए तो ये बड़े संगत प्रतीत होते हैं। शौच का अर्थ बाह्य और आंतरिक पवित्रता है। आंतरिक पवित्रता

१. नमो लोए सव्वसाहूणं, पृष्ठ : ५०

२. योग-सूत्र, साधनपाद, सूत्र-३२.

का बहुत बड़ा महत्त्व है। कहा है–

आत्मा नदी संयम-पुण्य-तीर्था, सत्योदका शीलतटा दयोर्मि: ।
तत्राभिषेकं कुरु शुद्धबुद्धे ! न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।

अर्थात् आत्मा नदी है। संयम पवित्र तीर्थ है। उस आत्मारूपी नदी में स्नान करो। जल से आंतरिक शुद्धि नहीं होती।

आंतरिक शुद्धि पर सभी धर्मों में बड़ा जोर दिया गया है। संतोष का जीवन में बहुत महत्त्व है। तप से आत्मा निर्मल होती है। स्वाध्याय से सद्ज्ञान प्राप्त होता है। जीवन में पवित्रता का संचार होता है तथा परमात्मोपासना से साधक परमात्म-भाव की ओर या आत्मा की शुद्धावस्था की दिशा में प्रगतिशील होता है। ये पाँचों नियम ऐसे हैं, जो प्रत्येक साधक के लिए कल्याणकारी हैं।

आसन

योग का तीसरा अंग आसन है। पूर्व प्रसंग में आसन के विषय में विस्तार से विवेचन किया है। सामायिक, स्वाध्याय तथा ध्यान आदि की दृष्टि से समीचीन रूप में बैठने का बहुत महत्त्व है। पंच महाव्रती साधक महाव्रतों के अनुसार णमोक्कार मंत्र के साथ-साथ कर्म-क्षय के हेतु– तपश्चरण के रूपों में अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहता है। जिसके लिये आसन-शुद्धि आवश्यक है।

स्वामी सत्यानंद सरस्वती ने 'आसन-प्राणायाम-मुद्रा-बंध' नामक पुस्तक में ध्यान के लिए निम्नांकित आसनों को उपयोगी बतलाया है– "१. पद्मासन, २. सिद्धासन (पुरुषों के लिए) ३. सिद्धयोनि आसन (महिलाओं के लिए), ४. स्वस्तिकासन नए अभ्यासियों के लिए ध्यान के सरल आसन हैं– १. सुखासन, २. अर्ध पद्मासन"[१]

पुनश्च– "आसन, काय-सिद्धि का एक अंग है। समता की प्राप्ति के लिए काय-सिद्धि और काय-सिद्धि के लिए आसन के प्रयोग किए जाते हैं।"[२]

स्थान निर्विघ्न हो, एकांत हो, ऊन आदि का शुद्ध आसन हो। बैठने में सुखमय आसन का प्रयोग किया जाए। कठोर आसनों का प्रयोग न किया जाए, जिनसे देह को अत्यधिक कष्ट होता है। ऐसा होने से मन स्वाध्याय, ध्यान आदि से हटकर देह में चला जाता है।

प्राणायाम

जीवन के साथ प्राण-वायु का बड़ा गहरा संबंध है। प्राणवायु पर चित्त को स्थिर कर विशेष

---

१. आसन-प्रणायाम-मुद्रा-बंध, पृष्ठ : ६१. २. अपना दर्पण, अपना बिम्ब, पृष्ठ : ५५.

रूप से ध्यान करने की कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं। जिनमें विपश्यना, प्रेक्षा आदि नाम प्रचलित हैं। प्राणायाम का हठयोग में बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया को संतुलित रखने के लिये रेचक, पूरक और कुंभक का अभ्यास आवश्यक है।

जैन मनीषियों ने प्राणायाम का आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ा सूक्ष्म और सुंदर विवेचन किया है। उनके अनुसार रेचन का अर्थ– मन में व्याप्त अशुभ या पापमय भावों को बाहर निकालना है। पूरक का अभिप्राय– शुभ-भावों को अपने भीतर भरना है। कुंभक का अर्थ– शुभ भावों को अपने अंत:करण में टिकाए रखना है। बारबार ऐसा अभ्यास करने से मन:-स्थित पापपूर्ण भाव नष्ट होते हैं। पुण्यात्मक भाव संचित या संग्रहित होते हैं। उनको जब अंत:करण में स्थिर कर लिया जाता है, तब मानव धर्मिक अनुष्ठान में विशेष रूप से अभिरूचिशील बन जाता है। उसका जीवन आत्मोत्कर्ष की भूमिका पर क्रमश: अग्रसर होता जाता है। इस प्रकार यह भावात्मक प्राणायाम एक साधक के लिए, उसकी आध्यात्मिक यात्रा में स्फूर्तिप्रद सिद्ध होता है।

प्रत्याहार

यह योग का पाँचवाँ अंग है। इसका तात्पर्य इन्द्रियों को बाह्य वृत्तियों की ओर से, उनसे संबद्ध विषयों से हटाकर, मन में विलीन करने का अभ्यास है। इसे साध लेने से साधक का मन-योगाभ्यास से विचलित नहीं होता।

जैन-आगमों में प्रत्याहार के स्थान पर प्रतिसंलीनता शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ भी प्रतिसंलीनता का यही तात्पर्य है, उससे उनकी दिशा परिवर्तित हो जाती है। जैन-आगमों में निर्जरा या तपश्चरण के बारह भेदों में इसे छठे भेद के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्रत्याहार तक के योगों का अभ्यास शरीर, श्वासोच्छ्वास तथा इंद्रियों को नियंत्रित करने का, वशीकृत करने का मार्ग है। इतना हो जाने पर साधक आंतरिक सूक्ष्म-साधना के मार्ग पर समुद्यत होने की योग्यता प्राप्त करता है।

धारणा, ध्यान और समाधि

चित्त को किसी एक देश में या स्थान में केन्द्रित करना, स्थिर करना धारणा है।[1] जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाए, जब चित्त उसमें एकाग्र हो जाए, केवल ध्येय मात्र की ही प्रवृत्ति का प्रवाह चलता रहे, उसके बीच में कोई दूसरी वृत्ति न उठे, ध्यान कहा जाता है।[2]

ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येय के आकार में परिणत हो जाए, चित्त के अपने स्वरूप का

१. योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-१.

२.योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-२.

अभाव सा हो जाए, ध्येय से भिन्न उपलब्धि प्रतीत न रहे, उस समय वह ध्यान समाधि के रूप में परिणत हो जाता है।[1] धारणा, ध्यान और समाधि– ये आभ्यंतर योगाभ्यास या साधना के रूप हैं।

पर्य्यवगाहन

बहिर्मुखता से अंतर्मुखता में जाना योग है। योग का 'युज्' धातु के अनुसार जुड़ना अर्थ है। आत्मा का परमात्मा के साथ जुड़ना या आत्मा द्वारा परमात्म-भाव का अधिगम ही योग का अंतिम लक्ष्य है।

णमोक्कार मंत्र भी इसी को लक्षित कर निरूपित हुआ है। नमन या वंदन के रूप में सबसे पहले वह साधक को विनय-भाव अपनाने की प्रेरणा प्रदान करता है। विनीत साधक ही साधना-पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ पाता है। विनय के बल पर ही साधु, मुनि-संघ में सुशोभित होता है। ज्ञान, साधना और विनय का साहचर्य पाकर साधक की आत्मा पवित्रतर बनती है।

योग चित्त के नियंत्रण से प्रारंभ होता है। णमोक्कार मंत्र की आराधना में भी मानसिक स्थिरता की बहुत आवश्यकता है। यदि चित्त में सांसारिक वृत्तियाँ उद्भव पाती रहे तो नवकार मंत्र में मन नहीं रमता। जिस प्रकार योग में आसनों द्वारा शरीर को सुव्यवस्थित और सुनियंत्रित किया जाता है, उसी प्रकार णमोक्कार की आराधना में काय की स्थिरता आवश्यक है।

आसनों के साथ-साथ कायोत्सर्ग आदि द्वारा शरीर की स्थिरता का और उसके प्रति रहे हुए ममत्व के त्याग का अभ्यास सिद्ध होता है। वह साधक को प्रगति-पथ पर अग्रसर करता जाता है।

मन, वचन और शरीर की सभी प्रवृत्तियाँ जब आत्मोन्मुखी बन जाती है, ध्येय, ध्याता और ध्यान की त्रिवेणी एक विशाल प्रवाह का रूप धारण कर लेती है तब समाधि, जो आध्यात्मिक शांति का पर्याय है, स्वायत्त हो जाती है। कषाय-जनित अप्रशस्त भावों का वहाँ नाश हो जाता है।

णमोक्कार मंत्र में अरिहंत, ध्यान का विषय या ध्येय है। साधक ध्याता है। वह अपने मन को अरिहंत भगवान् पर एकाग्र करने का जो प्रयत्न करता है, वह ध्यान है। जब साधक उसमें तन्मय हो जाता है तब उसका मन शुद्धात्म-भाव में इतना लीन हो जाता है कि उसे ध्याता, ध्यान और ध्येय के भेद की प्रतीति ही नहीं रहती। तन्मयता या तल्लीनता इतना उत्कर्ष प्राप्त कर लेती है कि ये तीनों एकाकार हो जाते हैं। णमोक्कार मंत्र की आराधना द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सकती है। णमोक्कार महामंत्र के पहले पद के प्रारंभ में जो 'अरि' शब्द जुड़ा है, उसका एक विशेष आशय है। वीतराग देव ने राग-द्वेष आदि को, जो आत्मा के शत्रु हैं, जीत लिया है। उसी प्रकार सांसारिक मोह,

१. योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-३.

ममता, आसक्ति, वासना, स्पृहा, माया आदि साधना में, योगाभ्यास में विघ्न करते हैं। इसलिये ये साधक के एक प्रकार से शत्रु हैं। अरिहंत-पद के ध्यान से साधक के ये शत्रु स्वत: नष्ट हो जाते हैं।

अरिहंत प्रभु का ध्यान-योग में 'सालंबन-ध्यान' कहा जाता है। सालंबन का अर्थ— आलंबन सहित है। इस ध्यान में अरिहंत देव ध्येय के रूप में आलंबन होते हैं।

सिद्धपद साधना की सफलता या सिद्धि का सूचक है। इस पद की आराधना और ध्यान से साधक में असीम आत्मबल का जागरण होता है। ऊर्जा प्रस्फुटित होती है। यदि वह उसको संभालकर साधना में, योगाभ्यास में निरत रहता है तो एक दिन वह अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यह अनालंबन ध्यान है। यहाँ प्रतीक के रूप में किसी मूर्त्त आलंबन का सहारा नहीं लिया जाता।

सत्-चित्-आनंदमय, अमूर्त, अभौतिक भाव ही यहाँ ध्यान का विषय होता है। यह ध्यान की उच्च स्थिति है। जैन-परिभाषा में वहाँ शुक्ल-ध्यान अधिगत होता है। 'शुक्ल' शब्द ध्यान की सर्वाधिक निर्मलता का द्योतक है।

योग के आठों अंगों की सिद्धि के पश्चात् जो कैवल्यावस्था प्राप्त होती है, णमोक्कार मंत्र आत्मा की वैसी परम शुद्धावस्था को बहुत ही सरलता से प्राप्त करने का एक सफल सिद्ध (approved) मार्ग है। इसमें अष्टांग योग सहज रूप में सिद्ध हो जाता है। योग आठों अंगों के माध्यम से जो प्राप्त कराता है, णमोक्कार मंत्र के स्मरण, जप, आराधन और ध्यान से वह शीघ्र सिद्ध हो जाता है। णमोक्कार अध्यात्म-योग का बीजमंत्र है।

णमोक्कार मंत्र में समग्र रसों का समावेश

काव्य-शास्त्र में काव्य के स्वरूप तथा अंगोपांगों आदि का विशद विवेचन किया गया है। विश्वनाथ कविराज ने साहित्य-दर्पण में काव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है— 'वाक्यं रसात्मंक काव्यम्'[१]— रस जिसकी आत्मा है, ऐसा वाक्य या ऐसी रचना को 'काव्य' कहा जाता है।

साहित्य-शास्त्र में काव्य-पुरुष की कल्पना की गई है। बताया गया कि शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है। रस काव्य की आत्मा है। पुरुष में जिस प्रकार औदार्य, शौर्य, सौजन्य आदि गुण होते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रासाद, माधुर्य तथा ओज आदि गुण होते हैं। जिस प्रकार मानव कटक, कुंडल आदि आभूषण धारण करता है, उसी प्रकार काव्य में उपमा, अनुप्रास, रूपक आदि अलंकार होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य में काणत्व, खंजत्व, कुब्जत्व, पंगुत्व आदि दोष होते हैं, उसी प्रकार काव्य मे कटुत्व,

१. साहित्य-दर्पण, परिच्छेद-१, सूत्र-३.

क्लिष्टत्व दुश्रवत्व आदि दोष होते हैं। अत: जैसे मानव के जीवन में आत्मा का सबसे अधिक महत्त्व है, वैसे ही काव्य में रसों का है।

नाट्य-शास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने रस की निष्पत्ति का विवेचन करते हुए लिखा है– 'तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगद्रसनिषपत्ति:'– अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है।[1]

इस सूत्र पर अनेक आचार्यों ने विस्तार से विवेचन किया है। भरत ने रसों के भेद बतलाते हुए लिखा है–

शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानका: ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा मता: ।।

अर्थात् नाटक में या दृश्य-काव्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत– ये आठ रस होते हैं।[2] अन्य आचार्यों ने शांत रस को मिलाकर नौ रस माने हैं–

मोक्षाध्यात्म-समुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थ-हेतु-संयुक्त: ।
न: श्रेयसोपदिष्ट: शान्तरसो नाम सम्भवति।।

जो मोक्ष एवं अध्यात्म से समुत्थित– समुत्पन्न तथा तत्त्व-ज्ञानमूलक हेतु से युक्त होता है, आत्म-श्रेयस् के लिए जो उपदिष्ट होता है, वह शांतरस कहलाता है।[3]

मुख्य रस तो ये नौ हैं किन्तु आगे वात्सल्यरस, भक्तिरस, प्रेयस्रस, उदात्तरस, धर्मरस आदि और भी रस माने गए हैं।

आध्यात्मिक और धार्मिक साहित्य में प्रमुख रूप से शांतरस होता है। णमोक्कार में परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया हैं, अत: वे शांतरस से परिपूर्ण हैं। वे विश्व को दु:खमय, पापमय, अज्ञानमय, मोहमय तथा शुभाशुभ कर्ममय देखते हैं। इतना ही नहीं किन्तु शुभाशुभ कर्मों को जीतने के लिये वे धर्ममय, विवेकमय, समतामय तथा विश्वात्सल्यमय जीवन जीते हैं। उसके परिणामस्वरूप वे परमात्म-पद का अनुभव करते हैं।

'आत्मा निश्चय-दृष्टि से परिपूर्ण है,' ऐसा विचार तृष्णा का नाश करता है तथा आत्मा को शांतरस में ओतप्रोत बनाता है।

---

१. नाट्य-शास्त्र, अध्ययन-६. श्लोक-३१.
२. नाट्यशास्त्र, अध्ययन-६, श्लोक- ११५, पृष्ठ : १२५.
३. आचार्यहेमचंद्र: काव्यानुशासनञ्च : समीक्षात्मकमनुशीलनम्, पृष्ठ : १२५.

णमोक्कार में निश्चय दृष्टि से नव रस भरे हुए हैं किन्तु वे शुद्ध हैं। विकार का शमन करने वाला हैं और विकार शून्य पद प्राप्त कराने वाले हैं।

शास्त्र में अनित्यादि बारह भावनाओं और मैत्री आदि चार भावनाओं का वर्णन किया गया है। वे शांत रस की विभाव-अनुभाव रूप हैं। ये भावनाएं वैराग्य तथा वात्सल्य-भाव का पोषण करती हैं। प्रथम छः भावनाएं वैराग्य-रस का पोषण करती हैं तथा शुभ आस्रव-भावना, संवर-भावना और निर्जरा-भावना– धर्मरस का पोषण करती है। धर्म-भावना, लोक-स्वरूप-भावना तथा बोधि-दुर्लभ-भावना आत्मा के ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के गुण को विकसित करती है। मैत्री आदि चार भावना वात्सल्य रस को विकसित करती हैं।

विभिन्न रसों के साथ नवकार मंत्र की संक्षेप में इस प्रकार संगति की जा सकती है–

१. दुःखात्मक दृष्टि से यह संसार करुण-रस से परिपूर्ण है।

२. पापात्मक दृष्टि से यह संसार रौद्र-रस से भरा हुआ है।

३. अज्ञान-दृष्टि से यह संसार भयानक-रस से युक्त है।

४. मोहात्मक दृष्टि से यह संसार वीभत्स और हास्य-स से परिपूर्ण है।

५. सजातीय दृष्टि से यह संसार स्नेह-रस से परिपूर्ण है।

६. विजातीय दृष्टि से यह संसार वैराग्य-रस से आप्लावित है।

७. कर्म-दृष्टि से यह संसार अद्‌भुत-रस से युक्त है।

८. धर्म-दृष्टि से यह संसार वीर और वात्सल्य रस से पूर्ण है।

९. आत्म-दृष्टि से यह संसार समता-रस से संभृत है।

१०. परमात्म-दृष्टि से यह संसार भक्ति-रस से पूर्ण है।

११. पूर्ण-दृष्टि से यह संसार शांत-रस से आपूर्ण है।

१२. व्यापक दृष्टि से समग्र रसों की समाप्ति शांत-रस में होती है।[१]

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में शांत-रस के प्रसंग में लिखा है कि वही एकमात्र मूलरस है। इस संबंध में उनका निम्नांकित श्लोक प्रसिद्ध है –

स्वं-स्वं निमित्तमासाद्य, शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुननिर्मित्तापाये च, शान्त एवोपलीयते।।

१. (क) त्रैलोक्य दीपक, पृष्ठ : ३७१-३७३. (ख) नवकार मीमांसा (ग) परमेष्ठी नमस्कार, पृष्ठ : ८० - ८२.

विभिन्न भाव अपने-अपने निमित्तों को प्राप्त कर शांत रस में ही प्रवृत्त होते हैं। निमित्तों के न रहने पर वे शांत रस में ही उपलीन हो जाते हैं। वास्तव में शांत रस ही एक मात्र रस है।[1]

जिस प्रकार सूर्य के श्वेत ज्योतिर्मय वर्ण में सातों ही वर्ण समाहित है, उसी प्रकार तृष्णा-क्षय-रूप-रसमूलक स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी-भाव आदि शांतरस में परिणत हो जाते हैं।

अनुचिंतन

मानव के मन में प्रेम, करुणा, उत्साह, भय, आश्चर्य, जुगुप्सा, निर्वेद आदि सहज वृत्तियाँ होती हैं, उन्हें स्थायी-भाव कहा जाता है। काव्य में वे ही रसों के रूप में परिणति प्राप्त करते हैं। 'रस्यते इति रसः'– जिससे सरसता का, आनंद का अनुभव हो, उसे रस कहा जाता है।

जब ये स्थायी भाव महाकाव्यों, खंडकाव्यों, मुक्तक-काव्यों, नाटकों, गद्य तथा काव्यों में रस रूप में परिणत होकर अभिव्यक्त होते हैं, तब वे पाठकों, श्रोताओं और प्रेक्षकों को आनंद विभोर कर देते हैं, इसलिये इनका महत्त्व हैं।

णमोक्कार का मुख्य विषय अध्यात्म है। अध्यात्म का संबंध निर्वेद, वैराग्य, तृष्णा-क्षय या त्याग से है। संसारावस्था और वैराग्यावस्था– ये दो भिन्न दिशाएँ हैं किन्तु संसारावस्था को छोड़कर वैराग्यावस्था में आना होता है।

वैराग्य अवस्था निर्वेदमय है। उसमें आध्यात्मिक शांति की अनुभूति होती है। इसलिये वहाँ शांत रस का स्रोत प्रवहणशील होता है। णमोक्कार मंत्र में वह ओतप्रोत है किन्तु वे रस, जो सांसारिक जीवन से संबंधित हैं, णमोक्कार के संपर्क में आते हैं तो उनका भाव परिवर्तित हो जाता है।

सांसारिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम में बदल जाता है। सांसारिक पराक्रम और शौर्य, राग-द्वेष आदि आत्म-शत्रुओं को जीतने में लग जाते हैं। संसार के पापपूर्ण स्वरूप से भीति उत्पन्न होती है, उससे घृणा होती है। आत्म-स्वाभाव को भूलकर जो लोग भवचक्र में भ्रांत पड़े हैं, उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। करुणा होती है।

इस प्रकार करूण-रस, वीर-रस, वीभत्स-रस, भयानक-रस, अद्‌भुत-रस आदि सभी रस अध्यात्म-भाव का आलंबन लेकर शांत-रस में परिणत हो जाते हैं। उन्हें णमोक्कार मंत्र से संबल, संपोषण और संवर्धन प्राप्त होता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से सभी रसों का णमोक्कार मंत्र में समावेश हो जाता है।

---

१. काव्यानुशासन, पृष्ठ : १३२.

णमोक्कार मंत्र और रंग-विज्ञान का सामंजस्य

आज विज्ञान का युग है। अनेक विषयों पर प्रयोग और गवेषणाएँ हो रही हैं। नये-नये तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं।

परमाणुवाद तथा वनस्पति-जगत् आदि के संबंध में वैज्ञानिकों की लंबी खोजों के बाद जो तथ्य उद्घाटित हुए हैं, उनमें से अनेक उन तथ्यों को प्रमाणित करते हैं, जो सहस्रों-सहस्रों वर्ष पूर्व वीतराग सर्वज्ञ महापुरूषों ने व्यक्त किये थे।

विज्ञान की अन्वेषणात्मक गति अप्रतिहत है। वह कभी रुकती नहीं, इसलिये जैसे-जैसे विज्ञान और अधिक प्रगति करता जायेगा, आशा है आगमों में प्रतिपादित अनेक सिद्धांत वैज्ञानिक दृष्टि से भी तथ्यपूर्ण सिद्ध होते जायेंगे।

आधुनिक विज्ञान में रंगों पर भी अन्वेषण होते आ रहे है। यह विज्ञान का एक स्वतंत्र विषय बन चुका है।[1]

रंग-विज्ञान की दृष्टि से यदि नवकार मंत्र पर चिंतन किया जाए तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। णमोक्कार मंत्र के पाँच पदों के क्रमशः पाँच वर्ण हैं। श्वेत, रक्त, पीत, नील या हरित् तथा कस्तूरीवत् कृष्ण। एक-एक पद का अपना एक-एक रंग है। णमोकार मंत्र की आराधना अनेक रूपों में की जाती है। बीजाक्षरों के साथ भी की जाती है। एक-एक पद की एक-एक चैतन्य केंद्र में भी की जाती है। तथा वर्णों या रंगों के साथ भी की जाती है।

Dr. R.K. Jain ने "A Scientific Treatise on Great Namokar Mantra" नामक पुस्तक में "The Namokar Mantra & The Colour Therapy" शीर्षक के अन्तर्गत रंग-विज्ञान पर साधना के संदर्भ में वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया है, जो मननीय है।[2]

अध्यात्म-साधना का उद्देश्य आत्म-जागरण है। आत्म-जागरण का उद्देश्य है-- चैतन्य का जागरण, आनंदका जागरण, शक्ति का जागरण, अपने परमात्मस्वरूपका जागरण, अर्हत्-स्वरूप का जागरण। आत्म-जागरण बहुत व्यापक शब्द है। अनेक शाखाएं हैं, अनेक स्तर हैं।

एक मनुष्य अपने शरीर को स्वस्थ या निरोग रखने के लिये औषधि लेता है। यह समग्र दृष्टिकोण है किन्तु जब किसी के घुटने में, दाँत में, कमर में, कान में या आँख में दर्द होता है, तब वह भिन्न-भिन्न औषधियाँ लेता है। इन बीमारियों के आधार पर इनके विशेषज्ञ, चिकित्सक भी हैं इसी दृष्टि से हम णमोक्कार मंत्र की उपासना पर विचार करें।

१. (क) बहुआयामी महामंत्र णमोकार, पृष्ठ : ५४. (ख) नमस्कार महामंत्र महात्म्य, पृष्ठ : ४३.
२. A Scientific Treatise on Great Namokar Mantar, Page : 33.

णमोक्कार मंत्र की साधना का समग्र दृष्टिकोण है– आत्मा का जागरण किन्तु इस जागरण की प्रक्रिया के साथ-साथ साधक को यह देखना आवश्यक है कि वह किस रुग्णता से ग्रस्त है। क्रोध, अभिमान, लोभ, भय, हीन-भावना या चिंता आदि में से कौनसी बीमारी उसे सताती है। उसे पहले नष्ट करना होगा। यद्यपि साधक का मूल लक्ष्य पूर्णत: चेतना को जगाना, शक्ति के स्रोतों को जागरित करना और आनंद के महासागर में अवगाहन करना है, किन्तु पहले यह भी जानना आवश्यक हो जाता है कि कौनसा आंतरिक दोष उसे पीड़ित कर रहा है। उस दोष को समाप्त करने का मार्ग क्या है ? जब यह बात ज्ञात हो जाती है, तब साधक उसके अनुरूप पद्धति को अपनाता है।

यह सत्य है कि णमोक्कार मंत्र की आराधना से निर्जरा होती है। कर्म क्षीण होते हैं। आत्मा की विशुद्धि होती है। इस दृष्टि से साधक जब चाहे तब इसका जाप करे। सोते, उठते, बैठते, चलते, फिरते, जब भी याद आये, तब इसका स्मरण, जप एवं ध्यान करे। इसमें कोई बाधा नहीं है किन्तु जब साधक किसी एक रोग विशेष को– दोष विशेष को मिटाना चाहे तो विशेष पद्धति का अनुसरण करना अपेक्षित होगा।

प्रत्येक रोग के लिये णमोक्कार मंत्र की एक विशेष प्रकार की साधना करनी होगी। विशेष प्रकार के ध्वनि-तरंग और प्रकंपन उत्पन्न करने होंगे, जिससे उस रोग की ग्रंथि खुले और उस पर ऐसा प्रबल प्रहार हो कि वह समाप्त हो जाए।

मंत्रवेत्ता-आचार्यों ने णमोक्कार मंत्र के साथ रंगों का समायोजन किया। मंत्र के गहनतम रहस्यों को जानने वाले आचार्यों ने एक-एक पद के लिये एक-एक रंग की समायोजना की है।

हमारा सारा जगत् पौद्गलिक या भौतिक है। हमारा शरीर भी पौद्गलिक है। वर्ण, गंध, रस स्पर्श पुद्गल के ये चार लक्षण हैं। सारा भूमंडल, संपूर्ण मूर्त्तजगत् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के प्रकंपनों से आंदोलित है। वर्ण या रंग से हमारे शरीर का बहुत ही नैकट्यपूर्ण संबंध है।

मन के आवेगों का और कषायों का भी आत्यंतिक संबंध है। शरीर की स्वस्थता तथा मन की स्वस्थता और अस्वस्थता, आवेगों की कमी और वृद्धि– ये सब इस बात पर निर्भर है कि हम किस प्रकार के रंगों का समायोजन करते हैं और किस प्रकार के रंगों से पार्थक्य या अलगाव करते हैं या उनका संश्लेष या संपर्क करते हैं।

नीला रंग शरीर में जब कम होता है, तक क्रोध अधिक आता है। नीले रंग की पूर्ति होजाने पर क्रोध कम हो जाता है। श्वेत रंग की जब न्यूनता होती है, तब अस्वस्थता बढती है। काले रंग की कमी हो जाने पर आलस्य और जड़ता की वृद्धि होती है। पीले रंग की कमी होने पर ज्ञान-तंतु निष्क्रिय और क्रियाहीन बन जाते हैं। काले रंग की कमी होने पर प्रतिरोध की शक्ति घट जाती है।

मंत्र शास्त्र ऐसा प्रतिपादित करता है कि जब ज्ञान-तंतु निष्क्रिय हो जाएं तो ज्ञान-केंद्र में दस मिनिट तक पीले रंग का ध्यान किया जाए। फलस्वरूप ज्ञान-तंतु सक्रिय होंगे।

जब व्यक्ति बहुत बड़ी समस्या में उलझा हो, समाधान नहीं मिल रहा हो तो आनंद केंद्र या हृदय में दस मिनिट तक पीले रंग– सुनहरे रंग का ध्यान करें। सामाधान प्राप्त होगा।

रंगों के साथ मनुष्य के मन का तथा शरीर का कितना गहरा संबंध है, उसे जब तक जाना नहीं जाता तब तक णमोक्कार महामंत्र की रंगों के साथ साधना करने की बात समझ में नहीं आ सकती।

हम ज्ञान केंद्र पर 'णमो अरिहंताणं' का ध्यान श्वेत-वर्ण के साथ करते हैं। श्वेत-वर्ण से हमारी आंतरिक शक्तियाँ जागरित होती हैं। ऐसा माना जाता है कि हमारे मस्तिष्क में धूसर, धूलि जैसा या भूरे रंग का एक द्रव पदार्थ है, वह समग्र ज्ञान का संवहन करता है। हमारी पीठ में जो रज्जु या नाड़ी है, उसमें भी वह पदार्थ है।

मस्तिष्क में अरिहंत भगवान् का धूसर एवं श्वेत वर्ण के साथ ध्यान किया जाता है। तब ज्ञान की सुषुप्त शक्तियाँ जागरित होती हैं। इसी कारण इस पद की आराधना के साथ ज्ञान-केंद्र का और श्वेत-वर्ण का समायोजन किया गया है।

श्वेत-वर्ण स्वास्थ्यप्रद है। यह ज्ञातव्य है कि होम्योपैथिक-चिकित्सा में सफेद गोलियों का चयन किया गया है। संभव है, उनका यह चिंतन रहा हो कि रोग को मिटाने में औषधि तो अपना कार्य करेगी ही, साथ ही श्वेत-वर्ण भी उसको सहयोग देगा।

'णमो सिद्धाणं' का ध्यान दर्शन-केंद्र में रक्त-वर्ण या लाल रंग के साथ किया जाता है। उदित होते हुए सूर्य का जैसा लाल रंग होता है, वैसे ही लाल रंग की परिकल्पना की जाती है। लाल रंग हमारी आंतरिक दृष्टि को जागरित करता है।

शरीर विज्ञान के अनुसार देहस्थित 'पीयूष-ग्रन्थि' (Pitutary Gland) और उसके स्रावों को नियंत्रित करने के लिये लाल रंग बहुत उपयोगी है। पीयूष-ग्रन्थि को हम तृतीय नेत्र भी कह सकते हैं। अर्थात् चर्म-चक्षुओं से जो दृष्टिगोचर होता है, उसका तो मूर्त्त या स्थूल से संबंध होता है। यह ग्रंथि आंतरिक-दृष्टि को सक्रिय करती है। कभी शिथिलता, आलस्य या जड़ता का अनुभव हो तो दर्शन-केंद्र में दस मिनिट तक लाल रंग का ध्यान करने से जड़ता दूर होती है और स्फूर्ति उत्पन्न होती है। मंत्रशास्त्र के विद्वानों ने विविध रंगों के आधार पर मंत्र प्रयोग का विश्लेषण किया है। दर्शन केंद्र के जागरित होने से आत्म-साक्षात्कारमूलक अंतर-दृष्टि का विकास एवं अतींद्रिय चेतना का उन्नयन होता है।

'णमो सिद्धाणं' पद, लाल रंग और दर्शन-केंद्र– इन तीनों का समन्वय हमारी अंतर-दृष्टि को जागरित करने का अमोघ उपाय है। इससे होने वाली सिद्धि साधक के अभ्यास, अध्यवसाय और प्रयत्न पर निर्भर है। उसके उद्यम में जितनी तीव्रता और सजगता होगी, उसको उसी रूप में उपलब्धि या लाभ होगा।

'णमो आयरियाणं' का रंग पीत या पीला है। पीला रंग हमारे मन को क्रियाशील बनाता है। इसका स्थान विशुद्धि-केंद्र है। हमारे देह में पूरे सौरमंडल– नक्षत्र समुदाय की कल्पना की गई हैं। जिस तरह यह जगत् सौरमंडल से व्याप्त है, वैसे उन-उन शक्तियों या ऊर्जाओं या विशिष्ट गुणों के कारण सूर्य, चंद्रमा, मंगल, बुध, राहु, आदि सारे ग्रहों की कल्पना की गई है। जो हस्तरेखा के विशेषज्ञ हैं, वे हाथ की रेखाओं के आधार पर ग्रहों का ज्ञान कर लेते हैं। जो ललाट की रेखाओं के विशेषज्ञ हैं, वे उसे देखकर ग्रहों का ज्ञान कर लेते हैं। इसी प्रकार जो योग में निष्णात हैं, वे चेतना-केंद्रों के आधार पर नव-ग्रहों की दशाओं को जान लेते हैं। ऐसा माना जाता है कि विशुद्धि-केंद्र चंद्रमा का स्थान है। ज्योतिषवेत्ता चन्द्रमाँ की दशा के माध्यम से व्यक्ति की मन:-स्थिति को जान लेता है। चन्द्रमाँ और मन का संबंध है। जैसी स्थिति चन्द्रमाँ की होती है, वैसी मन की भी होती है।

णमो आयरियाणं का ध्यान विशुद्धि केंद्र पर पीत वर्ण के साथ किया जाता है। तेजस्-केंद्र वृत्तियों को उभारता है, विशुद्धि-केंद्र उन पर नियंत्रण करता है। शरीर विज्ञानवेत्ता ऐसा मानते है कि कंठ में 'थाइरॉइड-ग्लैण्ड' नामक एक ग्रंथि है, जो वृत्तियों पर नियंत्रण करती है। इससे आवेग नियंत्रित होते हैं। इस केंद्र पर णमो आयरियाणं का ध्यान करने से हमारी वृत्तियाँ शांत होती हैं, पवित्र होती हैं। विशुद्धि-केंद्र पवित्रता की वृद्धि करता है। इस पर ध्यान करने से मन में पवित्रता का संचार होता है।

'णमो उवज्झायाणं' पद का रंग नीला माना जाता है। इसका स्थान आनंद-केंद्र माना जाता है। नीला रंग शांतिप्रद है । यह एकाग्रता, प्रशांतता एवं समाधि उत्पन्न करता है। कषायों को शांत करता है। आत्मसाक्षात्कार में सहायक होता है।

'णमो लोए सव्व साहूणं' पद का रंग काला माना जाता है। इसका स्थान शांति-केंद्र है। शांति केंद्र का स्थान पैर माना जाता है। काले वर्ण के साथ इस पद की आराधना की जाती है। काला रंग अवशोषक– अवशोषण करने वाला होता है।काला छाता रखने की परिपाटी इसी बात की द्योतक है। वह ताप और गर्मी का अवशोषण करता है। सर्दी की मौसम में काले और नीले रंग के कपड़े पहनने का यही आशय है। न्यायालयों में न्यायाधीश और वकील काला कोट पहनते हैं, इसका कारण यह है कि काला कोट उनको बाहर के वातावरण के प्रभाव से सुरक्षित रखता है।[१]

---

१. एसो पंच नमोक्कारो, पृष्ठ : ७६ - ७८.

समीक्षा

णमोक्कार मंत्र में ज्ञान और साधना का विराट् रूप समाया हुआ है। उस पर जितनी दृष्टियों और अपेक्षाओं से चिंतन, अन्वेषण और विश्लेषण किया जाए, वह सर्वथा सार्थक सिद्ध होता है।

यह जगत् जीव और अजीव का समवाय है। जीव अपने द्वारा आचीर्ण या संचित कर्मों के आधार पर विभिन्न स्थितियों में विद्यमान है। सुख-दुःखात्मक, काम-क्रोधात्मक, मोह-रागात्मक, प्रशस्त-भावात्मक, अप्रशस्त-भावात्मक, जिन-जिन दशाओं में विद्यमान होता है, तद्नुरूप पुद्गल -परमाणुओं से वह आवृत होता है। पुद्गल-परमाणु ही विभिन्न भोगोपभोगमय पदार्थ रूप में विद्यमान हैं।

सौरमंडल या ग्रह नक्षत्र, आदि के रूप में वे विश्व में परिव्याप्त हैं। सांसारिक या कर्म-बद्ध आत्मा का उनके साथ एक ऐसा संबंध जुड़ा है, जिसकी सूक्ष्मता बाह्य नेत्रों से नहीं देखी जा सकती। वे पुद्गल-परमाणु विविध-रंगों के रूप में भी अवस्थित हैं। रंगों की भिन्नता कारणजनित है। उनके सूक्ष्मतम परमाणु अपने-अपने विशिष्ट गुणों से जुड़े हुए हैं। उन परमाणुओं का साहचर्य या उन पर एकाग्रत्व उनके गुणों के अनुरूप प्रशस्त-पवित्र या अपशस्त-अपवित्र भावों को निष्पन्न करने में सहयोगी होता है।

मंत्र-वेत्ताओं ने णमोक्कार मंत्र के अंतर्गत गुणों के अनुरूप नवकार के प्रत्येक पद का वर्ण बताया है। यद्यपि वह वर्ण साधक को कुछ नहीं दे सकता, किंतु उस वर्ण विशेष के साथ नवकार मंत्र के पद के ध्यान से एक विशेष प्रभाव उत्पन्न होता है। वहाँ मूल हेतु तो साधक के आत्म-परिणामों की निर्मलता है, किंतु बाह्य हेतु के रूप में रंगों की भी उपयोगिता है। शरीर पुद्गलमय है। रंग भी पौद्गलिक है।

चेतना-केंद्र, विशुद्धि-केंद्र आदि विविध केंद्र भी शरीर में ही परिकल्पित किये गये हैं, इसलिये अनुकूल पुद्गल-परमाणु, अनुकूल फल-निष्पत्ति में सहयोगी हो सकते है।

यह विषय बहुत गूढ़ है। यह अभ्यास भी सरल नहीं है। केंद्र विशेष पर रंग विशेष की कल्पना उसके साथ मंत्र पद की संयोजना, तीव्र, आंतरिक अध्यवसाय से ही सिद्ध हो सकती है। शुद्ध-भावों के साथ अभ्यास करने से यह साधना असंभव नहीं है किंतु पहले इस अभ्यास के स्वरूप को बहुत सूक्ष्मता से, विशदता से समझना आति आवश्यक है।

यह अभ्यास क्रम ऐसा है, जिसमें अनुभवी गुरु का मार्गदर्शन अपेक्षित होता है। अपनी वृत्तियों को, इस दिशा में मोड़ देने में बड़ी विचक्षणता और अंतःस्फूर्ति की आवश्यकता है किंतु निश्चय ही णमोक्कार के आराधन की यह मंत्रात्मक पद्धति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

ललित कलाओं में नवकार का आध्यात्मिक-लालित्य

'कला' शब्द सुन्दर कृति का वाचक है। भारतीय साहित्य में कलाओं का विशद और विस्तृत रूप में विवेचन हुआ है। कलाओं के भेदाभेद भी बहुत प्रकार के माने गए हैं। उन सबमें निष्कर्ष के रूप में पाँच ललित कलाएँ स्वीकार की गयी हैं- १. स्थापत्यकला या वास्तुकला, २. मूर्ति-कला, ३. चित्र-कला, ४. संगीतकला, ५. काव्यकला।

कलाओं का यह विस्तार स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। पहली स्थापत्यकला या वास्तुकला का संबंध भवन-निर्माण से है। अति प्राचीनकाल में मनुष्य भवनों या घरों में नहीं रहते थे। वृक्षों के नीचे रहते थे। ज्यों-ज्यों सुविधा, अनुकूलता और सुंदरता का भाव बढ़ता गया, त्यों-त्यों भवन-निर्माण-कला का विकास हुआ, जो आज अत्यंत विकसित रूप में प्राप्त है।

अमेरिका में एक सौ बीस मंजिलं का मकान है। भारत में भी पचास से अधिक मंजिलों तक के भवन निर्मित हो चुके हैं। वह प्राचीनकाल के मानव का सुंदरता के प्रति रहे आकर्षण का अभिवर्धित रूप है। मानव ने सोचा होगा, यहाँ मुझे अपने जीवन की लंबी अवधि व्यतीत करनी है। क्यों न उसे अत्यंत सुंदर, आकर्षक और सुहावना स्वरूप प्रदान करूँ, इसके फलस्वरूप वास्तुशास्त्र का विकास हुआ।

यह मानवीय प्रकृति है। मनुष्य कम से कम स्थूल में अधिक से अधिक सुंदरता देखना चाहता है। अत: भवन निर्माण के पश्चात् मूर्तिकला की और उसका आकर्षण बढ़ा।

संभव है, मानव के मन में आया हो, जो आज सशरीर विद्यमान है, वह कुछ समय के बाद मिट जायेगा, इसलिये क्यों न उसकी अनुकृति कर एक पाषणमयी प्रतिमा का निर्माण किया जाय, जिससे अतीत को वर्तमान में प्रतिबद्ध रखा जा सके। मानव बहुत ही भावुक प्राणी है। उसके हृदय में आगे चलकर यह भाव उद्‌गत हुआ हो कि जो महापुरूष सहस्त्राब्दियों-शताब्दियों पूर्व हुए, क्यों न परिकल्पना द्वारा उनके प्रतीकात्मक आकार पाषाण-निबद्ध किये जाएं। उनके दैहिक स्वरूप, संहनन, संस्थान, आकार, प्रकार व्यक्तित्व, कृतित्व आदि के आधार पर मानव ने प्रतीकों की कल्पना कर उनको पाषाणमयी शिलाओं में कलानुबद्ध किया। विश्व के विभिन्न देशों में प्रसृत मूर्तिकला के विकास का यह आदिम भावस्रोत रहा हो।

आकांक्षा, इच्छा या आशा मानव की विशेषता है। जब एक इच्छा पूर्ण हो जाती है तो फिर और कोई नूतन आकांक्षा उदित होती है। पाषाण की स्थूलता को मानव ने कुछ और सूक्ष्मता में डालने का चिंतन किया। परिणामस्वरूप पाषाण का स्थान क्रमश: भित्ति, वस्त्र तथा कागज आदि ने लिया।

मूर्तिकला का स्थान चित्रकला ने ग्रहण किया। मूर्तिकला में जहाँ आंगिक उभार, पाषण आदि द्वारा, सूक्ष्मता, स्थूलता आदि के रूप में प्रदर्शित किया जाता था, वह विविध रंगों के प्रयोग द्वारा चित्रों में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया जाने लगा। अजंता आदि के चित्र इसके साक्ष्य हैं।

चित्रकला के बाद संगीतकला का स्थान आता है, जहाँ संगीत द्वारा, जिसके साथ तंतुवाद्य और तालवाद्य आदि का योग रहता है, सौंदर्यात्मक सृष्टि का एक विशेष उपक्रम मानव ने स्वीकार किया। स्वर, राग और आलाप के आधार पर हृदयगत भावों को माधुर्य के साथ प्रस्तुत करने में संगीत कला का माध्यम मानव के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ, जिसका उसने लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से उपयोग किया। संगीतकला में वाद्य आदि साधनों तथा सप्त-स्वरात्मक जटिल पद्धतियों का समावेश एक प्रकार की भारवाहिता है, यह सोचते हुए काव्य-कला की ओर मानव का रुझान बढ़ा, जहाँ किसी प्रकार के वाद्य संगीत आदि के बिना शब्दों के चमत्कार द्वारा एक अनुपम भाव-सृष्टि उपस्थित कर सके। काव्यकला का तो और भी अधिक विकास हुआ। अनेक प्रबंध-काव्य, महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतिकाव्य आदि की रचना हुई।

उपर्युक्त पाँच ललित कलाओं के विकास का एक बहुत लंबा इतिहास है। इन पर पृथक्-पृथक्, विपुल परिमाण में साहित्य-सर्जन हुआ, जो भारतीय विद्या की अमूल्य निधि है।

इन कलाओं के संदर्भ में णमोक्कार मंत्र के कलात्मक सौंदर्य पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

णमोक्कार मंत्र धार्मिक या आध्यात्मिक कला का सर्वोत्तम प्रतीक है। धर्म को सुंदर, उत्तम, पवित्र भावों द्वारा, मधुर, कोमल वाणी द्वारा स्वीकार करना सहज, सुंदर, पावन, आचार द्वारा सफलतापूर्वक, सरसतापूर्वक, रुचिपूर्वक पालन करना धर्मकला है।

सव्वा कला धम्मकला जिणाइ।

धर्मकला सब कलाओं को जीत लेती है। अर्थात् वह सर्वोत्तम कला है। वह ऐसी कला है, जो शाश्वत सौंदर्य प्रदान करती है।[१]

समीक्षा

ललित कलाओं में सबसे स्थूल रूप वास्तुकला या भवन निर्माण कला का है। नवकार मंत्र यह बोध कराता है कि यह शरीर ही आत्मा का भवन है। इसी में आत्मा परिव्याप्त हैं। मनुष्य बाहरी भवनों, महलों, अट्टालिकाओं को सुसज्जित करता है। उनमें विमोहित बना रहता है, 'मेरे पचास मंजिल का भवन है'– यह सोचकर अहंकार करता है, यह सब मिथ्या है।

इस भूतल पर बड़े-बड़े सम्राट् आए, उत्तम से उत्तम भवनों का निर्माण किया परंतु आज न वे सम्राट् हैं, न वे भवन हैं। सब कराल-काल के मुख में समा गये। कोई किसी का नाम तक नहीं जानते। इसलिये णमोक्कार मंत्र जीव को प्रेरित करता है कि तुम अपने देहरूपी भवन को संभालो।

१. उज्ज्वलवाणी, भाग-१, पृष्ठ : २९७.

इसको सुंदर और सुसज्जित बनाओ। इसकी सुंदरता धर्म के आचरण, तपश्चरण और संयताचरण से सिद्ध होती है। तभी तुम आध्यात्मिक वास्तुकला में निष्णात बनोगे। ईंट, गारा, चूना और पत्थरों से निर्मित भवन तुम्हारा कुछ भी कल्याण नहीं कर सकेंगे।

आत्मा इस देह रूपी निकटतम भवन का सौंदर्य तभी निखार पायेगा, जब तुम अध्यात्म-योग के साँचे में अपने को ढ़ालते जाओगे।

दूसरी ललितकला मूर्तिकला है। इस देहरूपी मंदिर में आत्मदेव राजित हैं। उनकी अमूर्त्त प्रतिमा ही वह सौंदर्यमय आध्यात्मिक मूर्ति है, जिसकी आराधना और उपासना का णमोक्कार मंत्र संदेश देता है। आत्मदेव ही आराध्य हैं। इसलिए उसी दिव्य मूर्ति की शोभा, सज्जा वास्तव में श्रेयस् का मार्ग है।

उपनिषद् में श्रेयस् और प्रेयस् का बड़ा सुंदर विवेचन है। श्रेयस् का साधन भिन्न है और प्रेयस् का साधन उससे पृथक् है। वे दोनों भिन्न-भिन्न फल देनेवाले हैं। वे पुरूष को अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। उन दोनों में से श्रेयस् के साधन को जो ग्रहण करता है, उसका कल्याण होता है तथा जो प्रेयस् के साधन को स्वीकार करता है, वह सत्यलाभ से वंचित हो जाता है। प्रेयस् का अर्थ भौतिक भोग हैं, जो सांसारिक जनों को बड़े प्रिय लगते हैं।

श्रेयस् का अभिप्राय आत्म-कल्याणकारी तत्त्व है, जो आध्यात्मिक उन्नति के साथ संपृक्त होते हैं। मानव के समक्ष श्रेयस् और प्रेयस् दोनों ही आते हैं। धीर-बुद्धिशील या विवेकी पुरुष इन दोनों के स्वरूप पर भलीभाँति विचार करता है। वह दोनों को पृथक्-पृथक् समझ लेता है। श्रेष्ठ बुद्धिशील पुरुष प्रेयस् की अपेक्षा श्रेयस् को ही कल्याण का साधन मानता है और उसे अपना लेता है।

बुद्धिहीन या विवेकशून्य मनुष्य भौतिक उपलब्धियों की इच्छा से प्रेयस् का, जो भोगों का साधन है, स्वीकार करता है।[1]

मूर्तिकला से चित्रकला सूक्ष्म है। जिस प्रकार ऊपर विवेचन किया जा चुका है, णमोक्कार मंत्र यह प्रेरणा प्रदान करता है कि जीव अपने में परमात्म-भाव का चित्रण करें, अंकन करें। परमात्मा के आध्यात्मिक स्वरूप के भाव-चित्र का आंतरिक चक्षुओं से अवलोकन करे। जैसे सुंदर, सजीव चित्र को देखकर मनुष्य उत्कृष्ट भावात्मक परिकल्पना में तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् के भाव-चित्र में तन्मय होने से जीव अपने सत्य-स्वरूप की अनुभूति कर सकता है।

चित्रकला से संगीतकला सूक्ष्म है। चित्रकला में दीवार, कागज, रंग आदि का आधार अपेक्षित होता है, जिस पर चित्र अभिन्न रूप में संलग्न होता है। संगीतकला का आश्रय स्वर है, जो कंठ से

---

१. कठोपनिषद्, अध्याय-१, वल्ली-२, श्लोक-१, २, पृष्ठ : ७७.

निःसृत होता है। उसके उत्स्फुरण, उद्योतन और उद्ववर्धन हेतु तंतुवाद्य, तालवाद्य आदि अपेक्षित होते हैं, किन्तु वे संगीत में संप्रविष्ट नहीं होते, एकाकार नहीं होते। अतः चित्रकला की अपेक्षा संगीत में सूक्ष्मता है। अधिकतम स्थूल निरपेक्षिता है।

णमोक्कार मंत्र संगीतकला को भी प्रश्रय देता है किंतु विनोद या मनोरंजन हेतु वैसा नहीं करता। संगीत के साथ वह आत्मरंजन का भाव जोड़ता है, जिससे अध्यात्म का गांभीर्य, संगीत के माधुर्य के साथ मिलकर साधक में अभिनव स्फूर्ति का संचार करता है। यही कारण है कि बड़े-बड़े आचार्यों, संतों और भक्तों ने ऐसे गीतों की रचना की, जिनकी लयात्मकता के साथ परमात्म-तत्त्व के उदात्तभाव सन्निविष्ट हैं। वहाँ संगीत साधक की साधना में एक संबल बन जाता है।

सूक्ष्मता में अंतिम कला काव्यकला है। काव्यकला में तंतुवाद्य, तालवाद्य आदि बाह्य सामग्री का कोई योग नहीं रहता, केवल शब्द ही उसका आधार होता है। जब शब्द और अर्थ में विलक्षण लालित्य, सौंदर्य का समावेश होता है तब वह काव्य के रूप में परिणत हो जाता है।

आचार्य भामह ने काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है–

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं, गद्यं-पद्यं च तद्विधा।[1]

'सहित शब्दार्थ' को काव्य कहा जाता है। सहित, शब्द और अर्थ का सहभाव है। जो अर्थ व्यक्त किया जाए, शब्द का ठीक उसके अनुरूप होना वांछनीय है। वैसा होने से उसमें एक प्रकार का सौंदर्य आ जाता है। कुछ विद्वान् सहित का अर्थ हित, श्रेयस् या कल्याण सहित भी करते हैं। अर्थात् वे शब्द और अर्थ काव्य हैं, जिनमें मानव का हित या श्रेयस् व्याप्त हो।

विश्वनाथ कविराज ने काव्य का लक्षण इस प्रकार बतलाया है–

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।[2]

रस जिसकी आत्मा हो, या जिसका सार रूप में जीवनाधायक तत्त्व हो, उसे काव्य कहा जाता है। सरसता में ही काव्य की प्राणवत्ता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा निम्नांकित शब्दों में की है–

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।[3]

जो शब्द रमणीय या सुंदर अर्थ का प्रतिपादन करता है, उसे काव्य कहा जाता है।

---

१. काव्यालंकार, श्लोक-१६.
२. साहित्य दर्पण, प्रकाश-१, सूत्र ३.
३. रसगंगाधर, प्रथम-आनन(काव्य-लक्षण).

काव्य की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि शब्द जब भावात्मक सौंदर्य या सरसता से आप्लावित हो जाता है, तब वह काव्य कहलाता है।

काव्य के प्रयोजनों में यश, धन, व्यवहार-ज्ञान, दु:ख-नाश, तत्काल परमशांति का अनुभव तथा कान्ता द्वारा प्रगट किये गए, मधुर-भाव की तरह हृदयग्राही उपदेश की चर्चा की गई है।[1]

इन प्रयोजनों में परमशांति का अनुभव– यह जो प्रयोजन बतलाया गया है, आध्यात्मिक अनुभव की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

णमोक्कार मंत्र काव्य कला को इसी दिशा में प्रेरित करता है। कवियों को ऐसी काव्य-रचना की प्रेरणा देता है, जिससे साधक को आध्यात्मिक साधना में उत्तरोत्तर बल मिले। जैन-कवियों ने जो काव्य-रचना की है, वह मुख्यत: अध्यात्म-भाव से आप्लावित है। प्रमुख रूप में उन काव्यों में निर्वेद प्रधान शांत-रस का निर्झर छलकता रहता है।

इस प्रकार णमोक्कार मंत्र की आराधना में पाँचों ललित कलाएँ आध्यात्मिक रूप में सिद्ध हो जाती हैं। उनसे जो आनंदोपलब्धि होती है, वह सांसरिक सुखों से अनंतगुणा आध्यात्मिक सुख प्रदान करती है। यही कारण है कि कला जब आध्यात्मिकता से संवलित हो जाती है तो वह एक प्रकार से साधना का रूप ले लेती है। ऐसा होने में णमोक्कार मंत्र का अनुपम अद्‌भुत योगदान सिद्ध होता है।

णमोक्कार मंत्र का ध्यान और प्रभाव

जैन शासन के मंतव्यानुसार णमोक्कार मंत्र सब मंगलों का मूल है। समस्त जैन शासन का सार है। एकादश अंग और चतुर्दश पूर्वों का निष्कर्ष है तथा शाश्वत है। प्रवचन-सारोद्धार की वृत्ति में नवकार मंत्र के ध्यान का उल्लेख करते हुए बहुत ही सुंदर विवेचन किया गया है।

"सर्व मन्त्ररत्नानामुत्पत्याकरस्य, प्रथमस्य, कल्पितपदार्थकरणैक कल्पद्रुमस्य, विषविषधर शाकिनीडाकिनीयाकिन्यादिनिग्रहनिरवग्रहस्वभावस्य, सकलजगद्वशीकरणा कृष्ट्याद्यव्यभिचारिप्रौढ़प्रत्त्वस्य, चतुर्दशपूर्वाणां सारभूतस्य पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारस्य महिमाऽत्यद्‌भुतं वरीवर्तते त्रिजगत्याकालमिति निष्प्रतिपक्षमेतत्सर्वसमयविदाम्।"

णमोक्कार मंत्र सब मंत्ररूपी रत्नों की उत्पत्ति का मूल स्थान है। समस्त इष्ट पदार्थों, आकांक्षाओं को पूर्ण करने में वह अद्वितीय कल्पवृक्ष है। विष, विषधर, शाकिनी, डाकिनी, याकिनी आदि उपद्रवों का वह विनाश करता है। समस्त जगत् को वश में करने में वह सर्वथा समर्थ है। प्रौढ़ प्रभाव-संपन्न है। चौदहपूर्व का रहस्य उसमें समाविष्ट है।

---

१. काव्य प्रकाश, १, २.

पंचपरमेष्ठि-णमोक्कार की महिमा तीनों लोक में, तीनों काल में सर्वाधिक श्रेष्ठ और अत्यंत अद्‌भुत है। समस्त सिद्धांतवेत्ता यह निर्विवाद रूप में स्वीकार करते हैं। लोक में जिस प्रकार धर्मास्तिकाय आदि प्रसिद्ध हैं, स्वयं सिद्ध हैं या अकृत्रिम हैं, उसी प्रकार णमोक्कार मंत्र समस्त लोक में प्रसिद्ध और स्वयं सिद्ध है।[1]

अत्यंत गंभीर 'महानिशीथ' नामक छेद-सूत्र में इसकी अत्यधिक प्रशंसा की गई है और उसे समस्त श्रुतस्कंधों में महाश्रुतस्कंध के रूप में वर्णित किया गया है।

'विशेषावश्यक-भाष्य' में पंच-मंगल महाश्रुतस्कंधात्मक श्री णमोक्कार मंत्र समग्रश्रुत में व्याप्त है। पंचपरमेष्ठि नमस्कार समस्त मंगलों में प्रथम मंगल है। इससे वह समस्त श्रुत के भीतर समाविष्ट है। इतना ही नहीं नंदी-सूत्र में समस्त श्रुतस्कंधों का वर्णन करते समय पंच नमस्कारात्मक, पंच मंगल महाश्रुत स्कंध को प्रथम श्रुतस्कंध के रूप में वर्णित किया है, जिससे उसकी सर्व श्रुताभ्यंतरता– सर्व श्रुतव्यापकता स्पष्ट रूप में सिद्ध होती है।

णमोक्कार मंत्र की शास्त्रों में जो महिमा वर्णित हुई है उसे स्पष्ट करने हेतु उपाध्याय श्री यशोविजयजी गुर्जर भाषा में पद्यात्मक रूप में रचित पंचपरमेष्ठि गीता में आलंकरिक पद्धति से णमोक्कार मंत्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं :–

पर्वतों में मेरु, वृक्षों में कल्पवृक्ष, सुगंध में चंदन, वनों में नंदनवन, मृगों में मृगपति– सिंह, पक्षियों में गरूड़, तारों में चंद्र, नदियों में गंगा, रूपवानों में कामदेव, देवों में इन्द्र, समुद्रों में सयंभूरमण, सुभटों में त्रिखंडाधिपति– वासुदेव, नागों में नागराज (शेषनाग) शब्दों में आषाढ़ी मेघ-गर्जना, रसों में इक्षु-रस, फूलों में अरविंद (कमल), औषधियों में सुधा (अमृत), वसुधाधिपति– राजाओं में राम, सत्यवादियों में युधिष्ठिर, धैर्य में ध्रुव, मांगलिक वस्तुओं में धर्म, सामुदायिक सुख में संप– एकता, धर्म में दया-धर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत, दान में अभयदान, रत्नों में वज्ररत्न (हीरा) मनुष्यों में नीरोगी मनुष्य, शीतलता में हिम (बर्फ) तथा धीरता में धीर-व्रतधर, ये श्रेष्ठ होते हैं। उसी प्रकार मंत्रों में नवकार मंत्र सारभूत और श्रेष्ठ है। इसके द्वारा किए जाने वाला उपकार हजारों मुखों से अवर्णनीय है।

ऐसा सर्व श्रेष्ठ णमोक्कार मंत्र प्राप्त होने पर जो जीव अन्य मंत्रों की अभिलाषा रखते है, उनकी करुण-दशा का चित्रण करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं :–

तजे अे सार नवकारमंत्र, जे अवर मंत्र सेवे स्वतंत्र।
कर्म प्रतिकूल बाउल सेवे, तेह सुरतरु त्यजी आप टेवे।।

१. त्रैलोक्य दीपक, पृष्ठ : ४२.

इस सारभूत णमोक्कार मंत्र का परित्याग कर जो अन्य मंत्रों की उपासना करते हैं, उनका कर्म, भाग्य सचमुच प्रतिकूल है। वे बड़े अभागे है, नहीं तो सभी इच्छित पदार्थों को देनेवाले कल्पवृक्ष का त्याग कर दु:खकर बबूल के वृक्ष की उपासना करने का मन कैसे हो ? णमोक्कार मंत्र सब मंत्रों का अधिनायक है। णमोक्कार मंत्र के बीज द्वारा वासित सुरभित मंत्र की उपासना की जाए जो वह फलप्रद होती है, नहीं तो वह निष्फल जाती है। ऐसा सभी शास्त्रों का कथन है।

अमृत के सागर की तरंगों से सब प्रकार के विष-विकार का नाश हो जाता है। वह केवल अमृत का गुण है। जल की तरंगों को प्रवाहित करने वाले पवन का नहीं। उसी प्रकार अन्य मंत्रों को फलीभूत करने वाला णमोक्कार मंत्र ही बीज रूप है। बीज रहित मंत्र निस्सार है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं :-

जेह निर्बीज ते मंत्र झूठा, फले नहीं साहमुं हुई अपूठा।
जेह महामंत्र नवकार साधे, तेह दोअ लाके अलवे आराधे।।

णमोक्कार मंत्र रूप बीज से रहित समस्त मंत्र झूठे हैं। वे फलित नहीं होते वरन् हानिप्रद ही सिद्ध होते हैं। इसलिये जो जीव णमोक्कार मंत्र का आराधन करते हैं, वे दोनों लोकों को कृतार्थ बनाते हैं। णमोक्कार मंत्र के विशेष गुणों का वर्णन करते हुए अंत में लिखते हैं :-

रतन तणी जेम पेटी, भार अल्पबहुमूल्य।
चौद पूरवनुं सार छे, मंत्र अे तेहने तुल्य।।
सकल समय अभ्यंतर, अे पद पंच प्रमाण।
महसुअखंध ते जाणो, चूला सहित सुजाण।।

रत्नों से भरी हुई पेटी का वजन अत्यंत थोड़ा होता है, किंतु उसका मूल्य अत्यधिक होता है। उसी प्रकार णमोक्कार मंत्र शब्दों में बहुत छोटा है, संक्षिप्त है किंतु अर्थ द्वारा वह अनंत है। चतुर्दश पूर्वों का यह सार है। समस्त सिद्धांतों में ये पाँच पद प्रमाणभूत माने गये हैं तथा चूलिका सहित समस्त णमोक्कार मंत्र को महाश्रुतस्कंध के रूप में व्याख्यात किया गया है। णमोक्कार के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों को महाश्रुतस्कंध नहीं अपितु श्रुतस्कंध ही कहा जाता है।[१]

णमोक्कार मंत्र में मैत्री आदि भावना चतुष्टय का समन्वय

जैन शास्त्रों में धर्म को जीवन में उतारने के लिये भावनाओं को बहुत महत्त्व दिया गया है। क्योंकि जीवन में किसी भी कार्य के प्रति उत्साह, उद्यम और अध्यवसाय उत्पन्न होने के पूर्व मन में भावना का सर्जन होता है।

१. त्रैलोक्य दीपक, पृष्ठ : ४२-४६.

भावना-शुभ और अशुभ दो प्रकार की होती है। कुसंस्कार-युक्त लोगों के मन में सहज रूप में पापमूलक भावनाओं का उद्भव होता है, जिनमें हिंसा, परिग्रह, वासना आदि निहित होते हैं। सुसंस्कारी जनों के मन में शुभ-भावनाएँ होती हैं, जिनमें सात्विकता, उदारता, सहिष्णुता आदि भाव रहते हैं।

जो व्यक्ति भावना के उदित होने के समय जागरूक रहता है। वह अपने आप पर नियंत्रण करने का सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। जैसे ही मन में बुरे भाव उठने लगते हैं, वह अच्छे भावों के उद्वेग द्वारा उनको रोक देता है। मन में शुभ और अशुभ का या सत् एवं असत् का एक संघर्ष चलता है। आंतरिक जागरूकता, स्वस्थता और प्रमाद-शून्यता के कारण शुभ-भाव प्रबलता पाते हैं तथा वह अशुभ-भाव को पराजित कर देता है।

इस दिशा में मनुष्य में उत्कर्ष जगाने हेतु भावनाओं का एक मार्ग जैन धर्म में बताया गया है, जिसे 'भावना-योग' भी कहा जाता है। उसका लक्ष्य मानव को उत्तम भावनाओं के साथ जोड़ना है।

एकत्व, अन्यत्व आदि बारह[1] भावनाओं का वहाँ चित्रण किया गया है। उत्तम भावों के नवनीत के रूप में चार भावनाओं– मैत्री, प्रमोद कारूण्य और माध्यस्थ का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है।

इनमें आर्हत् (जैन) दर्शन का सार समाविष्ट है। इनके संबंध में आचार्य अमितगति का निम्नांकित श्लोक बहुत प्रचलित है।

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विद्धातु देव।।[2]

साधक प्रभु से यह प्रार्थना करता है कि भगवन्! मुझ में इतनी भावात्मक उत्कृष्टता का विकास हो कि मेरी आत्मा में सभी प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव रहे।

जब मैं सद्गुण संपन्न श्रेष्ठ जनों को– सत्पुरुषों को देखूं, तब मेरे मन में अत्यंत आनंद उत्पन्न हो क्योंकि उत्तम गुणों से आत्मा में शांति प्राप्त होती है।

इस संसार में अनेक ऐसे जीव हैं, जो घोर कष्ट पा रहे हैं। जब मैं उन्हें देखूं, तब मेरे मन में कृपा, दया, अनुकंपा, करुणा का भाव उत्पन्न हो ताकि मैं उनको क्लेश से बचाने का अपनी ओर से जैसा शक्य हो, प्रयत्न कर सकूं।

यह संसार बड़ा विचित्र है। इसमें अनेक ऐसे व्यक्ति पाए जाते हैं, जो औरों के साथ वैर-भाव

१. ध्यान-जागरण, पृष्ठ : ५५. २. मंगलवाणी, पृष्ठ : २७४,२७५.

बढ़ाने में बड़ा सुख मानते हैं। ऐसे लोग भी हैं, जो बिना कारण दूसरों के प्रति विपरीत-वृत्ति अपने मन में लिए रहते हैं। मैं उनके प्रति मध्यस्थता का या तटस्थता का भाव रखूं।

'मध्ये तिष्ठति इति मध्यस्थं' माध्यस्थ शब्द की यह व्युत्पत्ति है। जैसे, जहाँ दो पक्ष हों, वहाँ एक ऐसा व्यक्ति है, जो दोनों में से किसी भी पक्ष में सम्मिलित नहीं होता। वह दोनों के मध्य में, बीच में रहता है। दोनों में से किसी के साथ उसका लगाव या संबंध नहीं होता, ऐसी मानसिक स्थिति को माध्यस्थता कहा जाता है, जिसका अर्थ उदासीनता या तटस्थता है।

तटस्थ शब्द भी माध्यस्थ की तरह असंलग्नता का द्योतक है। 'तटे तिष्ठति इति तटस्थः'– के अनुसार वह तट पर अर्थात् दोनों से पृथक्– किनारे पर रहता है, उदासीन रहता है।

उच्च संस्कारी पुरुष उन व्यक्तियों के प्रति भी, जो उसके साथ विपरीत भाव रखते हैं, माध्यस्थ-भाव रखता है। वह वैपरीत्य को भी अन्यथा नहीं लेता। वहाँ भी तटस्थ– असंपृक्त या असंलग्न रहता है।

इन चार भावनाओं में एक ऐसे व्यक्तित्व का दर्शन होता है, जो वास्तव में सद्धर्म परायण है। णमोक्कार मंत्र के साथ इन चार भावनाओं का सूक्ष्मता के साथ परिशीलन किया जाए तो इन चारों में णमोक्कार की सम्यक् अवधारणा परिलक्षित होती है।

मैत्री-भावना का पहला प्रभाव यह होता है कि वह अशुभ से बचाती है। मैत्री के विपरीत द्वेष-भावना, शत्रुत्व-भावना– इत्यादि अशुभ-कर्म-बंध में हेतु है।

उपाध्याय विनयविजयजी ने शान्तसुधारस में मैत्री-भावना का विवेचन करते हुए लिखा है:–

सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयात्मन् ! चिन्तयो जगत्यत्र न कोऽपि शत्रुः।
कियद्दिनस्थायिनि जीवितेऽस्मिन् किं खिद्यसे वैरिधिया परस्मिन्।।

हे आत्मन् ! तू सर्वत्र मैत्री की उपकल्पना कर, अनुप्रेक्षा कर। इस जगत् में मेरा कोई शत्रु नहीं है, ऐसा अनुचिंतन कर। यह जीवन कितने दिनों तक स्थायी रहने वाला है ? इसमें दूसरे के प्रति शत्रु-बुद्धि रखकर तूं क्यों खिन्न हो रहा है ?"[१]

"स्वसुख प्राप्ति तथा स्वदुःखनिवृत्ति– इन दोनों से संबद्ध तीव्र संक्लेश मिटाने का एक ही अनन्य उपाय है, 'मैं सूखी बनूं', इस इच्छा के स्थान पर मानव, 'सभी सुखी बने'– इस भावना का सेवन करे। यह मैत्री-भावना है।"[२]

---

१. शान्त सुधारस, गीति- १३, मैत्री-भावना, श्लोक-५, पृष्ठ : ७४, ७५.
२. तत्त्वदोहन, पृष्ठ : १३१.

'मित्ति मे सव्व भूएसु' [1] का आदर्श व्यक्ति स्वीकार करता है, तब उसका समस्त प्राणियों के साथ वैरभाव अपगत या नष्ट हो जाता है। वह सबको मित्र या सुहृद की दृष्टि से देखता है।

"मैत्री-भावना के विकास से दु:खजनक हिंसादि पापों से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। मैत्री-भावना से भरे हुए परमेष्ठियों की शरण लेने से जीव में विद्यमान मुक्ति-गमन की योग्यता का विकास होता है तथा कर्म से संबद्ध कराती जीव की अयोग्यता (विपरीत-वृत्ति) का ह्रास होता है।"[2]

प्रबुद्ध लेखक एवं कवि श्री गणेशमुनि शास्त्री ने मैत्री-भावना के संबंध में लिखा है :—

उत्तम मैत्री भावना, तेरहवीं सुखकार।
शत्रु नहीं कोई यहाँ, मित्र सकल संसार।।

मैत्री से होता स्वत:, मैत्री का विस्तार।
बीज बिना क्या विटपि ने, लिया कभी आकार।।

अथर्ववेद में उल्लेख हुआ है —

योऽअस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं बोजम्भेदध्म: ।

जो कोई हमारे साथ द्वेष करता है तथा जिस किसी से हम द्वेष करते हैं, भगवन् ! उस द्वेष को आप नष्ट कर दें, जिससे न तो कोई हम से द्वेष करें तथा न हम किसी से द्वेष करें।[3]

"मैत्री-भावना विहित साधक, स्वयं अपने को कष्ट में डाल सकता है किन्तु दूसरों को कष्ट नहीं देता। उसकी दृष्टि में पर-शत्रु जैसा कोई रहता ही नहीं। शत्रु का भाव ही अनिष्ट करता है।"[4]

पातञ्जल-योग-प्रदीप में मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा— इन चारें भावनाओं का योग के संदर्भ में विस्तार से वर्णन किया गया है।"[5]

"मैत्री, अहिंसा का विधेयात्मक स्वरूप है। मैत्री सुखप्रद है और द्वेष दुखप्रद। मनुष्यों के परस्पर व्यवहार में मैत्री का अभाव होता है तो दुनिया में दु:ख बढ़ जाता है"।[6]

यजुर्वेद में कहा गया है— सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और मैं सभी प्राणियों को मित्र के रूप में देखूं।[7]

---

१. त्रैलोक्य दीपक मंत्राधिराज, पृष्ठ : ४८९.
२. आत्म उत्थाननो पायो, पृष्ठ : ९५.
३. सरल भावना बोध, पृष्ठ : १३७.
४. अहिंसा : विचार और व्यवहार, पृष्ठ : २७६.
५. पातंजलयोग-प्रदीप, पृष्ठ : २३६.
६. श्रावक-धर्म, पृष्ठ : ९.
७. यजुर्वेद, ३६, १८, पृष्ठ : ३०.

जीवन में मित्र भाव की व्याप्ति, विश्ववात्सल्य एवं उदात्त व्यक्तित्व को जन्म देती है। ऐसे व्यक्ति के मन में सब के प्रति मित्रता, वत्सलता और सात्विक स्नेह का भाव उत्पन्न हो जाता है।

निम्नांकित श्लोक का पवित्र आशय उसके रग-रग में सन्निविष्ट रहता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तुनिरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत।।

संसार के सब प्राणी सुखी बनें। सब प्राणी निरामय– नीरोग या व्याधि मुक्त रहे। सब का कल्याण हो, कोई दुःखी न बनें।

वास्तव में मैत्रीभाव जीवन में सात्विकता, सहृदयता सज्जनता और सौम्यता का संचार करता है। णमोक्कार मंत्र की आराधना में संप्रविष्ट होते ही साधक अशुभ से छूटता है।

णमोक्कार का पाँचवां पद साधु इस भाव का द्योतक है। साधु जीवन का प्रारंभ समस्त सावद्य योगों के प्रत्याख्यान से होता है। वह सब प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करता है। शुभ में संप्रविष्ट होता है। शुद्धि की ओर प्रयाण करता है।

'गुणीषुप्रमोदम्'– इस पद का बहुत ही उत्तम भाव है। मैत्री-भावना की आराधना से शत्रु-भाव की निवृत्ति होती है किंतु उत्तमजनों, ज्ञानी पुरुषों एवं त्यागी संतों को देखकर प्रमुदित– आनंदित होना एक साधक के जीवन की उत्कृष्टता है क्योंकि शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि जो व्यक्ति गुणी-जनों के ज्ञान, चारित्र आदि गुणों का संस्तवन, प्रशंसा करता है तो उसके ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण होते हैं।

प्रमोद-भावना की णमोक्कार मंत्र के पाँचवें, चौथे, और तीसरे पद के साथ संगति है। साधु, उपाध्याय और आचार्य स्वयं गुणी होते हैं, गुणग्राही होते हैं तथा गुणी जनों को आदर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि सद्गुणों में ही जीवन की उच्चता और महत्ता है।

'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्'– में अनुकंपा, दया, और करुणा का पवित्र भाव है। दया धर्म का मुख्य अंग है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र में कहा गया है –

सव्वजगजीव रक्खण दयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं।

संसार के समस्त जीवों की रक्षण रूप दया के लिये भगवान् ने प्रवचन किया, उपदेश प्रदान किया।[1] फिर आगे कहा कि यह प्रवचन आत्मा के लिये हितप्रद है। परलोक के लिये कल्याणकारी है। अर्थात् आगामी जन्मों में भद्र, शुद्ध फल के रूप में परिणत हाने से भविष्य के लिये कल्याणकारी है।

१. प्रश्न व्याकरण सूत्र श्रुतस्कंध २, अध्ययन १, सूत्र ११२.

भगवान् का यह प्रवचन शुद्ध और निर्दोष है। दोषों से मुक्त करने वाला एवं न्याय संगत है। किसी के भी प्रति अन्यायपूर्ण नहीं है। अकुटिल है। मुक्ति प्राप्ति का सीधा मार्ग है। यह अनुत्तर सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखों एवं पापों को उपशांत करने वाला है।

संत तुलसीदासजी ने भी कहा है –

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण।।

यह दोहा उत्तर भारत के जन-जन में प्रचलित है। इससे दया की सर्वव्यापकता सिद्ध होती है।

णमोक्कार महामंत्र में सिद्ध पद के अतिरिक्त चारों पदों में कारुण्य का भाव सर्वथा ओतप्रोत है। अरिहंत भगवान् प्राणी मात्र को आवागमन या जन्म-मरण से छुड़ाने हेतु कृपाकर धर्म-मार्ग का उपदेश देते हैं। यह उनकी महती दया है। उसी के कारण भव्य और मुमुक्षुजन ज्ञान, दर्शन, चारित्र के पथ को अपनाते हैं। जीवन को सफल बनाते हैं। आचार्य भगवंत भी बड़े करुणाशील हैं। वे तीर्थंकर देव के प्रतिनिधि के रूप में होते हैं। तीर्थंकर भगवान् की सर्व-कल्याणकारिणी वाणी का वे प्रचार-प्रसार करते हैं। लोगों को पापपूर्ण पथ से हटाकर धर्म के पथ पर आरूढ़ करते हैं। नरक, तिर्यंच आदि अत्यधिक कष्टपूर्ण योनियों से बचाते हैं क्योंकि जो सम्यक्त्वपूर्ण धर्म का रास्ता अपना लेता है, वह इन दुर्गतियों में नहीं जाता।

उपाध्याय साधु-वृंद को विद्या देते हैं। साधु-वृंद विद्या का आत्म-कल्याण में और लोक-कल्याण में उपयोग करते हैं। यह उनकी बहुत बड़ी करुणा है क्योंकि सन्मार्ग को अपनाए बिना कोई सुखी नहीं होता तथा अपनी मंजिल तक पहुँच नहीं सकता।

माध्यस्थ-भावना वैसे तो णमोक्कार मंत्र के पांचों पदों में व्याप्त है क्योंकि साधु, उपाध्याय, आचार्य, सिद्ध, अरिहंत ये सभी माध्यस्थ-भाव में ही रहते हैं क्योंकि इनका किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रहता। कोई विपरीत व्यवहार करते हैं तो भी उनकी कोई विरोधात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती। वे धीर, गंभीर बने रहते हैं किन्तु माध्यस्थ का परमोत्कृष्ट रूप हम सिद्ध भगवान् में पाते हैं। उनके लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं होता। वे तो सदा अपने परमशुद्धस्वरूप में समवस्थित होते हैं। जब पूर्णत्व प्राप्त हो जाता है, तब आत्मा की यही स्थिति होती है।

मैत्री आदि चारों भावनाओं के संदर्भ में किये गए णमोक्कार के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि यह महामंत्र विश्वकल्याण, विश्ववात्सल्य और विश्वमैत्री का एक अमोघ साधन है।

णमोक्कार : सकाम निर्जरा का पथ

निर्जरा की निष्पति दो प्रकार से होती है अर्थात् आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट कर्म-पुद्गल दो प्रकार से झड़ते रहते हैं। बिना संकल्प-व्रत या प्रत्याख्यान के घोर आतापना आदि कष्ट सहने से जो कर्मों का निर्जरण होता है, उसे अकाम निर्जरा कहा जाता है। उसको अकाम इसलिये कहा जाता है कि वैसा करने वाले प्राणी की मोक्ष में अभिलाषा नहीं होती। वह निर्जरा मोक्षनुगामिनी नहीं होती।

जहाँ मोक्ष की अभिलाषा, संकल्प या विरति-भावपूर्वक तपश्चरण आदि किया जाता है, उसे सकाम निर्जरा कहते हैं। वह मोक्षानुगामिनी होती है। उससे विशेष रूप में कर्मक्षय होता है।[१]

सकाम निर्जरा के लिये निराग्रह-वृत्ति, मार्गानुसारी-बुद्धि, करुणाशीलता, जितेंद्रियता, न्याय-परायणता आदि गुणों का विकास आवश्यक है। ऐसा होने पर जीव अपूर्वकरण द्वारा ग्रंथी-भेद कर सम्यक्-दर्शन प्राप्त करता है। तब वह भावपूर्वक परमेष्ठी नमस्कार या णमोक्कार स्मरण का अधिकारी बनता है। णमोक्कार की आराधना से उसका अन्तर्भाव उत्तरोत्तर उज्ज्वलता प्राप्त करता जाता है। वह विरतिपूर्वक स्वाध्याय, तपश्चरण आदि में अग्रसर होता जाता है। यह सकाम निर्जरापथ है। णमोक्कार द्वारा वह प्रशस्त बनता जाता है।

ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र का मूल्यांकन

यह जगत् अनेक ग्रह, नक्षत्र, ज्योतिपिंड, भूखंड, पर्वत, और समुद्र आदि से परिव्याप्त है। सूर्य, चंद्र आदि विभिन्न ग्रहों-नक्षत्रों का अपना-अपना गतिक्रम हैं, जिनसे वे संचालित रहते हैं। मनुष्य क्षेत्र कर्मभूमि है। वहाँ निवास करने वाला मानव अपने-अपने क्रिया-कलापों में संलग्न है।

जैन-दर्शन के अनुसार सांसारिक जीव अनादि काल से कर्मबद्ध हैं। उनमें जो भव्यत्व-युक्त हैं, वे सुसंस्कार और सुसंयोगवश धार्मिक जीवन में रुचि लेते हैं। अभव्य-जीव मोक्ष-मार्ग में उद्यत नहीं होते। इस प्रकार यह जगत् अनेक विचित्रताओं से परिपूर्ण है।

मनुष्यों के जीवन में जो घटित होता है, उसका मुख्य आधार कर्मों का औदयिक-भाव है। पुनश्च मानव अपने गंतव्य-पथ पर उद्यत रहता है, कर्मशील रहता है। मानव इतर जागतिक पदार्थों के साथ विविध रूप में संपृक्त है। पुद्गल-परमाणुओं के विशेष स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव आदि द्वारा उसका ग्रहात्मक जगत् से भी संबंध निष्पादित होता है। मानव-जीवन के साथ जो उसका अतीत, वर्तमान

---

१. (क) जैनेंद्र सिद्धांतकोष, भाग - २, पृष्ठ : ६२२.
(ख) तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र-८, सोपज्ञभाष्य, भाग-२, अध्याय-८, वृत्ति-सूत्र-२४, पृष्ठ : ९७३, ९७४.

और भविष्य जुड़ा हुआ है, वह यद्यपि सामान्य ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता किंतु ज्योतिष-शास्त्र एक ऐसी विद्या प्रस्तुत करता हैं, जिसके माध्यम से यदि सही गणना हो, तो तीनों कालों के संबंध में एक सीमा तक यथेष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसे निमित्तशास्त्र भी कहा जाता है।

गणित और फलित रूप में ज्योतिष के दो भेद हैं। गणित-ज्योतिष का ग्रह, नक्षत्र आदि की गति, स्थिति, परिणति इत्यादि के साथ संबंध है। फलित-ज्योतिष द्वारा अतीत, वर्तमान एवं भविष्य-विषयक फलादेश प्रगट किया जाता है।

जैन वाङ्मय में चतुर्दश पूर्वों में ज्योतिष-शास्त्र विषयक गहन विवेचन हुआ है। वह साहित्य आज हमें प्राप्त नही है। आचार्य भद्रबाहु ज्योतिष-शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। उन द्वारा रचित साहित्य आज प्रामाणिक रुप में प्राप्त नहीं है।

ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र पर विचार करें। ज्योतिष विद्या द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर ज्योतिषी, जो घोषित करते हैं, णमोक्कार मंत्र के प्रथम पद में अवस्थित अरिहंत भगवान् द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान विषयक अभिव्यक्ति उससे अनन्तगुण महत्त्वपूर्ण है। ज्योतिषी तो केवल थोड़े से अतीत और भविष्य की बात कहते हैं, अरिहंत अपने सर्वज्ञत्व के बल पर अनेक जन्म-जन्मांतरों का इतिवृत्त, इतिहास बतलाने में सक्षम होते हैं। उनके उस दिव्य-ज्ञान की तुलना में ज्योतिषी का ज्ञान नगण्य है।

दूसरी बात यह है कि ज्योतिषी द्वारा ज्ञात तथ्य अन्यथा भी सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि वहाँ ग्रह, राशि, मुहूर्त्त, योग आदि की गणना मे त्रुटि भी हो सकती है। त्रुटि होने से फलादेश भी त्रुटि-पूर्ण हो सकता है। सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी, तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित त्रिकालविषयक तथ्य कभी अन्यथा नहीं होते क्योंकि उनके ज्ञान को आवृत करने वाले कर्मो का सर्वथा क्षय हो चुका है।

द्वितीय सिद्ध पद है, जो साधक के जीवन का अंतिम साध्य है। वह परमानन्दमय है, देहातीत है, योग विवर्जित हैं। इसलिए उन द्वारा कुछ कहे जाने, घोषित किये जाने का प्रसंग ही नहीं बनता।

उत्तरवर्ती तीन पद साधु जीवन से संबद्ध हैं, जो महाव्रतानुगत साधना मे संलग्न रहते हैं। साधक जब परमात्मा के ध्यान में तन्मय होते हैं, मन के निम्न स्तर को छोड़कर उच्च स्तर मे प्रविष्ट हो जाते हैं, तब उसके समक्ष भूतकाल और भविष्य काल का ज्ञान स्वतः प्रकटित हो जाता है। मनोविज्ञान की भाषा मैं इसे **beyond human mind** में प्रवेश कहा जाता है। मानव-मन (**Human mind**) तब दिव्य-मन (**Divine mind**) के रूप में परिणत हो जाता है। दिव्य मन जब एषणाओं से सर्वथा असंपृक्त हो जाता है, तब उसकी गति आध्यात्म के अंतर्जगत् में होती है। वह परमात्मभावानुप्राणित परिणामों की धारा में प्रवहनशील हो जाता है, जिसकी चरम परिणति सिद्धत्व में परिघटित होती है।

णमोक्कार मंत्र लौकिक-ज्योतिष से विलक्षण एक ऐसे आध्यात्म-ज्योतिष का प्रतीक है, जहाँ जीव अतीत, वर्तमान और भविष्य की समग्र विसंगतियों से विमुक्त हो जाता है। जब त्रैकालिक दर्शन, ज्ञान संप्राप्त रहता है। तब लौकिक-ज्योतिष की परिधि बहुत पीछे रह जाती है।

गणितशास्त्र के अनुसार णमोक्कार की महत्ता, परिपूर्णता

धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, व्यवसाय, उद्योग आदि सभी के व्यवस्थित, नियमित विकास और प्रसार में गणितशास्त्र की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

जैन आगम में यह विषय गणितानुयोग के नाम से समाविष्ट है, जिसमें काल-गणना, नक्षत्र-गति-गणना, पुद्गल-परमाणु के भेद-प्रभेद इत्यादि सभी का गणना क्रम, संख्यात, असंख्यात एवं अनंत के रूप में व्याख्यात हुआ है। पल्योपम, सागरोपम आदि उसके अंतर्गत आते हैं। यह अध्ययन का एक स्वतंत्र विषय है।

आज का विज्ञान तो मुख्यत: गाणितेय तत्त्वों पर टिका हुआ है। गणितशास्त्र की दृष्टि से यदि णमोक्कार मंत्र पर चिंतन किया जाय तो उसकी महत्ता और पूर्णता सिद्ध होती है। गणितशास्त्र मुख्यत: गणन और विभाजन के सिद्धांत (Law of Multiplication and Law of Division) पर आधरित है। इनके अतिरिक्त गणित में जोड़ और बाकी दो पक्ष और हैं।

'णमो अरहिंताण' के स्मरण मात्र से गणितशास्त्र के चारों सिद्धांत उत्कृष्ट प्रकार से घटित होते हैं। पुण्य का जोड़, पाप की बाकी, कर्म का भागाकार और धर्म का गुणाकार एक 'णमो अरिहंताणं' के स्मरण से हो जाता है।

जैन शास्त्रानुसार एक जीव पाँच सौ सागरोपम तक नरक गति में रहकर जितने पाप-कर्म-क्षय करता है, उतने पाप एक णमोक्कार के स्मरण से खपते हैं, नष्ट होते हैं।

णमो अरिहंताणं के स्मरण मात्र से धर्म का गुणाकार और कर्म का भागाकार अनुभव किया जाता है। णमो अरिहंताणं कहते ही भूतकाल, वर्तमान काल, भविष्यकाल में जगत् के परम उद्धारक सभी तीर्थंकरों को नमस्कार हो जाता है और धर्म का गुणाकार और कर्म का भागाकर हो जाता है। सभी संपत्तियों का सर्जन और विपत्तियों का विसर्जन हो जाता है।

णमो पद से सर्व दुष्कृत की गर्हा (Rejection of Wrongness) होती है और अरिहंताणं पद से महान् सुकृत की अनुमोदना (Appreciation of Righteousness) होती है, दृष्कृत की गर्हा और सुकृत की अनुमोदना की नींव पर शरण गमन (Surrender to Supremacy) होते ही आत्मस्वरूप का अनुभव होने लगता है। णमोक्कर मंत्र सर्व सिद्धियों का केंद्र और नवनिधान स्वरूप है।

इस प्रकार णमोक्कार मंत्र **Mathematically Mature** है क्योंकि उससे पाप का विनाश और पुण्य का प्रकर्ष **(Elimination of evils and Sublimation of good towards supremacy)** होता है।[1]

यहाँ गणित की गुणाकार शैली सिद्ध होती हैं। दो संख्याओं का आपस में गुणन या गुणाकार करने से गुणनफल उतना ही गुणा अधिक हो जाता है।

उदाहरणार्थ सात के साथ यदि सात का गुणाकार किया जाए तो गुणन फल उनपचास होता है। उसी प्रकार तीर्थंकरों के अनंत गुणों का, पावन-कृत्यों का स्मरण करने से, उनका अनुमोदन करने से, उनके उन अनंत गुणों से अनंत गुणा पुण्यात्मक फल प्राप्त होता है।

तीर्थंकरों के, सुकृतों या गुणों के अनुमोदन से कर्मों का विभाजन या भागाकार सिद्ध होता है। जहाँ एक संख्या को दूसरी संख्या द्वारा विभाजित किया जाता है या भागाकार किया जाता है तब जो भाग फल आता है, वह विभाजन संख्या के अनुरूप उतना ही कम आता है।

उदारणार्थ सौ को बीस से विभाजित किया जाए या जिसका भाग दिया जाय तो भाग फल पाँच होगा। यह विभाजन संख्या के अनुसार सौ की संख्या को पाँच की संख्या में परिणत कर देने का प्रकार है।

उसी प्रकार तीर्थंकरों की, सुकृतों की अनुमोदना द्वारा कर्मों का विभाजन या भागाकार सिद्ध हो जाता है। कर्म उसी प्रकार कटकर, निर्जीर्ण होकर कम हो जाते हैं, जिस प्रकार सौ की संख्या पाँच हो जाती है।

सुकृत-अनुमोदना का यह क्रम ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर गतिशील रहता है, त्यों-त्यों अनुमोदन करनेवाले के सुकृतों में और सुकृत जुड़ते जाते हैं। इससे गणित की योग या जोड़ की पद्धति सिद्ध होती है।

जैसे यदि सौ में ओर सौ जुड़ जाएं तो दोनों मिलकर दो सौ बन जाते हैं, उसी प्रकार अनुमोदन-कर्ता के पुण्यों में और पुण्य जुड़ते जाते हैं, संपत्तियाँ अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं।

सुकृत-सावन, अनुमोदना द्वारा कर्मों का विभाजन होने से या भागाकार द्वारा प्राप्त भागफल के रूप में जो कमी होती है, वह और भी कम हो जाती है, जब वह अनुमोदन आगे गतिशील रहता है। यहाँ गणित का शेष निकालने का या बाकी का सिद्धांत फलित होता है। अर्थात् संचित कर्म, जो निर्जरण द्वारा कम हुए थे, पुनः अनुमोदनाजनित निर्जरण द्वारा और कम हो जाते हैं।

जैसे सौ की संख्या में से तीस को कम करे तो सत्तर की संख्या बाकी रहती है, जिसे गणित में

१. जीवन की सर्वश्रेष्ठ कला श्री नवकार, पृष्ठ : १३ - १५.

शेषफल कहा जाता है। पुन: उस सत्तर की संख्या में से तीस की बाकी करें तो चालीस की संख्या रह जाती है। पहले के शेषफल का यह दूसरा शेषफल है। यही क्रम कर्मों के करने या क्षीण होने में चलता रहता है। इस प्रकार गणित के चारों अंग गुणाकार, भागाकार, जोड़ या बाकी सिद्ध हो जाते हैं।

तीर्थंकर तो उदाहरण-स्वरूप हैं। सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधुओं के गुण, सुकृत, आध्यात्मिक स्वरूप आदि का संस्तवन, स्मरण, समर्थन, अनुमोदन करने से भी उत्तरोत्तर सुकृत-वृद्धि होती है तथा दुष्कृत का नाश होता है।

समीक्षा :

आगमों में तथा शास्त्रों में गणितीय संख्या क्रम में अंतिम संख्या अनंत है। अनंत वह है, जिसका अंत नहीं होता।

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि अनंत के साथ गुणाकार, भागाकार, जोड़ और बाकी– इन गणित विषयक प्रक्रियाओं की संगति कैसे हो सकती है ? गुणाकार, भागाकार आदि तो वहीं सिद्ध होते है, जहाँ कोई सुनिश्चित (Definite) संख्या विद्यमान हो। अनंत तो कोई संख्या नहीं है।

विद्वानों ने इस प्रश्न पर बड़ी गहराई से चिंतन किया। अनंत एक ऐसी स्थिति है, जहाँ तक पहुँच जाने के बाद संख्या का कोई अंत नहीं होता। ऐसी अनंतमूलक अनेक कोटियाँ हो सकती हैं। जैसे एक अनंत बार-बार आवर्तित होता है, तब वह भिन्न कोटियों में चला जाता है। यद्यपि अनंतत्त्व तो उन सभी के साथ जुड़ा रहता है किंतु उनमें अपनी-अपनी कोटियों के अनुरूप तरतमता बनी रहती है।

संख्यात-अनन्त, असंख्यात-अनंत तथा अनंतानंत आदि कोटियों के विविध रूप होते हैं। जो अनंत संख्यात की सीमा तक जाता है, वह संख्यात-अनंत, जो अनंत, असंख्यात सीमा तक जाता है, वह असंख्यात-अनंत तथा जो अनंत, अनंत तक जाता है, वह अनंतानंत कहलाता है।

इस प्रकार अनंत की कोटियाँ होती हैं। इसलिये अनंत के साथ गुणा, भाग, जोड़, बाकी चारों सिद्ध हो जाते हैं। अनंत से अनंत के नि:सृत होने पर अनंत ही रहता है और फल भी अनंत ही होता है।

यह गणित की पद्धति विलक्षण तथा वैज्ञानिक है। णमोक्कार मंत्र इस पर सर्वथा सर्वांशत: घटित होता है।

प्राणी अनंतानंत काल से इस भव-सागर में भ्रमण करता रहता है। अनन्त पुद्गल-परावर्तों में गुजरता हुआ कोई भव्य प्राणी जब अंतिम पुद्गल-परावर्त में होता है तब यथाप्रवृत्तकरण द्वारा मिथ्यात्व-ग्रंथी को उच्छिन्न करने की स्थिति में आता है।

पुनश्च, अपूर्वकरण के योग से वह उस ग्रंथी को उच्छिन्न करने में उद्यत होता है। वह जीव अनंत पुद्गल-परावर्त करता हुआ इस स्थिति तक पहुँचता है। अर्थात् घटते-घटते वे पुद्गल-परावर्त अंतिम एक पुद्गल-परावर्त तक आ जाते हैं। अनंत का एक के रूप में यह न्यूनीकरण है, जिसके बाद वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर व्रतमय साधना-पथ पर आगे बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी स्वर्णिम बेला आती है कि राग और द्वेष के बंधन टूट जाते हैं। जीव वीतराग भाव अपना लेता है। काम-क्रोध, मोह-माया आदि समस्त अरिवृंद– शत्रु-समूह नष्ट हो जाते हैं और वीतराग-भाव स्वायत्त हो जाता है तथा साधक अरिहंत पद का अधिकारी हो जाता हैं।

यह उच्च, तीव्र साधना अमोघ होती है। कभी निष्फल नहीं जाती। त्रयोदश गुणस्थानवर्ती जीव चतुर्दश गुणस्थान में पहुँचकर सिद्धत्व का सर्वातिशायी, गौरवास्पद पद पा लेता है।

णमोक्कार मंत्र की एक बहुत बड़ी विशेषता है कि वह गणना पर आश्रित गणित को भी निष्फल बना देती है। गणित का यह नियम है कि २ + २ = चार होता है। वह आठ तभी होगा, जब ४ + ४ की स्थिति आएगी। अर्थात् संख्यात्मक विकास संख्याओं के आधार पर टिका हुआ है। एक सीधा सौ नहीं बन सकता। बीच के अंकों को पार करके ही सौ की संख्या तक पहुँचना संभव है।

णमोक्कार की साधना इससे विलक्षण और अद्भुत है। वहाँ कर्मों के कटने का या निर्जीर्ण होने का क्रम गणितीय गति से आगे नहीं बढ़ता। अर्थात् एक दिवसीय आराधना से अमुक परिमाण में कर्म कटते हैं, तो आगे उसी परिमाण में कर्म कटते जायेंगे। इस प्रकार कटते-कटते जब वे सर्वथा क्षीण होंगे, तब उनसे मुक्ति मिलेगी।

साधना में एक अन्य पद्धति काम करती है। आत्मा के परिणामों में जितनी शुद्धिमय उज्ज्वलता होगी, उतनी ही तीव्रता से कर्मों का क्षय होता जाएगा। यदि आत्म-परिणामों की विशुद्धता का प्रकर्ष उच्चातिउच्च होगा तो अनेक जन्मों में कटने वाले कर्म क्षण भर में कट जायेंगे। जीव अपने साध्य के सन्निकट पहुँचेगा और वह उज्ज्वल परिणामों की धारा उसे, उसका लक्ष्य प्राप्त करा देगी।

गणित की गणनात्मक पद्धति द्वारा जिस सिद्धत्व को साधने में न जाने कितना काल लगता, कितने भवों में से गुजरना पड़ता, वह सब क्षण-साध्य हो जाता है। लौकिक-गणित की तो एक सीमा है, क्योंकि उसका आधार लौकिक गणना है किंतु आध्यात्मिक-गणित बहुत रहस्यपूर्ण और विलक्षण है। उसकी गूढ़ता को आत्म-द्रष्टा महापुरुष ही समझने में समर्थ होते हैं।

णमोक्कार मंत्र विज्ञान सम्मत गणित पर तो शत-प्रतिशत सार्थक सिद्ध होता ही है किंतु उसके

साथ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वह आध्यात्मिक-गणित भी जुड़ा हुआ है, जो आत्मा को परमात्मा से जोड़ देता है। इस प्रकार यह महामंत्र गणितानुसारी भी है और गणितातिशायी भी है। यह अद्वितीय है।

राजनैतिक दृष्टि से णमोक्कार मंत्र की सर्वोत्कृष्टता

व्यक्तियों का सापेक्ष समुदाय समाज होता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान और महत्त्व होता है। समाज के संचालन में उसका सहयोग वांछित है। समाज को अनेक पुर्जों से बनी हुई घड़ी की उपमा दी जा सकती है। यदि घड़ी का एक पुर्जा भी विकृत हो जाए, शेष भलीभाँति कार्य करने में समर्थ हों, तो भी घड़ी नहीं चलती, बंद हो जाती है। इसी प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अस्मिता है।

अनेक समाज, जातियाँ और वर्ग मिलकर एक राष्ट्र का रूप लेते हैं। जब संख्या में बहुतलता हो जाती है तब राष्ट्र की व्यवस्था के नियमन के लिये एक नियामक या शासक की आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में राजा इसका पूरक था।

बदलते हुए युग के साथ शासन-तंत्र में, राजनीति में भी बड़े परिवर्तन हुए। वंशानुगत राज-परंपरा लगभग समाप्त हो गई। कहीं-कहीं उसका जो रूप दृष्टिगोचर होता है, वह ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक है।समस्त विश्व में प्रजातंत्र या लोकतंत्र परिव्याप्त है। उसके रूप, विधान आदि में यत्किंचित् भेद है किंतु आज सत्ता का सीधा संबंध जन-जन के साथ जुड़ा हुआ है। इसे राजनीति (Politics) कहा जाता है।

जिस प्रकार अर्थनीति का आज महत्त्व है, उसी प्रकार राजनीति का भी कम महत्त्व नहीं है। दलगत राजनीति, राष्ट्रपति प्रणाली, संसदीय लोकतंत्र, साम्यवाद, समाजवाद आदि उसके अनेक रूप हैं। इनसे संबद्ध राजनैतिक दल (Politics Parties) कार्यशील हैं। जनमत के आधार पर शासन-सत्ता का निर्णय होता है।

आज साधारण से साधारण मनुष्य के मन पर राजनीति व्याप्त है। चाहे वह गहराई से उसे न समझता हो परंतु दल-विशेष के साथ जुड़कर वह अपनी अस्मिता स्थापित करता है। आज के लोक-मानस में णमोक्कार मंत्र का महत्त्व प्रतिष्ठित करने हेतु यह उचित होगा कि राजनैतिक संदर्भ में भी इस पर चिंतन किया जाए।

लौकिक-साम्राज्य की तरह धर्म का भी अपना साम्राज्य है। लौकिक-साम्राज्य जहाँ पारस्परिक भीतिवश बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखता है, घातक शस्त्रों का संग्रह करता है, धर्म-साम्राज्य अपनी रक्षा के लिये संयम, संतोष त्याग, वैराग्य, क्षमा, निर्वेद, संवेग, समत्व आदि आत्म-गुणों की विशाल सेना से

सुसज्जित है। जिसमें राग, द्वेष और मोह का भाव नहीं रहता, उसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता। धर्म-साम्राज्य अपराजेय है।

इसके अधिष्ठाता, अधिनायक, सम्राट् या अध्यक्ष जो भी कहे जाएं, श्री अरिहंत तीर्थंकर देव हैं। तभी तो उन्हें "धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टी" कहा गया है। अर्थात् चारों दिशाओं में व्याप्त उत्तम संयम-मूलक धर्म-साम्राज्य के वे चक्रवर्ती सम्राट् हैं। उनका धर्मचक्र चारों दिशाओं में व्याप्त है। वे णमोक्कार-मंत्र के प्रथम अधिष्ठित हैं।

विभिन्न राष्ट्रों में निर्वाचन होते हैं। जो दल विजयी होता है, उसकी ओर से राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री मनोनीत होते हैं। कुछ ही समय बाद ज्यों ही स्थितियाँ नए मोड़ लेती हैं, शासक बदल जाते हैं, उनका स्थान नए शासक ले लेते हैं। ये शासक तो सराग होते हैं। जहाँ रागात्मकता है, वहाँ लोभ, मोह तथा पक्षपात आदि होते हैं। फलत: राष्ट्र में भ्रष्टाचार व्याप्त होता है। जन समुदाय उद्विग्न और रुष्ट हो जाता है। शासनतंत्र पर अधिकार जमाए हुए लोग स्थान-च्युत हो जाते हैं। वापस सड़क पर आ जाते हैं। आज राजनीति की यही स्थिति है।

धर्म-साम्राज्य के नायक श्री तीर्थंकर देव अपने पद से च्युत नहीं होते क्योंकि वे वीतराग होते हैं। उनके धर्म-साम्राज्य में सदाचार, शिष्टाचार और पवित्राचार होता है क्योंकि किसी को न लोभ होता है, न ममत्व और न आसक्ति ही, तो फिर आचार में भ्रष्टता कैसे आ सकती है ?

लौकिक-शासनतंत्र में जो लोग उच्च पद पर चले जाते हैं, वे उसे छोड़ना नहीं चाहते हैं। उससे अवकाश नहीं चाहते। उन्हें पद से हटने को बाध्य किया जाता है। धर्म साम्राज्य के चक्रवर्ती अरिहंत देव जब अपना कार्य पूर्ण कर लेते हैं, चतुर्विध-धर्म-संघ को सुदृढ़ बना देते हैं, तब अवशिष्ट कर्म-क्षय-रूप अपने सब कार्य पूर्ण कर वे सदा के लिये अवकाश ले लेते हैं, अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं।

लौकिक-साम्राज्य, जनतंत्र, गणतंत्र आदि के अंतर्गत शासन-तंत्र में विभिन्न पदों पर जो आरूढ़ होते हैं, उनकी आज कैसी स्थिति हैं ? सब जानते हैं।उच्च अधिकारी प्रजा का धन येन-केन-प्रकारेण हड़प कर अपने घर भरते रहते हैं। आए दिन प्रगट होने वाली घटनाओं से यह विदित होता है किंतु धर्म-साम्राज्य के उच्च अधिकारी आचार्य, उपाध्याय हैं, जो प्राणीमात्र को सद्ज्ञान, सदाचार, विश्ववात्सल्य, मैत्री, प्रेम, समता आदि के पथ पर लाने का प्रयास करते हैं।

कितना बड़ा आश्चर्य है कि लौकिक सत्ता के पदों पर बैठे हुए अधिकारियों के घरों में अन्यायार्जित धन के ढ़ेर लगे हैं। ये धर्म-क्षेत्र के अधिकारी सर्वथा अकिंचन हैं, महान् त्यागी हैं। केवल जीवन

निर्वाहोपयोगी भोजन-पान आदि लेकर जीवन पर्यंत प्राणी मात्र के उत्थान में लगे रहते हैं। णमोक्कार मंत्र के तृतीय और चतुर्थ पद की यह गरिमा है।

णमोक्कार मंत्र का पाँचवा पद उन अहिंसक सेनानियों का है, जो पाँच महाव्रतों का कवच धारण किये हुए अपने धर्म नायक का संदेश जन-जन तक पहुँचाने हेतु आजीवन संलग्न रहते हैं। उनका अपना जीवन इतना पवित्र, निर्मल और तपःपूत होता है कि उनको देखते ही जन-जन में सात्त्विक भावना का उद्‌भव होता है। उनकी वाणी में तप का तेज, साधना का माधुर्य और सेवा की सौरभ होती है।

लौकिक-साम्राज्य के संचालक, कर्मचारी-वृंद के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट होगा कि दोनों में कितना बड़ा अंतर है। ये साधु-पद-वाच्य, कार्यकर्ता, जहाँ अत्यंत त्यागी, ज्ञानयोगी, और कर्मयोगी होते हैं, वहाँ जो राजसत्ता से जुड़े हुए हैं, वे त्याग, कर्तव्यनिष्ठा एवं सेवा में कितनी लगन रखते हैं, यह हम आज स्पष्ट देख रहे हैं।

आज की राजनीति के संदर्भ में किया गया यह णमोक्कार विषयक विवेचन विश्व के विभिन्न राजनैतिक दलों और समुदाय के लिये एक विचारणीय सामग्री उपस्थित करता है।

णमोक्कार मंत्र का यह संदेश है कि आज के जनसत्तात्मक संस्थान और शासन-तंत्र सह अस्तित्व (co-existance) सहिष्णुता के सिद्धांत को स्वीकार करें, जिससे विनाश की दिशा में अग्रसर होते विश्व को शांति प्राप्त हो सके।

राजसत्ता होती है, वहाँ हमेशा न्यायतंत्र होता है और वहाँ अपराधी को दण्ड देने का कानून न्याय-नीति-परायण लोगों की रक्षा करने का कार्य करता है।

'कर्म का नियम' तीर्थंकर परमात्मा के साम्राज्य का 'न्यायतंत्र' है। एक मनुष्य एक खून करता है तो उसे फाँसी की सजा होती है। हजार खून करने वाले को भी एक बार ही फाँसी की सजा होती है। परंतु कर्मसत्ता सबकी सूची रखती है। सभी को दंड देती है। मनुष्य ने खून किया परंतु पकड़ा नहीं गया तो वर्तमान न्यायतंत्र उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता परंतु तीर्थंकर परमात्मा के न्यायतंत्र में उसकी सूची होती है। मन में किये गये सूक्ष्म-विचारों की भी कर्मसत्ता सूची रखती है और उसके शुभ या अशुभ फल देती है।

दुनियाँ में सबसे बड़ा न्यायतंत्र जिनेश्वर भगवंत द्वारा निरूपित कर्म-सिद्धांत है, जिससे कोई नहीं बच सकता।

जिस प्रकार राजसत्ता के पास न्यायतंत्र होता है और दयातंत्र भी होता है। किसी अपराधी को फाँसी की सजा हुई हो और राष्ट्रपति को यदि वह दया की याचना करे तो राष्ट्रपति उसे माफी दे

सकता है। तीर्थंकर भगवंत के साम्राज्य में भी दया-तंत्र (law of mercy) सर्वोपरी है। चाहे जैसा पापी परमात्मा की शरण में आ जाता हैं तथा णमोक्कार मंत्र के स्मरण का सहारा लेकर धर्म-कार्य में संलग्न हो जाता हैं तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

'ऐसो पंच णमोक्कारो ,सव्वपावप्पणासणो'– पंच परमेष्ठी भगवंत को नमस्कार करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा की शरण में आने वाली आत्मा के सब पाप, दुःख, भय, शोक, चिंता समाप्त हो जाते हैं। कर्म-सत्ता के पंजे से छूटने के लिऐ धर्मसत्ता की शरण लेनी ही पड़ती है। पंचपरमेष्ठी धर्म का भंडार है। उनकी शरणागति ही कर्मसत्ता के पंजे में से छूटने का उपाय है।

णमोक्कार मंत्र के स्मरण से पाप का विनाश और पुण्य का उत्कर्ष होता है। णमोक्कार मंत्र की आराधना से सभी सुविधाओं का सर्जन होता है। दुःख-दुर्भाग्य का विच्छेद होता है। णमोक्कार मंत्र द्वारा परममंगलमय मोक्ष का 'मंगल-गीत' आत्मा में गुंजित होता है।

जगत् का सर्वोकृष्ट राजकीय दृष्टि बिंदु (political view point) का विज्ञान णमो अरिहंताणं में है। जिससे विश्व के सभी जीवों के साथ समत्वयोग (communion with cosmos) सध सकता हैं। जगत् के सभी जीवों के साथ विशुद्ध व्यवहार णमोक्कार के भाव में से प्रगट हैं।

'सवि जीव करुं शासन-रसी' की भावना रूप एक महाशक्ति (Supreme Intelligence) समग्र विश्व को संचालित कर रही है। श्री तीर्थंकर-भगवंत के शासन के अचिंत्य प्रभाव से विश्व में जघन्य– कम से कम सात दिन के बाद एक जीव सम्यक्त्व को, दस दिन के बाद एक जीव देशविरति को, पंद्रह दिन के बाद एक जीव सर्वविरति को प्राप्त करता है और छः महिने के बाद एक जीव मोक्ष में जाता है। समग्र विश्व का इस प्रकार मोक्ष की ओर प्रयाण तीर्थंकर भगवंतों के अचिंत्य प्रभाव से है।

णमोक्कार मंत्र वस्तुतः समस्त विश्व का सर्वोत्तम कल्याणकारी तत्त्व है। इसमें राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान (Supreme politics) है।[१]

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तानुसार णमोक्कार की सर्वाधिक महत्ता

विभिन्न तात्त्विक चिन्तनमूलक पक्षों को लेकर णमोक्कार मंत्र का समीक्षात्मक विश्लेषण पहले किया गया है। आधुनिक लोकजनीन सिद्धांतों की अपेक्षा से भी यहाँ कुछ विचार किया जा रहा है, जिससे इस महामंत्र की महनीयता का बोध प्राप्त किया जा सके।

सबसे पहले अर्थशास्त्र की दृष्टि से यहाँ चिंतन किया जा रहा है। अर्थशास्त्र का यह सिद्धांत है – '**Minimum effort and maximum result.**'

१. जीवन की सर्वश्रेष्ठ कला श्री नवकार, पृष्ठ : ८-१२.

अर्थात् मानव के उद्यम की यही सफलता है कि उसको कम से कम प्रयत्न या उद्यम करना पड़े और अधिक से अधिक फल प्राप्ति हो। उदाहरणार्थ– एक व्यक्ति दस हजार रुपये अर्जित करता है। दूसरा व्यक्ति एक लाख रुपये अर्जित करता है। केवल इतना ही ज्ञात हो तो कहा जाता है कि दूसरा व्यक्ति अधिक अर्जित करता है किंतु यदि यह स्पष्टीकरण किया जाए कि पहला व्यक्ति प्रतिदिन दस हजार कमाता है और दूसरा व्यक्ति हर वर्ष एक लाख कमाता है तो जो व्यक्ति अधिक उपार्जन करता हुआ प्रतीत होता था, वह सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कम उपार्जन करता है। जो पहले कम उपार्जन करने वाला लगता था, वास्तव में वह अधिक उपार्जन करने वाला प्रतीत होगा। इस प्रकार अर्थशास्त्र का समय-मर्यादा (Time Limitation) के साथ संबंध है।

एक दूसरा उदाहरण और भी है– एक व्यक्ति व्यापार में एक रुपया प्रतिशत मुनाफा कमाता है और दूसरा व्यक्ति सौ रुपया प्रतिशत मुनाफा कमाता है। इतना जानते ही तुरंत यह कहा जाता है कि पहले व्यक्ति की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति ज्यादा कमाता है।

इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया जाए– शत-प्रतिशत मुनाफा कमाने वाले व्यापारी ने दो रुपये किलो के भाव से दस किलो सब्जी खरीदी और उसे चार रुपये किलो के भाव से बेचा। इस प्रकार से, उसे शत-प्रतिशत लाभ हुआ।

पहले व्यक्ति ने दस लाख रुपये के हीरे खरीदे, जिनका वजन दस ग्राम से भी कम है। उसने एक प्रतिशत मुनाफे के साथ उन हीरों को बेचा। अब जरा सोचें– इन दोनों व्यापारियों में एक प्रतिशत कमाने वाले व्यापारी से अनेक गुणा मुनाफा थोड़े से समय में प्राप्त कर लेता है। कम से कम मेहनत में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना यह अर्थशास्त्र का मूलभूत सिद्धांत है।

णमोक्कार मंत्र की आराधना में अर्थशास्त्र के ये दोनों नियम साकार होते हैं। उसकी आराधना में सहज रूप में अल्प समय में विराट् एवं शाश्वत फल प्राप्त होता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से णमोक्कार मंत्र की आराधना की प्रक्रिया अनंतगुणा शाश्वत फल प्रदान करती है।

वर्तमान जगत् में सबसे अधिक धन कमाने वाले व्यक्ति की आमदनी प्रतिवर्ष बयालीस अरब है। यह मनुष्य यदि सौ वर्ष जीवित रहे तो उसकी आमदनी सौ गुना हो सकती है।

इसकी तुलना में णमोक्कार के फल पर जरा विचार करें। इस महामंत्र की आराधना करने वाला व्यक्ति एक श्वासोच्छ्वास जितने समय में (जो लगभग चार सैकेण्ड होता है) 'णमो अरिहंताणं' पद का शुद्ध भाव से स्मरण करता है तो वह दो लाख पैंतालीस हजार पल्योपम पर्यंत देवलोक का सुख भोग सके, इतना पुण्य उपार्जित कर लेता है।

परम उपकारी भगवान् महावीर द्वारा बताए गए इस महामंत्र का स्मरण सबसे अधिक लाभप्रद है। वर्तमान जगत् में अधिक से अधिक धन उपार्जित करने वाला मनुष्य अपने समग्र जीवन में जो

धनोपार्जन करता है, उसकी अपेक्षा असंख्य गुणा अधिक वैभव– लाभ नवकार मंत्र का आराधक केवल चार सैकेण्ड में प्राप्त कर लेता है।

लंदन के बाज़ार में इक्कीस केरेट का हीरा बेचने के लिये एक व्यापारी आया। वह हीरा एक करोड़ इकसठ लाख में बेचा। अतिरिक्त ऐसे एक हजार हीरे उस व्यापारी के पास है। इसके उपरांत उसके पास एक सौ साठ मंजिल का मकान है। इसके अलावा सोलह लाख रूपये की कार, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के पास ऐसी चार-चार कारें हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक कारें हैं। विश्व की बहुत बड़ी संपत्ति इस व्यक्ति के पास है। इस प्रकार वर्तमान जगत् का सबसे बड़ा वैभवशाली यह व्यक्ति सारा वैभव देकर भी एक ऐसी वस्तु है, जिसे खरीद नहीं सकता। वह है– णमोक्कार मंत्र की आराधना से महर्धिक देवत्व-प्राप्त देव के पैर के जूते का एक रत्न। क्योंकि वह रत्न उसकी सारी संपत्ति से कहीं अधिक मूल्यवान् है।

अर्थशास्त्र की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र का आराधक सबसे अधिक कमाई करने वाला है। स्वर्ग तो एक भौतिक सुखमूलक उपलब्धि है। सबसे बड़ी उपलब्धि तो अव्याबाध शाश्वत सुख है, जिसकी तुलना में मनुष्यलोक और देवलोक का वैभव और सुख जरा भी टिक नहीं सकता।

आज के नितांत अर्थ-प्रधान युग का यह प्रभाव है– सुख-शांति और आनंद आदि प्राप्त करने के लिए मनुष्य धन के पीछे दौड़ता है। परंतु कितनी ही संपत्ति बढ़े फिर भी सुख-शांति और आनंद प्राप्त नहीं होता।

जब मानव, हृदय में णमोक्कार मंत्र को धारण करता है तो तज्जन्य शाश्वत सुख-शांति और असीम आनंद जीवन में अनुभव कर सकता है। अत: अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से संसार में सबसे अधिक प्रभावशाली णमोक्कार महामंत्र ही है।

समीक्षा

सत्य को अनुभव करने के लिए और आत्मा से परमात्मा बनने के अनेक मार्ग है। विद्वज्जनों के लिए दार्शनिक और तात्त्विक दृष्टि से विवेचन किया जाता है क्योंकि वे तत्त्वज्ञानी होते हैं। वे किसी भी तथ्य को तात्त्विक सिद्धांतों की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करते हैं।

यही कारण है कि अतीत में हुए महान् आचार्यों, संतों और ज्ञानियों ने णमोक्कार मंत्र का दर्शनशास्त्र या तत्त्व-विद्या के आधार पर गहन विवेचन किया है। णमोक्कार मंत्र इतना सूक्ष्म और मार्मिक है कि आज भी उसका अध्ययन कर हम नए-नए तत्त्वों का अनुभव कर सकते हैं।

साधारण लोग तत्त्वज्ञानी नहीं होते। वे सामान्य जीवन जीते हैं। उनका कार्य लोकजनीनता के आधार पर चलता है। जैसा वे देखते और सुनते हैं, उसमें जो उन्हें प्रिय एवं प्रभावकारी प्रतीत होता

है, उसे वे अपनाते हैं। ऐसे सहृदय जिज्ञासु मानव-समुदाय को समझाने हेतु ग्रंथकारों ने णमोक्कार के संबंध में विशाल कथा-साहित्य की रचना की।

णमोक्कार मंत्र विलक्षण– चामत्कारिक है। जैन इतिहास में वर्णित कथानकों, घटना-क्रमों से यह प्रतीत होता है कि इस महामंत्र के प्रभाव से बड़े से बड़े संकट टल गए। वैसे कथानकों को पढ़कर सुधीजन मंत्र के आराधन की दिशा में प्रेरित होते हैं।

आज का जगत् अर्थ-प्रधान है। परिवार, समाज, व्यापार उद्योग, व्यवसाय, इन सबके मूल में वित्त या पूंजी है। उस केंद्र या धुरी पर जगत् के सारे कार्य संचालित होते हैं।

इन विविध क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोगों की दृष्टि मुख्य रूप में अर्थ पर जमी रहती है। इसलिए अर्थशास्त्र की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र पर विचार किया जाना अप्रासंगिक नहीं है। जैसा विवेचन किया गया है, अल्पतम समय में कम से कम श्रम द्वारा अधिकतम लाभ या मुनाफा जिससे हो, उस कार्य को अर्थशास्त्र सर्वाधिक महत्त्व देता है।

सांपत्तिक या वैभवमूलक दृष्टि से भी णमोक्कार मंत्र सबसे अधिक लाभकारी है क्योंकि एक व्यक्ति को समग्र जीवन में जो संपत्ति उपलब्ध होती है, जैसा प्रतिप्रादन किया गया– णमोक्कार मंत्र के एक पद के केवल चार सैकेण्ड मात्र स्मरण से असंख्य गुणी 'देव-ऋद्धि' प्राप्त हो जाती है। उसके समक्ष आज के अरबपति और खरबपति धनिकों की कोई गिनती नहीं है। उनकी संपत्ति तो देव-ऋद्धि के समक्ष तिल-मात्र, अणु-मात्र भी नहीं है। अत: अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी णमोक्कार महामंत्र सर्वाधिक महनीय एवं ग्राह्य है। उतना वैभव, लाभ जगत् में कोई भी व्यापार, उद्योग नहीं दे सकता।

यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह लाभ सर्वथा नगण्य है। सबसे बड़ा लाभ तो सिद्धत्व की प्राप्ति तथा मोक्ष-वैभव की उपलब्धि है। जहाँ पहुँचने पर कोई भी प्राप्य अवशिष्ट नहीं रहता है।

न्याय-तंत्र के संदर्भ में णमोक्कार मंत्र

इस जगत् की व्यवस्था शासक और शसित के रूप में चलती है। विशाल जन-समुदाय शासित होता है। उसे अनुशासन, नियम और विधि-विधान के अनुसार चलाया जाता है। वैसा न होने पर व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है। समाज और राष्ट्र चल नहीं पाते। वे पुरुष, शासक पद पर आते हैं, जिन्हें जनता उस कार्य हेतु निर्वाचित करती है। यह वर्तमानकालीन परंपरा है।

वीतराग के शासन में तो कोई संशय का स्थान नहीं होता किंतु लौकिक व्यवस्था में यदि नीति और सेवा का स्थान आसक्ति, स्वार्थ और लालच ले ले तो शासन-तंत्र विकृत होने लगता है। शासित

जन शासन-तंत्र द्वारा नीति-निर्धारण-विषयक नियमों को प्राप्त तो करते हैं, पर जहाँ भी मन में कोई दुर्बलता आती है, वे गलती कर जाते हैं, अपराध कर जाते हैं। चोरी, तस्करी, धोखा, लूटपाट, हत्या आदि इसी के परिणाम हैं। ऐसी स्थिति में नियमन, विकार-वर्जन, नीतिपूर्वक समाज-संचालन आदि हेतु न्यायतंत्र की आवश्यकता होती है। विभिन्न राष्ट्रों में स्थापित न्यायालय इसी के प्रतीक हैं।

ग्राम-पंचायत के अंतर्गत न्याय-सभा से लेकर राष्ट्र के सर्वोच्य न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) तक न्यायपालिकाओं का विस्तार है, जो सत्यासत्य का सम्यक् परीक्षण कर निर्णय देती हैं। न्यायपालिकाएं जिस प्रकार शासितों के– प्रजाजनों के कार्यों का, अपराधों का निर्णय करती है, उसी प्रकार उनको शासकों द्वारा किये गये कार्यों के औचित्य, अनौचित्य का निर्णय देने का अधिकार भी प्राप्त है। ऐसा होने से ही राष्ट्र में नीति ,सदाचार और समुचित व्यवहार जीवित रह सकते हैं। इसलिये न्यायतंत्र का बहुत बड़ा महत्त्व है।

न्यायतंत्र के संदर्भ में यहाँ णमोक्कार मंत्र पर विचार किया जा रहा है। णमोक्कार मंत्र तो एक विराट् तत्त्व है। इसको जहाँ चाहें घटित करें, यह सर्वथा संपूर्ण, परिपूर्ण सिद्ध होता है। इसमें कहीं किसी भी प्रकार की न्यूनता या मंदता नहीं है। जिस तरह न्यायतंत्र कानून के सिद्धातों पर टिका हुआ है, उसी प्रकार णमोक्कार मंत्र कर्म-सिद्धांतों के तंत्र पर आश्रित है।

कर्मवाद का न्याय तो इतना ऊँचा है, जहाँ कानून का न्याय पहुँच ही नहीं सकता। जैसे एक व्यक्ति को मारने की अपेक्षा हजार व्यक्तियों को मारनेवाला हजार गुना दोषी है किंतु कानून के पास दोनों की सजाओं में भेद करने का कोई मार्ग नहीं हैं पर तीर्थंकर देव द्वारा प्रतिष्ठापित न्यायतंत्र, जो कर्मवाद पर आश्रित है, इन दोनों में निश्चय ही भेद करता है। वह भेद हिंसाजन्य कर्म द्वारा आत्मा के साथ लगने वाले पापमय पुद्गलों की न्यूनता-अधिकता के रूप में है। वहाँ हजार गुणा अपराध करने वाला छूटता नहीं। जन्म-जन्मांतर में दंड भोगता जाता है, यह सच्चा न्याय-तंत्र है।

कानून का यह सिद्धांत है– यदि प्रमाणादि न मिलने पर अपराधी बिना सजा के छूट जाए तो कोई बात नहीं पर निरपराधी को कभी दंड न मिले। सिद्धांत तो बहुत अच्छा है किंतु न्यायपालिकाओं के न्यायाधीशों के ज्ञान और परीक्षा की एक सीमा है। कभी-कभी उनके निर्णय उनके अपने दृष्टिकोण से सही होते हुए भी इस सिद्धांत के प्रतिकूल भी हो सकते हैं किंतु कर्मवाद के कानून में ऐसा होने का अणुमात्र भी स्थान या अवकाश नहीं है।

णमोक्कार मंत्र के पाँचों पद कर्मवाद के सिद्धांतों पर टिके हुए हैं। 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' के आत्मघोष के साथ साधक णमोक्कार के पहले पद में आता है। वहाँ सभी सावद्य– पापपूर्ण कर्म छूट जाते हैं। वह अपने पथ पर आगे बढ़ता जाता है। यह भी संभव है– वे ज्ञानातिशय, चारित्रातिशय और पुण्यातिशय आदि के कारण आचार्य और उपाध्याय का पद प्राप्त कर लें। उत्तरोत्तर

कर्म-क्षय करता हुआ, वह गुणस्थानों के सोपान क्रम से आगे बढ़ता हुआ अरिहन्त पद तक भी पहुँच सकता है। समग्र कर्म-क्षय करके सिद्ध बन सकता है। यह सब कर्मवाद के न्यायतंत्र पर टिका हुआ है। ये कर्मों की न्यायतंत्रीय प्रणाली के द्वारा अथवा कर्म-सिद्धांतों के द्वारा ही 'पद' प्राप्त करते हैं। कोई किसी को दे नहीं पाता।

इस प्रकार णमोक्कार मंत्र एक ऐसे महान् न्यायतंत्र का सूचक है, जिसका निर्णय त्रिकालाबाधित है। यह महामंत्र प्रत्येक जीव को कर्म सिद्धांतानुरूप कर्मक्षयपूर्वक अपनी ओर आने को आमंत्रित करता है।

वैधानिक दृष्टि से णमोक्कार मंत्र की अपरिवर्तनीयता

संसार में जितने भी संस्थान, प्रतिष्ठान, प्रजातंत्र, गणतंत्र आदि हैं, उन सबके अपने-अपने विधान हैं। विधान के बिना किसी भी सामाजिक, राजनैतिक, प्रशासनिक या आर्थिक संस्थानों का कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सकता। अतएव विधान का बहुत महत्त्व है।

णमोक्कार मंत्र भी एक आध्यात्मिक विधान का संसूचक है। संसार के सब प्रकार के विधानों के साथ यदि तुलना की जाए तो णमोक्कार मंत्र सर्वोत्कृष्ट और सर्वोपरि सिद्ध होता है। अन्य विधानों में समय-समय पर परिवर्तन करना पड़ता है क्योंकि वे सभी दृष्टियों से परिपूर्ण सिद्ध नहीं होते। जब न्यूनता या कमी दृष्टिगोचर होती है, तब विधान में परिवर्तन, परिवर्द्धन करना आवश्यक हो जाता है।

संसार के विभिन्न देशों में जो विधान हैं, उनमें भी परिवर्तन होते रहे हैं। वे अंतिम रूप से परिपूर्ण और सर्वजनोपयोगी सिद्ध नहीं होते इसलिए व्यवस्थाओं में बाधाएं आती हैं। उनका निराकरण करने के लिये उन्हें बदलना पड़ता है। विभिन्न संस्थाओं के विधानों में भी यही बात लागू होती है क्योंकि वे भी संस्थाओं के लक्ष्यों को पूरी तरह पूर्ण करने में और सबके लिए उनकी उपयोगिता सिद्ध करने में सर्वथा सफल सिद्ध नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि जिन्होंने विधान की रचना की, उनका ज्ञान समग्र दृष्टियों से पूर्ण नहीं होता, वह अपूर्ण होता है। अपूर्ण ज्ञान के सहारे जो सर्जन होता है, वह पूर्ण कैसे हो सकता ? संस्थाओं के तथा राष्ट्रों के विधानों में जितने परिवर्तन हो चुके हैं, वे पर्याप्त नहीं है। आगे और परिवर्तन न हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

णमोक्कार मंत्र का विधान ऐसा नहीं है। न उसमें आज तक किसी अक्षर मात्र का भी परिवर्तन हुआ है, न होगा। वह एक ऐसा विधान है, जिसे त्रिकाल-सत्य कहा जा सकता है। अनंत तीर्थंकर भगवंत, गणधर देव तथा अनंत महापुरुष हो गए हैं किंतु णमोक्कार मंत्र का विधान अति विशुद्ध होने के कारण आज तक अपरिवर्तित है।

अड़सठ अक्षरों में जो विधान का संसर्जन है, उसमें एक भी अक्षर का, मात्रा का, परिष्कार करने की कभी कोई आवश्यकता नहीं दिखलाई दी। इसलिये समस्त संसार में विधानात्मक दृष्टि से यह सर्वथा विशुद्ध (Constitutionally Correct) है।

इससे यह सिद्ध होता है कि नवकार मंत्र शाश्वत सत्य है। लौकिक विधानों का अनुसरण तो केवल सांसारिक व्यवस्था में होता है। संसार में सुखपूर्वक निर्विघ्न रूप में जीने का पथ-दर्शन देता है। णमोक्कार मंत्र आत्म-भाव से परमात्म-भाव तक पहुँचने का महाप्रसाद देता है, जिसकी तुलना में कोई भी पदार्थ टिक नहीं सकता। इसकी आराधना अनंत फलप्रद है। उसका प्रत्येक अक्षर आव्याबाध सुख की दिशा में अग्रसर करता है। उसका प्रत्येक पद शाश्वत स्वरूप की प्राप्ति का प्रेरक है। समस्त विघ्नों का विच्छेदक है। अंतत: परमानंद की प्राप्ति का अनन्य साधन है। समस्त ध्येयों में सर्वोत्तम है। अत: महामंत्र शाश्वत (Eternel Truth) रूप लिए हुए है।

णमोक्कार मंत्र की संप्रतिष्ठा कितनी महत्त्वपूर्ण है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु इसमें संप्रतिष्ठ हैं, जो इस जगत् के सर्वोत्कृष्ट भावरूप हैं। णमोक्कार मंत्र का विधान संसार के लोगों का आह्वान करता है कि आप सब इसका अनुसरण करें। इसके परिणाम स्वरूप इस महामंत्र में बताए गए पाँचों महान् पदों तक अपने पराक्रम द्वारा पहुँच सकेंगे।

इन पदों की प्राप्ति का बड़ा विलक्षण विधान है। ये जनमत के बल पर प्राप्त नहीं किए जा सकते। ये आत्मबल के मत से प्राप्त किए जा सकते हैं। जनमत यद्यपि लोगों की भावना का परिचायक है किंतु उसके आधार पर उच्च पद पर आने वाले क्या जनभावना का कभी आदर करते हैं? क्या जनता जनार्दन की सेवा हेतु उद्यम और त्याग करते हैं? क्या वे स्वार्थांध होकर कर्तव्याकर्तव्य नहीं भूल जाते? क्या उन्हें विधान नियंत्रित रख पाता है? इन सबका उत्तर अभाव, अव्यवस्था, अनियमितता आदि अनेक कष्टों से जूझते आज के जनजीवन में परिलक्षित होता है।

यदि इस विधान के साथ आत्मबल का मत भी जुड़ा होता तो ये अवस्थाएं उत्पन्न नहीं होती। आत्मबल व्यक्ति को पाप से, भ्रष्टाचार से रोकता है। वह सेवा, सदाचार, कर्तव्य-निष्ठा और नैतिकता की प्रेरणा देता है, इसलिये यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि सांसारिक विधान के साथ-साथ धार्मिक विधान को जोड़े बिना, सांसारिक विधान में पवित्रता नहीं आ सकती। इसलिये राजनीति, प्रशासन, उद्योग, व्यापार आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में अवश्य ही जुड़ने चाहिए।

णमोक्कार मंत्र उस धार्मिक विधान का वह दस्तावेज है, जो किसी भी न्यायालय द्वारा असिद्ध साबित नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें वीतराग– जिनेन्द्र प्रभु की सर्वव्यापिनी, सर्वग्राहिनी, अनंत ज्ञानात्मक शक्ति जुड़ी हुई है।

णमोक्कार मात्र अड़सठ अक्षरों का एक ऐसा परिपत्र या घोषणा पत्र है, जो अनंत काल से जीवन के परम सत्य का उद्घोष कर रहा है, और करता रहेगा।

उद्घोष बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अंत:स्फूर्तिप्रद है किंतु वह लाभप्रद तभी सिद्ध हो सकता है, जब रूचिपूर्वक, सावधानीपूर्वक, निष्ठापूर्वक उसे श्रवण कर विवेकपूर्वक स्वीकार किया जाय तथा अपने दैनंदिन जीवन में साकार किया जाय।

णमोक्कारमय मंगल-सूत्रों का आत्मा के साथ संबंध

राग-द्वेष को अपना स्वरूप मानना, वीतराग-भाव और निर्विकल्प समाधि से वंचित रहना, आत्मा की बाह्य दशा है। उसे बहिरात्मदशा या बहिरात्मभाव कहा जाता है, इसका आशय शरीर एवं आत्मा को एक मानना, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ से युक्त होना एवं मिथ्यादृष्टि के कारण शारीरिक संबंधों को आत्मिक संबंध मानना है। इसमें स्वसंवेदनमूलक ज्ञान, स्वानुभवरूप सम्यक्ज्ञान नहीं रहता।

बहिरात्मभाव युक्त व्यक्ति मंगल-वाक्यों के स्मरण और चिंतन में रूचि नहीं लेता। उसको णमोक्कार मंत्र जैसे पवित्र मंगल-सूत्र और वाक्यों में श्रद्धा नहीं होती। जब तक सम्यक् श्रद्धान-युक्त वृत्ति नहीं होती, तब तक उन्नत आदर्शों को व्यक्ति अपने सामने नहीं रख सकता। जब कर्मों का क्षयोपशम होता है, तब नवकार मंत्र पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। उसके चिंतन-मनन और स्मरण से प्राणी बहिरात्मावस्था से अंतरात्मा की ओर अग्रसर होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक व्यक्ति की परम मंगलमय महामंत्र में श्रद्धा जागरित नहीं होती तब तक वह बहिरात्मभाव में ही विद्यमान रहता है। विभावों या विकार-युक्त भावों को अपना स्वरूप समझकर वह दिन-रात व्याकुल बना रहता है।

देह और आत्मा को सर्वथा भिन्न या पृथक् मानना, उसमें निष्ठा रखना भेद-विज्ञान कहा जाता है। जो आत्मा भेद-विज्ञान पा लेती है, वह निर्विकल्प-समाधि में लीन हो जाती है। शरीर आदि पर-पदार्थों में उसकी ममत्त्व-बुद्धि नहीं रहती। चिदानंद-स्वरूप आत्मा को ही वह सब कुछ समझती है, उसका यह भाव अंतरात्म-भाव कहलाता है।

णमोक्कार मंत्र : सुख का अनन्य हेतु

णमोक्कार मंत्र के संबंध में जैन साहित्य में यह गाथा बहुत प्रसिद्ध है, संतजन प्रवचन में जिसका प्राय: उपदेश देते हैं–

हरइ दुहं कुणइ सुहं, जणइ जसं सोसए भव समुद्दं।
इहलोय परलोइय, सुहाण मूलं णमुक्कारो।।

णमोक्कार दुःख का हरण करता है। सुख का निष्पादन करता है। यश का उत्पादन करता है तथा भवसागर का शोषण करता है। इस लोक और परलोक के सुखों का मूल भी णमोक्कार है।

इस गाथा में णमोक्कार मंत्र के अत्यधिक दुःखनाशक और सुखप्रद गुण का बड़े प्रबल शब्दों में प्रतिपादन है। यह धर्म की आराधना का अनन्य अंग है। पुण्योत्पादक है। इसका सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि संसार-सागर में भटकते हुए, क्लेश पाते हुए जीव इसका संबल पाकर लौकिक एवं पारलौकिक सभी सुखों को प्राप्त कर लेते हैं। जब दोनों ही प्रकार के सुख इससे सिद्ध हो जाते हैं, तब मानव के लिये इससे विशिष्ट और क्या वस्तु हो सकती है ?

शास्त्रों में आचार्यों ने, विद्वानों और लेखकों ने स्थान-स्थान पर णमोक्कार मंत्र की महिमा का आख्यान किया है। वह केवल श्रद्धावश किया गया वर्णन नहीं है, और न उसमें कोई अतिशयोक्ति ही है। तत्त्वद्रष्टाओं के दृष्टिकोण के अनुसार वह वास्तविकता है। आज भी समर्पित भाव से जो इस महामंत्र की शरण लेते हैं, विधिपूर्वक उसकी आराधना करते हैं, उनको अपनी योग्यतानुसार कुछ न कुछ स्वानुभव हुए बिना नहीं रहता। वे ज्यों-ज्यों अपनी योग्यता को बढ़ाते हैं, स्वानुभूति बढ़ती जाती है।

'णमोक्कार मंत्र का स्मरण दुःख का हरण करता है और सुख उत्पन्न करता है', इत्यादि कहे जाने के पीछे एक रहस्य है, जो स्थिरतापूर्वक चिंतन करने से समझा जाता है।

हमारे चित्त में सत्त्व, रजस्, तमस्, नामक तीन वृत्तियाँ विद्यमान हैं।[1] उनमें से जब चित्त तामसिक वृत्ति से आवृत्त होता, तब काम, क्रोध आदि क्लिष्ट, पापपूर्ण वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, जो दुःख का मुख्य हेतु है।

चित्त का यह धर्म है, स्वभाव है कि जब वह जिस भाव के वश में होता है, तब वह उसमें तदाकार हो जाता है। जब उस पर क्रोध आदि क्लिष्ट भावों का प्रभाव होता है, तब वह तद्रूप बन जाता है। उसमें उत्पन्न होने वाली क्लिष्ट वृत्तियाँ आत्मा में तरह-तरह के संक्लेश– दुःख उत्पन्न करती हैं– यह अनुभव सिद्ध है।

जब यही चित्तवृत्ति सात्त्विक आदि भावों से परिपूर्ण होती है तो पंच-परमेष्ठियों का उत्तम आलंबन प्राप्त करने में लीन हो जाती है। तब वे दुःखकारक क्लिष्ट वृत्तियाँ सत्त्वप्रधान वृत्तियों के

१. (क) सांख्यकारिका, श्लोक-१३, पृष्ठ : १३.
(ख) सर्वदर्शन संग्रह, सांख्यदर्शन, गद्य-२. पृष्ठ : ६१८.

साथ तदाकार बन जाती है। अर्थात् वे सत्त्वगुणमय स्वरूप धारण कर लेती है। सत्त्वगुण का प्रभाव ऐसा है कि उससे चित्त में आह्लाद, प्रसन्नता, प्रकाश, प्रमोद आदि उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं। वैसे भाव उत्पन्न होने पर वहाँ फिर दु:ख टिक नहीं सकता।

सुख और दु:ख बाहर से नहीं आते किन्तु ये दोनों चित्त के धर्म हैं। इसलिये ये चित्त के भीतर ही प्रगट होते हैं। दोनों का स्वभाव प्रकाश और अंधकार की तरह परस्पर विरोधी है। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार ठहर नहीं सकता। जहाँ अंधकार होता है, वहाँ प्रकाश विद्यमान है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

एक ही समय में दोनों भाव प्रधानता पूर्वक एक साथ टिक नहीं सकते। अत: पंच-परमेष्ठियों के आलंबन से जब चित्त सत्त्व-प्रधान बनता है, तब उसमें एक ऐसा सामर्थ्य प्रगट होता है कि उसके प्रभाव से हानिप्रद निमित्त, लाभप्रद बन जाते हैं।

सामान्य उपद्रव से लेकर मरणांत उपसर्ग पर्यंत कोई ऐसा प्रसंग नहीं है, जो स्थिर, शांत-चित्त-युक्त व्यक्ति के लिये लाभकारी न बन सके। यद्यपि ये उपद्रव, विघ्न कष्टप्रद एवं शोकप्रद होते हैं किन्तु चित्त की स्थिरता और प्रशांतता उनको परिवर्तित कर देती है। वे कष्ट और शोक के स्थान पर सुखकारक एवं लाभदायक बन जाते हैं।

इससे विपरीत स्थिति यह है कि जिसका चित्त स्थिर नहीं है, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसके लिये उच्च से उच्च कहा जाने वाला आलंबन भी लाभप्रद नहीं बनता। उत्तम आलंबनों के पुन:-पुन: अभ्यास से चित्त की स्थिरता साध्य है। उनके बिना वैसा होना संभव नहीं है। साधना के मार्ग में शुभ आलंबनों के संदर्भों में चित्त की स्थिरता बहुत उपयोगी है, इसलिए आत्म-विकास के इच्छुक जीवों को उत्तम आलंबनों के संबल द्वारा दिन-प्रतिदिन अपनी योग्यता प्रगट करने हेतु अप्रमत्त रहना बहुत आवश्यक है। मानव-जीवन में करने योग्य यह एक महान् कार्य है। जितने प्रमाण में योग्यता प्रगट होती है, उतने प्रमाण में आत्म-विकास की दिशा अग्रसर होती रहती है।

परमेष्ठियों का स्मरण, जप, ध्यान आदि द्वारा चित्त सात्त्विक बनता है। सात्त्विक चित्त अनेक गुणरूपी रत्नों की खान है। शील और सत्त्वगुण से परिपूर्ण पूर्ववर्ती महापुरुषों के पवित्र चरित्र को जब सुनते हैं तो आज भी हम रोमांचित हो उठते हैं। अनेक महात्माओं के ऊर्ध्वगमन या आत्म-विकास में ऊँचे उठने के दृष्टांत हमारे लिये अवलंबन भूत बनते हैं।

पंच-परमेष्ठी के आलंबन से चित्त जब सत्त्व प्रधान बनता है, तब उसमें करुणा, मैत्री, प्रेम, कृतज्ञता, परोपकारिता, विनम्रता आदि अनेक गुण प्रगट होते हैं। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि पंच-परमेष्ठियों का स्मरण अर्थात् अमुक संख्या में मात्र ऊपर-ऊपर से णमोक्कार मंत्र गिनना ही अभिप्राय नहीं है किन्तु अपने चित्त में महामंत्र की स्थिरता पूर्वक स्थापना करना आवश्यक है। पुनश्च

उसके स्मरण आदि में आत्मा को तदाकार बनाना वांछित है। साथ ही साथ शुद्ध-भाव, विशिष्ट-प्रेम और दिव्य-भक्तिपूर्वक परमेंष्ठियों का स्मरण करना अपेक्षित है। जैसे जल से पूर्णत: भरे हुए सरोवर में घड़े को डुबोते हैं, उसे पानी से भरते हैं, उसी प्रकार परमेष्ठियों का परम तेज अपनी आत्मा के प्रदेशों में प्रतिष्ठापित करने के लिये अपने चित्तरूपी घड़े को डुबोना होगा, जब तक यह प्रतीति न हो जाय कि परमेष्ठी और मेरी आत्मा भिन्न नहीं है, तब तक अपने चित्त को विलीन करना होगा।

जैसे व्यायाम करने वाला थोड़े समय के लिए ही व्यायाम करता है परंतु उसके द्वारा प्राप्त होने वाला बल और स्फूर्ति चौबीस घंटे काम आती है, वैसे ही परमेष्ठियों के साथ थोड़े समय के लिए विधिपूर्वक निष्पन्न-मिलन जीवन के विकास में प्रतिक्षण उपयोगी सिद्ध होता है।

जब-जब चित्त तमोवृत्ति से आवृत्त होकर उद्विग्न बनता है, तब-तब चित्त को प्रसन्न करने के लिये अंत:करण में विराजमान परमेष्ठियों के तेज में चित्त को तन्मय करने का अभ्यास आवश्यक है। क्योंकि यह दु:ख-नाश और सुख-प्राप्ति का सरल, निर्बाध और निर्भय उपाय है।

श्री पंच-परमेष्ठियों के साथ चित्त की एकाग्रता सिद्ध करने के लिये देव और गुरु के प्रति हार्दिक बहुमान, निर्दोष-निर्मल जीवन, सर्वत्र औचित्य का पालन, पवित्र वातावरण, ब्रह्म-मुहूर्त का अथवा तीनों संध्याओं का पवित्र समय, स्थिर आसन, भावनाओं का संबल, विषयों से चित्त की पराङ्मुखता, ध्येय की एकाग्रता तथा निश्चित किये हुए समय में नियमपूर्वक आदर एवं सत्कार के साथ अभ्यास करना आवश्यक है। श्रद्धा, उत्साह और शांतिपूर्वक इस विषय में पुन:-पुन: निरंतर किया गया अभ्यास परमेष्ठियों के साथ एकता एवं तन्मयता स्थापित कराने में बहुत सहायक बनता है।

उपरोक्त प्रकार से हृदय-कमल आदि किसी एक ध्येय स्थान में परमेष्ठियों की कल्पना कर उनमें चित्त को स्थापित करने से अपने मन में अनेक प्रकार की प्रतीतियाँ उत्पन्न होती हैं।[1]

णमोक्कार मंत्र परम तेज-पुंज है। इसकी आराधना से वे सभी दुर्लभ उपलब्धियाँ हो जाती हैं, जिनकी मानव अपने ऐहिक, पारलौकिक सुख और शांति के लिए कामना करता है। णमोक्कार मंत्र की उपासना, आराधना, साधना, जप एवं अभ्यास में ज्यों-ज्यों मानव अग्रसर होता जाता है, वह अपने जीवन में दिव्य-आलोक का दर्शन करता है।[2]

विमर्श

सांख्य-दर्शन में सत्त्व, तमस् और रजस् तीन गुण माने गए हैं। सुख-दु:खात्मक, राग-द्वेष-मोहात्मक तथा कहीं-कहीं त्याग-वैराग्यात्मक संसार इन तीनों गुणों का परिणाम है। सत्त्वगुण

१. योगशास्त्र, प्रकाश-६, श्लोक-८, पृष्ठ : २२१. २. सद्गुण साधना, पृष्ठ : ७६.

प्रीत्यात्मक, रजोगुण अप्रीत्यात्मक तथा तमोगुण विषादात्मक है। प्रीत्यात्मकता का तात्पर्य सुखात्मकता है। अप्रीत्यात्मकता का अर्थ अप्रीति या दुःखजनक है तथा विषादात्मकता का अभिप्राय मोहात्मकता है। सत्त्वगुण प्रकाशमय है। रजोगुण प्रवृत्तिमय और तमोगुण अवरोधमय है अर्थात् प्रकाश, क्रिया और स्थिति के ये कारण हैं।

सत्त्वगुण– लघु और प्रकाशक है। जब वह उत्कट होता है तब अंगों में हलकापन होता है। बुद्धि प्रकाश युक्त या प्रखर होती है। इंद्रियों में प्रसन्नता होती है।

रजोगुण– उपष्टंभक एवं चल है। उपष्टंभक का अर्थ उत्तेजक है। चल का अर्थ चंचल है। जिसमें रजोगुण का आधिक्य होता है, उसका चित्त चंचल होता है। तमोगुण गुरु– भारी और आवरक है। जब तमोगुण की अधिकता होती है, तब शरीर के अंग भारी होते हैं। इंद्रियाँ आवृत होती हैं। वे अपना कार्य करने में असमर्थ होती हैं।

यह संसार इन तीनों गुणों के समन्वय का प्रतीक है। इसके लिये विद्वानों ने दीपक का उदाहरण दिया है। दीपक में तेल, अग्नि और बाती ये तीनों वस्तुएं होती हैं। ये तीनों परस्पर विरुद्ध हैं किन्तु उनके सहयोग या समन्वय से दीपक प्रकाश उत्पन्न करता है। उसी प्रकार सत्त्वगुण, तमोगुण और रजोगुण समन्वित होकर कार्य निष्पन्न करते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में न्यूनाधिक मात्रा में तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। जब तमोगुण की अधिकता होती है, तब व्यक्ति में अज्ञानमूलक वृत्तियों का आधिक्य होता है। जब रजोगुण अधिक मात्रा में होता है, तब व्यक्ति में रागात्मकता और चंचलता का आधिक्य होता है। जब सत्त्वगुण की प्रधानता और अधिकता होती है, तब जीवन में ज्ञान, वैराग्य, धर्म आदि उत्तमगुण विकसित होते हैं।पवित्र, उच्च और साधनामय जीवन के लिये यह आवश्यक है कि सत्त्वगुण का विकास हो। रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुण से दबे रहें। यदि ऐसा होगा तो चित्त में पापपूर्ण वृत्तियाँ उदित नहीं होगी। यदि रजोगुण का भाव बढ़ता जाएगा तो धार्मिकता एवं पवित्रता का भाव क्षीण, हीन और दुर्बल होता जाएगा।

णमोक्कार मंत्र की आराधना से सत्त्वगुण प्रबल होता है। सत्त्वगुण के प्रबल होने से जीवन-वृत्तियों में समग्र परिवर्तन हो जाता है। जीवन उज्ज्वल और निर्मल बन जाता है। चित्त सात्त्विक भावों से ओतप्रोत रहता है। क्रिया-कलाप में उत्तमता आ जाती है।

सत्त्वगुण प्रधान व्यक्ति धर्म-मार्ग में उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। लौकिक सुखों की कामना घटती जाती है। आगे जाकर उसकी वृत्ति आत्मोन्मुखी बन जाती है। इस प्रकार णमोक्कार मंत्र साधक को लौकिक सुख से आगे बढ़ाता हुआ उस परम आध्यात्मिक सुख के साथ जोड़ देता है, जो लोकोत्तर है, जिसमें नित्य एवं शाश्वत सुख में सिद्ध भगवान् निमग्न हैं।

विकार-विजय में मंगलसूत्रों का सार्थक्य

विषय, कषाय-जन्य अशांति और व्यथा को दूर करने हेतु विज्ञ महापुरूषों ने अनेक प्रकार के विधानों का प्रतिपादन किया है। तरह-तरह के मंगल-वाक्यों की प्रतिष्ठा की है तथा जीवन में शांति एवं सुख प्राप्त करने के लिये ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के मार्गों का प्रतिपादन किया हैं। वे मंगल-वाक्य एक चिरस्थायी स्तर एवं भाव को लिये हुए हैं।

विकारों पर विजय प्राप्त करने हेतु ये मंगल-वाक्य दृढ़ आलंबन होते हैं तथा उनसे आत्म-कल्याण की भावना उनमे संस्फुरित होती है। संसार के सभी धर्म-संप्रदायों के प्रवर्तकों ने विकारों को जीतने तथा साधना के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये अपनी मान्यताओं के अनुसार कुछ मंगल-वाक्यों की संरचना की है।

विविध प्रकार के मंगल-वाक्य कहाँ तक अन्तःकरण में संप्रविष्ट होकर प्रकाश प्रदान कर सकते हैं, यह विचार का विषय है।

जैन मंगल-वाक्य या णमोक्कार मंत्र में वंदन हेतु जिन पाँच परमेष्ठी पदों को सन्निहित किया है, वे गुण निष्पन्नता की दृष्टि से अत्यंत ऊँचे हैं।वे सर्वथा व्यापक एवं सार्वजनीन हैं। वहाँ किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। वहाँ तो उन महापुरूषों का उल्लेख हैं, जिन्होंने साधना द्वारा अपने को इतना ऊँचा उठा दिया कि वे केवल एक परंपरा की सीमा में रहते हुए भी जन-जन के लिए परमकल्याणकारी रहे हैं।

जैन मंगल-वाक्य ऐसे नमनीय महापुरूषों के सूचक हैं, जो राग-द्वेष आदि से सर्वथा रहित होने के कारण सब के लिये, समस्त विश्व के लिये परमपूज्य हैं।

णमोक्कार : परमात्म-साक्षात्कार का निर्बाध माध्यम

आज विज्ञान का युग है। सभी क्षेत्रों में विज्ञान ने अत्यधिक प्रगति की है तथा उत्तरोत्तर प्रगति करता जा रहा है। दूरभाष या टेलिफोन के रूप में जनसंपर्क का एक विलक्षण माध्यम आज लोगों को प्राप्त है। भारतवर्ष में बैठा हुआ व्यक्ति अमेरिका में विद्यमान अपने मित्र या संबंधी से सीधी बात कर सकता है।

इस दूरभाष की प्रक्रिया में उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। लक्षित व्यक्ति के साथ सीधा वार्तालाप करने हेतु टेलिफोन कंपनियों ने सीधी संपर्क लाईनों की व्यवस्था की है, जिसके फलस्वरूप जिस व्यक्ति से बात करना चाहे, सीधे उसी से बात कर सकते हैं। वहाँ तीन प्रकार के नियमों का या व्यवस्था क्रमों का पालन आवश्यक है।

१. प्रथम नियम है– टेलिफोन की स्थानीय लाईन का असंबंध या स्थगन करना। जब तक लोकल लाईन द्वारा किसी स्थानीय व्यक्ति के साथ वार्तालाप होता रहेगा, तब तक 'डायरेक्ट लाईन' में बातचीत नहीं हो सकती। डायरेक्ट लाईन में बात करना हो तो 'लोकल लाईन' का स्थगन करना आवश्यक है।

२. दूसरा नियम है– कोड नंबर का डायलिंग करना। जैसे किसी को दिल्ली स्थित व्यक्ति के साथ सीधी बात करनी हो तो उसे दिल्ली के कोड नंबर का डायलिंग करना अपेक्षित है। ऐसा करने से टेलीफोन दिल्ली से जुड़ेगा।

३. तीसरा नियम है– जिस व्यक्ति के साथ बातचीत करनी हो, उसके व्यक्तिगत नंबर का डायलिंग करना होगा। उस नंबर को जोड़ना होगा।

इस प्रकार ये तीन नियम आवश्यक हैं। ऐसा होने पर ही किसी के साथ 'डायरेक्ट लाईन' में, फोन में बातचीत हो सकती है। यह दैनन्दिन अनुभव की बात है।

इन्हीं तीन सिद्धांतों को णमोक्कार मंत्र के साथ जोड़ कर अरिहंत परमात्मा के साथ डायरेक्ट बातचीत कर सकते हैं—

१. णमोक्कार महामंत्र में जिनके साथ हमें संपर्क साधना है, वे अरिहंत प्रभु हैं। उनके साथ संपर्क जोड़ने के लिये पहला नियम यह है कि जिस प्रकार टेलिफोन द्वारा किसी दूरवर्ती व्यक्ति के साथ बातचीत करने वाला व्यक्ति स्थानीय लाईन को स्थगित कर देता है, उसी प्रकार वीतराग प्रभु के साथ संपर्क जोड़ने की भावना रखने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह लौकिक संबंधियों से तथा भौतिक वस्तु-संबंधी विचारों का त्याग करे। वैसा किये बिना वह परमात्मभाव के साथ जुड़ नहीं सकता। इसका अभिप्राय यह है कि बहिरात्मभाव से छूटना 'लोकल लाईन' का स्थगन है।

२. दूसरा नियम है– कोड़ नंबर का डायलिंग। 'णमो' पद परमात्मा का कोड़ नंबर है।

जिस तरह दूर के व्यक्ति के साथ टेलिफोन पर संपर्क करने हेतु उस स्थान के कोड नंबर को डायल करना पड़ता है, उसी प्रकार 'णमो' पद का उच्चारण परमात्मा के डायलिंग का कोड़ नंबर है। अर्थात् 'णमो' शब्द बोलते ही साधक परमात्म-भाव की परिधि में आ जाता है। 'णमो' पद विभाव-दशा में से स्वभाव-दशा में जाने के लिये 'टर्निंग पोइंट' है। 'णमो' पद अंतारात्म-भाव रूप है।

३. तीसरा नियम है– जिससे बातचीत तथा संपर्क करना है, उसके नंबर का डायल करना या साधक को परमात्मा के साथ अपना संपर्क जोड़ना है, परमात्मा के नंबर का डायलिंग करना है।

परमात्मा का नंबर 'अरिहंताणं' पद है। इस पद का अर्थ परमात्म-भाव में स्थिर होना है।

इस प्रकार णमो अरिहंताणं पद द्वारा साधक परमात्मा के साथ डायरेक्ट लाईन द्वारा जुड़ सकता है। टेलिफोन में वार्तालाप करते समय कभी-कभी 'डायरेक्ट लाईन' व्यस्त भी आती है परंतु परमात्मा की डायरेक्ट लाईन कभी व्यस्त (Engage) नहीं होती।

टेलिफोन में बिना कहीं रूकावट के सीधी बात हो सकती है इसे हॉटलाईन (hot-line) कह सकते हैं।

'णमो अरिहंताणं' पद परमात्मा के साथ सीधा संपर्क साधने की दिव्य-कला या हॉटलाईन है।

परमात्मा के साथ डायरेक्ट लाईन में क्या बातचीत होती होगी ? यह प्रश्न एक मुमुक्षु के मन में उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता।

सांसारिक देव उपासना करने वालों की इच्छाओं को पूर्ण करते हैं किन्तु वे देव अपना स्वयं का स्वरूप उपासकों को नहीं देते। जबकि परमात्मा अरिहंत भगवान् 'निजस्वरूप के दाता' हैं। जब भक्त अपना तन, मन, धन, वचन तथा भाव, जो कुछ उसे प्राप्त है, वह सब परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देता है तो परमात्मा उसके बदले भक्त को परमात्मा-पद प्रदान करते हैं।

यह आदान-प्रदान के नियम (Law of receiving and giving) का प्रतीक है। इसी कारण अरिहंत प्रभु अपने स्वरूप के दाता कहे जाते हैं।

भक्त जब 'णमो अरिहंताणं' कहता है, तब भगवान् 'तत्त्वमसि'– जिसको तू नमस्कार करता है, वह तू ही है, ऐसा भाव प्रदान करते हैं।[1]

"तत्त्वमसि" यह वाक्य उपनिषद् वाङ्मय में सुप्रसिद्ध है। वहाँ चार महावाक्यों का उल्लेख है– (१) प्रज्ञानं ब्रह्म (२) अहं ब्रह्मास्मि (३) तत्त्वमसि (४) अयमात्मा बह्म।[2]

इन चार वाक्यों में पहला वाक्य प्रज्ञान या विशिष्ट ज्ञान का सूचक है। ज्ञान विशिष्टता तब प्राप्त करता है, जब वह परिपूर्ण होता है। परिपूर्ण ज्ञान द्वारा ही आत्मा-परमात्मा का रहस्य समझा जा सकता है।

जीव शुद्धावस्था में बह्म है। इसलिये अपने आप को वैसा ही समझे। ये चारों महावाक्य जीव और बह्म के ऐक्य के सूचक हैं।

जैन दर्शन की भाषा में कर्म-मुक्त आत्मा और कर्म-युक्त आत्मा का रहस्य इनमें समाया हुआ है। कर्म-मुक्त और कर्म-युक्त आत्मा शुद्धस्वरूप की दृष्टि से सर्वथा एक समान है। जो कर्म-युक्त

१. जीवननी सर्वश्रेष्ठकला श्री नवकार, पृष्ठ : ५६-५८.
२. शुकरहस्य-उपनिषद्, कृष्णयजुर्वेदीय, उपनिषद्-अंक, (कल्याण विशेषांक, १९४९, खण्ड-२).

हैं, वे संसारावस्थित हैं तथा जो कर्ममुक्त हैं, मोक्षावस्थित हैं। मूलस्वरूप की दृष्टि से दोनों में भेद नहीं है। उपनिषद् का चौथा महावाक्य इसी आशय का प्रतिपादक है।

जब जीव अपने शुद्ध स्वरूपात्मक ज्ञान से आतेप्रोत हो जाता है, तब उसकी भेद दृष्टि मिट जाती है। उसे आत्मा-परमात्मा के अभेद का ज्ञान हो जाता है। वह परम ज्ञानात्मक दशा परमात्मभाव या ब्रह्म है। इसीलिये प्रज्ञान को बह्मरूप में प्रतिपादित किया गया है। दूसरा वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस भाव का द्योतक है कि जब जीव प्रज्ञानावस्था में परिणत हो जाता है, उसे अपने शुद्ध स्वरूप का, परमात्मभाव का साक्षत्कार होता है और तब 'मैं बह्म या परमात्मा हूँ', ऐसी आंतरिक अनुभूति होती है।

वास्तव में परमशुद्धावस्था में तो परमात्मा ही है। तीसरा 'तत्त्वमसि' यह वाक्य आत्मा को संबोधित कर कहा गया है। अविद्या-युक्त जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है। यह उसका अज्ञान है। उसी अज्ञान को मिटाने के लिये यह महावाक्य है, जिसमें जीव को संबोधित कर यह ज्ञापित किया गया है कि तुम वही हो, जो परमात्मा है। अपने को उनसे भिन्न, हीन, तुच्छ मत समझो। चौथे महावाक्य में तीनों वाक्यों का निष्कर्ष है।

नवकार मंत्र 'तत्त्वमसि' द्वारा जीव को स्मरण कराता है, उद्बोधन देता है कि हे जीव ! तुम अपने को अन्य क्यों समझते हो ? तुम तो वास्तव में परमात्मा हो। कर्मों के आवरणों ने तुम्हारे शुद्ध स्वरूप को आच्छादित कर रखा है, उन आवरणों को हटा दो । तुम्हें 'तत्त्वमसि' की सहज अनुभुति प्राप्त होगी।

अनुचिंतन

टेलिफोन या दूरभाष की प्रक्रिया आज के विज्ञान की जगत को अद्वितीय देन है किन्तु णमोक्कार मंत्र मूलक आध्यात्मिक प्रक्रिया की उससे भी बड़ी देन है। टेलीफोन की प्रक्रिया से तो हम भौतिक जगत् के व्यक्तियों तक ही अपने वार्तालाप का संपर्क जोड़ सकते हैं। भौतिक वस्तुएँ समस्त लौकिक संबंध, चर्चाएं, विचार-विमर्श, इनमें से कुछ भी शाश्वत नहीं है। सब विनाश युक्त हैं। उन्हें क्षणभंगुर कहा जाये तो भी अत्युक्ति नहीं होगी।

मोहवश, लोभवश, भौतिक उपलब्धियों को हम बहुत बड़ा मानते हैं किन्तु वास्तविक दृष्टि से उनमें कोई बड़प्पन नहीं है। बड़पन्न या महत्त्व तो उस वस्तु का होता है जो शाश्वत हो, शांतिप्रद हो, श्रेयस्कर हो।

संसार के किसी बड़े से बड़े राष्ट्रनायक, धनकुबेर या सत्ताधीश से संपर्क साध लेने, वार्तालाप कर लेने से ऐसा कुछ भी प्राप्त नहीं होगा, जो आध्यात्मिक निधि का रूप ले सके। उन तथाकथित बड़े

लोगों के स्वयं के पास भी तो ऐसी कोई दिव्य, महत्त्वपूर्ण, अविनश्वर वस्तु नहीं है, फिर वे हमें क्या दे सकते हैं ?

णमोक्कार महामंत्र एक ऐसा आध्यामिक दूरभाष है, जो हमारा अरिहंत परमेश्वर से—तीर्थंकर देव से सीधा संपर्क जोड़ता है । णमोक्कार द्वारा जुड़ने वाला यह सम्पर्क बहुत उच्चकोटि का है। जिनेश्वर देव के पास अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतबल तथा अनंतशक्ति इत्यादि के रूप में जो विराट् वैभव है, वह और किसी के पास नहीं है। वे महान् दानी हैं, उपासक को अपना सर्वस्व दे देते हैं किन्तु यह ऐसा सर्वस्व है, जिसके देने पर भी प्रदाता के कोई कमी नहीं आती। प्रदाता का आध्यात्मिक वैभवमय भंडार जरा भी रिक्त नहीं होता।

णमोक्कार मंत्र-रूप टेलिफोन या दूरभाष से जुड़ने वाले संपर्क की महिमा का, उपादेयता का वर्णन नहीं किया जा सकता। इनसे सम्पर्क साधने वाले को वे अपने जैसा महान् बना देते हैं किन्तु सम्पर्क साधने वाले में तीव्र उत्कंठा, जिज्ञासा, तितिक्षा तथा मुमुक्षा का भाव अनवरत रहना चाहिए।

इस भावधारा की पवित्रता साधक के आंतरिक कालुष्य को प्रक्षालित कर, उसे निर्मल एवं स्वच्छ बना देती है। उसकी चरम परिणति यह होती है कि उपासक उपास्य का पद पा लेता है। वह जन-जन का आराध्य बन जाता है। णमोक्कार महामंत्र का यह अनुपम वैशिष्ट्य है।

णमोक्कार मंत्र की सर्व-सिद्धान्त-सम्मतता

मंत्रशास्त्र की अपेक्षा से चिंतन किया जाय तो जिस प्रकार गारुड़िक आदि के मंत्रों द्वारा सर्पादि का विष शांत, नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार णमोक्कार के प्रयोग एवं अभ्यास द्वारा पापरूपी विष नष्ट हो जाता है।

योगशास्त्र में ध्यान के विवेचन में पदस्थ-ध्यान का वर्णन आया है, जहाँ पवित्र पदों का आलंबन लेकर ध्यान करने का निर्देश किया गया है।[1] ज्ञानार्णव आदि योग विषयक ग्रंथों में भी इसका विशद विवेचन हुआ है।[2]

पदस्थ-ध्यान को सिद्ध करने के लिये णमोक्कार महामंत्र के पदों का आलंबन अनन्य साधन है। आगम-वाङ्मय में ज्ञान तथा आचार के सन्दर्भ में जो बहुमुखी विवेचन हुआ है— उसमें सर्वत्र णमोक्कार महामंत्र का ही दर्शन व्याप्त है क्योंकि णमोक्कार महामंत्र में जिस अध्यात्म-उपलब्धि का चित्रण है, वही आगमों का विषय है। अतः णमोक्कार महामंत्र समग्र श्रुत में परिव्याप्त है। आगम

१. योगशास्त्र, प्रकाश-१, श्लोक-८.
२. ज्ञानार्णव, सर्ग-३८, श्लोक-१,२.

एवं शास्त्र-निरूपित कर्म-साहित्य की दृष्टि से णमोक्कार महामंत्र का अनुपम महत्त्व है। णमोक्कार मंत्र के एक-एक अक्षर की प्राप्ति तभी होती है, जब अनंतानंत कर्म पुद्गल विध्वस्त होते हैं तथा इस महामंत्र के एक-एक अक्षर के उच्चारण से कर्म-पुद्गलों का विनाश होता जाता है।

ऐहिक– सांसारिक दृष्टि से भी णमोक्कार मंत्र के पुण्यार्जनमूलक परिणामस्वरूप प्रशस्त अर्थ, आरोग्य, सुख इत्यादि की प्राप्ति होती है तथा उसके अभ्यास द्वारा चित्त में प्रसन्नता का आविर्भाव होता है।

पारलौकिक दृष्टि से यह मंत्र मोक्ष का हेतु है। जब तक मोक्ष प्राप्त न हो सके तब तक यह उत्कृष्ट देवलोक तथा प्रशस्त-मनुष्य-भव और उत्तमकुल आदि की प्राप्ति कराता है। परिणामस्वरूप जीव स्वल्पकाल में बोधि प्राप्त करता है। साधना या समाधि-पथ पर आरूढ़ होता है। अंतत: सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

अनुयोग के रूप में विभाजित आगमों के अंतर्गत 'द्रव्यानुयोग' की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र का पहला और दूसरा पद आत्मा का शुद्धस्वरूप है। उन दोनों के पश्चाद्वर्ती आचार्य, उपाध्याय और साधु– ये तीन पद शुद्ध स्वरूप की साधक-अवस्था के प्रतीक हैं।

'चरणकरणानुयोग' के अनुसार इसका संबंध आचार के साथ जुड़ा हुआ है। श्रमण और श्रमणोपासक की समाचारी या व्रत-परंपरा के परिपालन में अनुकूल या विघ्न-निवारण हेतु णमोक्कार मंत्र का पुन:-पुन: उच्चारण या जप अत्यंत आवश्यक है और उपयोगी है।

णमोक्कार मंत्र में पदों की संख्या नव है। गणितानुयोग की दृष्टि से गणित-शास्त्र में नव की संख्या अन्य संख्याओं की अपेक्षा अखंडता तथा अभग्नता का अभाव है। यह ऐसी संख्या है, जो नित्य नवाभिनव भावों को आविष्कृत करती है। नवकार की आंठ संपदाएं– अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियों और अनंत संपदाओं को प्रदान करती है, सिद्ध करती हैं।

इस महामंत्र के अड़सठ अक्षर तीर्थ स्वरूप हैं, जो ध्याता को संसार-समुद्र से पार कराते हैं। णमोक्कार मंत्र के पदों का आवर्तन-परावर्तन चैतसिक स्थिरता का अमोघ हेतु है।

'धर्म कथानुयोग' की अपेक्षा से, जिसमें धार्मिक जीवन को उन्नत बनाने वाले कथानक होते हैं, णमोक्कार महामंत्र का बड़ा महत्त्व है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुवृंद के जीवन-चरित-संबंधी अद्भुत कथाएं इसके साथ संलग्न हैं। जिन्होंने णमोक्कार की आराधना द्वारा समुन्नति की, उन जीवों की कथाएं भी पाठकों को आत्मोत्थान का मार्ग प्रदर्शित करती है। ये सात्त्विकता, धर्मानुरागिता आदि गुणों को पोषण देती हैं। श्रमण, श्रमणी, श्रमणोपासक, श्रमणोपासिका चतुर्विध-संघ की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र सब को एक आध्यात्मिक शृंखला में जोड़ता है तथा सभी को एक ही स्तर पर

पहुँचाने का, आत्मा का शुद्धस्वरूप स्वायत्त कराने का माध्यम है।

चराचर या स्थावर जंगमात्मक विश्व की दृष्टि से भी णमोक्कार मंत्र के आराधन का एक विलक्षण प्रभाव है। जो इस महामंत्र की आराधना करते हैं, वे अपनी ओर से समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करते हैं। प्राणातिपात या हिंसा से पृथक् रहते हैं, सदा समग्र संसार के प्राणियों की सुखशांति की कामना करते हैं। प्रत्युपकार या प्रत्याशा के बिना वे उस दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। वैयक्तिक दृष्टि से भी यह महामंत्र आराधक के लिए उन्नतिप्रद है। साधक बाह्य साधन-सामग्री के अभाव में भी इस मंत्र की प्रेरणा से मानसिक बल प्राप्त करता है। वह इसके द्वारा उन्नति के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचने में सक्षम होता है।

सामाजिक उन्नति की अपेक्षा से यह महामंत्र सभी को एक समान आध्यात्मिक आदर्शों का उपासक बनाता है। सत्-श्रद्धा, सद्-ज्ञान तथा सत्-चारित्र के शुद्ध-पथ पर अविचल रहने का उत्साह और बल-प्रदान करता है।

अनिष्ट निवारण या विघ्नों की निवृत्ति की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र का स्मरण अशुभ कर्मों को रोकता है। शुभ कर्मों के विपाकोदय को अनुकूल बनाता है। उसके परिणामस्वरूप प्राप्त सुखों को उपस्थापित करता है। इस महामंत्र के प्रभाव से समग्र अनिष्ट स्थितियाँ, विपरीतताएं– इष्ट स्थितियों में, अनुकूलताओं में परिणत हो जाती हैं। जंगल में मंगल हो जाता है। भंयकर सर्प पुष्पमालाओं में परिवर्तित हो जाते हैं।

ऐहिक इष्ट-सिद्धि की दृष्टि से णमोक्कार मंत्र की आराधना के फलस्वरूप दैहिक-शक्ति, बुद्धि, मनोबल, आर्थिक वैभव, राज्यसत्ता, लौकिक संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभाव ये सब प्राप्त होते हैं। क्योंकि यह महामंत्र, चित्त की मलिनता और दूषितता को दूर करता है एवं मानसिक निर्मलता और उज्ज्वलता को प्रगट करता है। जब चित्त में निर्मलता आ जाती है तो पुण्य-प्रभाववश सभी प्रकार की उन्नति होती है।[१]

सार-संक्षेप

प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत विविध पक्षों को लेते हुए णमोक्कार महामंत्र की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ आगम, योग, मंत्र, कर्म-साहित्य, आगमगत अनुयोग, आध्यात्मिक दृष्टि, आत्मकल्याण, आत्माभ्युदय, संघ-हित, व्यक्ति-उत्थान, सामाजिक-श्रेयस्, चराचर समस्त विश्व के कल्याण, दुःख-निवृत्ति, विघ्न-नाश, सुख-प्राप्ति आनुकूल्य इत्यादि विविध दृष्टिकोणों को लेते हुए विश्लेषण किया गया है। 'णमोक्कार महामंत्र' की ऐसी गरिमा है कि वह इन सबकी कसौटी पर खरा उतरता है।

१. परमेष्ठि नमस्कार, पृष्ठ : ८४-८६.

इन पक्षों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वह भाव है– जिसका संबंध आत्मा के परम कल्याण या चरम श्रेयस् के साथ जुड़ा हुआ है। वह सर्वथा आध्यत्मिक है। वहाँ भौतिक अभीप्साओं और उपलब्धियों का कोई स्थान नहीं है। वह तो संवर निर्जरामय साधना के साथ संलग्न है।

कार्मिक आवरणों के निरोधमूलक संवर के लिये जिन प्रबल आत्म-परिणामों की आवश्यकता होती है, णमोक्कार महामंत्र के जप, ध्यान तथा अभ्यास द्वारा वह उपलब्ध होती है। पुनः-पुनः संसार-सागर में परिभ्रमण कराने वाला कर्म-प्रवाह अवरूद्ध हो जाता है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलब्धि है। साथ ही साथ महामंत्र की आराधना से एक ऐसी आंतरिक ऊर्जा का जागरण होता है, जिससे साधक को तपश्चरण में आनंदानुभूति होने लगती है।

चिरकाल से लिप्त कर्म-मल धुलता जाता है– यह दूसरी आध्यात्मिक उपलब्धि है। जिसका उल्लेख आगमों में, आगमगत अनुयोगों में, मंत्रशास्त्रों में, योगशास्त्र में तथा कर्मग्रंथों में हुआ है। इन दोनों आध्यात्मिक उपलब्धियों से वह परमोत्कृष्ट परिणाम प्रस्फुटित होता है, जिसके लिये अनंतकाल से जीव व्याकुल है।

दार्शनिक भाषा में जीव को सिद्धत्व, मुक्तत्व प्राप्त हो जाता है, जिससे बढ़कर इस त्रैलोक्य में कोई भी उपलब्धि नहीं है। णमोक्कार मंत्र का यह महत्तम लाभ है।

दूसरा भाग ऐहिक या लौकिक है, जिसका संबंध सांसारिक उन्नति, समृद्धि-संपत्ति, सुख इत्यादि के साथ संलग्न है। इन सभी की प्राप्ति के हेतु शुभ-कर्म हैं। यद्यपि णमोक्कार महामंत्र का परम लक्ष्य कर्मावरणों को तोड़ना है, पर साधना काल में ज्यों-ज्यों रागादि भव हल्के पड़ते जाते हैं– अप्रशस्त से प्रशस्त बनते जाते हैं, त्यों-त्यों पुण्य-प्रकृतियों का बंध होता जाता है। यद्यपि साधक का यह लक्ष्य नहीं होता, पर वे प्रासंगिक रूप में बंधती है, जिनके फलस्वरूप सांसारिक अनुकूलताएं, जिन्हें सुख कहा जाता है, प्राप्त होती हैं।

सांसारिक सुख, वैभव आदि की प्राप्ति के दो प्रकार के परिणाम होते हैं। मिथ्या-दृष्टि पुरुष उन्हें प्राप्त कर नितांत भोगोन्मुख जीवन अपनाते हैं। सम्यग्-दृष्टि पुरुष उनमें विमूढ़ नहीं बनते। वे उनका सात्त्विक कार्यों में उपयोग करते हैं। यदि सद्बुद्धि और सदुद्देश्य हो तो संपत्ति विकार का हेतु नहीं बनती। वह सांसारिक सुविधा देते हुए जीवन को सात्त्विक बनाने में सहायता करती है।

णमोक्कार मंत्र का आराधक उसी कोटि का व्यक्ति होता है। भौतिक उपलब्धियाँ भी उसको आध्यात्मिक दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। इस प्रकार वह आगे बढ़ता-बढ़ता आध्यात्मिक मार्ग स्वीकार कर लेता है तथा मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है। यह णमोक्कार मंत्र का अद्भुत प्रभाव है।

णमोक्कार मंत्र और तदनुस्यूत साधना-पथ का अंतिम लक्ष्य सिद्धावस्था है। सिद्ध प्रणम्य और अभिवन्द्य हैं। वह प्रणम्यता अन्तःस्फूर्ति के अमृत कणों से संसिक्त है।

वन्दनीय, नमनीय सिद्ध-परमात्मा का जैन-आगमों में विविध अपेक्षाओं से विस्तृत वर्णन है। तृतीय अध्याय में सिद्धत्व विषयक आगमगत विवेचन का विश्लेषण, समीक्षण करने का प्रयास रहेगा।



तृतीय अध्याय

आगमों में सिद्धपद का विस्तार

आगम : आप्त-परंपरा

'आगम' जैन धर्म के सर्वाधिक प्रामाणिक शास्त्र हैं। आगम का अभिप्राय उस ज्ञान से है, जो अनादि काल से चला आ रहा है। तीर्थंकर अपने-अपने समय में उसका उपदेश करते हैं। जिनके ज्ञान के समस्त आवरण मिट जाते हैं, वे सर्वज्ञ होते हैं। वर्तमान, भूत और भविष्य– तीनों को वे प्रत्यक्ष देखते हैं। उनका ज्ञान सर्वथा निर्मल, शुद्ध तथा अविसंवादी होता है। परस्पर वचनों में कोई विरोध नहीं होता। ऐसे ज्ञान के धनी आप्त पुरुष कहलाते हैं। तीर्थंकर आप्त पुरुष हैं।

आगमों के रूप में जो सूत्र हमें प्राप्त हैं, वे अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा अर्थ रूप में उपदिष्ट तथा उनके प्रमुख शिष्यों-गणधरों द्वारा संग्रथित हैं। इस संबंध में प्रस्तुत शोधग्रंथ के प्रथम अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। सिद्धों के संबंध में आगमों में उनके स्वरूप, संख्या, चरमता, अचरमता, काल, अवगाहन, स्थान, सुख आदि विविध पक्षों पर जो विवेचन हुआ है, उसे विश्लेषण एवं विमर्शपूर्वक इस अध्याय में उपस्थित करने का प्रयास रहेगा।

जीवन का परम साध्य : मोक्ष

जैन धर्म में जीवन का परमसाध्य मोक्ष या मुक्तावस्था है, जहाँ आत्मा के सभी बहिर्भाव विलुप्त हो जाते हैं, अंतरात्मभावपूर्वक वह परमात्मावस्था प्राप्त कर लेती है।

वहाँ साधक की साधना सिद्धि प्राप्त कर लेती है। आत्मा, परमात्मा या सिद्ध भगवान् के रूप में परिणत हो जाती है, जो समस्त कर्मों के क्षय का परिणाम है। वहाँ सहज रूप में आत्मा के मूल गुण प्रकट हो जाते हैं।[१]

"जिनके आठों कर्म क्षीण हो गए हों, जो सब प्रकार के दोषों से मुक्त हो गये हों, सब गुणों को जिन्होंने प्राप्त कर लिया हों, वे सभी सन्त, सिद्ध भगवन्तों में समाविष्ट हैं।"[२]

"संसार में जो सुखी से सुखी जीव माने जाते हैं, उनमें मरणादि का भय व्याप्त रहता है। सिद्धत्व-

१. सचित्र णमोकार महामंत्र, परिशिष्ट-५, पृष्ठ : १८, १९.
२. पंचपरमेष्ठी नमस्कार महामंत्र, याने जैन धर्मनुं स्वरूप, पृष्ठ : ४१,

प्राप्त आत्माओं को वह भय नहीं होता। अतः सिद्धि का सुख अव्याबाध है। जैसे बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्मबीज के दग्ध हो जाने पर जन्म रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता। जहाँ जन्म नहीं है, वहाँ जरा या मृत्यु का भय होता ही नहीं।"[१]

"नव तत्त्वों में मोक्ष तत्त्व अन्तिम तत्त्व है। वह जीवमात्र का चरम और परम लक्ष्य है। जिसने समस्त कर्मों का क्षय करके अपने साध्य को सिद्ध कर लिया, उसने पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली। कर्म-बन्धन से मुक्ति मिली कि जन्म-मरणरूप महान् दुःखों के चक्र की गति रुक गई। सदा-सर्वदा के लिए सत्-चित्-आनंदमय स्वरूप की प्राप्ति हो गई।"[२]

मुक्तत्व– सिद्धत्व या शुद्धात्म-भाव के सन्दर्भ में निम्नांकित तथ्य ध्यातव्य हैं–

"भोग्य पदार्थों पर आसक्ति-भाव के त्याग से तथा हिंसा, क्रोधादि से विरत होने पर मन और इन्द्रियों पर संयम स्थापित होता है। संयम का सीधा और प्रत्यक्ष परिणाम आत्मिक शांति है। संवर से पापों या आस्रवों का निरोध, उनसे तृष्णानाश और फिर क्रमशः आत्मा मुक्तावस्था को प्राप्त करने में समर्थ बन जाती है।[३]"

"परमार्थ-मार्ग की प्राप्ति का मूल आधार– वैराग्य तथा उपशम है। अथवा सम्यक्दशा के पाँच लक्षण– शम, संवेग, निर्वेद, आस्था और अनुकंपा को जीवन में उतारना है।"[४]

"मोक्ष या निर्वाण-प्राप्ति के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना की जाती है। उनमें णमोक्कार की मुख्यता है। यदि णमोक्कार की आराधना न हो तो ये समस्त आराधनाएँ कुछ भी फल नहीं दे सकती।"[५]

उपाध्याय श्री केवलमुनि जी 'महामंत्र नवकार' नामक पुस्तक में सिद्धों के ध्यान की फलवत्ता के संबन्ध में लिखते हैं– "सिद्ध परमात्मा के ध्यान में मुख्यतः उनके आनन्दमय, पूर्ण आरोग्यमय, अव्याबाध– बाध रहित स्वरूप का चिन्तन किया जाता है और इस चिन्तन से आनंद प्राप्त होता है, रोग मिटते हैं, बाधाएँ दूर होती हैं, कार्य सिद्ध होते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है।"[६]

"वासनाक्षय पूर्वक चित्तनाश होने का नाम मोक्ष है। अनात्मा के स्थान पर आत्मबुद्धि तथा आत्मा के स्थान पर अनात्मबुद्धि एतद्रूप अज्ञान तज्जनित चिदचिद्-ग्रंथि– चिज्जड़-ग्रंथि का नाश होने से मोक्ष प्राप्त होता है।"[७]

---

१. धर्मश्रद्धा, पृष्ठ : ८८.
२. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृष्ठ : २२४.
३. पच्चक्खाण क्यों और कैसे ? पृष्ठ : ११.
४. निर्वाणमार्गनुं रहस्य, पृष्ठ : ३१.
५. नमस्कार-मंत्र सिद्धि, पृष्ठ : १२.
६. महामंत्र नवकार, पृष्ठ : ३३.
७. नामचिन्तामणि, पृष्ठ : १३६.

आचारांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के पाँचवें लोकसार अध्ययन में सिद्ध या मुक्तात्मा की चर्चा हुई है। वहाँ पहले सिद्ध पद की गरिमा, विलक्षणता, अनुपमेयता का उल्लेख है।

आचारांग-सूत्र में सिद्ध का स्वरूप

आचारांग-सूत्र में एक प्रसंग आता है, जहाँ आसक्ति-वर्जन के उपायों का उल्लेख है। उसके द्वारा साधक मोक्ष-मार्ग की दिशा में अग्रसर होता है। वहाँ कहा गया है कि मोक्षमार्गारूढ़ मुनि, गति-अगति, भव-भ्रमण के कारणों को परिज्ञात कर जन्म-मरण के वृत्त– चक्रोपम मार्ग का अतिक्रमण कर जाता है, मुक्त हो जाता है। सिद्धत्व पा लेता है।

आचारंग-सूत्र में मुक्तात्मा या सिद्धात्मा के स्वरूप का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि सिद्ध– परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या करने में सभी स्वर निवृत्त हो जाते हैं। वहाँ वाणी की गति प्रतिहत हो जाती है। शब्दों द्वारा उसका विवेचन नहीं किया जा सकता। वहाँ तर्कों द्वारा कुछ सिद्ध नहीं हो पाता।

मति– मननात्मिका प्रज्ञा उसमें अवगाहन संप्रवेश नहीं कर पाती। वह बुद्धि बल द्वारा गम्य नहीं है। वह समग्र कर्म मल-विवर्जित, प्रतिष्ठान शरीर-मूल आधार से रहित है, क्षेत्रज्ञ है।[१]

विशेष

श्रीमद्भगवत्गीता में प्रकृति-पुरुष विवेक-योग, के अन्तर्गत्त 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का उल्लेख हुआ है। अर्जुन श्रीकृष्ण से निवेदन करते हैं कि मैं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्व जानना चाहता हूँ। उसके उत्तर में योगिराज श्री कृष्ण कहते हैं– हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। इसको जो जानता है, उसे ज्ञानी पुरूष क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

'मैं समस्त क्षेत्रों का, देहों का ज्ञाता हूँ,' जो इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानता है, उसका जानना ही यथार्थ ज्ञान है। ऐसा मेरा अभिमत है।

इस प्रसंग में गीताकार ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विस्तार से वर्णन किया है, जो स्वतंत्र रूप से पठनीय है।[२]

आचारांग में हुए उल्लेख के साथ, गीता में आया हुआ वर्णन तात्त्विक दृष्टि से तुलनीय है। दोनों ही स्थानों में क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग आत्मा के शुद्धस्वरूप के आशय में हुआ है।

---

१. आचारांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, पंचम-अध्ययन, उद्देशक-६, सूत्र-१७६.
२. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-१३, श्लोक-१-४, पृष्ठ : ४५५-४५८.

आचारांग में आगे परमात्मस्वरूप का, सिद्धत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि न वह दीर्घ-प्रलंब, न वह ह्रस्व– छोटा, न वृत्त– गोलाकार, न वह त्रिकोण, न चतुष्कोण तथा न वह वर्तुलाकार ही है।

इसी प्रकार न वह कृष्ण, न नील, न रक्त, न पीत, न श्वेत ही है। न सुरभित, न असुरभित ही है। न तिक्त, न कटु, न कषाय, न आम्ल तथा न मधुर रस से युक्त है। इसी प्रकार कर्कशता, मृदुता, गुरुता, लघुता, शीतलता, ऊष्णता, स्निग्धता तथा रुक्षता से समायुक्त नहीं है।

ये स्थितियाँ तो उनके साथ होती हैं, जो सशरीर होते हैं, सिद्ध इनसे अतीत हैं। वे लिंग-भेद से विवर्जित हैं। वे परिज्ञा, संज्ञा तथा चैतन्य से युक्त है। सांसारिक पदार्थों को तो सादृश्य के आधार पर उपमाओं द्वारा व्याख्यात किया जा सकता है। किन्तु सिद्धों पर वह व्याख्या-क्रम घटित नहीं होता।[1]

सूत्रकृतांग-सूत्र में मोक्ष की महत्ता–सिद्धत्व की गरिमा

द्वितीय अंग– आगम सूत्रकृतांग-सूत्र में एक स्थान पर निर्वाण की गरिमा का विवेचन करते हुए लिखा है– जैस अनेक नक्षत्रों में चंद्रमा अपने सौंदर्य, सौम्यत्वादि गुणों के कारण प्रधान– सर्वोत्तम है, उसी प्रकार उन ज्ञानी पुरुषों के लिए, जो मोक्ष को ही परम साध्य मानते हैं, निर्वाण– सिद्धावस्था सर्वोत्तम है, वही परमपद है।

अतः मुनि-संयमी-साधक-सदायत-यतनाशील, आत्म जागरूक एवं दांत– दमनशील, जितेंद्रिय रहता हुआ निर्वाण का संधान करे– सिद्धत्व को अपना लक्ष्य मानता हुआ उस ओर प्रवृत्त रहे।

जो प्राणी इस जगत् में मिथ्यात्व, मोह, कषायादि के प्रवाह में बहे जा रहे हैं, अपने कृत कर्मों के परिणामस्वरूप संक्लेश पा रहे हैं, उनके लिए जिनेश्वर देव ने निर्वाण के पथ को उत्तम द्वीप-विश्राम का स्थल बतलाया है। ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि भवभ्रमण से परिश्रांत प्राणियों के लिए वही प्रतिष्ठान विश्रांति का स्थान है।

जो आत्मगुप्त– मानसिक, वाचिक, कायिक उत्तम प्रवृत्तियों द्वारा आत्मा को पाप से गुप्त या रक्षित रखता है, सदैव विकारों का, इंद्रियों का दमन करता है, उनके वशमें नहीं होता, जो छिन्न स्रोत है– मिथ्यात्व आदि संसार के स्रोतों– जगत् में पुनः-पुनः आवागमन के हेतुओं को छिन्न करने की दिशा में उद्यत है, जो अनास्रव है– आस्रव निरोध की ओर प्रयत्नशील है, वह इस शुद्ध, सर्व दोष-विवर्जित, प्रतिपूर्ण– समग्रता युक्त तथा अनादृश– अनुपम या अप्रतिम निर्वाण पथ का– मोक्ष मार्ग का या सिद्ध पद का आख्यान करता है, उपदेश करता है।[2]

१. आचारांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, पंचम-अध्ययन, उद्देशक-६, सूत्र - १७६-१८९.
२. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्ययन - ११, गाथा - २२ - १४, पृष्ठ : ३९४.

इस प्रसंग में आगमकार ने अन्य तीर्थिकों– मतवादियों द्वारा स्वीकृत समाधि-मार्ग की संक्षेप में चर्चा की है, और कहा है कि उनके सिद्धांत शुद्ध, तात्त्विक मार्ग से पृथक् हैं, अज्ञतापूर्ण हैं।[1]

आगे आगम सम्मत मोक्षमार्ग का भाव लोक-मानस में दृढ़ता-पूर्वक प्रतिष्ठापित करने हेतु कहा गया है कि यह मोक्षमार्ग काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने प्ररूपित किया।

ऐसा कहकर सिद्धावस्था को, मोक्ष को प्राप्त कराने वाले धर्म के स्वरूप का संक्षेप में उल्लेख किया है। ग्रामधर्म– शब्द, रूप, रस गंधादि इंद्रिय सम्बन्धी भोगों से संयम-पथ की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है।[2]

इस सूत्र में एक स्थान पर भावना-योग की चर्चा हुई है। भावना का आत्म-विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। उससे आत्मा के परिणाम एवं आचार– दोनों में प्राणवत्ता का संचार होता है। वहाँ कहा गया है कि जो साधक भावना-योग द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेते हैं, वे समस्त दुःखों को नष्ट कर विमुक्त हो जाते हैं। संसार से छूट जाते हैं। मुक्ति पा लेते हैं।[3]

भावना-योग के माध्यम से दुःख-विमुक्ति की जो चर्चा की गई है, उस गाथा से पूर्व यह प्रतिपादित हुआ है कि श्री तीर्थंकर प्रभु ने इसका आख्यान किया है।[4]

ऐसा कहकर आगमकार सूचित करते हैं कि यह तथ्य परमसत्य है, असंदिग्ध और सुनिश्चित है क्योंकि सर्वज्ञ-भाषित है।

मोक्षाभिमुख साधक की भूमिका

सूत्रकृतांग में एक स्थान पर साधक की मोक्षाभिमुखता का विश्लेषण करते हुए संक्षेप में प्रकाश डाला गया है कि वह संसार का– भवभ्रमण का– आवागमन का अंतकर विमुक्त हो जाता है।

आगे कहा गया है– लोक में पाप को– पापाचरण के स्वरूप को जानने वाला मेधावी– प्रज्ञाशील या विवेकसंपन्न साधु पाप कर्मों को तोड़ डालता है। क्रमशः सभी कर्मों को नष्ट कर डालता है तथा नए कर्मों का बंध नहीं करता।

इस गाथा का अभिप्राय यह है कि साधक के लिए यह अति आवश्यक है कि वह ज्ञानाराधना द्वारा

---

१. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्ययन-११, गाथा-२५-३१, पृष्ठ : ३९५.
२. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्ययन-११, गाथा-३२-३८, पृष्ठ : ३९७.
३. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्ययन-१५, गाथा-५, पृष्ठ : ४४२, ४४३.
४. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्ययन-१५, गाथा-१-४, पृष्ठ : ४४२.

शुभाशुभ कर्मों के स्वरूप का बोध प्राप्त करे। वैसा बोध होने पर सहज ही उसके मन में यह भाव जागरित होगा कि वह अपने संचित कर्मों को निर्जीर्ण करे। वह यह जानता है कि केवल पूर्व कर्मों के निर्जरण से ही सिद्धि नहीं होगी, इसलिये वह कर्मों का नूतन-प्रवाह रोकता है, नये कर्म नहीं बांधता है।

दर्शन की भाषा में यों कहा जा सकता है कि वह आस्रव-निरोध और संवर का पथ अपना लेता है। ऐसा होने का सीधा अर्थ है कि मुक्ति की दिशा में अग्रसर होता जाता है।

इसी गाथा के आशय को स्पष्ट करते हुए आगमकार बतलाते हैं कि जो मानसिक, वाचिक, कायिक दृष्टि से नये कर्म नहीं बांधता, वही कर्मों के स्वरूप को यथावत् में जानता है। वैसा जानकर वह आत्म-संग्राम में जूझने वाला महान् योद्धा, ऐसा उद्यम– पुरुषार्थ करता है– संयम एवं तपश्चरणमूलक धर्म की आराधना में संलग्न हो जाता है, जिससे वह जन्म-मरण से मुक्ति पा लेता है।

इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसके पूर्वकृत कर्म नहीं है– जो संचित कर्मों को नष्ट कर डालता है, वह महान् साधक न मरता है, न जन्मता है। जैसे अग्नि की ज्वाला को वायु लांघ जाती है, वैसे ही वह इस संसार में प्रिय– मनोज्ञ, सांसारिक भोगों को लांघ जाता है, अच्छी लगने वाली स्त्रियों द्वारा आकृष्ट नहीं होता। उनके वश में नहीं होता है।

यहाँ किन्हीं अन्य भोग्य पदार्थों का नाम न लेकर केवल स्त्रियों का ही उल्लेख कैसे हुआ ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। क्या स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वस्तु भोगने योग्य नहीं है ? यहाँ समझने और ध्यान में लाने की बात यह है कि तुलनात्मक दृष्टि से सभी सांसारिक भोगों में स्त्री-भोग का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। उसी के लिए मनुष्य उत्तम भवन, कोमल, सुस्वादु खाद्य-पेयादि पदार्थों एवं अन्यान्य साधनों का संग्रह करता है। इसलिए स्त्री-विषयक सुख की चर्चा करने से अन्य सभी सुखों का उसमें समावेश हो जाता है।

सारांश यह है कि जो स्त्री विषयक सुख में निःस्पृह हो जाता है, उसके लिए अन्यान्य सुख सुविधाओं को छोड़ पाना कठिन नहीं है। संभव है, इसी आशय से आद्य शंकराचार्य ने शंकर-प्रश्नोत्तरी में लिखा है –

'द्वारं किमेकं नरकस्य ? — नारी।।'

नरक का एक मुख्य द्वार क्या है ?– नारी।[1]

यहाँ यह भी विचारणीय है, नारी स्वयं कोई पापमय पदार्थ नहीं है। आसक्ति, मूर्च्छा, लोलुपता से पुरुष स्वयं पाप-पंकिल बनता है और वह नारी को निमित्त बना लेता है।

१. शंकर प्रश्नोत्तरी, श्लोक-३, पृष्ठ : ६.

भोग पतन का हेतु है। मानव की यह दुर्बलता है, ज्यों-ज्यों भोग्य पदार्थ उसके समक्ष उपस्थित होते हैं, वह अपने स्वरूप का भान भूल जाता है और अविवेक से अंधा बन जाता है। उनमें आसक्त, उपलिप्त हो जाता है। इसलिये सूत्रकार ने इस विषय को और अधिक दृढ़तापूर्वक ज्ञापित करने हेतु कहा है कि जो मुमुक्षु जन स्त्रियों का सेवन नहीं करते, कामभोग से दूर रहते हैं, वे सहज ही मोक्ष-पथ का अवलंबन कर लेते हैं– मोक्षगामी होते हैं क्योंकि वे जब भोगों से हट जाते हैं तो क्रमशः कर्म-बंधन से मुक्त होते जाते हैं। भवभ्रमण के प्रति उनमें अरुचि-भाव उत्पन्न हो जाता है। एक मात्र मोक्ष ही उनके मन में बस जाता है।

जो साधक-सांसारिक, भौतिक जीवन को पीठ देकर, उससे विमुख होकर कर्मों का अंत करते हैं, उन्हें नष्ट करने में संलग्न रहते हैं, वे मोक्षमार्ग को अधिकृत कर लेते हैं– अपना लेते हैं तथा वे उत्तम धर्ममूलक कर्मों के आचरण द्वारा मोक्ष के सम्मुखीन हो जाते है। वे मोक्षाभिमुख साधक भिन्न-भिन्न प्राणियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुशासित करते हैं। धर्म की शिक्षा प्रदान करते हैं। वे वस्तुमान-संयमरूप धन से संपन्न सत्पुरुष पूजा, प्रतिष्ठा में अरुचि रखते हैं। वे अनाश्रय– आश्रय या कामना रहित होते हैं। यत– संयम में उद्यत रहते हैं, अपनी इंद्रियों को वश में रखते हैं, अपने द्वारा ली गई प्रतिज्ञाओं या नियमों में सदा दृढ़ बने रहते हैं। काम-भोग से सर्वथा विरक्त रहते हैं, मोक्ष की दिशा में उत्तरोत्तर अग्रसर होते है।

सूकर आदि जंतुओं को लुभाने के लिए बिखेरे गए नीवार– चावल के दानों की तरह वे सांसारिक भोगों को जानते हुए उनमें लीन, आसक्त नहीं होते। वे स्रोत– आस्रव-द्वारों को छिन्न या नष्ट कर देते हैं। वे सदा अयनाविल– राग-द्वेष आदि के मल से रहित– स्वच्छ या निर्मल होते हैं। सदैव दांत– दमनशील होते हैं। वे विषय भोगों से विरक्त होते हुए अनाकुल– आकुलता रहित, स्थिरचित्त हो जाते हैं।

जो अनिदृश– जिसके समान दूसरा कोई नहीं, ऐसे धर्मतत्त्व को जानता है, वह किसी भी प्राणी के साथ मन, वचन एवं कर्म द्वारा शत्रु-भाव न बढ़ाए। वैसा करने वाला ही यथार्थतः चक्षुष्मान्– नेत्रयुक्त है– तत्त्व द्रष्टा है।

जो साधक कांक्षा का– अभीप्सा का, कामना का या विषय-वासना का अंतवर्ती होता है– उन्हें नष्ट कर डालता है, वही अनन्य जनों के लिये चक्षुभूत है। उन्हें सही रूप में आत्म कल्याणकारी मार्ग दिखा सकता है। जैसे क्षुर– उस्तरा अपने अंत से– अंत के भाग से, किनारे से काम करता है। रथ या गाड़ी का चक्र– पहिया अपने अंत से चलता है, वैसे ही मोहनीय-कर्म का अंत ही इस संसार का– आवागमन का, जन्म-मरण का अंत करता है, और मोक्ष या सिद्धत्व प्राप्त कराता है।

आगे की गाथा में आगमकार साधक के लिए आहार के संबंध में विशेष जागरूक रहने की चर्चा

करते हुए कहते हैं कि संयम के उपकरणभूत देह को चलाने के लिए आहार अत्यावश्यक है। धीर-सहिष्णु, तितिक्षा-परायणसाधक अंतप्रांत– अनुद्दिष्ट तथा आत्मसंयमन पूर्वक गृहस्थों द्वारा दिये गए या शेष रहे आहार का सेवन करते हैं, वे इसी क्रम से संसार का अंत करते हैं। इसे मनुष्य लोक में अथवा आर्य-क्षेत्र में धर्माराधना करते हुए संसार से मुक्त हो जाते हैं, छूट जाते हैं।[1]

मोक्ष के साधना-पथ को जानने के लिए तत्त्व-ज्ञान आवश्यक है, जो स्वाध्याय से प्राप्त होता है। कहा है –

"जैनागम में स्वाध्याय को मोक्ष का परम अंग कहा गया है। प्रत्युपेक्षणा, प्रमार्जना, भिक्षाचर्या, वैयावृत्य आदि संयम के असंख्य व्यापारों में से किसी भी योग में लीन जीव प्रति समय असंख्य भवों के कर्मों का क्षय करता है, तो भी स्वाध्याय-योग में लीन व्यक्ति स्थिति एवं रस के द्वारा कर्मों का विशेष रूप से क्षय करता है।"[2]

मोक्ष प्राप्ति की सुलभता : दुर्लभता

सूत्रकृतांग में एक स्थान पर आर्य सुधर्मा स्वामी जंबूस्वामी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि मैंने भगवान् महावीर की धर्मदेशना में यह श्रवण किया है कि मनुष्य ही रत्नत्रय की आराधना द्वारा कर्मों का क्षय कर निष्ठितार्थ– कृतकृत्य होते हैं, मोक्ष या सिद्धत्वरूप अपना परमलक्ष्य साध लेते हैं। अथवा कई, जिनके संपूर्णतः कर्मों का क्षय नहीं होता, कुछ कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं, सौधर्म आदि देवलोक में उत्पन्न होते हैं। मुक्तता या सिद्धावस्था रूप कृतकृत्यता कुछ ही लोगों को प्राप्त होती है। वह सर्वसुलभ नहीं है। यह प्राप्ति मनुष्य-योनि में ही होती है, मनुष्येतर योनि में नहीं होती।

इतना विवेचन करने के बाद में आगमकार अन्यतीर्थिकों के, इतर मतवादियों के मंतव्य की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि कइयों की ऐसी मान्यता है कि दैव ही समस्त दुःखों का अंत करता है, मनुष्य नहीं, किन्तु निर्ग्रंथ-प्रवचन में ऐसा कहा गया है कि इस समुत्थित– उन्नत मानव-शरीर या मानव-जन्म के बिना मोक्ष प्राप्त होना दुर्लभ है। अर्थात् मानव-योनि में ही साधना द्वारा समग्र कर्मों के नाश से मुक्ति या सिद्धि प्राप्त होती है।

जो इस मनुष्य जन्म को व्यर्थ खो देता है, उसे आगे जन्मांतर में संबोधि– सम्यक् दृष्टि प्राप्त होना बहुत कठिन है।[3]

---

१. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन-१५, गाथा-६, पृष्ठ : ४४४, ४४५.
२. परमेष्ठि नमस्कार, पृष्ठ १.
३. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्ययन-१५, गाथा-१६-१८, पृष्ठ : ४४७.

दर्शन की भाषा में मोक्ष का विश्लेषण करते हुए उल्लेख हुआ हैं– "अनात्मभाव की शून्यता में से पूर्णता प्रकट होती है। पूर्णता अमात्र पद है। शून्यता सेतु है। पररूप से शून्यता तथा स्वरूप से पूर्णता प्राप्त होने का द्वार दोनों भावों की अक्रमशः वाच्यता, अनिर्वचनीयता अथवा केवल स्वसंवेद्य है।"[१]

"बद्धता और मुक्तता मन-आधारित है। अपने मन का गुरु, मन को बनाओगे– मन द्वारा अन्तःपर्यवेक्षण करोगे तो सत्यवस्तु का ज्ञान होगा। बन्धन और मुक्ति दोनों का कारण मन ही है। यदि मन शुद्ध हो जाए, परमात्मा में लग जाए तो मुक्ति सहज है।"[२]

"जिस की शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा हो, वह यदि सर्वागम का धारी हो तो भी वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।"[३]

मोक्ष प्राप्त महापुरूष : उनका स्थान

मोक्ष या सिद्ध के विभिन्न पक्षों का विवेचन करने के अनंतर सूत्रकृतांग में मोक्ष प्राप्त पुरुषों की स्थिति या स्थान का अवबोध कराते हुए लिखा है –

जो पुरुष शुद्ध– सर्वदोष-वर्जित, प्रतिपूर्ण– समग्र या निरपवाद तथा अनुपम धर्म का आख्यान करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ स्थान– सिद्ध-अवस्था को अधिगत करते हैं। ऐसा होने पर फिर उनके लिए जन्म की– संसार में उत्पन्न होने की बात ही कहाँ ? अर्थात् वे जन्म-मरण से सदा के लिए छूट जाते हैं।

इस गाथा में एक बड़ा रहस्य है। यहाँ धर्म-पालन करने की बात न कह कर धर्म का आख्यान– प्ररूपणा करने की बात कही गई है। इसका सारांश यह है कि धर्म की प्ररूपणा करने के अधिकारी वे ही महापुरुष होते हैं, जिन्हें सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। जो तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानवर्ती होते हैं। कर्मक्षय द्वारा उस भूमिका तक पहुँच जाते हैं, जिसकी उत्तरवर्ती मंजिल– मुक्ति या सिद्धावस्था होती है। अर्थात् वे शुक्लध्यान की परमोत्कृष्टावस्था प्राप्त कर चौदहवें अयोग-केवली गुणस्थान में पहुँच जाते है। वहाँ समस्त योग-प्रवृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं, केवल विशुद्ध परमात्म-स्वरूप ही भासित होता है।[४]

वैसे मेधावी-महानज्ञानी पुरुष फिर क्यों कभी इस संसार में उत्पन्न हो ? अर्थात् उनका जन्म-उद्भव सदा के लिए मिट जाता है। वे सर्वज्ञ, तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरूष अप्रतिज्ञ– निदान-वर्जित होते हैं, तथा लोक के अनुत्तर– सर्वश्रेष्ठ-नेत्र-पथदर्शक होते हैं।[५]

---

१. मंत्र भलो नवकार, पृष्ठ : ९१. २. भागवत-सुधा, पृष्ठ : ६४.
३. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृष्ठ : ७०.
४. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथम-श्रुतस्कंध, अध्ययन-१५, गाथा-१-१८, पृष्ठ : ४४७.
५. सूत्रकृतांग-सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन १५, गाथा-१९,२०, पृष्ठ : ४४८.

स्थानांग-सूत्र में मोक्ष का अस्तित्त्व

स्थानांग-सूत्र का ग्यारह अंग-सूत्रों में एक विशिष्ट स्थान है। इसमें तत्त्वों का संख्यात्मक क्रम से उल्लेख है। इसमें दस स्थान हैं। प्रथम स्थान में उन सब पदार्थों का उल्लेख या संकलन है, जो संख्या में एक-एक हैं। इसी प्रकार दूसरे स्थान में उन पदार्थों का संकलन है, जो दो-दो होते हैं। यही क्रम उत्तरोत्तर आगे के स्थानों में चलता जाता है।

स्थानांग-सूत्र में मोक्ष का जहाँ-जहाँ विविध अपेक्षाओं से परिज्ञापन हुआ है, उस संबंध में यहाँ विवेचन किया जा रहा है –

स्थानांग-सूत्र के प्रथम स्थान में उन पदार्थों के अस्तित्व का उल्लेख है, जो संसार में एक-एक की संख्या में अवस्थित हैं। आत्मा, दंड, क्रिया, लोक, अलोक, धर्म, अधर्म, बंध– इन नौ पदार्थों के उल्लेख के पश्चात् आगमकार ने दसवीं संख्या पर दसवें सूत्र में मोक्ष का उल्लेख किया है। मोक्ष एक हैं, ऐसा उन्होंने लिखा है। यह सूत्र मोक्ष के एकरूपात्मक अस्तित्व का द्योतक है। मोक्ष, मुक्तावस्था या सिद्धावस्था में सर्वथा एकरूपता है। यद्यपि मोक्ष को प्राप्त आत्माएं अनंत हैं, सिद्ध संख्यात्मक दृष्टि से अनंत की कोटि तक पहुँचते हैं किन्तु उनके स्वरूप में किसी भी प्रकार का अंतर, भेद या पार्थक्य नहीं है।

एक प्रश्न उपस्थित होता है– जब अनंत सिद्धों के स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं है, सर्वथा सदृशता है तो फिर उनमें भिन्नत्व-द्योतक सीमा का अस्तित्व कैसे होगा ? यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन शास्त्रानुसार यद्यपि सिद्ध अमूर्त, अशरीरी हैं किन्तु मानव भव में जिस अंतिम देह का परित्याग कर वे सिद्धत्व प्राप्त करते है, उस देह की अवगाहना का दो तिहाई भाग सिद्धावस्था में विद्यमान रहता है। वह अवगाहना सीमा की पृथकता का हेतु बनती है।[1]

सिद्धपद : वर्गणा

स्थानांग-सूत्र में सिद्ध पद की वर्गणाओं का वर्णन करते हुए कहा गया है –

तीर्थ सिद्ध की वर्गणा एक है। उसी प्रकार अतीर्थ-सिद्धों, तीर्थंकर-सिद्धों, अतीर्थंकर-सिद्धों, स्वयंबुद्ध-सिद्धों, प्रत्येक बुद्ध-सिद्धों, बुद्धबोधित-सिद्धों, स्त्रीलिंग-सिद्धों, पुरुषलिंग-सिद्धों, नंपुसकलिंग-सिद्धों, स्वलिंग-सिद्धों, अन्यलिंग-सिद्धों, गृहस्थलिंग-सिद्धों, एक-सिद्धों, अनेक-सिद्धों, अप्रथम समय-सिद्धों तथा अनंतसमय-सिद्धों की वर्गणाएँ एक-एक हैं– उनमें से प्रत्येक कोटि के सिद्धों की वर्गणाएँ अपनी एक-एक हैं।[2]

१. स्थानांग-सूत्र, स्थान-१. सूत्र-१० पृष्ठ : ४. २. स्थानांग-सूत्र, प्रथम-स्थान, सूत्र-२१४-२२८, पृष्ठ : १७.

समान गुणवाले परमाणु-पिंड को वर्गणा कहा जाता हैं, जो पाँच प्रधान जाति युक्त सूक्ष्म स्कंधों के रूप में लोक के सर्व प्रदेशों पर अवस्थित रहते हुए जीव के सर्व प्रकार के शरीर एवं लोक के सर्व स्थूल, भौतिक पदार्थों का उपादान कारण होती है।[1]

सिद्धों के जो पंद्रह भेदों की भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ उपर्युक्त वर्णित की गई हैं, उसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध पर प्राप्त करने वाले विभिन्न प्रकार के व्यक्ति सिद्ध पद प्राप्ति से पूर्व जब शरीरावस्था में होते हैं, तब उनके शरीर जिन वर्गणाओं को लिए रहते हैं, सिद्ध पद पाने के अनंतर उन वर्गणाओं की अवगाहनात्मक अमूर्त्त स्थिति बनी रहती है। वह अमूर्त वर्गणात्मक स्थिति प्रत्येक कोटि के सभी सिद्धों की एक जैसी होती है।

साथ ही साथ यह ज्ञातव्य है –

"संसार-अवस्था में कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों के साथ आत्मा के प्रदेश, क्षीर-नीर की तरह मिले रहते हैं। सिद्ध अवस्था प्राप्त होने पर कर्म-प्रदेश भिन्न हो जाते हैं, केवल आत्म प्रदेश ही रह जाते हैं और वे सघन हो जाते हैं।[2]

मुक्त-अमुक्त विश्लेषण

स्थानांग-सूत्र में मुक्तता और अमुक्तता के आधार पर चार प्रकार के पुरुष बतलाए गए हैं। मुक्त शब्द जो मुख्यत: सिद्ध का पर्यायवाची है, बड़ा रहस्यपूर्ण है। यह संस्कृत की 'मुच्' धातु से बना हैं, जो छूटने के अर्थ में है। मुक्त का अर्थ छूटा हुआ है।

स्थानांग के अनुसार पुरुष का पहला भेद मुक्त-मुक्त है। अर्थात् कोई साधक परिग्रह आदि का त्याग कर चुका है, इसलिए वह द्रव्यात्मक दृष्टि से मुक्त है, तथा परिग्रह आदि में आसक्त, मूर्च्छित नहीं होता, इसलिए वह भावात्मक दृष्टि से भी मुक्त होता है।

चाहे कोई सब कुछ त्याग दे पर यदि उसका मन उन त्यागे हुए पदार्थों से हटता नहीं, उसमें मूर्च्छित रहता है तो वह त्यागी नहीं होता क्योंकि वह उनके साथ मन द्वारा बंध रहता है। इसीलिए भगवान महावीर ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।[3]

दूसरा भेद मुक्त– अमुक्त है। जगत् में कोई निर्धन– दरिद्र पुरुष परिग्रह रहित, धन-संपत्ति आदि से विवर्जित होने से द्रव्य से तो मुक्त हैं किन्तु परिग्रह में, धन-वैभव आदि में उसकी लिप्सा, लालसा बनी रहती है, इसलिए वह भावात्मक दृष्टि से मुक्त नहीं है, अमुक्त है।

१. जैनेंद्र सिद्धांत कोष, भाग-३ पृष्ठ : ५११.
२. जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ : ११६.
३. दशवैकालिक-सूत्र, अध्ययन-६, गाथा-२०.

दूसरा भेद मुक्त– अमुक्त है। जगत् में कोई निर्धन– दरिद्र पुरुष परिग्रह रहित, धन-संपत्ति आ
से विवर्जित होने से द्रव्य से तो मुक्त हैं किन्तु परिग्रह में, धन-वैभव आदि में उसकी लिप्सा, लालसा
रहती है, इसलिए वह भावात्मक दृष्टि से मुक्त नहीं है, अमुक्त है।

तीसरा भेद– अमुक्त-मुक्त है। कोई एक ऐसा व्यक्ति होता है, जो द्रव्य से तो मुक्त नहीं होत
राज्य, संपत्ति, विभूति, ऐश्वर्य– विविध प्रकार के परिग्रह से, द्रव्य से अमुक्त होता है, उसके यहाँ बाह्य
दृष्टि ये परिग्रहात्मक साधन विपुल मात्रा में होते हैं किन्तु वह उनमें जरा भी मूर्च्छित, आसक्त नह
होता। भरत चक्रवर्ती इसके उदाहरण हैं। वह परिणामों की दृष्टि मे मुक्त है।

चौथा भेद– अमुक्त-अमुक्त है। कोई ऐसा व्यक्ति होता है, जो द्रव्यात्मक दृष्टि से भी अमुक्त
होता है, धन संपत्ति आदि रखता है और भावात्मक दृष्टि से भी अमुक्त होता है अर्थात् अपनी संपत्ति
में अत्यंत मूर्च्छा और आसक्ति रखता है। उसका मन हर समय संपत्ति के साथ ही ग्रस्त रहता है।

यहाँ मुक्त-अमुक्त की उनके भेदों की चर्चा मुक्त शब्दों के प्रयोग के साथ जुड़े विभिन्न आशयों
को व्यक्त करने के लिए है। मुक्त या सिद्ध के अस्तित्व-बोध के लिए नहीं है। इतना अवश्य समझा
जा सकता है कि मुक्त-मुक्त के रूप में जो पहले भेद की चर्चा की गई, वहाँ ऐसे साधक का प्रतिपादन
हुआ है, जो मोक्ष या सिद्धत्व-प्राप्ति की दिशा में गमनोद्यत होता है। वह साधना द्वारा, तपश्चरण
द्वारा जब समस्त कर्मकालुष्य से छूटकर निर्मल-निर्विकार हो जाता है, तब वह सिद्धत्व को स्वायत्त
कर लेता है।

भव्य-सिद्धिक : अभव्य-सिद्धिक

स्थानांग-सूत्र में भव्य-सिद्धिक और अभव्य-सिद्धिक वर्गणा का वर्णन करते हुए लिखा है–

जो जीव भव्य-सिद्धिक होते हैं, उनकी वर्गणा एक है। उसी प्रकार अभव्य-सिद्धिकों की भी वर्गणा
एक है। भव्य-सिद्धिक नैरयिकों की नारक जीवों की वर्गणा एक है। अभव्य-सिद्धिक नारक जीवों की
भी एक वर्गणा है। इस प्रकार असुरकुमार देवों से लेकर भव्य-सिद्धिक वैमानिक देवों तथा अभव्य-
सिद्धिक वैमानिक देवों के सभी दंडकों की वर्गणा एक-एक है। अर्थात् उनमें प्रत्येक दंडक की
वर्गणा एक-एक है।

'भव्य' और 'अभव्य'– जैन धर्म के पारिभाषिक शब्द हैं, जो अपना विशेष अर्थ लिए हुए हैं।
साधरणत: भव्य का अर्थ 'होने योग्य' है और अभव्य का 'न होने योग्य' है। जैन सिद्धांतानुसार भव्य
उन जीवों को कहा जाता है, जिनमें सिद्ध-पद पाने की मूलत: योग्यता होती है। वे कभी न कभी

१. स्थानांग-सूत्र, स्थान-४, सूत्र-६१२.

आस्रव-निरोध, संवर तथा कर्म-निर्जरण द्वारा सिद्ध-पद पाने में योग्य होते हैं किन्तु कुछ ऐसे जीव होते हैं, जिनमें सिद्धत्व प्राप्त करने की मूलत: योग्यता नहीं होती। वे अभव्य कहलाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है– यह भव्यत्व और अभव्यत्व क्यों घटित होता है ? क्या कोई ऐसे कर्म हैं, जिनके उदय या परिणामस्वरूप ऐसा होता है। सिद्धांत-ग्रंथों में इस संबंध में विशेष रूप में विवेचन-विश्लेषण हुआ है, जिसका सारांश यह है कि भव्यत्व और अभव्यत्व स्वभावगत है। कई आत्माएँ ऐसी होती हैं, जो स्वभावत: भव्य होती है। इसी प्रकार कतिपय आत्माएँ स्वभावत: अभव्य होती हैं। स्वाभाविक होने के कारण इसमें कदापि कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। भव्यजीव कभी अभव्य नहीं हो सकता और अभव्य जीव कभी भव्य नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव अपरिवर्त्य होता है। वह त्रिकालाबाधित और शाश्वत होता है।[1]

सिद्धि की एकरूपता

स्थानांग-सूत्र में एक स्थान पर उल्लेख है– सिद्धि एक है, सिद्ध एक है, परिनिर्वाण एक है तथा परिनिर्वृत एक है।

यहाँ सिद्धि को एक कहा जाना संख्यापरक नहीं है– स्वरूपपरक है। स्वरूपात्मक दृष्टि से सिद्धि में कोई अंतर नहीं है। सभी सिद्धि-प्राप्त जीवों को जो शाश्वत, अव्याबाध, आध्यात्मिक आनंद प्राप्त होता है, वह एक समान है।

सिद्ध एक है, इसका तात्पर्य संख्यात्मक नहीं है। क्योंकि अब तक अनंत जीव सिद्ध बन चुके हैं और बनते रहेंगे। इसलिए किसी एक जीव का सिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं होता। उन सभी सिद्धों को एक शब्द द्वारा इसलिए अभिहित किया गया है क्योंकि वे स्वरूप, अवस्था आदि की दृष्टि से परस्पर किंचित् मात्र भी भेद लिए हुए नहीं हैं।

परिनिर्वाण एक है। इसका तात्पर्य यह है कि जब समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, तब तज्जनित विकार संपूर्णत: मिट जाते हैं। आत्मा परमशांति को प्राप्त करती है। वह परम शांतावस्था ही निर्वाण है। वह शांत-अवस्था सर्वत्र एक सदृश होती है। उसमें किसी प्रकार का अंतर नहीं होता। इसीलिए परिनिर्वाण को एक कहा गया है।

जो परिनिर्वाण प्राप्ति कर लेते हैं, वे जीव परिनिर्वृत कहे जाते है। संख्या में तो वे अनंतानंत होते हैं किंतु तद्गत परिनिर्वृति तुल्य होती है, एक समान होती है। इसी अपेक्षा से उन्हें एक कहा गया है।[2]

---

१. स्थानांग-सूत्र, स्थान-१, सूत्र-१६५-१६७. २. स्थानांग-सूत्र, स्थान-१, सूत्र-४५-५४, पृष्ठ : ८.

द्विपदावतार आख्यान

स्थानांग-सूत्र में द्विपदावतार के अंतर्गत लोकवर्ती द्रव्यों या पदार्थों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दो-दो के रूप में आख्यात किया है। वे दो-दो एक दूसरे की प्रतिकूलता युक्त हैं। उदाहरणर्थ– जीव और अजीव ये दो तत्त्व एक दूसरे के विरोधी तत्त्व के रूप में विद्यमान हैं। इसी क्रम में संसारावस्था में विद्यमान जीवों को संसार-समापन्न तथा असंसार-समापन्न इन दो शब्दों द्वारा अभिहित किया गया है।

संसार-समापन्न वे जीव हैं, जो अपने द्वारा संचित कर्मों के फलस्वरूप संसार में विभिन्न योनियों में से किसी एक योनि में अवस्थित हैं। जैसा पहले एक प्रसंग में विवेचन किया गया है कि सांसारिक जीवों में जो भव्यसिद्धिक जीव होते हैं, वे साधना द्वारा संसार समापन्नता को समाप्त कर डालते हैं और वे असंसार-समापन्नता– सिद्धता या मुक्तता प्राप्त कर लेते हैं।

संसार-समापन्नता भव्यापेक्षया सान्त है तथा असंसार-समापन्नता अंतरहित है। सिद्धत्व पा लेने के पश्चात् कभी भी जीव वहाँ से च्युत नहीं होता। वह सदैव असंसार समापन्न– विमुक्त बना रहता है।[1]

इसके आगे शाश्वत और अशाश्वत इस द्विपदी का उल्लेख है। यहाँ संसार-समापन्नता और असंसार-समापन्नता भी लागू होती है। असंसारावस्था या सिद्धावस्था शाश्वत है जबकि संसारावस्था अशाश्वत है, क्योंकि समग्र कर्म-क्षय द्वारा उसे मिटाया जा सकता है।[2]

सिद्धगति की ओर क्रमशः प्रयाण

प्रस्तुत आगम में एक स्थान पर साधक की पर्युपासना की फल-निष्पत्ति का छोटे-छोटे वाक्यों में बहुत ही सुंदर वर्णन किया गया है। एक साधक की यात्रा धर्म-श्रवण से– धर्म-तत्त्वों को सुनने से प्रारंभ होती है और सिद्धत्व-प्राप्ति में उसका परिसमापन होता है। उसी का वहाँ प्रश्नोत्तर के रूप में चित्रण है।

पहला प्रश्न है– अहिंसारत साधक की, तथारूप संयमोद्यत श्रमण– माहण की पर्युपासना का क्या फल है ?

इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि पर्युपासना का फल श्रवण है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म की उपासना के पथ पर आरूढ़ साधक सबसे पहले अपने गुरुजनों से, ज्ञानियों से धर्मतत्त्व सुनता है।

१. स्थानांग-सूत्र, स्थान-२, उद्देशक-१.

२. स्थानांग-सूत्र,-स्थान-२, उद्देशक-१.

इसके आगे के प्रश्नोत्तरों का सार इस प्रकार है– धर्मतत्त्व सुनने से उसको ज्ञानरूप फल प्राप्त होता है। उसको धर्म के सिद्धांतों का बोध होता है। ज्ञान की परिणति विज्ञान में होती है अर्थात् साधक जाने हुए तत्त्वों को और अधिक सूक्ष्मता से जानता है। विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। जब उसे सिद्धांतों का सम्यक् परिबोध हो जाता है तो सहज ही उसका मन प्रत्याख्यान त्याग की दिशा में मुड़ता है क्योंकि वह हेय– त्यागने योग्य, उपादेय– अपनाने योग्य तथा ज्ञेय– जानने योग्य पदार्थों का, तत्त्वों का भेद भलीभाँति समझ कर जो आत्मा के लिए अहितकारी या बंधनकारक हैं, उन्हें त्याग देता है।

यदि विस्तार में जाएं तो कहना होगा– हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि का प्रत्याख्यान करता है। इसकी फल निष्पति संयत-जीवन में होती है। संयम अपना लेने से वह अनास्रव-दशा पा लेता है। उसके कर्मों के आने के स्रोत रुक जाते हैं। वह संवृत या संवर युक्त हो जाता है। वैसा हो जाने पर पूर्व संचित कर्मों के क्षय हेतु तपश्चरण या निर्जरा का पथ अपनाता है। उसका परिणाम– व्यवधान कर्मों के झड़ने या मिटने के रूप में उत्पन्न होता है।

व्यवधान का फल अक्रिया है। अक्रियाओं का फल मानसिक, वाचिक या कायिक क्रियाओं का या प्रवृत्तियों का सर्वथा आवृत होना है। यह साधक के जीवन की उच्चतम दशा है। यही चौदहवाँ अयोगी केवली गुणस्थान है। यहाँ समस्त योगों का अभाव हो जाता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा को निर्वाण – निर्वृति या शांति प्राप्त होती है। जिससे आगे की मंजिल सिद्धगति है।

सूत्रकार ने इस प्रसंग में साधना के सोपान पर आगे बढ़ते हुए साधक का जो चित्रण किया है, वह बड़ा रोचक है। प्रासाद की छत पर चढ़ने को समुद्यत व्यक्ति जैसे एक-एक सीढ़ी को लांघता हुआ ऊपर चढ़ता है, तथा अंत में अपनी मंजिल को पा लेता है, उसी प्रकार संयमी साधक आत्मोत्थान के पथपर ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, कर्म-निरोध तथा तपश्चरण द्वारा आगे बढ़ता-बढ़ता सिद्धावस्था को अधिकृत कर लेता है, जो जीवन की सबसे बड़ी सफलता है।[1]

सिद्धायतन-कूट : स्पष्टीकरण

स्थानांग-सूत्र के कूट-सूत्र में जंबूद्वीप के अंतर्वर्ती पर्वतों के नौ-नौ कूटों का वर्णन आया है। उनमें पहले कूट का नाम सिद्धायतन-कूट है। ऐसा होने का कारण यह है कि भिन्न-भिन्न कालों में इन-इन कूटों पर से साधक आत्माएँ समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त हुईं। यहीं से ये आत्माएँ सिद्धायतन या सिद्धशिला पर पहुँचीं। ऐसा होने के कारण इन कूटों का नाम सिद्धायतन कूट पड़ा।

---

१. स्थानांग-सूत्र, स्थान-३, उद्देशक-३, सूत्र-४९८.

सिद्धायतन का अर्थ सिद्धों का स्थान है। कूट तो कोई सिद्धों का स्थान नहीं होता। सिद्धत्व-प्राप्ति की अंतिम वेला में सिद्धों के साथ संबद्ध होने के कारण उनका ऐसा नामकरण होना संगत है।

यहीं से वे कर्मरज विहीन होकर ऊर्ध्वगमन द्वारा सिद्ध-स्थान को प्राप्त हुए। इसलिए उनके साथ सिद्धत्व का एक महत्त्वपूर्ण इतिहास जुड़ा हुआ है। किस-किस कूट से कब-कब, कौन-कौन आत्माएँ सिद्धत्व प्राप्त करती रहीं, इस संबंध में कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। काल सीमा रहित है। वह अनंत है और अनंत आत्माएँ सिद्ध गति में पहुँची हैं। इसलिये यह विवेचन का विषय नहीं है।

वैदिक-परंपरा का एक श्लोक यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ।।

पूर्ण शब्द अनंत का वाचक है। अनंत में से अंनत को निकाला जाय तो अनंत ही शेष रहेगा।[1] इसलिए अनंत को एक गणना या संख्या की सीमा में नहीं बांध सकते।

गणित-शास्त्र में स्वीकृत **Theory of infinity** से भी ऐसा सिद्ध होता है।

स्थानांग-सूत्र में कूट-सूत्र के अंतर्गत जंबूद्वीप में मंदर पर्वत के दाहिनी ओर भरत-क्षेत्र में दीर्घ वैताढ्य पर्वत के नौ कूटों का वर्णन आया है। कूट का अर्थ 'शिखर' या चोटी है। उन नौ कूटों में एक का नाम सिद्धायतन है।

इसी प्रकार जंबूद्वीप के अंतर्गत मंदर पर्वत के दक्षिण में निषध वर्षधर पर्वत के ऊपर नौ-नौ कूटों का कथन किया गया है। उनमें पहला सिद्धायतन-कूट है।

जंबूद्वीप के अंतर्गत मंदर पर्वत के उत्तर में उत्तरकुरु के पश्चिम-पार्श्व में माल्यवान् वक्षस्कार पर्वत के ऊपरी भाग में नौ कूट बताए गए हैं। जिन में पहला सिद्ध कूट है।

जंबूद्वीप के अंतर्गत कच्छवर्ती दीर्घ वैताढ्य पर्वत के ऊपरी भाग में नौ कूट अभिहित किये गये हैं, उन में पहला सिद्धायतन-कूट है।

जंबूद्वीप के अंतर्गत सुकच्छवर्ती दीर्घ वैताढ्य पर्वत के ऊपरी भाग में बतलाये गये नौ कूटों में पहला सिद्धायतन-कूट है। इसी प्रकार महाकच्छ, कच्छकावर्ती, आवर्त, मंगलावर्त, पुष्कल तथा पुष्कलावर्ती विजय में स्थित दीर्घ वैताढ्य नामक पर्वतों के ऊपरी भागों में नौ-नौ कूट हैं। उन सबमें प्रथम कूट का नाम सिद्धायतन- कूट है।

---

१. (क) श्रीराम उपनिषद्, शांति पाठ. (ख) ईशावास्योपनिषद्, शाति पाठ.

इसी प्रकार वत्स विजय में स्थित दीर्घ वैताढ्य पर्वत के उपर भी नौ-नौ कूट बतलाये गये हैं। सुवत्स, महावत्स, वत्सकावती, रम्य, रम्यक्, रमणीय तथा मुंगलावती विजयों में अवस्थित दीर्घ वैताढ्य पर्वत के ऊपर नौ-नौ कूट ज्ञातव्य हैं।

इसी तरह जंबूद्वीप के अंतर्गत मंदर पर्वत के विद्युत्प्रभ, वक्षस्कार पर्वत के ऊपरी भाग में नौ कूट वर्णित हुए हैं। उपर्युक्त इन सभी में प्रथम कूट सिद्धायतन कूट है। इनके अतिरिक्त जबूद्वीप के अंतर्गत मंदर पर्वत के पद्मावती, दीर्घ वैताढ्य के ऊपर सुपक्ष्म, महापक्ष्म, पक्ष्मकावती, शंख, नलिन, कुमुद तथा सलिलावती में स्थित दीर्घ वैताढ्य पर्वत के ऊपर तथा इसी प्रकार वप्र विजय में विद्यमान दीर्घ वैताढ्य के ऊपर सुवप्र, महावप्र, वप्रकावती, वल्गु, सुवल्गु, गंधिल एवं गंधिलावती में अवस्थित दीर्घ वैताढ्य पर्वत के ऊपर, जंबूद्वीप के अंतर्गत मंदर पर्वत के ऊपर उत्तर दिशा में नीलवान्, वर्षधर पर्वत के ऊपरी भाग पर जंबूद्वीप में मंदर पर्वत के ऐरवत क्षेत्र के दीर्घ वैताढ्य के ऊपर नौ-नौ कूट हैं। इन सभी कूटों में पहला सिद्धायतन-कूट है।[1]

समवायांग-सूत्र में मोक्ष का विवेचन

समवायांग-सूत्र के 'एकपदावलीमूलक' पदार्थों के उल्लेख के अंतर्गत आत्मा-अनात्मा, दंड-अदंड, इत्यादि के पश्चात् एक बंध और एक मोक्ष के रूप में बंध के साथ मोक्ष का उल्लेख हुआ है। इस पदावली में इसी रूप में सारा वर्णन हुआ है। जैसे आत्मा और अनात्मा, दंड और अंदड, क्रिया और अक्रिया आदि एक दूसरे के विपरीत तत्त्व हैं, उसी प्रकार बंध और मोक्ष भी एक दूसरे के अननुकूल हैं। दोनों की दो धाराएँ हैं। बंध संसार से जुड़ता है। बंध का आशय आत्मा द्वारा अपने शुभ-अशुभ अध्यवसाय से कर्मों को बांधना है।

इस प्रकार आकृष्ट कर्म-- कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। वही बंध है, जिससे आत्मा का स्वरूप उस बंध की प्रकृति आदि के अनुसार बद्ध या आवृत होता है, वही संसार है। वह संसार-बंध के सहारे आगे से आगे चलता रहता है। 'संसरतीति संसारः'— के अनुसार संसार का अर्थ आगे से आगे संसरण या गमन करते रहना है, जो विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के रूप में प्रगट होता जाता है। जिस प्रकार कारागार में बंध किया हुआ बंदी परवश हो जाता है, दुःखित हो जाता है, वही स्थिति कर्म-बद्ध आत्मा की होती है।

संवर द्वारा कर्मास्रवों का निरोध होता है और निर्जरा द्वारा संचित कर्मों के बंध से आत्मा छूटती है। इस प्रकार कर्मों से छूटना मोक्ष कहा जाता है। संवर-निर्जरामूलक साधना की वह सफलता है, सिद्धता है।

---

१. स्थानांग-सूत्र, स्थान-९, सूत्र-४३-५८.

विविध प्रकार के कर्मों का बंध विविध प्रकार का होता है फिर उसे एक कैसे कहा गया ? एक शंका उत्पन्न होती है।

यह सही है कि बंध की कोटियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं किन्तु आत्मा की स्वतंत्रता का अपहरण जो होता है, वह तो एक जैसा होता है। अर्थात् आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का अवरोधन अपने स्वरूप की दृष्टि से एक है। आत्मा स्ववशता से परवशता में जाती है। यह एक स्थिति है। इस दृष्टि से बंध को एक कहा गया है।

इसी प्रकार मोक्ष या छुटकारे की स्थिति भी एक है। कर्मों के आवरणों द्वारा आवृत या अपहृत आत्मा का स्वातंत्र्य उस आवरण से छूट जाता है तब जो आत्मा की उन्मुक्त अवस्था होती है, वह एकरूपता लिए हुए है।[1]

भवसिद्धिक जीवों द्वारा सिद्धत्व प्राप्ति

समवायांग-सूत्र में सागर, सुसागर आदि विशिष्ट विमानों के देवों के वर्णन के साथ-साथ एक प्रसंग भव्यसिद्धिक जीवों का आता है। वहाँ ऐसा उल्लेख हुआ है कि कतिपय भव्यसिद्धिक जीव ऐसे होते हैं, जो एक मनुष्य-भव ग्रहण कर सिद्ध होंगे, बुद्ध होंगे, मुक्त होंगे, परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे तथा समस्त दुःखों का अंत करेंगे।[2]

यहाँ सिद्धत्व, बुद्धत्व, मुक्तत्व, परिनिर्वाणत्व और सर्वदुःखान्तत्व– इन पांच शब्दों का उल्लेख हुआ है। जब जीव अनादि काल से बंधे हुए कर्मों से संयम और तपश्चरण द्वारा छूट जाता है, तब जो स्थिति उत्पन्न होती है, उस स्थिति की विशिष्टता के द्योतक ये शब्द हैं। इन शब्दों का मूल आशय एक ही है। जब कर्म-बंधन टूट जाते हैं, तब जीव को साध्य प्राप्त हो जाता है। उनका सिद्धत्व फलित होता है।

इस स्थिति को पाने से पूर्व ही वे ज्ञानावरणीय कर्मों को संपूर्णतः नष्ट कर देते हैं, इसलिए बुद्धत्व या सर्वज्ञत्व उन में होता ही है। बंधन टूट जाते हैं, इसलिये मुक्तता या स्वतंत्रता फलित होती है। ऐसा होने पर आत्मा में परमशांति का उदय होता है, जो सांसारिक सुखों में प्राप्त नहीं हो सका, वही परिनिर्वाण है।

इन शब्दों द्वारा सिद्धावस्था के स्वरूप को इसलिए स्पष्ट किया गया है कि वह जिज्ञासु द्वारा सहज रूप में आत्मसात् किया जा सके।

एक भवसिद्धिक जीवों के सिद्धत्व-प्राप्ति के उल्लेख के पश्चात् आगमकार ने दो भव में सिद्ध होने

१. समवायांग-सूत्र, समवाय-१, सूत्र-३.
२. समवायांग-सूत्र, समवाय-१, सूत्र-८.

वाले जीवों का तीन भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, चार भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, पांच भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, छः भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, सात भव में सिद्ध होने वाला जीवों का, आंठ भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, नौ भव में सिद्ध होने बाले जीवों का, दस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, ग्यारह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, बारह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, तेरह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, चौदह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, पंद्रह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, सोलह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, सतरह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, अठारह भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, उन्नीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, बीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, इक्कीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, बाईस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, तेईस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, चौबीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, पच्चीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, छब्बीस भव में होने वाले जीवों का, सत्ताईस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, अट्ठाईस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, उन्तीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, तीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, इकतीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का, बत्तीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का तथा तैंतीस भव में सिद्ध होने वाले जीवों का उल्लेख किया गया है। जो निम्नांकित सारिणी द्वारा सूचित है –

१. समवायांग-सूत्र, समवाय-१, सूत्र-८.

२. समवायांग-सूत्र, समवाय-२, सूत्र-१४.

३. समवायांग-सूत्र, समवाय-३, सूत्र-१९.

४. समवायांग-सूत्र, समवाय-४, सूत्र-२३,

५. समवायांग-सूत्र, समवाय-५, सूत्र-३०,

६. समवायांग-सूत्र, समवाय-६, सूत्र-३६,

७. समवायांग-सूत्र, समवाय-७, सूत्र-४३,

८. समवायांग-सूत्र, समवाय-८, सूत्र-५०,

९. समवायांग-सूत्र, समवाय-९, सूत्र-६०,

१०. समवायांग-सूत्र, समवाय-१०, सूत्र-७०,

११. समवायांग-सूत्र, समवाय-११, सूत्र-७६,

१२. समवायांग-सूत्र, समवाय-१२, सूत्र-८४,

१३. समवायांग-सूत्र, समवाय-१३ सूत्र-८१,
१४. समवायांग-सूत्र, समवाय-१४, सूत्र-१००,
१५. समवायांग-सूत्र, समवाय-१५, सूत्र-१०९,
१६. समवायांग-सूत्र, समवाय-१६, सूत्र-११५,
१७. समवायांग-सूत्र, समवाय-१७, सूत्र-१२४,
१८. समवायांग-सूत्र, समवाय-१८, सूत्र-१३२,
१९. समवायांग-सूत्र, समवाय-१९, सूत्र-१३९,
२०. समवायांग-सूत्र, समवाय-२०, सूत्र-१४३,
२१. समवायांग-सूत्र, समवाय-२१, सूत्र-१४९,
२२. समवायांग-सूत्र, समवाय-२२, सूत्र-१५४,
२३. समवायांग-सूत्र, समवाय-२३ सूत्र-१५९,
२४. समवायांग-सूत्र, समवाय-२४, सूत्र-१६५,
२५. समवायांग-सूत्र, समवाय-२५, सूत्र-१७३,
२६. समवायांग-सूत्र, समवाय-२६, सूत्र-१७७,
२७. समवायांग-सूत्र, समवाय-२७, सूत्र-१८२,
२८. समवायांग-सूत्र, समवाय-२८, सूत्र-१९०,
२९. समवायांग-सूत्र, समवाय-२९, सूत्र-१९५,
३०. समवायांग-सूत्र, समवाय-३०, सूत्र-२०३,
३१. समवायांग-सूत्र, समवाय-३१, सूत्र-२०८,
३२. समवायांग-सूत्र, समवाय-३२, सूत्र-२१४,
३३. समवायांग-सूत्र, समवाय-३३, सूत्र-२१८,

यहाँ वही शब्दावली प्रयुक्त है जो एक भव में सिद्ध होने वाले जीवों के वर्णन में हैं।

सिद्धत्व प्राप्त करने में यह जो भवों का तारतम्य वर्णित हुआ है, उसका संबंध उन-उन जीवों द्वारा अपने-अपने कर्मों का उच्छेद या नाश की भिन्न-भिन्न अवधियों से जुड़ा हुआ है। आत्म-पराक्रम या पुरुषार्थ सब में एक जैसा नहीं होता। अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार उस में तरतमता होती है। तदनुरूप ही कर्म-प्रवाह के संवरण तथा निर्जरण का उपक्रम चलता है जो एक भव में सिद्धत्व प्राप्त करते हैं, वे आत्मबल के महाधनी होते हैं। इसलिए उनकी साधना और परिणामों की धारा बड़ी त्वरा के साथ उज्ज्वलता पाती जाती है। उनकी तुलना में उन जीवों पर जो तैंतीस भवों में सिद्धत्व प्राप्त करते हैं, विचार किया जाए तो यह प्रतीत होगा कि उन तैंतीस भवों में सिद्ध होने वालों का आत्म-पराक्रम एक भव में सिद्ध होन वालों के आत्म-पराक्रम से बहुत न्यून होता है।

इन दोनों के मध्यवर्ती भिन्न-भिन्न भवों में मुक्त होने वालों के आत्म-पराक्रम में तुलनात्मक दृष्टि से न्यूनता होती है।

यह सारा उपक्रम आस्रव-निरोध और तपश्चरण की प्रक्रिया पर निर्भर है।

सिद्धत्व-पर्याय का प्रथम समय : गुण

सयोग केवलावस्था से जब जीव उत्कृष्टतम शुक्ल-ध्यान द्वारा समस्त योगों का निरोधकर चतुर्दश गुणस्थान को प्राप्त करता है, सिद्धत्व का लाभ करता है, तब सिद्धत्व-पर्याय के प्रथम समय में इकतीस गुण निष्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार है–

(१) क्षीण-आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण, (२) क्षीण-श्रुतज्ञानावरण, (३) क्षीण-अवधिज्ञानावरण, (४) क्षीण-मनःपर्यवज्ञानावरण, (५) क्षीण-केवलज्ञानावरण, (६) क्षीण-चक्षुदर्शनावरण, (७) क्षीण-अचक्षुदर्शनावरण (८) क्षीण-अवधिदर्शनावरण, (९) क्षीण-केवलदर्शनावरण, (१०) क्षीण-निद्रा, (११) क्षीण-निद्रानिद्रा, (१२) क्षीण-प्रचला, (१३) क्षीण-प्रचला-प्रचला, (१४) क्षीण-स्त्यानर्द्धि, (१५) क्षीण-सातावेदनीय, (१६) क्षीण-असातावेदवीय, (१७) क्षीण-दर्शनमोहनीय, (१८) क्षीण- चारित्रमोहनीय, (१९) क्षीण-नरकायु, (२०) क्षीण-तिर्यगायु, (२१) क्षीण-मनुष्यायु, (२२) क्षीण- देवायु, (२३) क्षीण-उच्चगोत्र, (२४) क्षीण-नीचगोत्र, (२५) क्षीण-शुभनाम, (२६) क्षीण-अशुभनाम, (२७) क्षीण-दानान्तराय, (२८) क्षीण-लाभान्तराय, (२९) क्षीण-भोगान्तराय, (३०) क्षीण-उपभोगान्तराय, और (३१) क्षीण-वीर्यान्तराय।[1]

ये गुण उन-उन कर्मों के आवरणों के उच्छेद के परिणाम-स्वरूप प्रकट होते हैं, जिन्होंने आत्मा के स्वातंत्र्य को रोक रखा था। जब वे कर्मावरण अपगत हो जाते हैं, तब सारा अवरोध रुकावटें मिट

१. समवायांग-सूत्र, समवाय-३१, सूत्र-२०५.

जाती हैं। ये गुण इस तथ्य के परिचायक हैं। इन गुणों में जिन-जिन दोषों के परिहार का उल्लेख है, वे दोष आत्मा की बद्धावस्था में विद्यमान रहते हुए उसको भव-प्रपंच में विभ्रांत करते रहते हैं।

समवायांग-सूत्र, स्थानांग-सूत्र की तरह संख्यात्मक वर्णन पर आधरित है। इतना अंतर है– स्थानांग-सूत्र में दस तत्त्व की संख्याओं के पदार्थों का उल्लेख हैं जबकि समवायांग-सूत्र में एक सौ तक, फिर आगे एक सौ पचास तक तथा अंत में कोटाकोटि पर्यंत संख्याओं का कथन है।

३१ वें समवाय में जहाँ ३१ की संख्या से संबंधित पदार्थों का उल्लेख हैं, वहाँ संख्या में इकतीस होने के कारण सिद्धों के आदि-पर्याय के प्रथम समय के इन गुणों का वर्णन किया गया है। इनका विशद विश्लेषण यथाप्रसंग द्रष्टव्य है।

भगवान् महावीर द्वारा सिद्धत्व-प्राप्ति

अंग आगमों में वर्तमान अवसर्पिणी के चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के जीवन के संबंध में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से वर्णन मिलता है। इस संख्यामूलक समवायांग-सूत्र में बयालीस की संख्या के प्रसंग में भगवान् महावीर के जीवन का एक प्रसंग सूत्रकार ने जोड़ा है।

भगवान् महावीर ने स्वयं प्रव्रजित होकर बयालीस वर्ष से कुछ अधिक पंच महाव्रतात्मक श्रमण-पर्याय का परिपालन किया। तदनंतर वे सिद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत तथा सर्व-दुःख-प्रहीण हुए– सब दुःखों से छूटे। इस प्रकार उन्होंने सिद्धत्व– परमसिद्धि प्राप्त की।[१]

यह उल्लेख यद्यपि अत्यंत संक्षिप्त है किन्तु भगवान् महावीर के जीवन के साथ जुड़े हुए इतिहास के एक महत्वपूर्ण प्रसंग को प्रामाणिकता प्रदान करता है।

सिद्धत्व-परंपरा

वर्तमान अवसर्पिणी के तेरहवें तीर्थंकर भगवान् श्री विमलनाथ थे। इनका समवायांग में चवालीसवें समवाय में उल्लेख हुआ है, जो जैन-परंपरा के प्राचीन इतिहास के एक प्रसंग का सूचन करता है। वहाँ उल्लेख है कि तीर्थंकर विमलनाथ के बाद चवालीस पुरुषयुग पीढ़ियों तक अनुक्रमिक रूप से एक के बाद एक सिद्ध हुए। वहाँ इस वर्णन में 'सिद्ध के साथ बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए तथा सर्व दुःख-रहित हुए'– इन पदों का प्रयोग हुआ है, जैसा पहले के वर्णन में होता रहा है।

ये शब्द सिद्धों की विशेषताओं के द्योतक हैं। अर्थ की मौलिकता में कोई विशेष अंतर नहीं है।

१. समवायांग-सूत्र, समवाय-४२, सूत्र-२४७.

ऐतिहासिक दृष्टि से यह वर्णन बड़ा महत्त्व रखता है। विमलनाथ प्रभु के अनंतर अनुक्रम से सिद्धों की परंपरा की यह एक आगम-प्रमाणित सूचना है।[1]

सुप्रभबलदेव इक्यावन सहस्र वर्ष[2], मल्लि अर्हत् पचपन हजार वर्ष[3], श्रमण भगवान् महावीर बहत्तर वर्ष[4], विजयबलदेव तिहत्तर लाख वर्ष[5], स्थविर अग्निभूति गणधर चौहत्तर वर्ष[6], स्थविर अंकपित अठहत्तर वर्ष[7], स्थविर मंडित पुत्र तिरासी वर्ष[8], श्रेयांस अर्हत् चौरासी लाख वर्ष[9], स्थविर इंद्रभूति बानवे वर्ष[10], कुंथु अर्हत् पचानवे सहस्र वर्ष[11] तथा पुरुषादानीय पार्श्व अर्हत् एक सौ वर्ष[12] – इस प्रकार पूर्व संकेतानुरूप आयुष्य की अवधि पूर्ण कर ये सभी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परिनिर्वृत तथा सर्व दुःख रहित हुए। निम्नांकित सारिणी द्वारा यह सूचित है।

१. समवायांग-सूत्र, समावाय-४४, सूत्र-२५९, पृष्ठ : १११.

२. समवायांग-सूत्र, समावाय-५०, सूत्र-२८२, पृष्ठ : ११५.

३. समवायांग-सूत्र, समावाय-५५, सूत्र-२९३, पृष्ठ : ११८.

४. समवायांग-सूत्र, समावाय-७२, सूत्र-३५४, पृष्ठ : १३१.

५. समवायांग-सूत्र, समावाय-७३, सूत्र-३५९, पृष्ठ : १३४.

६. समवायांग-सूत्र, समावाय-७४, सूत्र-३६०, पृष्ठ : १३४.

७. समवायांग-सूत्र, समावाय-७८, सूत्र-३७०, पृष्ठ : १३७.

८. समवायांग-सूत्र, समावाय-८३, सूत्र-३८५, पृष्ठ : १४१.

९. समवायांग-सूत्र, समावाय-८४, सूत्र-३८९, पृष्ठ : १४२.

१०. समवायांग-सूत्र, समावाय-९२, सूत्र-४२३, पृष्ठ : १५२.

११. समवायांग-सूत्र, समावाय-९४, सूत्र-४३१, पृष्ठ : १५४.

१२. समवायांग-सूत्र, समावाय-१००, सूत्र-४४९, पृष्ठ : १६०.

यह जो सिद्धत्व-प्राप्ति का आयुष्य को लेकर उल्लेख हुआ है, वह जैन-परंपरा के प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक कालीन अनेक घटनाओं का प्रमाणिक विवेचन है। यह जैन आगम-वांङ्मय पर अनुसंधान और शोध करने वाले विद्वानों के लिए बहुत उपयोगी है। इससे उन्हें जैन काल-क्रम को समझने में सहायता मिल सकती है।

कौशलिक भगवान् ऋषभ वर्तमान अवसर्पिण के तीसरे 'सुषम-दुषम' आरक के उत्तरार्द्ध भाग के

पश्चात् अर्धमास, तीन वर्ष, आठ मास, पंद्रह दिन के शेष रहने पर देह त्याग कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परिनिर्वृत तथा सर्व-दुःख-विरहित हुए।

श्रमण भगवान् महावीर वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ दुषम-सुषमनामक आरक के उत्तरार्द्ध भा में अर्धमास, तीन वर्ष, आठमास, पंद्रह दिन अवशिष्ट रहने पर देहत्याग कर सिद्ध बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृ तथा सर्व दुःख रहित हुए।[1]

भगवान् अरिष्टनेमि चौपन दिन कम सात सौ वर्ष कैवल्यावस्था में रहकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत और सर्व-कर्म रहित हुए।[2]

प्रदेशावगाहना

जैन दर्शन के अनुसार जीव के प्रदेश शरीर के समग्र भागों में व्याप्त रहते हैं। कतिपय अन्य दर्शन- मस्तिष्क, हृदय आदि को जीव या आत्मा का स्थान मानते हैं। जैन दर्शन की मान्यता ऐसी नहीं हैं। जैसे दुग्ध के कण-कण में घृत व्याप्त रहता है, वैसे ही जीव और शरीर का व्याप्य-व्यापक संबंध है।

अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले विद्वानों ने ऐसे प्रश्न उठाये हैं कि यदि जीव शरीर-व्यापी है तो एक चींटी मरकर अपने कर्मों के फलस्वरूप हाथी की योनि में जन्म ले तो चींटी के शरीर में जो आत्मा थी, वह तो प्रदेशों की दृष्टि से सीमित थी, हाथी के शरीर में वह कैसे टिकेगी ? उसी प्रकार यदि एक हाथी मरकर किसी कीड़े के रूप में जन्म ले तो हाथी की आत्मा, जो बहुत विशाल थी, वह एक चींटी के छोटे शरीर में कैसे समाएगी ?

जैन दार्शनिकों ने इसका बहुत न्याय एवं युक्ति पूर्ण समाधान किया है। आत्मा के प्रदेश मूर्त नहीं हैं, अमूर्त हैं। उनमें अत्याधिक संकुचित और अत्याधिक विकसित- विस्तीर्ण होने की अद्भुत क्षमता है। नाम-कर्म के उदय स्वरूप जीव को जैसा शरीर प्राप्त होता है, उसके अनुरूप आत्म-प्रदेश संकुचित या विस्तृत हो जाते हैं। यह आत्म-प्रदेशों की अवगाहना है।

अवगाहना के संबंध में एक संदर्भ समवायांग-सूत्र में आया है, जिसमें बलताया गया है कि पाँचसौ धनुष की अवगाहना युक्त चरम शरीरी सिद्ध पुरुषों के आत्मा के प्रदेशों की अवगाहना कुछ अधिक तीन सौ धनुष-परिमित होती है।[3]

यहाँ यह गणित योजनीय है कि जब देह-त्याग कर जीव सिद्धत्व को प्राप्त करता है, तब वह जिस

---

१. समवायांग-सूत्र, समवाय-१८९, सूत्र-४१२.. २. समवायांग-सूत्र, अनेकोत्तरिकावृद्धि-समवाय, सूत्र-४७३.
३. समवायांग-सूत्र, अनेकोत्तरिकावृद्धि-समवाय, सूत्र-४५७.

अवगाहना या विस्तार-युक्त शरीर को छोड़ता है, तब उसकी अवगाहना दो तिहाई 2/3 होती है। तदनुसार चरम शरीरी सिद्धों के पाँचसौ धनुष-परिमित शरीरावगाहना से मुक्त होने पर तीन सौ धनुष से कुछ अधिक परिमित अवगाहना रह जाती है।

सिद्ध गति : विरहकाल

समवायांग-सूत्र के एक प्रंसग में गणधर गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं– प्रभुवर ! सिद्धि-गति का कितने समय तक विरह काल है?

भगवान् महावीर गौतम के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं– हे गौतम ! सिद्धि-गति जघन्य– कम से कम एक समय तथा उत्कृष्ट– अधिक से अधिक से छः मास पर्यंत विरहित रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि इतने समय तक कोई सिद्धत्व नहीं पाता। अर्थात् न्यून से न्यून एक समय ऐसा होता है, जिस बीच भव्य आत्मा समस्त कर्मों का क्षय कर मुक्तावस्था या सिद्धावस्था में नहीं जाती। यह तो काल की अल्पतम सीमा है। अधिकतम सीमा छः महिने की है। इसी प्रकार सिद्धगति को छोड़कर अन्य सब जीवों की उदवर्तना– मरण है, जैसा आगमों में कहा गया है, तदनुरूप जानना चाहिए कि अपनी-अपनी आयु को पूर्ण कर कब निकलते हैं और कब नवीन पर्याय धारण करते हैं, अन्य गति में, अन्य योनियों में जन्म लेते हैं।[1]

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में णमोक्कार मंत्र : मंगलाचरण

अंग आगमों में पाँचवाँ– व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र है। विषयों की विविधता तथा विस्तार की दृष्टि से इस आंगम का अत्यंत महत्त्व है । इसमें तत्त्व तथा आचार संबंधित अनेक विषयों का विस्तार से वर्णन है। यह एक ऐसा आगम है, जिसके अध्ययन से जैन सिद्धान्तों का बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसका प्रारंभ निन्नांकित मंगलाचरण से होता है –

णमो अरिहंताणं,
णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्वसाहूणं।

णमोक्कार महामंत्र का अंग आगमों में यह प्राचीनतम प्रयोग है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, समग्र साधुओं के नमन के रूप में यह है।[2]

१. समवायांग-सूत्र, विविध विषय निरुपण समवाय, सूत्र-६१४. २. भगवती-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-१, सूत्र-१.

इन पवित्र वाक्यों को निर्ग्रन्थ-प्रवचन में नवकार मंत्र, नमस्कार मंत्र या पंचपरमेष्ठी मंत्र कहते हैं। अर्हत् भगवान् के बारह गुण, सिद्ध भगवान् के आठ गुण, आचार्य के ३६ गुण, उपाध्याय के २५ गुण और साधु के २७ गुण-- सभी मिलकर १०८ गुण होते हैं।[1]

कलिंग सम्राट् खारवेल द्वारा निर्मित हाथी गुंफा पर जो लेख है, वह पुरातत्त्व, प्राचीनता और इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उस लेख में, जो ब्राह्मीलिपि में है, यह मंत्र केवल निम्नलिखित चौदह अक्षरों में अंकित है, प्रचलित पैंतीस अक्षरों में नहीं --

'नमो अरहंतानं। नमो सब सिधानं।'

शिलालेख में उसके लेखन की तिथि नहीं मिलती परन्तु इतना स्पष्ट है कि यह शिला लेख ई.पू. दूसरी शताब्दी का है, अर्थात् अब से दो हजार वर्ष पुराना। हो सकता है, अन्य कुछ अक्षरों की भाँति इसकी तिथि भी भग्न हो गयी हो। इस मंत्र का इससे पुराना लेख शायद ही कहीं उपलब्ध हो।[2]

यहाँ यह ज्ञाप्य है कि णमो अरिहंताणं का विवेचन चतुर्थ अध्याय में यथाप्रसंग किया जाएगा। अतः यहाँ शोध-ग्रंथ के विषय से संबद्ध 'णमो सिद्धाणं' का विश्लेषण अपेक्षित है।

णमो सिद्धाणं

सिद्ध-पद णमोक्कार मंत्र के दूसरे स्थान पर है। अर्हत् पहले स्थान पर है। गुणस्थानों के विकास-क्रम के अंतर्गत अर्हत् का तेरहवाँ गुणस्थान है। सिद्धत्व-प्राप्ति चौदहवे गुणस्थान में होती है। तेरहवाँ गुणस्थान सयोग-- योग सहित है क्योंकि तब भी कुछ कर्म अवशिष्ट रहते हैं। ऐसी स्थिति में अर्हत् को, जो सिद्ध से नीचे का पद है, पहले क्यों लिया गया ? ऐसी शंका होना स्वाभाविक है।

आचार्यों ने, विद्वानों ने शास्त्रों में इस पर विस्तार से मनन और विवेचन किया है। यह सही है कि सिद्ध सर्वोपरि हैं। अर्हतों को भी अंत में सिद्धत्व प्राप्त करना होता है अर्थात् उनका चरम लक्ष्य सिद्धत्व है किन्तु संसार के लोगों की अपेक्षा से एक भिन्न स्थिति सामने आती है। अर्हत् सशरीरी हैं। वे धर्म-देशना देते हैं। जन-जन का उपकार करते हैं। इसलिए वे आसन्न-उपकारी कहे जाते हैं। आसन्न का अर्थ निकटतम है। अर्थात् वे प्राणियों के साक्षात् उपकारक हैं। उनके द्वारा दिये गये धर्मोपदेश से प्रेरणा प्राप्त कर प्राणी धर्म के पथ का अवलंबन करते हैं, उनसे उपकृत होते हैं। इसलिये इस पद को प्रथम पद के रूप में स्वीकार किया गया है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि सिद्धों का स्थान अर्हतों से कम है। स्थान तो उनका ऊँचा ही है किन्तु वे तो अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप में अवस्थित होते हैं, किसी प्रकार का उपदेश नहीं देते क्योंकि वे

१. मोक्षमाला, पृष्ठ : १११.
२. तीर्थंकर, भाग-१.

मानसिक, वाचिक तथा कायिक योगों से सर्वथा अतीत– रहित होते हैं। लोग उनसे प्रेरणा ले सकते हैं, सिद्धत्व का चिंतन कर अनुभावित हो सकते हैं किन्तु सिद्धों की ओर से वैसा कुछ नहीं होता। साक्षात् वांङ्मयात्मक संबंध के कारण अर्हतों की लोगों के साथ अत्यधिक निकटता है, उपकारिता है, इसलिये उन्हें प्रथम पद में रखा गया है। अतिशय ऊर्जा के योग्य होने से ये अर्हत् कहे जाते है।[1]

णमोक्कार मंत्र में साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हत्-अरिहंत तथा सिद्ध– इन पाँच पदों में पाँचवा पद ही सब का साध्य है। साधु से लेकर अरिहंत तक सभी सिद्धत्व प्राप्त करने की दिशाओं में उद्यात होते हैं। यों कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी कि आध्यात्मिक साधना में जो भी संलग्न हैं, वे सब इसी पद की कामना करते हैं क्योंकि इस पद को पालने पर बहिरात्म-भाव तथा अंतरात्म-भाव– परमात्म-भाव में परिणत हो जाते हैं। संयममय साधना की यह चरम पराकाष्ठा है।

सिद्धपद का निर्वचन

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र के वृत्तिकार ने 'सिद्ध' शब्द का छः प्रकार से निर्वचन किया है।

पहली व्युत्पत्ति यह है– बंधे हुए आठ प्रकार के कर्म रूपी इंधन को जिन्होंने भस्म कर दिया है, वे सिद्ध हैं।

दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार– सिद्ध वे हैं, जो ऐसे स्थान में पहुँच गये हैं, जहाँ से फिर वापस कभी लौटकर नहीं आते।

तीसरी व्युत्पत्ति में ऐसा कहा गया है– जो सिद्ध, सफल या कृतकृत्य हो गये हैं, जिन्हें जो साधना था, उसे साधकर अपना कार्य कर चुके हैं, वे सिद्ध हैं।

चौथी व्युत्पत्ति के अनुसार– जो संसार को अर्हत् अवस्था में उपदेश देकर मुक्त हो गये हैं।

पाँचवी व्युत्पत्ति के अनुसार– सिद्ध वे हैं, जो नित्य शाश्वत स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

छठी व्युत्पत्ति के अनुसार– जिनके गुण समूह सिद्ध हो चुके हैं, वे सिद्ध हैं।[2]

सिद्धत्व प्राप्ति : शंका : समाधान

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में एक प्रसंग आता है। वहाँ गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से सिद्धत्व प्राप्ति के संदर्भ में कतिपय प्रश्न किए, जिनका भगवान् ने समाधान किया, उन प्रश्नोत्तरों से तत्त्व-बोध प्राप्त होता है।

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१, पृष्ठ : १३६.
२. भगवती-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-१, सूत्र-१, वृत्तिपत्रांक-४.

गौतम ने पहला प्रश्न यह किया कि भगवन् ! अतीत में बीते हुए– अनंत शाश्वत काल में छद्मस्थ– ज्ञानावरण युक्त मनुष्य केवल संयम, संवर, बह्मचर्यवास तथा अष्ट-प्रवचन माता के पालन से सिद्ध हुए है ?

यहाँ सिद्धपद के साथ-साथ बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत तथा सर्वदुःखों का अंत करने वाले पद भी ग्राह्य हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा– यह अर्थ समर्थ नहीं है, जैसा तुम कहते हो– वैसा घटित नहीं होता। इस पर गणधर गौतम भगवान् से ऐसा न होने का कारण पूछते हैं। इस पर भगवान् उन्हें बतलाते हैं– गौतम ! जो भी कोई मनुष्य अपने कर्मों का नाश करने वाले तथा चरम शरीरी हुए हैं अथवा समस्त दुःखों का जिन्होंने विनाश किया है, करते हैं या करेंगे, वे सब केवलज्ञान केवलदर्शन से युक्त अर्हत् जिन तथा सर्वज्ञ होने के पश्चात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं परिनिर्वृत हुए हैं तथा उन्होंनें सर्वदुःखों का अंत किया है– वे ही ऐसा करते हैं तथा भविष्य में करेंगे, इसलिए मैंने तुम्हें यह बतलाया हैं।[1]

इस प्रश्नोत्तर की गहराई में जाने पर ऐसा ज्ञात होता है कि मनुष्य कितना ही उच्चस्तर के संयम का पालन करे, वह प्रमत्त-संयत-गुणस्थान से आगे बढ़ता हुआ चाहे बारहवें उपशांत मोह गुणस्थान तक भी पहुँच जाए किन्तु जब तक ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षय से केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकता।

आगे के तीन सूत्रों में उपर्युक्त विवेचन के संबंध में विशेष चर्चा हुई है।

कहा गया है कि जैसे पहले बारहवें सूत्र में अतीत काल की चर्चा की गई है, वर्तमानकाल में भी इसी प्रकार ज्ञातव्य है।[2] वर्तमान काल में सिद्ध होते हैं, ऐसा विशेष रूप से जोड़ना चाहिये।

भविष्यकाल में भी इसी प्रकार ज्ञातव्य है। वहाँ अंतर यह है कि सिद्ध होंगे, ऐसा जोड़ना चाहिए।[3] जैसा छद्मस्थ के संबंध में कहा गया है, वैसे ही अवधिज्ञानी और परमावधिज्ञानी के संबंध में जानना चाहिए। उनके तीन-तीन आलापक वक्तव्य जोड़ने चाहिये।[4]

गौतम पुनः भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं– भगवन् ! क्या बीते हुए अनंत शाश्वत काल में

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, प्रथम-खंड, प्रथम-शतक, उद्देशक-४, सूत्र-१२, पृष्ठ : ८७.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-४, सूत्र-१३, पृष्ठ : ८८.
३. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-४, सूत्र-१४, पृष्ठ : ८८.
४. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-४, सूत्र-१५, पृष्ठ : ८८.

केवली मनुष्य– केवल ज्ञान प्राप्त पुरुष सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परिनिर्वृत हुए हैं ? क्या उन्होंने सब दुःखों का अंत किया है ?

हाँ, गौतम ! वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और परिनिर्वृत हुए हैं। उन्होंने समग्र दुःखों का अंत किया हैं। यहाँ भी छद्मस्थ के सदृश ही तीन आलापक कथनीय हैं। तीन आलापक– अतीत, वर्तमान और भविष्य विषयक वक्तव्य योजनीय हैं।[1]

आगे उसी प्रश्न के स्पष्टीकरण हेतु गौतम भगवान् से पूछते हैं– प्रभुवर ! बीते हुए अनंत शाश्वत काल में वर्तमान और अनंत शाश्वत भविष्यकाल में संसार का अंत करने वाले अथवा चरम शरीर युक्त पुरुषों ने समस्त दुःखों का नाश किया हैं, करते है या करेंगे ? क्या वे सब, उत्पन्न–ज्ञान-दर्शनधर, अर्हत्, जिन और केवली होने के पश्चात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत होते हैं? सब दुःखोंका अंत करते हैं।[2]

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं– बीते हुए अनंत शाश्वत काल से लेकर जहाँ तक तुमने पूछा– वे सब सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वृत होते हैं और सर्व दुःखों का अंत करते हैं।

गौतम भगवान् की प्ररूपणा में अत्यंत आस्था और विश्वास प्रगट करते हुए कहते हैं– भगवन् ! यह ऐसा ही है, जो आप प्रतिपादित करते हैं वही तथ्य है।[3]

असंसार समापन्नक : सिद्ध

गौतम ने भगवान् महावीर से जीव एवं चौबीस दंडकों के संदर्भ में सवीर्यत्व और अवीर्यत्व के विषय में एक स्थान पर प्रश्न किए। उनके अंतर्गत एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् गौतम को बतलाते है कि एक अपेक्षा से जीव दो प्रकार के हैं– (१) संसार-समापन्नक और (२) असंसार-समापन्नक।

जो जीव संसारावस्था में समापन्न या संस्थित होते हैं, वे संसार-समापन्नक या सांसारिक कहे जाते हैं। जो जीव संसार-समापन्नता– संसारावस्था समाप्त कर देते हैं, कर्मों का क्षय कर संसार से-आवागमन से छूट जाते हैं, वे असंसार-समापन्न कहलाते हैं। वे सिद्ध जीव हैं, वे अवीर्य हैं।[4]

वीर्य शब्द के दो अर्थ होते हैं । मनुष्य जो भोजन करता है, उससे आयुर्वेद के अनुसार सात धातुएँ निष्पन्न होती हैं– (१) रस, (२) रक्त, (३) मांस, (४) मेदा, (५) अस्थि (६) मज्जा, (७) शुक्र। शुक्र

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-४, सूत्र-१६, पृष्ठ : ८८.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-४, सूत्र-१६, पृष्ठ : ८८.
३. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-४, सूत्र-१८, पृष्ठ : ८८.
४. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-८, सूत्र-१०२.

को वीर्य भी कहा जाता है। यह भोजन का अंतिम सार तत्त्व है, जो सारे शरीर में ओज के रूप में व्याप्त रहता है।

वीर्य का दूसरा अर्थ आत्म-पराक्रम या आत्म-पुरुषार्थ है। सभी मानसिक, वाचिक, कायिक पराक्रम, आत्म-पराक्रम के सहारे अग्रसर होते हैं। संयम, तपश्चरण आदि के विकास के साथ आत्म-पराक्रम या आत्म-वीर्य जुड़ा रहता है। अर्थात् इसके सहारे उन में गति एवं शक्ति का संचार होता है।

सिद्धों को अवीर्य इसलिये कहा जाता है कि वे कृतकृत्य होते हैं, जो करणीय था, उसे वे कर चुके हैं। सिद्धत्व प्राप्ति के बाद कुछ करना शेष नहीं रहता। इसलिए करणात्मक वीर्य से वे रहित कहे गये हैं। वे तो अपने परमानंदमय स्वरूप में विद्यमान होते हैं।

यहाँ पुनः एक प्रश्न उपस्थित होता है। शास्त्रों में सिद्धों को अनंतवीर्य कहा गया है। जो अनंत वीर्य हैं, वे अवीर्य कैसे हैं?

इसका समाधान यह है कि उनका अवीर्यत्व करण या अकरण की अपेक्षा से है, किन्तु वीर्यत्व का उनमें अनंत अस्तित्व है। अनंत शक्तिमत्ता है। यह लब्धि की अपेक्षा से है, करण की अपेक्षा से नहीं है।

अक्रिया के संबंध में गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया– अक्रिया का– कियाहीनता का अथवा उत्कृष्टतम संयम-आराधना द्वारा क्रिया से अतीत हो जाने का क्या फल है?

भगवान् ने उत्तर देते हुए बतलाया कि अक्रिया का पर्य्यवसान या अंतिम फल सिद्धि है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अक्रियावस्था-अयोगावस्था प्राप्त होने पर अंततः सिद्धि या मुक्तावस्था प्राप्त होती है।

इस प्रसंग में वहाँ एक गाथा का उल्लेख किया गया है, जिसमें पर्युपासना द्वारा सिद्धि तक पहुँचने के क्रम का संकेत है। वहाँ बताया गया है कि पर्युपासना– धर्माराधना का पहला फल-श्रवण है। धर्माराधक धर्मोपदेश सुनता है। दूसरा फल ज्ञान है। सुनने से उसे धर्म की जानकारी होती है। ज्ञान का फल विज्ञान है। धर्मोपासक जब सामान्य रूप में धर्म के सिद्धांतों को जान लेता है तो फिर वह अध्ययन, चिंतन, मनन द्वारा विशेष ज्ञान प्राप्त करता है।

जब तत्त्वों का विशिष्ट, सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है, तब वह प्रत्याख्यान करता है, जो त्यागने योग्य है, उसे छोड़ता है। प्रत्याख्यान की फल-निष्पत्ति संयम में होती है। वह संयत-चर्या अपनाता है। वैसा करने का फल अनास्रवत्व है। उससे कर्म-आस्रव– कर्म आने के मार्ग रुक जाते हैं। जिससे संवर सिद्ध हो जाता है। अनास्रवत्व का फल तपश्चरण है। तप का फल व्यवदान या निर्जरा है, जिसके परिणाम-

स्वरूप संचित कर्म झड़ जाते हैं। व्यवदान का फल अक्रिया- योग रहितता है। अक्रिया का फल सिद्धत्व है।[1]

सिद्धजीव : वृद्धि-हानि-अवस्थिति-कालमान

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र का एक प्रसंग हैं। गौतम भगवान् से प्रश्न करते हैं— भगवन् ! सिद्ध घटते हैं, बढ़ते हैं या अवस्थित रहते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा— हे गौतम ! सिद्ध जीव बढ़ते हैं, घटते नहीं। वे अवस्थित रहते हैं।

पुनश्च गौतम ने भगवान् से पूछा— जीव कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ? भगवान् ने कहा— जीव सब काल में अवस्थित रहते हैं।[2]

यहाँ जो वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि सिद्धत्व प्राप्ति का क्रम तो चलता ही रहता है। कभी बंद नहीं होता, चलता ही रहेगा। इसलिए सिद्ध संख्यात्मक दृष्टि से बढ़ते ही जाते हैं। बढ़ते ही रहेंगे। जो सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं, वे कभी वापस नहीं लौटते। शाश्वत रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। वे अंत रहित हैं। इसलिये भगवान् ने उनके बढ़ने की बात कही। उनके घटने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वे पुनरावर्तन रहित हैं। वे सदा अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। इसलिए उनमें वृद्धि और अवस्थिति तो है किन्तु हानि नहीं है।

जीव का कभी नाश नहीं होता। संसारी जीव अपने-अपने कर्मों के कारण पर्याय-परिवर्तन करते हैं। व्यवहारिक भाषा में उसे मरण या नाश कहा जाता है, किन्तु वह तो शरीर का है, जीव का नहीं। जीव एक शरीर को छोड़कर, दूसरा शरीर धारण कर लेता है। इसलिए उसकी सार्वकालिक अवस्थिति अव्याहत रहती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में एक प्रसंग है— जब महाभारत का युद्ध प्रारंभ होने वाला था तब अर्जुन दोनों ओर युद्ध के लिये एकत्रित, सुसज्जित सेना को देखकर, युद्ध के परिणाम को सोचकर, विमोहित हो उठा। दोनों ही ओर अपने संबंधी, बंधु-बांधव, मरने-मारने के लिए उपस्थित हैं, इससे वह विचलित हो उठा। तब योगिराज श्री कृष्ण ने उसको जीवन, शरीर और आत्मा का भेद समझाया और बतलाया— 'अर्जुन ! तुम शरीर को आत्मा मानते हो, यह तुम्हारी भूल है। शरीर का छूट जाना आत्मा का नाश नहीं है।'

अनासक्त-भाव से कर्म करते हुए यदि शरीर छूट भी जाता है तो आत्मा का कुछ भी नहीं

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-२, उद्देशक-५, सूत्र-२६.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-५, उद्देशक-८, सूत्र-१३-१४, पृष्ठ : ५०३, ५०४.

बिगड़ता। वहाँ लिखा है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

जैसे कोई मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण शरीर को त्याग कर नया शरीर धारण करती है, यथा–

नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।।

आत्मा को शस्त्र छिन्न नहीं कर सकते, काट नहीं सकते। अग्नि उसे जला नहीं सकती, जल उसे भिगो नहीं सकता तथा वायु सुखा नहीं सकती। अर्थात् आत्मा अभौतिक है। भौतिक पदार्थों का, उनके क्रिया कलाप का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता।[1]

व्याख्याप्रज्ञाप्ति-सूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा की अनश्वरता एवं शाश्वतता पर जो उद्गार प्रगट किए गए हैं, परस्पर समानता लिए हुए हैं, ऐसा दृष्टिगोचर होता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र के अंतर्गत आचार्य एवं उपाध्याय के संबंध में एक चर्चा आई है।

गौतम भगवान् महावीर से जिज्ञासा करते हैं– भगवन् ! स्व-विषय में– सूत्र एवं अर्थ की वाचना देने में गण को, साधु-संघ को या शिष्य-समूह को अग्लान– अखिन्न या अपरिश्रांत भाव से स्वीकार करते हुए अर्थात् उन्हें सूत्र और अर्थ की वाचना देते हुए, पढ़ाते हुए, अग्लान भाव से उनको संयम-पालन में सहयोग करते हुए, आचार्य एवं उपाध्याय कितने भव-जन्म ग्रहण करते हुए सिद्धत्व प्राप्त होते हैं, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत एवं समस्त दुःख-रहित हो जाते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया– हे गौतम ! कितने ही आचार्य, उपाध्याय ऐसे होते हैं, जो एक ही भव में सिद्धत्व पा लेते हैं। कतिपय ऐसे होते हैं, जो दो भव में सिद्धि पाते हैं, किन्तु तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते।[2]

विशेष

जैन श्रमण-संघ के पदों में आचार्य पद का बहुत महत्त्व है। संघ के संवर्धन, संपोषण तथा अनेक प्रकार की देखभाल का उत्तरदायित्व आचार्य पर होता है। साधु-संघ में उनका आदेश अंतिम तथा सर्वमान्य होता है।

१. श्रीमद्भगवत्गीता, अध्याय-२, श्लोक-२२, २३.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-५, उद्देशक-६, सूत्र-१७, पृष्ठ : ४७३.

व्याख्याप्रज्ञाप्ति-सूत्र की वृत्ति के मंगलाचरण में वृत्तिकार ने लिखा है– आचार्य सूत्रार्थ के वेत्ता– जानने वाले होते हैं। वे उत्कृष्ट लक्षण युक्त होते हैं। वे गण के लिए मेढ़ि भूत– स्तंभरूप होते हैं। वे गण की तप्ति– परिताप से विप्रमुक्त होते हैं। अर्थात् उनके नेतृत्व में गतिशील गण संताप रहित होता है। वे शिष्यों को आगमों की अर्थ-वाचना देते हैं। उन्हें आगमों का रहस्य– सार समझाते हैं।

पंचविध आचार– ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार का स्वयं पालन करते हैं तथा इनका प्रकाशन या संप्रसार करते हैं। इनका उपदेश देते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है– वे स्वयं आचार का पालन करते है। अपने अनुयायियों से पालन करवाते हैं, इसलिए वे आचार्य कहे जाते हैं।[1]

जैन धर्म ज्ञान और आचार के समन्वित मार्ग पर आधारित है। संयममूलक आचार का पालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अंग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपरिहार्य है कि वह ज्ञान की आराधना में भी अपने को तन्मय बनाए। ज्ञानपूर्वक आचरित क्रिया में शुद्धि की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है। इसी प्रकार क्रिया परिणत ज्ञान की वास्तविक सार्थकता है।

जैन संघ में शास्त्र-ज्ञान की परंपरा अक्षुण्ण रहे, इसलिए उपाध्याय का पद प्रतिष्ठित हुआ। आचार्य के बाद उपाध्याय का स्थान है। इस पद का संबंध मुख्यत: अध्ययन के साथ जुड़ा हुआ है। उपाध्याय श्रमणों को सूत्रों की वाचना देते हैं।

उपाध्याय के संबंध में कहा गया है– जिनेश्वर देव द्वारा आख्यात, ज्ञानियों द्वारा संग्रथित द्वादशांग रूप आगम-सूत्रों की जो श्रमणों को वाचना देते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।[2]

श्रमणों को शिक्षण देने में आचार्य और उपाध्याय दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। उपाध्याय उन्हें सूत्रों की वाचना देते हैं अर्थात् वे उन्हें पाठ सिखलाते हैं, कंठस्थ कराते हैं। वाचना देने का अभिप्राय आगम-सूत्रों का पाठ सिखलाना या कण्ठस्थ कराना है।

प्राचीन काल में कंठस्थ-परंपरा से ही सूत्रज्ञान चलता रहा है। कंठस्थ का बहुत बड़ा महत्त्व हैं। कोई भी शास्त्र यदि कंठस्थ होता है तो उस पर विवेचक या उपदेशक विशद रूप में व्याख्या कर सकता है। इस संबंध में एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है–

पुस्तकेषु च या विद्या, परहस्तेषु यद्धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने, न सा विद्या न तद्धनम्।।

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-१, सूत्र-१, मंगलाचरण-वृत्ति.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१, उद्देशक-१, सूत्र-१, मंगलाचरण-वृत्ति.

अर्थात् जो विद्या पुस्तकों में होती है, जो धन दूसरे के हाथों में होता है, कार्य के समय में न वह विद्या काम देती है और न धन ही काम देता है।

जैन सूत्रों के पाठ की शुद्ध-परंपरा को सुरक्षित रखने का बड़ा प्रयास रहा है। पाठ में जरा भी स्खलन, परिवर्तन आदि न हो इसका पूरा ध्यान रखा गया है। अनुयोगद्वार-सूत्र में इस संबंध में चर्चा की गई है।[1]

उपाध्याय उच्चारण-संबंधी सभी विशेषताओं और नियमों का ध्यान रखते हुए साधुओं को सूत्रों का पाठ देते हैं। उनका उत्तरदायित्व सूत्रों का पाठ देने तक है। जैसे ऊपर संकेत किया गया है, आचार्य शिष्यों को सूत्रों का अर्थ– अभिप्राय समझाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्रमण-संघ की ज्ञान-संपदा तथा चारित्र-संपदा के संवर्धन, समुन्नयन एवं विकास का महान् उत्तरदायित्व आचार्य, उपाध्याय पर होता है। वे सब के लिए आदरणीय और पूजनीय होते हैं।

समस्त साधुओं को तो वे साधना-पथ पर आगे बढ़ाते ही हैं, स्वयं भी साधना में निरत रहते हैं। क्योंकि जैन धर्म में स्वोपकार या आत्मकल्याण को उपेक्षित कर केवल पर-कल्याण में संलग्न रहने का आदेश नहीं है। अतएव साधु स्व-पर-कल्याण-परायण कहे जाते हैं।[2] आत्म-साधना तो उनका मूल कर्तव्य है। आचार्य और उपाध्याय पद की महत्ता की बुनियाद में साधुत्व के मूल गुण निक्षिप्त हैं। उन्हीं के सहारे उनका परलोक सिद्ध होता है। मुमुक्षत्व सार्थकता पाता है। अतएव गौतम ने ऊपर भगवान् से जो प्रश्न किया, वह इसी संदर्भ से जुड़ा हुआ है। आचार्य और उपाध्याय की अपनी-अपनी वैयक्तिक साधनाओं के साथ उसका संबंध है।

भगवान् ने जो बतलाया, वह आचार्य और उपाध्याय के साधना के उत्कर्ष के साथ संबद्ध है। भगवान् ने जो यह कहा है कि 'कितने ही आचार्य और उपाध्याय उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं', उसका तात्पर्य यह है कि उनकी संयम साधना तथा तपश्चर्या इतनी तीव्र होती है कि उसी जन्म में अपने-अपने समग्र कर्म क्षीण कर डालते हैं। अत: सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु कुछ आचार्य और उपाध्याय ऐसे होते हैं कि एक जन्म में वे अपने समस्त कर्मों का क्षय नहीं कर सकते। पुन: मनुष्य जन्म में आते हैं, तपश्चरण द्वारा अपने अवशिष्ट कर्मों को क्षय कर देते हैं, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं, परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं और सर्व-दु:ख-रहित हो जाते हैं।

आगे भगवान् इसके बारे में कुछ और अधिक स्पष्टीकरण करते हैं कि कोई ऐसे आचार्य, उपाध्याय नहीं होते, जो तीसरे भव का अतिक्रमण करें। अर्थात् तीसरे भव में तो वे मुक्त हो ही जाते हैं।

१. अनुयोगद्वार-सूत्र, सूत्र-१९.

२. आवश्यक-सूत्र, पृष्ठ : ९३, ९४.

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उनके मुक्त होने का आधार उनका आचार्य पद या उपाध्याय पद नहीं है अपितु सर्वविरतिमय जीवन है। वह अक्षुण्णरूप में चलता रहे, तप से अनुभावित होता रहे, तभी वे उसके बलबूते पर सिद्धि– मुक्ति पाते हैं।

सिद्धों का वृद्धि-क्रम

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में एक स्थान पर गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं– भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक वृद्धिंगत होते हैं, बढ़ते हैं।

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं– गौतम ! सिद्ध जघन्य-कम से कम एक समय और उत्कृष्ट– अधिक से अधिक आठ समय तक वृद्धिंगत होते हैं, बढ़ते हैं।[1]

इस सूत्र से पहले वृद्धि, हानि और अवस्थिति का वर्णन आया है। यहाँ पुन: बढ़ने की बात कही गई है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

कोई भी जीव अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं तथा कम संख्या में मरण प्राप्त करते हैं तब वे बढ़ते हैं ऐसा कहा जाता है। जब वे कम संख्या में उत्पन्न होते हैं और अधिक संख्या में मरते हैं, तब वे घटते हैं, ऐसा कहा जाता है।

जब जन्म और मृत्यु की संख्या समान होती है, जितने जीव जन्म लेते हैं, उतने ही मरते हैं अथवा कुछ कालपर्यंत न जीवों का जन्म होता है, न मरण ही होता हैं, तब वे अवस्थित हैं, ऐसा कहा जाता है।

सिद्धों के संबंध में यह ज्ञातव्य है कि सिद्ध-पर्याय सादि और अनंत है। अर्थात् सिद्धों की आदि तो है– कर्म क्षय कर नये रूप में सिद्ध होते हैं किन्तु उनका अंत नहीं है। जो सिद्ध पर्याय पा लेते हैं, वे उसी में विद्यमान रहते हैं। उनका वह पर्याय कभी नष्ट नहीं होता। उनकी संख्या कभी कम नहीं होती किन्तु जब कोई जीव नये रूप में सिद्धत्व प्राप्त करता है, तब वृद्धि होती है।

जितने काल तक कोई भी जीव सिद्धत्व नहीं पाता, उतने काल तक सिद्ध अवस्थित हैं, ऐसा कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में जैसा ऊपर उल्लेख हुआ है, सिद्धों की अवस्थिति के संबंध में गौतम द्वारा जिज्ञासा किये जाने पर भगवान् ने अवस्थिति का जो कालमान जघन्यत: एक समय का और उत्कृष्टत: छ: मास तक का बतलाया, उसका आशय यह है कि कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक छ: महिने तक कोई जीव सिद्ध नहीं होता। वह काल उनका अवस्थिति-काल कहा जाता है।

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-५, उद्देशक-८, सूत्र-२०.

सिद्धों के सोपचयादि का निरूपण

गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते है– क्या सिद्ध सोपचय (उपचय सहित) या वृद्धि सहित हैं?

क्या वे सापचय– अपचय सहित या हानि सहित हैं? क्या वे सोपचय-सापचय है? क्या वे निरूपचय– उपचय रहित तथा निरपचय– अपचय रहित है?

भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम सिद्ध सोपचय हैं। वृद्धि सहित हैं किन्तु सापचय-हानि सहित नहीं है। वे सोपचय-सापचय भी नहीं हैं, किन्तु वे निरूपचय-निरपचय हैं।[1]

पूर्व के जीवों में नए जीवों की जो उत्पत्ति होती है वे सोपचय कहलाते हैं। क्योंकि उत्पत्ति होने से वे बढ़ते हैं। या उनकी वृद्धि होती है।

पूर्ववर्ती जीवों में से जब कतिपय जीव मर जाते हैं तो उनकी संख्या घट जाती है। उनमें हानि या कमी हो जाती है। तब वैसी स्थिति में वे सापचय कहलाते हैं। उत्पत्ति और मृत्यु जब एक साथ होती है, कुछ जीव उत्पन्न होते हैं, कुछ मरते है। अर्थात् कुछ की वृद्धि होती है, कुछ की हानि होती है तब वे सोपचय-सापचय कहलाते हैं।

जिनमें न तो नए जीवों की उत्पत्ति होती है, न मरण ही होता है अर्थात् न वृद्धि होती है और न हानि होती है। वैसी स्थिति में वे निरूपचय-निरपचय कहलाते हैं।

इस व्याख्या के अनुसार सिद्ध– सिद्धी-प्राप्त जीव सोपचय है, क्योंकि नए जीव आगे सिद्धि प्राप्त करते रहते हैं। इस प्रकार उनमें वृद्धि होती है।

सिद्धि-प्राप्त जीवों में किसी का मरण या नाश नहीं होता। इसलिए वे सापचय नहीं हैं। सिद्ध सोपचय-सापचय नहीं है। अर्थात् एक साथ में उपचय या अपचय नहीं होता। इसलिये वे एक साथ निरुपचय-निरपचय कहे गये हैं।

सिद्ध जीवों की गति

गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते है– भगवन्! क्या अकर्म-कर्म रहित जीव की गति प्रज्ञप्त कही गई है? स्वीकार की गई है?

भगवान् गौतम को उत्तर देते है कि कर्म-रहित जीव की गति होती है, ऐसा माना गया है।

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक-५, उद्देशक-८, सूत्र-२३.

इस पर पुनः गौतम अपने प्रश्न को आगे बढ़ाते है कि जो जीव कर्म रहित हैं उनकी गति कैसी होती है ?

इसका समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं– उनकी गति निसंगता, नीरागता आसक्ति-वर्जित, राग-रहित, गति-परिमाण से बंधन का विच्छेद हो जाने से, कर्मरूपी ईंधन से छूट जाने से तथा पूर्व-प्रयोग से होती हैं।

गौतम फिर पूछते हैं– निसंगता, निरागता, गति-परिमाण बंधन, छेद तथा निरिन्धता और पूर्व-प्रयोग से कर्म-रहित जीव की गति कैसी होती है ?

इस पर भगवान् कहते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति छेद रहित निरुहत– अखण्डित तुम्बे क्रमशः परिकर्म-संस्कार करता-करता उस पर दर्भ-डाभ तथा कुश लपेटे, वैसा करके उस पर आठ बार मृत्तिका का लेप करे। फिर उसे सुखाने हेतु धूप में रखकर पुनः पुनः उसे सुखाए। जब वह भलीभाँति सूख जाए, तब उसको अपार, अतरणीय, पुरुष प्रमाण से अधिक पानी में डाल दे, गौतम ! क्या वह तुम्बा जो मृत्तिका के आठ लेपों सें अधिक भारी है, पानी के ऊपर के तल को छोड़कर पानी के पैंदे में– तल में जाकर टिक जाता है ?

गौतम ने कहा– भगवन् ! वह तुम्बा नीचे जमीन के तल या पैंदे पर जाकर टिकता है ?

भगवान् बोले– उस पर लगे हुए मृत्तिका के आठों लेप जब पानी में गल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, उतर जाते हैं तो क्या वह तुम्बा नीचे के तल को छोड़कर जल के ऊपर के तल पर आ जाता है ?

गौतम बोल– हाँ, भगवन् ! वैसा होने पर वह पानी के ऊपर के तल पर आ जाता है।

इस पर भगवान् ने कहा- तुम्बे की तरह ही निःसंगता से कर्मों के मल के लेप के दूर हो जाने से तथा नीरागता से– राग रहित हो जाने से तथा गति-परिणाम से अकर्म– कर्म-रहित जीव की भी गति– ऊर्ध्वगति हो जाती है।

गौतम इस पर पुनः प्रश्न करते हैं– भगवन् ! बंधन का छेद हो जाने से कर्म-रहित जीव की गति कैसी होती है ?

भगवान् बतलाते हैं– हे गौतम ! जैसे मटर, मूंग, उड़द, सेम की फली और एरण्ड फल को धूप में रखकर सूखाए तो सूख जाने के बाद वे सब स्वयं फट जाते हैं। उनमें से बीज उछलते हैं, उसी प्रकार जब कर्म-रूप बंधन का छेद हो जाता है, तब कर्म रहित जीव की गति होती है।

गौतम– भगवन् ! निरिन्धनता– इंधन रहित होने से कर्म रहित जीव की गति। कैसे होती है ?

भगवान– गौतम ! जैसे इंधन से– जलती हुई लकड़ी से मुक्त धुएं की गति, यदि बीच में किसी

प्रकार का व्याघात न हो तो स्वभावत: ऊर्ध्व– ऊपर की ओर होती है। इसी प्रकार कर्म रूप ईंधन छूट जाने से कर्म-रहित जीव की गति ऊर्ध्व होती है।

गौतम– भगवन् ! पूर्व-प्रयोग से कर्म-शून्य जीव की गति कैसी होती है ?

भगवान्– गौतम ! जैसे धनुष से कोई बाण छूटे, बीच में कोई व्यघात न हो तो उसकी गति अप लक्ष्य की ओर होती है, उसी प्रकार पूर्व प्रयोग से कर्म रहित जीव की गति अपने लक्ष्य– सिद्ध स्था की ओर होती है। अत एव हे गौतम ! ऐसा प्रज्ञप्त किया गया है कि नि:संगता– निरागता, गतिपरिणाम बंधन, छेद निरन्धनता तथा पूर्व प्रयोग से कर्म रहित जीव की ऊर्ध्व गति होती है।[1]

विमर्श

यहाँ सिद्ध या मुक्त जीव की गति के संबंध में जो शंका-समाधान हुआ है, उसका अभिप्राय यह है कि सिद्धत्व, चौदहवें गुणस्थान में होता है। जब जीव में अयोगावस्था आती है, उसके मानसिक, वाचिक या कायिक सभी प्रकार के योग निरुद्ध हो जाते हैं, जब कोई योग रहता ही नहीं तो फिर गति कैसी हो सकती है ? क्योंकि गति का संबंध योग-युक्त जीव से है, योग-रहित जीव से नहीं। इसका भगवान् ने जो समाधान किया है, वह बड़ा वैज्ञानिक और युक्ति संगत है।

उसका आशय यह है कि अयोगावस्था पाने से पूर्व योगावस्था में जो प्रयोग या अभ्यास रहता है, उस अभ्यास के कारण बिना प्रयत्न के ही स्वयं गति-निष्पन्न होती है। जैसे पका हुआ और सूखा एरण्ड का फल फूट जाता है तो उसका बीज बिना किसी के द्वारा उछाले जाने पर भी उछल पड़ता है। उसी प्रकार योगयुक्त अवस्था में जो गति का पूर्व प्रयोग रहा था, उस प्रयोग के कारण बिना किसी प्रकार के प्रयत्न से भी सिद्ध-जीव की ऊर्ध्वगति हो जाती है।

जैसे इंजन द्वारा खींचा हुआ रेल का डिब्बा इंजन के अलग हो जाने पर भी कुछ देर तक पटरी पर चलता रहता है। उस समय उसे कोई नहीं चलाता, फिर भी वह चलता है। इसका कारण पूर्व-प्रयोग है। अर्थात् जो पहले की गति का संस्कार है, उससे वह चलता है। यही तथ्य सिद्ध-जीव की गति पर लागू होता है।

सोच्चा-केवली और सिद्धत्व

गौतम ने सोच्चा-केवली के संबंध में भगवान् से अनेक प्रश्न किये हैं, जिनमें उन द्वारा केवली-प्ररूपित धर्म का उपदेश दिये जाने, किसी को प्रवर्जित या मुण्डित किये जाने, सोच्चा-केवली के शिष्य

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति - सूत्र, शतक-७, उद्देशक-१, सूत्र-१३, १, ४,

द्वारा किसी को प्रव्रजित किये जाने तथा प्रशिष्य द्वारा किसी को प्रव्रजित किये जाने के विषय में जिज्ञासाएं हैं।

इसके बाद गौतम भगवान् से आगे प्रश्न करते है कि सोच्चा केवली क्या सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त होते हैं ? समस्त दुःखों का अंत करते हैं।

भगवान– गौतम ! वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत्त होते हैं तथा सब दुःखों का अंत करते हैं।

गौतम– भगवन् ! क्या ? सोच्चा केवली के शिष्य भी सिद्धत्व, प्राप्त करते हैं ? बुद्धत्व, मुक्तत्व और परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं ?

भगवान्– गौतम ! उनके शिष्य भी सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। समस्त दुःखों का नाश करते हैं।

गौतम– भगवन् ! क्या उनके प्रशिष्य भी सिद्ध होते हैं?

भगवान् ने कहा– गौतम ! उनके प्रशिष्य भी सिद्ध होते हैं। समस्त कर्म का नाश करते हैं।[1]

यहाँ प्रयुक्त सोच्चा-केवली का शब्द एक विशेष आशय के साथ जुड़ा है। जो गुरु आदि अन्य महापुरुषों से धर्म का श्रवण कर संयममूलक साधना द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सोच्चा केवली कहे जाते हैं।

'सोच्चा' प्राकृत भाषा का शब्द है। उसका संस्कृत रूप 'श्रुत्वा' होता है, जो पूर्वकालिक क्रिया है। उसका अर्थ 'सुनकर' है। यही सोच्चा पद यहाँ केवली के साथ जुड़ा हुआ है।

जो गुरु आदि के उपदेश का श्रवण किए बिना केवली होते हैं, बोध प्राप्त करते हैं, वे स्वयंबुद्ध कहे जाते हैं। जो केवली होते हैं, वे तो सिद्ध होते ही है, तो शंका-समाधान का वातावरण प्रसंग क्यों बना ?

शिष्यों को, जिज्ञासुओं को स्पष्ट तथा बोध कराने हेतु यह प्रसंग प्रस्तुत आगम में आया है। स्वयंबुद्ध केवली तो सिद्ध होते ही हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है। सोच्चा केवली के संबंध में कोई संशय उत्पन्न न हो जाए, मन में अज्ञानवश कोई भ्रांति न हो जाए इसलिये सोच्चा केवली के शिष्य, प्रशिष्य की जो चर्चा हुई है, वह इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने हेतु है। वैसे तो यह बिलकुल साफ है। जब सोच्चा केवली सिद्ध होते हैं तो उनके शिष्य भी जो केवली हो गये हैं, सिद्ध होंगे ही। इतना होने के बावजूद उनकी चर्चा करने का अभिप्राय विषय को अधिक स्पष्ट करता है।

जैन आगमों की यह शैली है कि एक ही बात को जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए कई प्रकार

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-९, उद्देशक-३१, सूत्र ४२-१-३.

से पुनः-पुनः कहा जाता है ताकि सुनने वाले भलिभांति समझ सकें।

साहित्य में, काव्य में बार-बार आना पुनरुक्ति दोष कहा जाता है किन्तु आगमों में, शास्त्रों में ऐसा होना दोष नहीं माना जाता क्योंकि वहाँ लक्ष्य जन-जन के कल्याण का है, काव्यात्मक आनंद लेने का नहीं। इसी कारण ऊपर के प्रसंग में जो तथ्य स्पष्ट हैं, उन्हें साधारण लोगों को बोध देने के लिये दुहराया गया है।

सिद्धों का संहनन

गौतम ने भगवान् महावीर से वंदन-नमस्कार करके प्रश्न किया– भगवन् ! जीव सिद्ध होते हैं, वे किस संहनन से होते हैं ?

भगवान् ने बताया– गौतम ! वे जीव वज्रऋषभनाराच संहनन से सिद्ध होते हैं। इतना कहने के बाद आगम में यह संकेत किया गया है कि सिद्धों के संहनन, संस्थान, उच्चत्व, आयुष्य और परिवसन– निवास आदि विषयक वर्णन औपपातिक-सूत्र के अनुसार यहाँ योजनीय है।[1]

समीक्षण

प्रथम अध्याय में विवेचन हुआ ही है, आगम कंठस्थ-परंपरा से प्रचलित रहे हैं। उपाध्यायों से, गुरुवृंद से श्रमण वाचना लेते और कंठाग्र रखते। प्राचीन काल से सुनकर और स्मृति में रखकर ही आगम-ज्ञान को सुरक्षित रखने की पद्धति थी। यह पद्धति दीर्घकाल तक चलती रही।

आगमों को श्रुत कहे जाने का संभवतः यही कारण रहा हो कि वे सुनकर अधिगत किये जाते थे। आगमों के संबंध में यह पूरा ध्यान रखा जाता रहा कि उनके पाठ में कहीं भी कोई भेद या परिवर्तन न आए। यहाँ तक कि एक-एक अक्षर, एक-एक मात्रा तक अपने शुद्ध रूप में विद्यमान रहे, इस हेतु समय-समय पर आगम वाचनाएँ हुई।

आगम-पाठों को कंठस्थ रखने की सुविधा रहे, स्मृति पर जोर न पड़े, इस हेतु आगमों में जहाँ-जहाँ एक समान वर्णन है, उन-उन वर्णनों के पाठों को सब स्थानों पर न देकर किसी एक आगम में ही उन्हें निहित किया गया। जहाँ-जहाँ दूसरे आगमों में ये वर्णन आते है, वहाँ यह सूचित है कि अमुक आगम में इन्हें देखें।

यही बात यहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में आई है। सिद्धों के संहनन के संबंध में प्रश्न किए जाने पर संहनन बतलाकर तत्संबंधी अन्य बातें औपपातिक-सूत्र में से गृहीत करने का संकेत किया गया है।

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-११, उद्देशक-२, सूत्र-२, पृष्ठ : ४८.

औपपातिक-सूत्र के अनुसार उनके संस्थान के विषय में यह ज्ञातव्य है कि वे (सिद्ध) छः प्रकार के संस्थानों में से किसी एक प्रकार के संस्थान से सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। तीर्थंकरों की अपेक्षा सिद्धों का उच्चत्व जघन्य सात रत्निमुंड हस्त-प्रमाण और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष-प्रमाण होता है।

सिद्ध होने वाले जीवों का आयुष्य कुछ अधिक आठ वर्ष प्रमाण तथा उत्कृष्ट– पूर्व कोटि-प्रमाण होता है। सिद्धों की परिवसना इस प्रकार होती है– सर्वार्थसिद्ध महाविमान के ऊपर की स्तूपिका के अग्रभाग से द्वादश योजन ऊपर जाने के पश्चात् ईषत् प्राग्भारा नामक पृथ्वी है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन है, उसका वर्ण अत्यंत श्वेत– सफेद है तथा अत्यंत रमणीय है। उसके ऊपर के योजन पर लोक का अंत भाग है। उस योजन के ऊपर वाले एक गव्यूति (चार कोस) के ऊपरितन– ऊपर के षोड्श-भाग में सिद्धों की परिवसना है, वे वहाँ परिवास या निवास करते हैं।

भवसिद्धिक जीवों का सिद्धत्व

एक बार भगवान् महावीर कोशांबी नगरी पधारे। कोशांबी में सहस्रानीक राजा की पुत्री, शतानीक राजा की बहन, उदयन राजा की भुआ, मृगावती की ननद– जयंती नामक श्रमणोपासिका थी, जो भगवान् महावीर के वचन-श्रवण में अभिरूचिशील, साधुओं की पूर्व शय्यातरा– स्थान देनेवाली, सुकुमार एवं सुस्वरूप थी। जीवाजीव का चिंतन करती थी। वह राजपरिवार के साथ भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुई।[1]

जयंती ने जिज्ञासापूर्वक भगवान् महावीर से अनेक विषयों में प्रश्न किए। उसी संदर्भ में उसने भवसिद्धिक विषय में परिचर्चा करते हुए पूछा– भगवन् ! जीवों का भव-सिद्धिकत्व स्वाभाविक है या पारिणामिक हैं ?

भगवान ने कहा– जयंती ! जीवों का भवसिद्धिकत्व स्वाभाविक है, पारिणामिक नहीं हैं।[2]

विशेष

यहाँ स्वाभाविक और पारिणामिक दो शब्द आये हैं। जो स्वभाव से होता हैं, उसे स्वाभाविक कहा जाता है। वैसा होने का कारण स्वभाव है, जो स्वभाव है वह होता ही हैं, क्योंकि स्वभाव की परिभाषा त्रिकालवर्तिता है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य तीन कालों में रहता है। जैसे अग्नि का स्वभाव ऊष्णता है, जो सदैव रहती है।

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१२, उद्देशक-२, सूत्र-१-५, १२, पृष्ठ : १२६, १२७.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१२, उद्देशक-२, सूत्र-१५, पृष्ठ : १३९.

भवसिद्धिक जीवों के संबंध में जो स्वाभाविकता उनका सहज-भाव है। जो कार्य-स्वभाव से किंतु कर्मों के या उद्यम के फलस्वरूप होता है, उसे पारिणामिक कहा जाता है।

पारिणामिक और स्वाभाविक में अंतर यह है कि स्वाभाविक तो निश्चिय रूप से निष्पन्न होता है किंतु पारिणामिक पर यह बात लागू नहीं होती। वह होता भी है और नहीं भी होता है।

जयंती ने पुनः प्रश्न किया– भगवन् ! क्या समस्त भवसिद्धिक जीव सिद्ध होंगे ?

भगवान्– जयंती सभी भवसिद्धिक जीव सिद्ध होंगे।

जयंती– भगवन् ! यदि समग्र भवसिद्धिक जीव सिद्धत्व पा लेंगे तो क्या लोक उनसे शून्य जाएगा ? भगवान्- जयंती ! ऐसा नहीं होता।

जयंती– भगवन् ! सभी भवसिद्धिक जीव सिद्धत्व प्राप्त कर लेंगे तो भी लोक भवसिद्धिक जीव से शून्य नहीं होगा– ऐसा किस कारण से कहा जाता है ?

भगवान्– जयंती ! जैसे कोई अनादि, अनंत, परित, परिमित तथा परिवृत सर्वाकाश की कोई श्रेणी हो, उसमें से प्रत्येक समय एक-एक परमाणु जितना खंड अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी तक निकाला जाता रहे तो भी वह श्रेणी रिक्त नहीं होती। इसी प्रकार जयंती ! ऐसा कहा जाता है कि सब भवसिद्धिक जीव सिद्ध होंगे किंतु लोक भवसिद्धिक जीवों से रहित नहीं होगा।[1]

यहाँ सभी भवसिद्धिक जीवों के सिद्धत्व पाने की जो बात कही गई है, उसका आशय यह है कि उनमें सिद्ध होने की स्वाभाविक योग्यता है। वे सिद्ध होते जाएंगे। यह क्रम चलता रहेगा। यह लोक उनसे कभी रिक्त नहीं होगा।

भगवान् ने आकाश की श्रेणी का जो उदाहरण दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि समग्र आकाश की श्रेणी अनादि-अनंत है। वह कभी खाली नहीं होती। चाहे कितने ही काल तक उसके एक-एक परमाणु जितने अंश प्रति समय निकाले जाते रहें। यही तथ्य मोक्ष जाने वाले भवसिद्धिक जीवों के साथ जुड़ा है।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि भवसिद्धिक जीवों में सिद्धत्व पाने की योग्यता है पर योग्यता के साथ-साथ संयोग और निमित्त की भी आवश्यकता है। वह योग्यता तभी फलित होती है, जब वैसा निमित्त प्राप्त हो।

उदाहरण के लिये एक पाषाण को लें, उसमें मूर्ति बनने की योग्यता है किंतु वह योग्यता तभी

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१२, उद्देशक-२, सूत्र-१६, १७, पृष्ठ : १३०-१३२.

सार्थक होती है, जब मूर्तिकार का उसको योग मिलता है। उसी प्रकार जब बोधप्रद सत्पुरुष का योग मिलता है, तब भवसिद्धिक जीव संयम– तपमय मुक्ति मार्ग अपनाता है और उस पर आगे बढ़ता हुआ यथाकाल सिद्धत्व प्राप्त करता है।

केवली तथा सिद्ध का ज्ञान

केवली तथा सिद्ध द्वारा जानने, देखने के संबंध में व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में गणधर गौतम और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में विवेचन हुआ है, जो इस प्रकार है।

गौतम– भगवन् ! क्या केवलज्ञानी त्रयोदश गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ छद्मस्थ को जानते-देखते हैं ?

भगवान्– गौतम ! वे जानते-देखते हैं।

गौतम– भगवन् ! जिस प्रकार केवलज्ञानी छद्मस्थ को जानते-देखते हैं, क्या सिद्ध भी छद्मस्थ को उसी तरह जानते हैं ?

भगवान्– गौतम् ! सिद्ध भी केवली की तरह जानते-देखते हैं।

गौतम– भगवन् ! क्या केवलज्ञानी क्षेत्रप्रतिनियत अवधिज्ञान से युक्त पुरुष को जानत-देखते हैं।

भगवान्– हाँ, वे जानते-देखते हैं। इसी प्रकार केवली एवं सिद्ध परमावधि ज्ञानी को जानते-देखते हैं। वे केवलज्ञानी को भी जानते-देखते हैं।

गौतम– जिस प्रकार केवलज्ञानी सिद्ध को जानते-देखते हैं, क्या सिद्ध भी अन्य सिद्ध को उसी प्रकार जानते-देखते हैं ?

भगवान्– हाँ गौतम ! वे उसी प्रकार जानते-देखते हैं।

गौतम— क्या केवलज्ञानी भाषण करते हैं ? बोलते हैं ? क्या व्याकरण-समाधान करते हैं ? या प्रश्न का उत्तर देते हैं ?

भगवान् — गौतम ! वे भाषण करते है तथा समाधान करते हैं।

गौतम– भगवन् ! जिस तरह केवली भाषण करते हैं या समाधान करते हैं, क्या सिद्ध भी इसी प्रकार भाषण करते हैं या समाधान करते हैं ?

भगवान् ने कहा– ऐसा नहीं होता।

गौतम ऐसा क्यों कहते हैं कि केवली भाषण करते हैं तथा समाधान करते हैं परंतु सिद्ध भाषण नहीं करते, समाधान नहीं करते, प्रश्न का उत्तर नहीं देते।

भगवान्– गौतम ! केवलज्ञानी सोत्थान, सकर्म, सबल, सवीर्य तथा सपुरुषाकार– सपराक्रम होते हैं अर्थात् उत्थान, कर्म, बल, वीर्य तथा पुरुषाकार– पराक्रम से युक्त होते हैं, किंतु सिद्ध उत्थानादि से रहित होते हैं, इसलिए वे केवलज्ञानी की तरह भाषण नहीं करते, प्रश्न का उत्तर नहीं देते।

गौतम– भगवन् ! क्या केवलज्ञानी उन्मेष तथा निमेष करते हैं ? अपने नेत्र खोलते हैं, मूंदते हैं ?

भगवान्–गौतम ! केवलज्ञानी उन्मेष-निमेष करते हैं किंतु जैसा पहले कहा गया है, उत्थानादि से रहित होने के कारण सिद्ध ऐसा नहीं करते।

उसी प्रकार केवलज्ञानी अपने शरीर का आवर्तन-संकोचन करते हैं, तथा प्रसार करते हैं, फैलाते हैं। वे खडे होते हैं। बैठते हैं। करवट बदलते हैं। सोते हैं, आवास स्थान में रहते हैं। वे अल्पकाल के लिए निवास करते हैं। सिद्ध भगवान् के विषय में यह ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त कारणों से वे ये सब बातें नहीं करते।

गौतम– भगवान् क्या केवली रत्नप्रभा पृथ्वी को 'यह रत्नप्रभा है।' इस तरह जानते-देखते हैं ?

भगवान्– हाँ, वे जानते-देखते हैं।

गौतम– जिस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी को जानते-देखते हैं, उसी प्रकार सिद्ध भगवान् भी जानते-देखते हैं।[1]

इस वर्णन के बाद गौतम भगवान् से शर्कराप्रभा पृथ्वी से लेकर तम तमः पृथ्वी तक तथा सौधर्म कल्प से लेकर अनुत्तरविमान तक एवं ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी तक जानने-देखने के संबंध में भगवान् से प्रश्न करते हैं। भगवान् उनका पूर्ववत उत्तर देते है कि जिस प्रकार केवलज्ञानी इनको जानते-देखते हैं, उसी प्रकार सिद्ध भी उनको जानते-देखते हैं।

फिर गौतम परमाणु-पुद्गल तथा द्विप्रदेशी स्कंध आदि के संबंध में भगवान् से वैसे ही प्रश्न करते हैं। भगवान उत्तर देते हैं कि परमाणु-पुद्गल एवं द्विप्रदेशी स्कंध से लेकर अनंत प्रदेशी स्कंध तक केवली और सिद्ध जानते-देखते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर के बाद गौतम भगवान द्वारा प्रतिपादित तथ्यों को श्रद्धापूर्वक, दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते है।[2]

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, भाग-४, शतक-१४, उद्देशक-१०, सूत्र-१-१३, पृष्ठ : ४२९, ४३०.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, भाग-४, शतक-१४, उद्देशक-१०, सूत्र-१४-२४, पृष्ठ : ४३२, ४३१.

समीक्षा

उपर्युक्त विवेचन में मुख्यतया दो बातें हैं। पहली बात केवली और सिद्ध के जानने-देखने के विषय में है। इस संबंध में गौतम द्वारा जो-जो प्रश्न किए गए हैं, उनके समाधान में यही बतलाया गया है कि केवली और सिद्धों के जानने में कोई अंतर नहीं होता है क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। सर्वज्ञता में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं होता। इसलिये केवली और सिद्ध दोनों का जानना समान है।

दूसरी बात केवली और सिद्ध में एक अंतर स्पष्ट है। केवली योगसहित होते हैं। इसलिये उत्थान, बल आदि उनमें विद्यमान रहते हैं। इसी कारण आँखें खोलने, बंद करने, उठने, बैठने, सोने, रहने आदि के रूप में उनमें प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं।

सिद्ध अयोग– योगरहित होते हैं। ऐसा होने से उनमें ये प्रवृत्तियाँ नहीं पाई जाती। केवली और सिद्ध में यही अंतर है। यह उस समय मिट जाता है, जब तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान केवली सयोगावस्था को त्याग कर अयोगवस्था प्राप्त कर लेते हैं। तब वे भी सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए फिर भेद का कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

मोक्षसूचक स्वप्न

स्वप्नों का भी अपना एक विज्ञान है। वे सर्वथा निरर्थक नहीं होते। अनेक स्वप्न अभ्युदय, उन्नति और कल्याण के सूचक होते हैं, जबकि अनेक स्वप्न ऐसे होते हैं, जिनसे आगे आने वाली दुःखपूर्ण, अशुभ या संकटापन्न स्थिति का संकेत मिलता है। भारतीय विद्या के अंतर्गत स्वप्न-विज्ञान पर भी विद्वानों ने ग्रंथ-रचना की है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में चौदह स्वप्नों का उल्लेख किया गया है और उनका फल बतलाते हुए कहा गया है– चौदह स्वप्नों में दो स्वप्न ऐसे है, जिन्हें ये स्वप्न दिखाई देते हैं, वे मनुष्य दूसरे भव में सिद्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त बाकी के बारह स्वप्नों में बताए गए पदार्थों को जो देखते हैं, वे उसी भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत होते हैं। सब दुःखों का अंत करते हैं।[1]

सिद्धों के प्रथमत्व-अप्रथमत्व की चर्चा

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में– जीव, चौवीस दंडक और सिद्ध विषयक चर्चा के संदर्भ में एक प्रसंग आया है, जिसमें प्रथमत्व और अप्रथमत्व के संबंध में विवेचन है। उस प्रसंग का प्रारंभ इस प्रकार है–

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१६, उद्देशक-६, सूत्र-२२-३५, पृष्ठ : ५७७, ५७८.

एक समय की बात है। भगवान् महावीर राजगृह नगर में विराजित थे, तब गौतम ने उनसे प्रश्न पूछा– भगवन् ! जीव, जीव भाव से, जीवत्व की दृष्टि से प्रथम है या अप्रथम है ?

भगवान्– गौतम ! जीव, जीवभाव की अपेक्षा से प्रथम नहीं है, वह अप्रथम है। नैरयिक जीवों से लेकर वैमानिक जीवों तक यही स्थिति है।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया– जीव सिद्धभाव से सिद्धत्व की अपेक्षा से प्रथम है या अप्रथम है ?

भगवान् ने कहा– गौतम ! सिद्ध-जीव सिद्धभाव की अपेक्षा से प्रथम हैं, अप्रथम नहीं है।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया– क्या सभी जीव सिद्धत्व की अपेक्षा से प्रथम हैं या अप्रथम ?

भगवान्– गौतम ! सभी जीव सिद्धत्व की अपेक्षा से प्रथम हैं। वे अप्रथम नहीं हैं।[1]

समीक्षा

यहाँ प्रथमत्व और अप्रथमत्व को लेकर जीव और सिद्धत्व के संबंध में चर्चा हुई है। प्रथम वह होता है, जो नए रूप में अस्तित्व प्राप्त करता है। अप्रथम वह होता है, जो नए रूप में अस्तित्व प्राप्त नहीं करता, जो पहले से होता है, अनादि काल से होता है। जीव का अस्तित्त्व इसी प्रकार का है।

जीव सदा से विद्यमान है। वह कभी नए रूप में अस्तित्व प्राप्त नहीं करता। वह अनादि है। इसलिए उसको इस चर्चा में अप्रथम कहा गया है किन्तु सिद्धत्व के साथ यह बात लागू नहीं होती। क्योंकि कर्म-बद्ध जीव जब कर्मों से मुक्त होता है तब सिद्ध बनता है। इसलिए सिद्धत्व पाने की आदि है। वह जीव पहले-पहले सिद्धत्व पाता है, इसलिए सिद्धत्व की दृष्टि से वह प्रथम है।

जीव के जीवत्व की तरह सिद्ध का सिद्धत्व अनादिकालीन नहीं है। जीव उसे संयम-साधना से साधित करता है, प्राप्त करता है। वह सादि या आदि सहित है। इसलिये वह अप्रथम नहीं, प्रत्युत प्रथम है।

एक प्रसंग में केवलज्ञानी, अयोगी जीव मनुष्य तथा सिद्ध के प्रथमत्व-अप्रथमत्व के संबंध में कहा गया कि वे एकत्व और बहुत्व हैं। एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से प्रथम हैं, अप्रथम नहीं हैं।[2]

यहाँ सिद्धों के प्रथमत्व, अप्रथमत्व की जो चर्चा की गई है, उसका अभिप्राय यह है कि चाहे संख्या में सिद्धावस्था प्राप्त जीव एक हों या बहुत से हों, उन्होंने जो सिद्धत्व पाया है, वह पहले-पहल पाया है। इसलिये उनमें सिद्धत्व की दृष्टि से प्रथमत्व है।

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१८, उद्देशक-१, सूत्र-२-८, पृष्ठ : ६४७-६५०.
२. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, भाग-३, शतक-१८, उद्देशक-१, सूत्र-५३, पृष्ठ : ६५८.

अप्रथमत्व का यह अभिप्राय है, जो पहले-पहल प्राप्त नहीं होता, पहले से ही प्राप्त है। सिद्धों पर यह लागू नहीं होता। वे पहले से ही सिद्ध नहीं होते, वे तो कर्मों का क्षय कर प्रथम बार सिद्ध होते हैं। इसलिए उनमें अप्रथमत्व नहीं है।

इसी प्रकार अयोगी जीव, मनुष्य और सिद्ध, जो वास्तव में एक ही स्थिति में हैं, एक ही है, चाहे संख्या में एक हों या अधिक हों, प्रथम ही होते हैं क्योंकि अयोगावस्था, सिद्धावस्था उन्हें पहली बार मिलती है, जो सदैव रहती है। इसलिए अप्रथम का भंग वहाँ सिद्ध नहीं होता। सयोगावस्था जीव के साथ अनादिकाल से चली आ रही है क्योंकि वह कर्मावरण की स्थिति है। जब वह सर्वथा अपगत हो जाती है, तब अयोगित्व प्राप्त होता है– योग निरोध होता है, जो प्रथम है।

माकंदी पुत्र के सिद्धत्व विषयक प्रश्न

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में एक प्रसंग आया है। भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में अवस्थित थे तब उनके अंतेवासी माकंदी पुत्र अणगार ने जो मंडितपुत्र अणगार की तरह प्रकृति से भद्र था, भगवान् की पर्यूपासना करते हुए प्रश्न किया–

भगवन् ! क्या कापोत-लेश्या-युक्त पृथ्वीकायिक जीव मर कर सीधा मानव का शरीर प्राप्त करता है? फिर क्या वह मानव शरीर में ही केवलज्ञान का उपार्जन करता है ? वैसा करके वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत होता है ? वह समस्त दुःखों का अंत करता है ?

भगवान् ने कहा– हे माकंदी पुत्र ! ऐसा ही होता है। वह कापोत-लेश्या-युक्त पृथ्वी कायिक जीव सीधा मनुष्य-भव प्राप्त करता है। उसी भव में केवलज्ञान का उपार्जन करता है। तदनंतर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत होता है तथा समस्त दुःखों का अंत करता है।[1]

तत्पश्चात् मांकदी पुत्र ने कापोतलेश्या-युक्त अप्कायिक जीव तथा कापोत-लेश्या-युक्त वनस्पतिकायिक जीव के विषय में भी वही प्रश्न किया। भगवान् ने उन प्रश्नों का पहले की तरह ही उत्तर दिया। माकंदीपुत्र को समाधान हुआ और उसने भगवान् के वचन को श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया। फिर वह भगवान् को वंदन-नमन कर श्रमण-निर्ग्रंथों के पास आया। उसने उन सभी के सामने कापोत-लेश्या-युक्त पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक जीव के विषय में वह सब कहा, जो भगवान् से सुना था।

श्रमण-निर्ग्रंथों ने माकंदीपुत्र की बात पर श्रद्धा नहीं की। वे भगवान् महावीर के पास आये और उन्हें वंदन-नमस्कार कर, वह सब कहा, जो माकंदीपुत्र ने उनको बतलाया था और पूछा– भगवन् ! ऐसा हो सकता है ?

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१८, उद्देशक-३, सूत्र-२, पृष्ठ : ६७८.

इस पर भगवान् ने उन्हें संबोधित कर कहा– माकंदी-पुत्र ने जैसा कहा, उसी प्रकार कापोत-लेश्या-युक्त कायिक आदि जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं। मैं भी इस प्रकार कहता हूँ।

इसी प्रकार कृष्ण-लेश्या युक्त पृथ्वीकायिक जीव मर कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं। नील-लेश्या-युक्त पृथ्वीकायिक जीवों पर भी यही लागू होता है।

श्रमण-निर्ग्रंथों ने भगवान् के कथन पर श्रद्धा और विश्वास कर कहा– भगवन् ! आप कहते है, वैसा ही है। फिर वे भगवान् को वंदन-नमस्कार कर वापस माकंदीपुत्र के पास लौटे तथा उनके कथन पर पहले श्रद्धा न करने के कारण उनसे भलिभाँती सविनय बार-बार क्षमायाचना की।[1]

उपासकदशांग सूत्र में सिद्धत्व प्राप्ति का संसूचन

उपासकदशांग-सूत्र में एक प्रसंग है– भगवान् महावीर एक समय सुखपूर्वक विहार करते हुए वाणिज्यग्राम नामक नगर में आये। वहाँ द्युतिपलाशक नामक चैत्य में ठहरे। आनंद श्रावक दर्शन के लिये आया और भी लोग आए। भगवान् ने धर्म-देशना दी। धर्म-देशना में उन्होंने प्राणातिपात-विरमण आदि व्रतों का विवेचन किया। तत्त्वों की व्याख्या की। विभिन्न योनियों में जीव द्वारा जन्म लेने का विवेचन किया। सांसारिक जीवन की अनित्यता का प्रतिपादन किया। अपनी धर्म-देशना में उन्होंने सिद्ध-अवस्था और षट्जीवनीकाय का विश्लेषण किया।

जिस तरह जीव कर्मों का बंध करते हैं, उनसे छूटते हैं, बद्ध जीव कष्ट पाते हैं, कतिपय अप्रतिबद्ध आसक्ति रहित व्यक्ति दुःखों का अंत करते हैं, जो आसक्ति युक्त होते हैं, उन जीवों के चित्त में वेदना, पीड़ा और आकुलता बनी रहती है। वे दुःख सागर को प्राप्त करते हैं। जो जीव वैराग्य प्राप्त करते हैं, वे कर्म-पुद्गल का नाश करते है। संसार में रागपूर्वक किए गए कर्मों की फल निष्पत्ति पाप-युक्त होती है। जो जीव कर्मों का संपूर्णतः नाश करते हैं, उनसे रहित हो जाते हैं, सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं।[2]

अंतकृद्दशांग-सूत्र में सिद्धत्व-प्राप्ति के विलक्षण उदाहरण

गजसुकुमाल

अंतकृद्दशांग-सूत्र में उन महान् साधकों का वर्णन है, जिन्होंने कर्मों का क्षय कर सिद्धत्व प्राप्त किया। उनमें गजसुकुमाल का उदाहरण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह द्वारिका का राजकुमार था। वैराग्य के

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र, शतक-१८, उद्देशक-३, सूत्र-३-७, पृष्ठ : ६७९, ६८०
२. उपासकदशांग-सूत्र, अध्ययन-१, सूत्र-११, पृष्ठ : २३.

कापोत-
-लेश्या-
हते है,
के कथन
रते हुए
र्शन के
तेपात-
त्म लेने
उन्होंने
तिबद्ध
वेदना,
रते हैं,
ा होती
हैं।[२]
प्राप्त
ग्य के

कारण उसने प्रव्रज्या ग्रहण की। उसी दिन उसने एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार की और श्मशान में ध्यानस्थ हुआ। सोमिल नामक ब्राह्मण की कन्या के साथ गजसुकुमाल का विवाह निश्चित हुआ था परन्तु विवाह न करके गजसुकुमाल के दीक्षा लेने से सोमिल बड़ा क्रुद्ध था। प्रतिशोध की दुर्भावना से सोमिल ने ध्यान-लीन गजसुकुमाल के मस्तक पर मिट्टी की पाल बनाकर जलते अंगारें उसमें भरे। बड़ी विषम स्थिति थी।

फूल से, सुकुमार गजसुकुमाल का मस्तक आग से उसी प्रकार जलने लगा, जिस प्रकार बर्तन में कोई पदार्थ उबलता हुआ तपता है। वेदना का पार नहीं था। परंतु गजसुकुमाल भेद-विज्ञान की स्थिति पा चुके थे। आत्मस्वरूप का स्मरण करते हुए, वह देह से अतीत रहा। उसने घोर परिषहों को आत्म-कल्याण का निमित्त समझा। उसके परिणामों की धारा क्रमश: अत्यंत उज्ज्वल और विशुद्ध बनने लगी। उसका गुणस्थान-क्रम उन्नत से उन्नततर होता गया। वह अविलंब समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गया।[१]

यह एक ऐसा उदाहण है, जिससे सिद्ध होता है कि साधना की सफलता में कोई गणित-सिद्धांत लागू नहीं होता। इतने समय में यह सधे, उससे आगे कुछ और सधे, अंत में सफलता मिले। वहाँ तो जब भावनाओं में अत्यंत उत्कर्ष आ जाता है, तब वर्षों में होने वाला कार्य क्षणों में हो जाता है, पर ऐसा तब होता है, जब दृष्टि अंतरात्म-भाव की ओर हो। अंतरात्म-भाव ही आगे चलकर परमात्म-भाव में परिणत हो जाता है।

अर्जुनमाली

अंतकृद्दशांग-सूत्र में अर्जुनमाली का एक प्रसंग है, जो भगवान् का समसामायिक था। राजगृह नगर के बाहर उसका पुष्पों का उद्यान था। उसकी पत्नी का नाम बंधुमति था। वह बहुत रूपवती और सुकुमार थी। अर्जुनमाली पुष्पों का व्यवसाय करता था। उसके उद्यान के पास ही मुद्गरपाणि नामक यक्ष का आयतन था। अर्जुनमाली अपनी कुल-परंपरा से उसकी पूजा करता था।

आयतन में मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा थी। उसके हाथ में सहस्र-पल परिमाण भार-युक्त लोहे का एक मुद्गर था। आज के तोल के अनुसार वह लगभग सत्तावन किलो का था। अर्जुनमाली यक्ष की प्रतिदिन उत्तम फूलों से पूजा कर फिर काम में लगता था। एक दिन जब वह पत्नी के साथ फूल चुन रहा था तो नगर के छह उद्दण्ड व्यक्ति वहाँ आये। दुर्भावनापूर्वक अर्जुनमाली को बाँध दिया और उसकी पत्नी के साथ अनाचरण किया। अर्जुनमाली को बड़ा दु:ख हुआ। वह सोचने लगा– यह

१. अंतकृतदशांग-सूत्र, वर्ग-३, सूत्र-२१-२३, पृष्ठ : ७६-७९.

मुद्गरपाणि यक्ष जिसकी मैं इतनी उपासना करता हूँ, इस विपत्ति में मेरी कुछ भी सहायता नहीं करता। यह कुछ नहीं है। मात्र काष्ठ का एक पुतला है।

मुद्गरपाणि यक्ष ने अर्जुनमाली के इन विचारों को जानकर उसकी देह में प्रवेश किया। उसके बंधनों को तोड़ डाला। तब यक्ष से आविष्ट अर्जुनमाली ने लोहे का भारी मुद्गर उठाया। उन छओं उद्दंड व्यक्तियों की और पत्नी की हत्या कर डाली। वह क्रोध से विकराल हो गया। राजगृह नगर की सीमा के आसपास चारों ओर छः पुरुष और एक स्त्री– इस प्रकार सात मनुष्यों की हत्या प्रतिदिन करने लगा। चारों ओर आतंक छा गया।

संयोगवश भगवान् महावीर राजगृह पधारे और बाहर उद्यान में रुके। राजगृह में सुदर्शन श्रेष्ठी था। वह अत्यंत धर्मनिष्ठ था। जब उसने भगवान् महावीर के दर्शन हेतु जाने का विचार किया तो सबने उसे रोका पर वह नहीं रूका, जाने लगा, अर्जुनमाली ने उसे रोका और मुद्गर को घुमाते हुए वह सुदर्शन के पास आया। सुदर्शन जरा भी भयभीत नहीं हुआ। उसने वहीं से भगवान् को विधिवत् वंदन किया और सागारिक अनशन व्रत ले लिया। अर्जुनमाली उस पर प्रहार नहीं कर सका। यक्ष उसके शरीर से निकल गया और अपने मुद्गर को लेकर चला गया। शरीर से यक्ष के निकलते ही अर्जुनमाली जमीन पर गिर पड़ा। सुदर्शन ने यह जानकर कि उपसर्ग शांत हो गया, प्रतिज्ञा का पारण किया और अपना ध्यान खोला।

सुदर्शन और अर्जुनमाली के बीच वार्तालाप हुआ। सुदर्शन सेठ की धार्मिक बातों से अर्जुनमाली प्रभावित हुआ और सुदर्शन सेठ के साथ भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। अर्जुनमाली भगवान् के उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि उसने प्रव्रज्या ले ली। उसी दिन से उसने बेले-बेले तपस्या का अभिग्रह किया। स्वाध्याय और ध्यान भी करता था।

भिक्षा के लिए जब वह निकलता तो वे लोग, जिन-जिन के संबंधियों को उसने मारा था, उसे प्रताड़ित करते परन्तु वह समत्वभाव-युक्त रहता। वह सब सहता, कदापि क्रोध नहीं करता। वह जानता, यह कर्म-निर्जरा हो रही है। उसे कभी आहार-पानी मिलता, कभी नहीं मिलता तो भी संयमी जीवन का निर्वाह करते हुए शुद्ध संयम का पालन और विपुल तप करते हुए, छः महिने पश्चात् पंद्रह दिवसीय संलेखना से अपनी आत्मा को भावित कर, अनशन को पूर्ण कर, वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुआ।[1]

अनुचिंतन

यह एक ऐसे पुरुष का जीवनवृत्त है, जो कभी अत्यंत क्रूर और हिंसक रहा, पर जब उसने अपने

१. अंतकृतद्दशांग-सूत्र, अध्ययन-३, वर्ग-६, सूत्र-२-१३, पृष्ठ : ११२, १३०.

जीवन को बदला तो इतना सहिष्णु, धीर, गंभीर और समत्व-भावयुक्त हो गया कि उसने मान आदि की परवाह न करते हुए घोर परिषहों, कष्टों को हंसते-हंसते स्वीकार किया।

उसका यह भाव कितना उज्ज्वल था– 'ये उपद्रवकारी तो मुझे कर्म-निर्जरा की ओर प्रेरित कर रहे हैं, ये तो मेरे उपकारी हैं'– यों सोचता हुआ वह तपश्चरण में लगा रहा। केवल छः महीने में जीवन के परमसाध्य को साध लिया, जिसे सामान्यजन अनेक जन्मों में भी साध नहीं पाते।

यह सच्चा हृदय परिवर्तन का प्रभाव है। जब आत्मा के भाव क्रमशः निर्मल और उज्ज्वल होते जाते हैं, बहुत लम्बे समय में होने वाला कार्य अत्यंत शीघ्र हो जाता है।

अर्जुनमाली जैसा ही एक उदाहरण बौद्ध साहित्य में– अंगुलिमाल का प्राप्त होता है। अंगुलिमाल भयानक दस्यु था, जो अपने द्वारा मारे हुए मनुष्यों के हाथों की अंगुलियों की माला पहनता था परंतु अर्जुनमाली की तरह वह भी भगवान् बुद्ध के संपर्क में आया तो हिंसकभाव अहिंसा में बदल गया। वह भिक्षु बन गया। अर्जुनमाली की तरह उसने भी लोगों द्वारा दिये गये घोर कष्टों को समता से सहा। अंत में उसका परिनिर्वाण हो गया।

प्रश्नव्याकरण-सूत्र में संवर-आराधना से मुक्ति

प्रश्नव्याकरण-सूत्र में आस्रव और संवर दो द्वार हैं। जहाँ आस्रव-द्वार में पाप-बंध के हेतुओं का विवेचन है, वहीं संवरद्वार में उन पापों का संवरण या अवरोध किस प्रकार होता है ?, इसका वर्णन है। संवर द्वार का उपसंहार करते हुए सूत्रकार लिखते हैं– पाँच संवररूप महाव्रत सैंकडों हेतुओं, युक्तियों, उदाहरणों आदि के कारण अत्यंत विस्तीर्ण है। अरिहंत-शासन में इनका सार-संक्षेप में कथन किया गया है। विस्तार से प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएं होने से इनके पच्चीस भेद होते हैं। जो साधु ईर्या-समिति आदि से, पच्चीस भावनाओं से युक्त होता है, ज्ञान और दर्शन से युक्त होता है, कषाय-संवर और इंद्रिय-संवर द्वारा कषायों का और इंद्रियों के विषयों का संवरण या अवरोध करता है, जो स्वीकार किये गये संयम-योग का यत्नापूर्वक परिपालन करता है, अप्राप्त संयम-योग को प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता हैं तथा संपूर्णतः विशुद्ध श्रद्धानयुक्त होता है, वह संवरों की आराधना करके अशरीर– मुक्त हो जाता है।[1] संवर का अत्यंत संक्षेप में निरूपण करते हुए कहा गया है– प्रमाद कर्म– आस्रव है तथा अप्रमाद अकर्म–संवर है।[2]

---

१. प्रश्नव्याकरण-सूत्र, श्रुतस्कंध-२, अध्ययन-५, सूत्र-१७१, पृष्ठ : २६४.
२. अभिधनराजेन्द्र कोश, भाग-६, पृष्ठ : १४०४ (सूक्ति-सुधारस, खण्ड-६, पृष्ठ २०३)

विशेष

इस कथन का सारांश यह है कि संवर द्वारा जब कर्मों के आने का प्रवाह रुक जाता है, तब आत्मा के कर्म नहीं लगते। संवर के साथ-साथ कर्म-निर्जरण की स्थिति भी बनती है। जो संवर करेगा अर्थात् शुभ-अशुभ कर्मों को रोकेगा, तब वह करने की दृष्टि से तपश्चरण को स्वीकार करेगा। इस प्रकार संवर के साथ निर्जरा भी प्राप्त होगी। उसका परिणाम यह होगा कि साधक कर्मों के नवसंचय के निरोध तथा संचित कर्मों के अपचय– नाश से मुक्तत्व या सिद्धत्व पा लेगा।

औपापातिक-सूत्र में योग निरोध : सिद्धावस्था

औपापातिक-सूत्र में एक स्थान पर योगों के निरोध और सिद्धावस्था का वर्णन किया गया है। उस संदर्भ में गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया– भगवन् ! क्या सयोगी– मन, वचन और शरीर से युक्त जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परिनिर्वृत होते हैं? तथा समस्त दुःखों का अंत करते हैं? भगवान् ने उत्तर दिया– ऐसा नहीं होता।

भगवान् ने योग-निरोध की चर्चा करते हुए प्रतिपादित किया कि वे (साधक) सर्वप्रथम आहार आदि पर्याप्तियों से युक्त, समनस्क पंचेंद्रिय जीव के जघन्य– सबसे न्यून मनोयोग के निम्नस्तर से असंख्यात– गुणहीन मनोयोग का निरोध करते हैं।

तत्पश्चात् पर्याप्त-पर्याप्तियों से युक्त द्वीन्द्रिय जीव के जघन्य वचनयोग के निम्नस्तर से असंख्यात गुणहीन वचनयोग का निरोध करते हैं। तदनन्दर अपर्याप्त-पर्याप्तियों से रहित सूक्ष्म नीलन-फूलन जीव के जघन्य योग के निम्नस्तर से असंख्यात गुणहीन काययोग का निरोध करते हैं।

इस उपाय या उपक्रम द्वारा वे पहले मनोयोग का निरोध करते हैं। मनोयोग का निरोध करने के पश्चात् वचनयोग का निरोध करते हैं। मन और वचन– दोनों के योग का निरोध कर देने पर फिर वे काय योग का निरोध करते हैं। अर्थात् मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक प्रवृत्तिमात्र का निरोध करते हैं। अयोगावस्था प्राप्त करके वे ईषत्-स्पष्ट– पाँच ह्रस्व अक्षर अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण के असंख्यात कालवर्ती अंतर्मुहूर्त तक होने वाली शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं।

शैलेश– मेरु जिस प्रकार अप्रकंपित रहता है, वैसा ही स्थिति साधक प्राप्त करते हैं। उस शैलेशी अवस्था काल में पूर्व-रचित गुण श्रेणी के रूप में रहे हुए कर्मों को असंख्यात गुण श्रेणियों में अनंत कर्मांशों के रूप में क्षीण करते हुए वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र– इन चारों कर्मों का एक ही साथ क्षय करते हैं।

इनका क्षय करने के पश्चात् औदारिक, तेजस् एवं कार्मण-शरीर का संपूर्णतः परित्याग कर देते हैं।

फिर वे ऋजुश्रेणी को स्वीकार करते हैं। अर्थात् आकाश के प्रदेशों की सीधी पंक्ति का अवलंबन कर अस्पृश्यमान गति द्वारा एक समय में ऊर्ध्वगमन कर साकारोपयोग में– ज्ञानोपयोग में सिद्ध होते हैं।[1]

सिद्धों का स्वरूप

भगवान् सिद्धों के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं– वहाँ लोक के अग्रभाग में शाश्वतकाल तक वे अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। वे सादि होते हैं क्योंकि मोक्ष पाने की दृष्टि से यह आदि या प्रारंभ है। वे अंतरहित होते हैं, शरीर रहित होते हैं।

वे केवल सघन अवगाढ़-आत्मप्रदेशयुक्त होते हैं। वे ज्ञानरूप और दर्शनरूप होते हैं। कृतकृत्य होते हैं, जो प्रयोजन उन्हें सिद्ध करने थे, वे उन्होंने सिद्ध कर लिये हैं। वे निश्चल या अचल होते हैं स्थिर या प्रकंप-रहित होते हैं। वे कर्मरूपी रज से वर्जित होते हैं, मलरहित, दोष-रहित होते हैं। अज्ञानरूपी अंधेरे से रहित होते हैं। कर्मों के क्षीण हो जाने से वे अत्यंत विशुद्ध होते हैं।[2]

गौतम ने कहा– भगवन् ! आपने जो प्रतिपादित किया कि सिद्ध आदि सहित, अंत रहित इत्यादि होते हैं, ऐसा किस आशय से आप प्ररूपित करते हैं ?

भगवान्– गौतम ! जैसे अग्नि से बीज पूरी तरह जल जाते हैं तब उन दग्ध बीजों को बोने पर अंकुर नहीं निकलते, उसी प्रकार जिनके कर्म-रूपी बीज संपूर्णत: दग्ध हो गये हैं, उन सिद्धत्व प्राप्त जीवों का भी जन्म नहीं होता। इसलिए वे अंत रहित हो जाते हैं।[3]

सिद्ध भगवान् का स्वरूप अनुभव करने और पाने का एक सबसे ऊँचा श्रेष्ठ साधन या आलम्बन है– ध्यान। ध्यानयोग की साधना करके ही हम उस परम चिन्मय-स्वरूप की उपलब्धि-अनुभूति कर सकते हैं।[4]

सिद्धों के संहनन : संस्थान

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा– भगवन् ! सिद्ध्यमान– सिद्ध होते हुए जीव किस संहनन (शरीर के अस्थि-बंध) में सिद्ध होते हैं ?

भगवान्– गौतम ! वे जब सिद्ध होते हैं, तब वज्रऋषभनाराच संहनन में सिद्ध होते हैं।

गौतम– भगवन् ! सिद्ध्यमान– सिद्ध होते हुए जीव किस संस्थान (शरीराकार) में सिद्ध होते है।

---

१. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१५१-१५३, पृष्ठ : १७१, १७२.
२. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१२४, पृष्ठ : १७३.
३. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१५४, १५५, पृष्ठ : १७३.
४. नवपद पूजे : शिवपद पावे, पृष्ठ : ७६.

भगवान्– गौतम ! सिद्ध होते हुए जीव छः संस्थान– समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज, हुंडक– इनमें से किसी भी संस्थान से सिद्ध हो सकते हैं।

गौतम– भगवन् ! सिद्धयमान सिद्ध कितनी ऊँचाई में सिद्ध होते हैं ? अर्थात् उनके शरीर की ऊचाई कितनी होती है ?

भगवान्– गौतम ! सिद्ध होते हुऐ जीवों की ऊँचाई जघन्य– कम से कम सात हाथ तथा उत्कृष्ट– अधिक से अधिक पाँचसौ धनुष-प्रमाण होती है।

गौतम– भगवन् ! सिद्धयमान जीव कितने आयुष्य में सिद्ध होते हैं ?

भगवान्– गौतम ! सिद्धयमान जीव कम से कम आठ वर्ष से कुछ अधिक आयुष्य में तथा अधिक से अधिक करोड़ पूर्व के आयुष्य में सिद्ध होते हैं।[1]

सिद्धों का आवास

गौतम ने भगवान् से सिद्धों के आवास के विषये में जिज्ञासा करते हुए पूछ – भगवन् ! क्या सिद्ध रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे निवास करते हैं ?

भगवान् ने बतलाया कि वे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि नारक भूमि के नीचे निवास नहीं करते।

आगे गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा– सिद्ध सौधर्म कल्प, ईशान, सनत्कुमार आदि विमानों के नीचे भी निवास नहीं करते। तब फिर गौतम ने जिज्ञासा की– वे ईषत्-प्राग्भारा-पृथ्वी के नीचे निवास करते हैं ? भगवान् ने उसके संबंध में भी निषेध किया, तब गौतम ने पूछा– भगवान् फिर सिद्ध कहाँ निवास करते हैं ?

भगवान् ने बतलाया कि ईषत्-प्राग्भारा-पृथ्वी के तल से उत्सेधांगुल द्वारा एक योजन पर लोकाग्र भाग है। उस योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग पर सिद्ध निवास करते हैं। वे सादि– आदि-सहित तथा अंत-रहित हैं। सब दुःखों का अतिक्रांत कर चुके हैं। शाश्वत नित्य और सदा सुस्थिर स्वरूप में वहाँ संस्थित हैं।[2] इसे सिद्धलोक भी कहा जाता है।[3]

औपपातिक-सूत्र में सिद्धों के प्रतिहत– प्रतिष्ठित तथा स्थित होने के संबंध में संक्षेप में विवेचन किया गया है।

---

१. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१४६, १५९, पृष्ठ : १७३-१७४.
२. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१६३, १६७, पृष्ठ : १७५-१७७.
३. जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्द कोश) (प्रथम भाग), पृष्ठ-२३.

प्रतिहत का तात्पर्य आगे जाने से रुकना है। प्रतिष्ठित का अर्थ अवस्थित होना है। बतलाया गया है कि सिद्ध अलोक में जाने से प्रतिहत हैं– रुक जाते हैं अर्थात् अलोक में नहीं जाते। वे लोक के अग्रभाग में या लोकांत में प्रतिष्ठित हैं। वे इस मर्त्यलोक में ही शरीर को छोड़कर सिद्ध-स्थान में जाकर सिद्ध होते हैं।

जब वे शरीर छोड़कर अंतिम समय में प्रदेश-घन, आकार, नासिका, कान, उदर आदि रिक्त अंगों के विलीन हो जाने पर जिस घनीभूत या सघन आकार में होते हैं वही आकार वहाँ सिद्धस्थान में विद्यमान रहता है।

सिद्धों के अंतिम भव में लंबा या ठिंगना, बड़ा या छोटा– जिस प्रकार का आकार होता है, उससे सिद्धों की अवगाहना, उससे एक तिहाई भाग कम होती है। एक तिहाई भाग अंगों की रिक्तता के विलीन हो जाने पर कम हो जाता है, और दो तिहाई भाग परिमित उनकी अवगाहना होती है।

सिद्धों की अधिक से अधिक अवगाहना तीन सौ तैंतीस धनुष तथा एक तिहाई धनुष होती है। यह अवगाहना उनकी होती है, जिनका शरीर पाँच सौ धनुष के विस्तार से युक्त होता है। सिद्धों की मध्यम अवगाहना चार हाथ एवं तिहाई भाग कम एक हाथ होती है। जिनके शरीर की अवगाहना सात हाथ होती है, उन मनुष्य के अनुसार सिद्धों की मध्यम अवगाहना का प्रतिपादन किया गया है।

सिद्धों की कम से कम अवगाहना एक हाथ और आंठ अंगुल होती है। जो मनुष्य दो हाथ की अवगाहना युक्त होते हैं, उन कूर्मापुत्र आदि की अपेक्षा से यह अवगाहना बतलाई गई है।

आगे कहा गया है कि सिद्ध अपने समस्त आत्म-प्रदेशों द्वारा अनंत सिद्धों का पूर्णतया स्पर्श किये हुए हैं। इस प्रकार एक सिद्ध की अवगाहना में अनंतसिद्ध अवगाह-युक्त हो जाते हैं। उनसे भी असंख्यात गुणे सिद्ध ऐसे हैं, जो देशों और प्रदेशों से एक दूसरे से अवगाह युक्त है।[1]

एक-दूसरे में प्रदेशों की दृष्टि से अवगाढ़– अवगाह युक्त हो जाने का अभिप्राय यह है कि आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विकास का, विस्तार का स्वभाव है। इस कारण आत्म-प्रदेश संकुचित होकर एक दूसरे में समा जाते हैं। अमूर्त होने के कारण ऐसा होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

सिद्धों में साकार-अनाकार उपयोग

सिद्ध अशरीर-शरीर से रहित जीवघन– सघन या घनीभूत– अवगाह रूप आत्म-प्रदेशों से युक्त

---

१. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१६८-१७७, पृष्ठ : १७७-१७९.

होते हैं। उनमें दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग होता है। इस प्रकार वे साकार-विशेष ज्ञानरूप उपयोग तथा अनाकार– सामान्य दर्शन रूप उपयोग से युक्त होते हैं।

वे केवल-ज्ञानोपयोग द्वारा जगत् के समस्त पदार्थों के गुणों को और पर्यायों को जानते हैं तथा अनंत केवल दर्शन द्वारा सर्वतः- सब ओर से समस्त भावों को देखते हैं।[1]

सिद्धों का सुख

सिद्धों का सुख अव्याबाध– सब प्रकार की बाधाओं और विघ्नों से रहित है। वह शाश्वत है। वैसा सुख न तो मानव को प्राप्त है और न देवों को ही। तीनकाल गुणित– तीनों कालों से गुणा किया हुआ देवों का अनंत सुख यदि अनंतबार वर्ग-वर्गित किया जाए तो भी वह मोक्ष-सुख के सदृश नहीं होता।[2]

पर्य्यवगाहन

कल्पना करें, यदि देवताओं के सुख को वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों से गुणित किया जाए और उसे लोक एवं अलोक के अनंत प्रदेशों पर रखा जाए अर्थात् सारे प्रदेश उससे भर जाएं तो उसे अनंत देवसुख कहा जाता है।

गणित के सिद्धांतानुसार दो समान संख्याओं का आपस में गुणन करने से जो गुणनफल होता है उसे वर्ग या वर्गफल कहा जाता है। वर्ग का वर्ग से गुणन करने से जो गुणनफल आता है, उसे वर्ग-वर्गित कहा जाता है।

उदाहरण के लिए पाँच के अंक को लें। पाँच से पाँच का गुणन करने पर गुणनफल पच्चीस होता है। उसे वर्ग या वर्ग-फल कहा जाता है। पच्चीस से पच्चीस को गुणित करने पर छः सौ पच्चीस गुणनफल आता है, वह वर्ग-वर्गित है।

ऊपर देवों का जो अनंत सुख कहा गया है, यदि उसे अनंत बार वर्ग-वर्गित किया जाए, तो भी वह मोक्ष-सुख के तुल्य नहीं हो सकता।

सिद्धों के सुख की अनुपमता का, गणित की दृष्टि से वर्णन करते हुए सूत्रकार का कथन हैं–

कल्पना करें, एक सिद्ध के सुख को तीनों कालों से गुणित किया जाए, वैसा करने पर जो सुखराशि निष्पन्न हो, यदि उस सुख राशि को अनंतवर्ग से विभाजित किया जाए तो भागफल के रूपमें जो सुखराशि प्राप्त हो, वह इतनी अधिक होती है कि सारे आकाश में समा नहीं सकती।

१. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१७८, १७९, पृष्ठ : १७९.
२. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१८०, १८१, पृष्ठ : १७९, १८०.

जैसे एक असभ्य, अशिक्षित– अज्ञ एवं वनवासी पुरुष नगर के बहुत प्रकार के गुणों को जानता हुआ भी वन में उनके समान कोई उपमा नहीं पाता, उन गुणों का वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है। उसके लिए ऐसी कोई उपमा नहीं है, जो समानता में आ सके। फिर भी साधारण लोगों को समझाने हेतु उपमा द्वारा उसे बतलाते हैं।

एक मनुष्य जैसा चाहे, वैसा सभी विशेषताओं से युक्त भोजन करता है। उसकी भूख-प्यास मिट जाती है तथा उसे तृप्ति का अनुभव होता है। उसी प्रकार सिद्ध सर्वकाल तृप्त हैं। वे सब समय तृप्ति-युक्त रहते हैं। अनुपमशांति-युक्त हैं। शाश्वत एवं अव्याबाध, परमसुख में स्थित हैं।

उन्होंने अपने सारे साध्य सिद्ध कर लिए है। इसलिये वे सिद्ध कहे जाते हैं। केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व द्वारा उन्हें समस्त विश्व का बोध प्राप्त है। इसलिये वे बुद्ध हैं। वे संसार रूप सागर को पार कर चुके हैं, इसलिये पारंगत है। अथवा वे परंपरा से प्राप्त मोक्षमूलक उपायों का अवलंबन कर संसार-सागर के पार पहुँचे हैं। उनके जो कर्मो का कवच लगा था, उसे तोड़कर वे उन्मुक्त बने हैं। वे जरा-मृत्यु से रहित हैं, अमर हैं। वे सब प्रकार की आसक्ति से, कामना से रहित हैं।[1] इसलिये असंग– संग रहित कहे जाते हैं।

इस प्रसंग में सिद्धों के संबंध में, संक्षेप में उन विशेषताओं का वर्णन किया गया है, जिनसे उनकी लोकोत्तरता या अलौकिकता सिद्ध होती है। इस जगत् में कहीं भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिससे सिद्धों की तुलना की जा सके, इसलिये उनको उपमा रहित, तुलना रहित कहा गया है।

राजप्रश्नीय-सूत्र में अर्हत्-सिद्ध-संस्तवन

राजप्रश्नीय-सूत्र में अरिहंतों की स्तुति का एक प्रसंग आता है, जहाँ उनके अनेक गुणों का वर्णन किया गया है, उनके द्वारा तीर्थस्थापन, स्वयं-संबुद्धत्व, कर्म-शत्रु-विनाशकता आदि का उल्लेख है। अंत में उन द्वारा सिद्धत्व प्राप्त किये जाने का सूचन है।[2]

यहाँ अरिहंतों की विशेषताओं की चर्चा है, जिनके जीवन का अगला चरण सिद्धत्व होता है। जो पूर्वकाल में अरिहंत थे, वे सभी सिद्धत्व को प्राप्त हुए, इसलिये एक अपेक्षा से इस पाठ में पंचपरमेष्ठी-पद के प्रथम तथा द्वितीय, दोनों पदों का समावेश हो जाता है।

अरिहंत सिद्धों के पूर्वरूप हैं, जो सयोगावस्था में होते हैं। सिद्धत्व इनका अयोगावस्थामूलक अंतिमरूप है। वह चरम उत्कर्ष-युक्त स्थिति है।

---

१. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-१८२-१८९, पृष्ठ : १८०, १८१.

२. राजप्रश्नीय-सूत्र, सूत्र-१९९, पृष्ठ : ११८.

जीवों के अभिगम का निरूपण

जीवाभिगम कितने प्रकार का है ? जीवाभिगम दो प्रकार का प्रज्ञप्त हुआ है– संसार-समापन्नक जीवाभिगम तथा असंसार-समापन्नक जीवाभिगम।[1]

असंसार-समापन्नक जीवाभिगम कितने प्रकार का है ? असंसार-समापन्नक जीवाभिगम दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया है– अनंतर-सिद्ध-असंसार-प्राप्त जीवाभिगम तथा परंपरसिद्ध-असंसार-प्राप्त जीवाभिगम।

संसार समापन्नक वे जीव हैं, जो संसार में– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव– चारों गतियों में भ्रमण करते हैं। असंसार-समापन्नक वे जीव हैं, जो संसार में विद्यमान नहीं हैं अर्थात् भवभ्रमण से छूटकर मोक्ष पा चुके हैं। मोक्ष असंसारावस्था है। सिद्ध जीव असंसार-समापन्नक कहे गए हैं।

सिद्ध या मुक्त जीवों के दो भेद हैं– अनन्तर-सिद्ध एवं परंपर-सिद्ध।

जो जीव सिद्धत्व के प्रथम समय में विद्यमान हैं अर्थात् जिनके सिद्धत्व में समय का अंतर नहीं हैं, जो एक ही समय में सिद्ध हुए हैं, वे अनन्तर-सिद्ध कहलाते हैं।

जो एक ही समय में सिद्ध नहीं हुए हैं किन्तु जिनके सिद्धत्व में तीन से लेकर अनंत समय का अंतर है, वे परंपर-सिद्ध कहलाते हैं।

अनंतर-सिद्ध के पंद्रह भेद माने गए हैं।[2]

(१) तीर्थ-सिद्ध, (२) अतीर्थ-सिद्ध, (३) तीर्थंकर-सिद्ध
(४) अतीर्थंकर-सिद्ध (५) स्वयं-बुद्ध-सिद्ध (६) प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध
(७) बुद्धबोधित-सिद्ध (८) स्त्री-लिंग-सिद्ध (९) पुरूष-लिंग-सिद्ध
(१०) नपुसंक-लिंग-सिद्ध (११) स्व-लिंग-सिद्ध (१२) अन्य-लिंग-सिद्ध
(१३) गृहस्थ-लिंग-सिद्ध (१४) एक-सिद्ध (१५) अनेक-सिद्ध।[3]

१. तीर्थ-सिद्ध

तीर्थ शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जिसके द्वारा तिरा जाय, वह तीर्थ है, यह इस का

१. जीवाजीवाभिगम-सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति सूत्र-६, ७, पृष्ठ : १८.
२. मोक्षमार्ग, भाग-१, पृष्ठ : ३४-३६.
३. सर्व धर्म सार-महामंत्र नवकार, पृष्ठ : ३३-३५.

सामान्य अर्थ हैं। जिसके द्वारा संसार रूप समुद्र को पार किया जाय, भव-भ्रमण तथा आवागमन को मिटाया जाय, आध्यात्मिक दृष्टि से वह तीर्थ है।

सर्वज्ञ तीर्थंकर देव द्वारा जो प्रवचन किया गया, धर्म-देशना दी गई, वह तीर्थ है क्योंकि उसका अवलंबन लेकर प्राणी संसार-सागर को तैर सकते हैं। आवागमन से छूट सकते हैं।

भगवान् द्वारा स्थापित चतुर्विध– साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप धर्म-संघ भी तीर्थ कहा गया है।

तीर्थंकर देव द्वारा प्रवचन रूप, चतुर्विध-संघ रूप तीर्थ की स्थापना किए जाने के पश्चात् जो जीव सिद्धत्व प्राप्त करते है, वे तीर्थ-सिद्ध कहलाते हैं। जैसे, भगवान् महावीर ने वर्तमान युग में धर्मतीर्थ की स्थापना की। उसके बाद गणधर गौतम, आर्य सुधर्मा आर्य जंबू आदि ने सिद्धत्व प्राप्त किया। वे सब तीर्थ-सिद्ध के अंतर्गत आते हैं।

२. अतीर्थ-सिद्ध

प्रवचन रूप, चतुर्विध-संघ रूप तीर्थ की स्थापना किए जाने से पहले या तीर्थ का विच्छेद हो जाने के पश्चात् जो जीव सिद्धत्व प्राप्त करते हैं वे अतीर्थ-सिद्ध कहलाते हैं, जैसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा धर्म-तीर्थ की स्थापना किए जाने से पहले ही माता मरुदेवी ने सिद्धत्व प्राप्त किया, इसलिए वे अतीर्थ-सिद्धों में समाविष्ट हैं।

ऐसी मान्यता है कि सुविधिनाथ आदि तीर्थंकरों के मध्यवर्ती समय में तीर्थ का विच्छेद हो गया था। उस समय जातिस्मरण आदि ज्ञान द्वारा मोक्ष-मार्ग स्वीकार कर जो जीव सिद्धत्व को प्राप्त हुए, वे भी अतीर्थ-सिद्धों में समाविष्ट हैं।

३. तीर्थंकर-सिद्ध

जो तीर्थ की स्थापना करते हैं, धर्म-देशना देते है, वे तीर्थंकर-सिद्ध कहे जाते हैं। जो तीर्थंकर के रूप में सिद्धत्व पाते हैं। वे भी तीर्थंकर-सिद्ध कहे जाते है। वर्तमान अवसर्पिणी में भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक जिन्होंने तीर्थंकरों के रूप में सिद्धत्व प्राप्त किया, वे तीर्थंकर-सिद्ध कहे जाते है।

४. अतीर्थंकर-सिद्ध

तीर्थंकरों के अतिरिक्त जो सामान्य केवली के रूप में सिद्धत्व प्राप्त करते हैं, वे अतीर्थंकर-सिद्ध कहलाते हैं।

५. स्वय-बुद्ध-सिद्ध

कुछ ऐसे जीव होते हैं, जो धर्माचार्य या गुरु के उपदेश के बिना ही जातिस्मरणादि ज्ञान से प्रेरित होकर बोध प्राप्त करते हैं, सिद्ध होते हैं, वे स्वयं-बुद्ध-सिद्ध के रूप में अभिहित होते हैं। नमिराजर्षि इसके उदाहरण हैं।

६. प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध

जो किसी बाह्य निमित्त को देखकर स्वयमेव प्रतिबोध पाकर सिद्ध होते हैं, वे प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध हैं, जैसे करकंडु आदि।

७. बुद्ध-बोधित-सिद्ध

आचार्य आदि ज्ञानी जन से प्रतिबोध पाकर जो सिद्ध होते हैं, वे बुद्ध-बोधित-सिद्ध हैं। यथा– आर्य जम्बू आदि।

८. स्त्री-लिंग-सिद्ध

जो स्त्री शरीर से सिद्धत्व प्राप्त करते हैं, वे स्त्रीलिंग सिद्ध हैं। यथा– मल्लि तीर्थंकर, मरुदेवी आदि इसके उदाहरण हैं।

९. पुरुष-लिंग-सिद्ध

पुरुष शरीर में स्थित होते हुए जो सिद्ध होते हैं, वे पुरुष-लिंग सिद्ध हैं।

१०. नपुसंक-लिंग-सिद्ध

जो नपुंसक शरीर के रहते हुए सिद्ध होते हैं, वे नपुंसक-लिंग-सिद्ध कहे जाते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जो जन्म से ही नपुंसक होते हैं, वे सिद्ध नहीं होते। जो कृत्रिम रूप से, बाह्य कारणों से नपुंसक हो जाते हैं, वे सिद्ध हो सकते हैं।

११. स्व-लिंग-सिद्ध

जो जैन मुनि के वेष में, रजोहरणादि के रहते हुए सिद्ध हों, वे स्व-लिंग सिद्ध हैं।

१२. अन्य-लिंग-सिद्ध

जो दूसरे संप्रदायों के परिव्राजक, संन्यासी, आदि वेष में रहते हुए सिद्ध होते हैं, वे अन्य-लिंग-सिद्ध हैं।

१३. गृहस्थ-लिंग-सिद्ध

जो गृहस्थ के वेष में रहते हुए सिद्ध होते हैं, वे गृहस्थ-लिंग-सिद्ध हैं। जैसे– मरुदेवी माता।

१४. एक-सिद्ध

जो एक समय में अकेले ही सिद्ध होते हैं, वे एक सिद्ध हैं।

१५. अनेक-सिद्ध

जो एक समय में एक साथ अनेक सिद्ध होते हैं, वे अनेक सिद्ध हैं। सिद्धांतत: एक समय में अधिक से अधिक एक सौ आठ जीव सिद्धत्व प्राप्त कर सकते हैं।

सिद्धों का जैन सिद्धांतानुसार जो ऊपर पन्द्रह भेदों के रूप में विश्लेषण किया गया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उससे जैन दर्शन की व्यापकता और सार्वजनीनता का परिचय प्राप्त होता है।

जैन दर्शन बाहरी भेद को महत्त्व नहीं देता, वह संप्रदाय, वेष को भी महत्त्व नहीं देता। वह पुरुष-स्त्री आदि भेद को भी महत्त्व नहीं देता। वह ज्ञान और साधना को महत्त्व देता है, जो सम्यक् हो।

साधना आत्मा का विषय है, जो केवल बाहरी वेष, कर्म-कांड या क्रिया-कलाप पर टिका हुआ नहीं है। कोई कितनी ही बाह्य पूजा, अर्चना करे किन्तु यदि उसकी अंतरात्मा में पवित्रता, सात्त्विकता, सत्यनिष्ठा नहीं है तो वह अपना कल्याण सिद्ध नहीं कर सकता।

सद्-आस्थायुक्त विरति और तपश्चरण द्वारा आत्मा का श्रेयस् सिद्ध होता है। विरति का अभिप्राय दोषों से, पापों से, अनाचरणों से दूर हटना है। ऐसा होने से आत्मा मलिन नहीं होती।

तपश्चर्या से आत्मा का परिमार्जन होता है। पूर्वसंचित मलिनता धुल जाती है। आत्मा निर्मल और शुद्ध बन जाती है। ऐसा जो करते हैं, वे चाहे जैन साधु हों या साधु-संतों के रूप में हों, कोई अंतर नहीं आता। यदि अन्य वेष में भी संयम की साधना करते हों तो उनको भी वही फल मिलता है, जो जैन मुनि को मिलता है।

जैन मनीषियों का यह चिंतन बड़ा उदार, पवित्र, सार्वजनीन और व्यापक है। जैन धर्म एक संप्रदाय या मजहब नहीं है, एक विश्वजनीन साधना-पथ है। अंग्रेजी में धर्म का जो **Religion** अनुवाद किया जाता है, वह यथार्थ नहीं है, उसमें संप्रदाय का भाव है। उसका सही अनुवाद **Rightousness** हो सकता है, जिसका अर्थ सत्यपरक एवं तथ्यपरक जीवन-दर्शन है। स्वार्थी जनों ने धर्म के साथ बड़ा अन्याय किया है। उसे संप्रदायों की सीमाओं में बांध डाला। परिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर बड़े-बड़े संघर्ष और युद्ध हुए, जिससे धर्म की गरिमा कलंकित हुई।

जैन धर्म स्व-पर कल्याण की प्रेरणा देता है। सिद्धों के स्व-लिंग, पुरुष-लिंग, स्त्री-लिंग, अन्य-लिंग गृहस्थ-लिंग रूप में जो भेद किये गये हैं, वे इसी तथ्य के परिचायक हैं, साधक के लिए इन बाहरी भेदों का कोई महत्त्व नहीं हैं। ये बाह्यपरिवेश– बाह्यरूप सिद्धि नहीं दिलाते है।

सिद्धि या मुक्ति तो तभी प्राप्त होती है, जब हेय का परित्याग और उपादेय का ग्रहण हो। जैन दर्शन के अनुसार स्वभाव ही उपादेय है। विभाव या परभाव हेय तथा त्याज्य है।

सिद्ध एवं असिद्ध

गौतम– भगवन् ! संसारसमापन्न-जीवाभिगम क्या है ? उसमें कितनी प्रतिपत्तियाँ है ?

भगवान्– गौतम ! संसारसमापन्न-जीवाभिगम में नौ प्रकार की प्रतिपत्तियाँ हैं। कइयों का ऐसा कथन है कि सब जीव दो प्रकार से लेकर दस प्रकार तक के हैं।[१]

जो दो प्रकार के सब जीवों का प्रतिपादन करते हैं, वे कहते हैं कि सिद्ध और असिद्ध दो प्रकार के जीव हैं।

गौतम– भगवन् ! सिद्ध के रूप में जीव कितने समय तक रहते हैं ?

भगवान्– गौतम ! सिद्ध सादि हैं। उनका आदि तो है किन्तु अंत नहीं है। अर्थात् जीव सिद्ध के रूप में सदैव रहते हैं, वे कभी सिद्धत्व से रहित नहीं होते।

गौतम– भगवन् ! असिद्ध के रूप में जीव कितने समय तक रहते हैं ?

भगवान्– असिद्ध जीव दो प्रकार के हैं। एक वे हैं, जो अनादि अपर्यवसित कहलाते हैं। अर्थात् उनकी न आदि हैं, न अंत हैं। दूसरे वे हैं जो अनादि सपर्यवसित कहलाते हैं। उनकी आदि तो नहीं है, पर अंत है अर्थात् जब वे सिद्धत्व पा लेते हैं तो असिद्धत्व का अंत हो जाता है। सिद्धत्व पाने से पहले वे असिद्ध रूप में रहते हैं।

गौतम– भगवन् ! सिद्धों में कितना अंतर है ?

भगवान्– गौतम ! सादि– अपर्यवसित आदि सहित और अंत रहित सिद्धों में अंतर नहीं होता।

गौतम– भगवन् ! असिद्ध का अंतर कितना होता है ?

भगवान्– गौतम ! अनादि अपर्यवसित आदि रहित, अंतरहित– असिद्धों अंतर नहीं होता और

१. जीवाजीवाभिगम-सूत्र, (प्रथम खण्ड), प्रतिपत्ति-१, सूत्र ८.

अनादि सपर्यवसित आदि रहित, अंत-सहित असिद्धों में भी अंतर नहीं होता।[1]

गौतम– सिद्ध और असिद्ध में कौन किससे कम, अधिक, समान और विशेष अधिक है?

भगवान्– सबसे कम सिद्ध है तथा असिद्ध उनसे अनन्तगुणा अधिक हैं।[2]

समीक्षा

यहाँ सिद्धों और असिद्धों की चर्चा है। सिद्धों में स्वरूप की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता। असिद्ध वे हैं, जिन्होंने सिद्धत्व प्राप्त नहीं किया। असिद्धों में कई ऐसे होते हैं, जो कभी सिद्ध नहीं होते, अभव्य इस कोटी में आते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जो साधना द्वारा सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं। जब तक वे सिद्धत्व प्राप्त नहीं करते तब तक उनकी असिद्ध संज्ञा होती है, उनमें अंतर नहीं होता।

प्रज्ञापना-सूत्र में चरम-अचरम जीव : अल्प-बहुत्व

प्रज्ञापना-सूत्र में जीवों के अल्प-बहुत्व का एक प्रसंग आया है। वहाँ गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं–

भगवन् ! चरम या अचरम जीवों में कितने जीव ऐसे हैं, जो सबसे कम हैं, सबसे अधिक है, समान हैं या विशेष अधिक हैं ?

भगवान्– गौतम ! अचरम जीव हैं, वे सबसे कम हैं। चरम उनसे अंनतंगुण अधिक हैं।[3]

पर्य्यवगाहन

अल्प-बहुत्व का प्रसंग पहले भी आया है। यहाँ पुन: उसकी चर्चा की गई है। जैन दर्शन के अनुसार संसार के समस्त जीव दो भागों में बांटे जाते हैं– चरम और अचरम। चरम का अर्थ अंतिम हैं– जो जीव अंतिम भव में होते हैं, अर्थात् उस भव के बाद मुक्त हो जाते हैं, दूसरा भव नहीं करते, वे चरम कहलाते हैं। यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि जिन जीवों में निश्चित रूप से चरम भव्यत्व की योग्यता होती है, जो निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त करते हैं, अपने वर्तमान भव में नहीं किन्तु आगे किसी भव में सिद्ध गति में जाते हैं, वे भी चरम कहलाते हैं किन्तु जो जीव अभव्य हैं, मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता

---

१. जीवाजीवाभिगम-सूत्र (द्वितीय खण्ड), प्रतिपत्ति-१, सूत्र-२३१, पृष्ठ : १६१, १६२.
२. जीवाजीवाभिगम-सूत्र, (द्वितीय खण्ड), सूत्र-२३१, पृष्ठ : १६२.
३. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-३, सूत्र-२७४, पृष्ठ : २५७, २५८.

से रहित हैं, उनका भव कभी चरम नहीं होता। वे कभी देह से छूटते नहीं। विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं, इसलिये वे अचरम कहलाते हैं।

अचरम का एक अर्थ और भी है, जिनका अब भव-चरम, शेष नहीं है। अर्थात् अब जन्म-मरण में नहीं आने वाले हैं। वे सिद्ध भी अचरम में सिद्ध कहलाते हैं। दोनों कोटि के अचरमों में भेद यह है कि अभव्यों का भव कभी चरम या समाप्त नहीं होता और मुक्तों का भव कोई बाकी नहीं रहता।

दोनों के अर्थों में बहुत बड़ा अंतर है किन्तु अपेक्षा भेद से ये अचरम शब्द दोनों के साथ लागू हुआ है क्योंकि जैन दर्शन अनेकांतवादी है।

अनेकांत दर्शन के अनुसार अपेक्षा भेद से जो विवेचना की जाती है, उसे स्याद्वाद कहा जाता है। विस्तार भय से यहाँ उसकी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित नहीं है। केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि अभव्यों के साथ जो अचरमत्व का विधान किया गया है, वहाँ उनके शरीर के चरम– अंतिम न होने की अपेक्षा से है तथा सिद्धों के साथ जो अचरम का प्रयोग किया गया है, वहाँ चरमत्व बाकी न रहने की अपेक्षा से है।

चरम-अचरम जीवों के अल्प-बहुत्त्व के संबंध में भगवान् ने बतलाया– अचरम जीव सबसे कम है। चरम जीव अर्थात् वे जीव जिन्होंने अपने भव का अंत कर दिया तथा वे जीव, जो भव्य हैं– सिद्धत्व प्राप्त करने की क्षमता युक्त हैं, दोनों अचरम जीवों की अपेक्षा अनंतगुणा हैं। जैन गणना के अनुसार वे अजघन्य, उत्कृष्ट, अनंतानंत है। अनंतानंत का अभिप्राय यह है कि अनंत को अनंत से गुणित करने पर जो गुणनफल प्राप्त होता है, वे जीव तावत्प्रमाण हैं।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है, जो अनंत है, जिनका कोई अंत नहीं, उनमें अल्पत्व-बहुत्व का भेद कैसा ? इस संबंध में पहले संक्षेप में संकेत किया ही गया है, यहाँ पुनः स्पष्ट किया जाता है–

यद्यपि अनंत का अंत नहीं होता किन्तु उसकी कोटियाँ हो सकती हैं। वे भी अनंत हैं, जो अपने से बहुतर कोटि से कम हैं किन्तु संख्या की दृष्टि से उनका अंत नहीं है, वे भी अनंत हैं, जो अपने से और अधिक कोटि से कम है। इस प्रकार जघन्य और उत्कृष्ट रूप में अनंत की अनेक कोटियाँ हो सकती है।

यही बात भगवान् ने यहाँ प्रतिपादित की है कि अचरम जीव यद्यपि कम से कम हैं किन्तु हैं अनंत पर न्यूनतम कोटि के हैं। चरम जीव भी अनंत हैं किन्तु यह अनंत की उत्कृष्ट कोटि है क्योंकि वे अनंतानंत हैं। अनंतबार अनंत हैं।[1]

---

१. प्रज्ञापना-सूत्र, स्थान-२, सूत्र-२११, गाथा-१५८, १५९, पृष्ठ : १८९.

इस प्रकार इन दोनों में अल्प-बहुत्व की दृष्टि से बहुत बड़ा अंतर है। जैन गणना या गणित का यह बड़ा सूक्ष्म और रहस्यपूर्ण पक्ष है, जो आधुनिक विज्ञान से तुलनीय है।

सिद्ध जीवों के उपपात का व्यवधान

गौतम ने प्रश्न किया– भगवन् ! कितने काल तक सिद्धगति सिद्धत्व से रहित प्रज्ञप्त कही गई है ? भगवन् ने उत्तर दिया– गौतम ! सिद्ध गति, कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छः मास तक सिद्धत्व से रहित बतलाई गई है।[1]

सिद्ध गति के सिद्धत्व से रहित रहने का तात्पर्य यह है कि किसी एक जीव के सिद्ध होने के पश्चात् दूसरा जीव सिद्ध होता है। उन दोनों के बीच काल की दृष्टि से कितना व्यवधान रहता है ? एक सिद्ध होने वाले जीव के बाद दूसरे सिद्ध होने वाले के बीच कम से कम एक समय का तथा अधिक से अधिक छः मास का व्यवधान रहता है, अर्थात् इतने काल तक सिद्धगति नए सिद्ध होने से रहित होती है।

ऊपर सिद्धगति के सिद्धत्व रहित रहने की जो चर्चा आई है, उसीसे संबंधित एक दूसरे प्रकार से प्रज्ञापना-सूत्र में और वर्णन आया है। गौतम द्वारा भगवान् से यह प्रश्न किया गया कि सिद्ध जीवों के उपपात के विरह का कितना समय है ? अर्थात् कितने समय तक नये सिद्ध उत्पन्न नहीं होते ? उत्तर में बतलाया गया कि यह विरह काल– नये सिद्ध उत्पन्न न होने का काल कम से कम एक समय तथा अधिक से अधिक छः मास का होता है।[2]

विशेष

सिद्ध गति का सिद्धत्व से विरहित रहने का काल तथा नए सिद्ध के उत्पन्न न होने का काल– ये दोनों वास्तव में एक ही बात है। जिन्हें दो प्रकार से प्रकट किया गया हैं। नये सिद्ध का उपपात न होना– यह सिद्धत्व का विरहकाल ही है।

जैन आगमों मे दो प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा है– (१) संक्षेप-रुचि और (२) विस्तार-रुचि। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो संक्षिप्त रूप में समझाई गई बात को समझ लेते हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो विस्तार से कहने पर ही समझ सकते हैं। संक्षेप में कही गई बात समझ पाना उनके लिए दुर्गम होता है। इस कारण आगमों में साधारण व्यक्तियों को समझाने के लिये एक ही तथ्य को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से विस्तार से कहा जाता है। इसलिए इसे पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जाता है।

इसी कारण ऊपर एक ही तथ्य का दो भिन्न रूपों में वर्णन हुआ है।

१. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-६, सूत्र-५६४, पृष्ठ : ४४४. २. प्रज्ञापना-सूत्र- पद- ६, सूत्र- ६०६, पृष्ठ : ४५२.

सिद्ध तथा औदारिक शरीर

गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया– भगवन् ! औदारिक शरीर कितने प्रकार के प्रज्ञ किए गए है ?

भगवान् ने उत्तर में कहा– औदारिक शरीर द्विविध– दो तरह के बतलाए गए हैं। बद्ध एवं मुक्त उनमें बद्ध वे हैं, जो जीवों द्वारा ग्रहण किये गये हैं। वे संख्या की दृष्टि से असंख्यात हैं। काल की दृ से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-परिमित हैं। क्षेत्र की दृष्टि से असंख्यात लोक-प्रमाण हैं।

जो मुक्त जीवों द्वारा त्यागे हुए शरीर हैं, वे अनंत हैं। काल की अपेक्षा से अनंत-उत्सर्पिणी अवसर्पिणी-परिमित हैं। क्षेत्र की दृष्टि से अनंत लोक-प्रमाण हैं। द्रव्यतः मुक्त औदारिक शरीर अभव जीवों से अनंत गुण और सिद्धों के अनंतवें भाग जितने हैं।[1]

इस सूत्र में औदारिक शरीर की संख्या के संबंध में चर्चा है। यह चर्चा काल, क्षेत्र तथा द्रव्य की अपेक्षा से की गई है। काल की अपेक्षा का तात्पर्य यह है कि वे कितने काल या कालचक्रों का प्रमाण लिए हुए हैं। क्षेत्र का तात्पर्य स्थान से है। द्रव्य का तात्पर्य शरीर रूप द्रव्य की अपेक्षा से है। इन तीनों अपेक्षाओं से यहाँ गौतम के प्रश्नों का भगवान् ने समाधान किया है।

सिद्धत्व का काल

सिद्धत्व के स्वरूप को विविध अपेक्षाओं से समझने हेतु प्रज्ञापना-सूत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार से गौतम द्वारा प्रश्न किए गए। उसमें एक प्रश्न यह था कि सिद्ध जीव सिद्धपर्याय में या सिद्धावस्था में कितने समय तक स्थित रहते हैं ?

इसके समाधान में भगवान् द्वारा बतलाया गया है कि सिद्ध सादि हैं तथा अनंत हैं।[2]

भगवान् के इस उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अनंत है, वह तो सदैव रहता है। सिद्धत्व प्राप्त करने की आदि है क्योंकि बंधनों के कट जाने पर सिद्धत्व प्राप्त होता है। जब वह अधिगत हो जाता है तो कभी नष्ट नहीं होता। वह शाश्वत है। सर्वथा एक ही रूप में रहता है। इसलिए कितने काल तक रहने का सिद्धों के लिये कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्य श्रोताओं और उपासकों को ज्ञान कराने हेतु इसकी यहाँ चर्चा की गई है। वास्तव में यह तथ्य पहले कई प्रसंगों में स्पष्ट किया जा चुका है।

सिद्ध-दृष्टि

गौतम– भगवन् ! सिद्ध जीव क्या मिथ्या-दृष्टि, सम्यक्-दृष्टि तथा सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि होते हैं?

१. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-१२, सूत्र-१०, पृष्ठ : ९८. २. प्रज्ञापना-सूत्र, पद- १८, सूत्र- १२६५.

भगवान्– गौतम ! सिद्ध जीव न तो मिथ्या-दृष्टि होते है ? न सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि होते हैं किन्तु वे सम्यक्-दृष्टि ही होते हैं।[1]

सिद्धत्व-प्राप्ति की साधना–'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्रणि-मोक्षमार्गः'– से प्रारंभ होती है।[2]

सम्यक्-दृष्टि इसका मूल है। क्योंकि यह सत्यनिष्ठ आस्था के साथ जुड़ी हुई है, जिसका जीवन में अपरिहार्य स्थान है। वह सदैव विद्यमान रहती हैं। अतः सिद्धों में मिथ्या-दृष्टि और सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि का होना सर्वथा असंभव है, ये दोनों तो विपरीत स्थितियाँ है। सिद्धों में सम्यक् दृष्टि ही होती है।

यहाँ एक विषय विचारणीय है, नैरयिक, भवनवासी देव, तिर्यंच-पंचेंद्रिय, मनुष्य, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव, इनमें तीनों ही दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं। अर्थात् वे मिथ्या-दृष्टि, सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि और सम्यक्-दृष्टि हो सकते हैं।

विकलेंद्रिय प्राणी सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि नहीं होते। पृथ्वीकायादि एकेंद्रिय जीव मिथ्या-दृष्टि ही होते हैं।

एक प्रश्न और उपस्थित होता है। ये तीनों दृष्टियाँ एक साथ कैसे होगी ? क्योंकि ये तो एक दूसरे की विरोधी हैं। जहाँ मिथ्यादृष्टि होगी, वहाँ सम्यक्-दृष्टि नहीं होगी। उसी प्रकार जहाँ सम्यक्-दृष्टि होगी, वहाँ मिथ्या-दृष्टि नहीं होगी।

अभिप्राय यह है कि एक जीव में, एक समय में एक ही दृष्टि होती है। परिणाम बदलते रहते हैं। दूसरे समय में दृष्टि भी परिवर्तित हो सकती है। परिवर्तित होने पर पहले की दृष्टि लुप्त होगी। दूसरी उत्पन्न होगी। यह क्रम चलता रहता है।

जब दृष्टि सम्यक्त्व में स्थिर हो जाती है, तब विकास-क्रम में साधक आगे बढ़ता है किन्तु आगे बढ़ने पर भी कभी-कभी ऐसा अवसर आता है, जब वह विचलित होने लगता है पर आत्मबल द्वारा दुर्बलता को जीत लेता है तो विपर्यास नहीं होता।

सिद्धों का अनाहारकत्व

गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया कि सिद्ध जीव आहारक होता है अथवा अनाहारक होता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया– सिद्धजीव अनाहारक होता है, आहारक नहीं होता।

विग्रह-गति, केवलि-समुद्घात और शैलेशी-अवस्था ये सब आहारकत्व से संबंधित है। सिद्ध जीव

१. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-१९, सूत्र-१४०५. २. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्ययन-१, सूत्र-१.

में यह नहीं होते क्योंकि वे शरीर-रहित होते हैं, उनके सब कर्म नष्ट होते हैं। इसलिए केवलि-समुद्घात उनमें घटित नहीं होता। शैलेशी अवस्था भी वे प्राप्त नहीं करते क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में वे उसे प्राप्त कर चुके हैं। सिद्धावस्था में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इसीलिए वे अनाहारक कहे गए हैं।[1]

गौतम ने पूछा- भगवन् ! भवसिद्धिक जीव क्या आहारक होता या अनाहारक होता है ?

भगवान्- गौतम् ! वह कदाचित् अपेक्षाविशेष से आहारक होता है तथा कदाचित् अनाहारक भी होता है।[2]

भव्यजीव जो सिद्ध होते हैं, उनकी दो स्थितियों को लेकर यहाँ विचार किया गया है। सिद्ध हो जाने के बाद विग्रह गति आदि की अपेक्षा से वे अनाहारक होते है तथा शेष समय में वे आहारक होते हैं क्योंकि उनमें वे बातें पायी जाती हैं- जिनका आहारकता से संबंध है।

गौतम ने कहा- भगवन् ! नो-भवसिद्धिक, नो-अभव-सिद्धिक जीव आहारक है या अनाहारक है ?

भगवान् ने कहा- गौतम ! वे अनाहारक होते हैं, आहारक नहीं होते।[3]

विशेष

जो, जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, वे भवसिद्धिक हैं। उन्हें भव्य नहीं कहा जा सकता। भव्य उन्हें कहा जाता है, जो मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं। सिद्धि-प्राप्त होने पर योग्यता अप्रासंगिक हो जाती है। मोक्ष या सिद्धत्व प्राप्त कर लेने पर वे मोक्षगमन के लिए अभव्य- अयोग्य भी नहीं कहे जाते। यदि अभव्य कहे जाते तो उन्हें मोक्ष प्राप्त ही नहीं होता। उनमें सिद्धत्व है इसलिये आहारकता नहीं होती, अनाहारकता होती है।

सिद्धत्व, संज्ञित्व, असंज्ञित्व

गौतम ने कहा - भगवन् ! क्या सिद्ध जीव संज्ञी होते है ?

भगवान्- गौतम ! सिद्ध जीव न तो संज्ञी, न असंज्ञी होते हैं। इसलिये वे नो-संज्ञी, नो-असंज्ञी कहलाते हैं।[4]

१. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-२८, सूत्र-१८६७, पृष्ठ : १२६.
२. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-२८, सूत्र-१८७१, पृष्ठ : १२८.
३. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-२८, सूत्र-१८७५, पृष्ठ : १२९.
४. प्रज्ञापना-सूत्र, पद-३१, सूत्र-१९७३, पृष्ठ : १७५.

संज्ञा शब्द के कई अर्थ हैं– 'संज्ञायते अनेन इति संज्ञा'– जिससे पहचान होती है, उसे संज्ञा कहा जाता है, जो नाम की सूचक है। यहाँ संज्ञा का अर्थ इससे भिन्न है। जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान भावों के स्वभाव का विचार किया जाता है, उसे संज्ञा कहा जा सकता है। वह जिनमें होती है, वे संज्ञी या समनस्क कहे जाते हैं।

जिनमें यह मस्तिष्क-ज्ञान नहीं होता, वे असंज्ञी या अमनस्क कहे जाते हैं। जो संज्ञी और असंज्ञी दोनों स्थितियों से अतीत होते हैं, वे नो-संज्ञी और नो-असंज्ञी कहे जाते हैं।

केवली और सिद्ध नो-संज्ञी और नो-असंज्ञी हैं। यद्यपि केवली का मनोद्रव्य से संबंध होता है किन्तु वे भूत, भविष्य और वर्तमान के पदार्थ और भावों के स्वभाव की विचारणा या संज्ञा से रहित हैं। क्योंकि वे केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के कारण साक्षात् जानते हैं।

सिद्धों के द्रव्य मन नहीं होता, इसलिए वे संज्ञी नहीं हैं, सर्वज्ञ होने के कारण असंज्ञी भी नहीं है।

सूर्यप्रज्ञप्ति-सूत्र में पंचपद वंदन

सूर्यप्रज्ञप्ति आगम वाङ्मय में सातवाँ उपांग है। इसमें प्रारंभ में भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। तत्पश्चात् पंचपरमेष्ठि-वंदना है। उसमें यथाक्रम अरिहंत के बाद सिद्ध शब्द आया है। तत्पश्चात् क्रमशः आचार्य उपाध्याय और साधु पद हैं। इनके विशेषण के रूप में असुर, सुर, गरूड़, भुजंग-परिवंदि तथा गतक्लेश पद आए हैं।[1]

समीक्षण

व्याकरण के अनुसार अरिहंत– एक पद है। सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय इन तीनों शब्दों का समासयुक्त दूसरा पद है और सर्व साधु तीसरा पद है। ये विशेषण इन सब पर लागू होते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है– अरिहंत और सिद्धों के समकक्ष आचार्य, उपाध्याय और साधु को इन विशेषणों के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है ? अरिहंत एवं सिद्ध की भूमिका बहुत ऊँची है। आचार्य आदि तीनों को उनकी भूमिका प्राप्त करने में साधना के पथ पर और बहुत आगे बढ़ना होता है। जब वे त्रयोदश गुणस्थान प्राप्त करेंगे तब अरिहंतों के सदृश होंगे और जब चतुर्दश गुणस्थान प्राप्त करेंगे, तब सिद्धों के सदृश कहे जा सकेंगे।

---

१. सूर्यप्रज्ञप्ति-सूत्र, प्रथम-प्राभृत, गाथा-१-४, पृष्ठ : ३.

इस संदर्भ में समाधान यह है कि अंतिम साध्य सभी का एक है। सिद्ध उसे प्राप्त कर चुके हैं। अरिहंत शीघ्र ही प्राप्त करनेवाले होते हैं क्योंकि केवल अंतिम भूमिका उनके लिए अवशिष्ट रहती है। आचार्य, उपाध्याय तथा साधु भी अंतिम भूमिका प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील होते है, यदि वे अखंडित रूप में अपने साधना पथ पर बढ़ते जाते हैं तो अपने-अपने उज्ज्वल, उज्ज्वलतर, उज्ज्वलतम परिणामों के अनुसार यथासमय अपना साध्य साध लेते हैं। इन सब विशेषताओं से वे युक्त हो जाते हैं, जो सिद्धों में प्राप्त होती है। दूसरी बात यह है कि संयम या शुद्ध चारित्र के रूप में जो मूलतत्त्व है, वह सभी में एक समान है। इस दृष्टि से विद्वानों ने साधु पद में पाँचों पदों को स्वीकार किया हैं क्योंकि साधु ही अपने गुणों के अनुसार उन्नति करता हुआ आचार्य, उपाध्याय, अरिहंत और सिद्ध पद में अधिष्ठित होता है। इसलिए ये सभी मानवों, देवों द्वारा वंदनीय और पूजनीय है।

उत्तराध्ययन-सूत्र में सिद्ध-श्रेणी– क्षपक-श्रेणी

उत्तराध्ययन-सूत्र में भगवान् महावीर ने गौतम को प्रमाद न करने की प्रेरणा देते हुए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया, जिसमें देह और भोगों की नश्वरता, अप्रमाद में बाधक तत्त्वों की परिहेयता इत्यादि अनेक तथ्यों को उन्होंने उजागर किया, जिन्हें स्वायत्त कर एक साधक अपने जीवन की सफलता के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच सकता हैं।

इस उपदेश के अन्तर्गत उन्होंने कहा– हे गौतम ! अकलेवर– अशरीर या शरीर रहित, सिद्धों की श्रेणी पर, क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर तुम भविष्य में क्षेम– कल्याण, शिव और अनुत्तर– सर्वश्रेष्ठ सिद्धलोक– मोक्ष को प्राप्त करो। अतः क्षणभर भी प्रमाद मत करो।

उत्तराध्ययन के चौथे अध्ययन के अंत में एक गाथा आई है, जिसमें बतलाया गया है कि सुकथित– सम्यक्, सुंदर पदों से, शब्दों से, वाणी से तथा अर्थ से सुशोभित– सर्वज्ञ भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर गौतम राग-द्वेष को विच्छिन्न कर सिद्धगति को प्राप्त हुए।[1]

प्रमाद और अप्रमाद की व्याख्या

प्रमाद और अप्रमाद जैन साधना-क्षेत्र के दो महत्त्वपूर्ण शब्द है। साधारणतया प्रमाद का अर्थ लापरवाही या आलस्य होता है। अप्रमाद का अर्थ सावधानी और जागरूकता होता है। जैन शास्त्रों में इसका एक विशेष आशय है।

एक व्यक्ति संसार का परित्याग कर संयमी जीवन अंगीकार करता है, उस दिन उसकी पहली प्रतिज्ञा

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-१०, गाथा-३५,३७ पृष्ठ : १७२.

यह होती है– 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'– मैं समस्त सावद्य– पाप सहित योगों का मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान– त्याग करता हूँ।

उस दिन से वह किसी भी अशुभ क्रिया को न करने के लिए संकल्पबद्ध होता है। साथ ही साथ न वह किसी और द्वारा करवाता है। यदि कोई वैसा करता है तो वह उसका समर्थन या अनुमोदन नहीं करता, यह छठा गुणस्थान है। उसका नाम– प्रमत्त-संयत या प्रमादी साधु गुणस्थान है।

मन, वचन, शरीर तथा कृत, कारित, अनुमोदित– यों संपूर्णत: हिंसा आदि पापपूर्ण कार्यों का त्याग करने पर भी उसे प्रमत्त क्यों कहा जाता है? उसका गुणस्थान, प्रमादी साधु गुणस्थान कैसे होता है? यह एक प्रश्न हैं। वह तो हिंसा आदि पाप कार्यों को न करने में सदा सावधान रहता है। जरा भी प्रमाद या लापरवाही नहीं करता फिर प्रमत्त कैसे ?

प्रमाद शब्द का सूक्ष्म अर्थ– आत्मभाव के प्रति अनुत्साह है। बाह्य रूप में हिंसा आदि का वर्जन तो होता है किन्तु अंतरात्मा में अध्यात्म-उत्कर्षक के प्रति जो उत्साह होना चाहिए, सतत् आत्मपरक भाव उदित और वर्धित रहने चाहिए, वैसा नहीं होता। इसलिए वह अप्रमत्त या अप्रमादी नहीं कहा जाता।

भगवान् महावीर गौतम को इस प्रमाद को छोड़ने की प्रेरणा देते हैं। बाह्य-दृष्टि से तो गौतम और सभी संयमी अप्रमादी होते ही हैं परंतु आत्मा के भीतर जो प्रमाद-शून्यता होनी चाहिए, जो साधक के लिए आवश्यक है, गौतम को निमित्त बनाकर भगवान् सभी संयमी जनों को वैसा करने का उपदेश देते हैं।

एक बात और ज्ञातव्य है, जब एक विरक्त पुरुष प्रव्रज्या स्वीकार करने को उद्यत होता है, उस समय उसके भावों में अत्यन्त तीव्रता और उज्ज्वलता आती है, जो अप्रमत्तता का संस्पर्श करती है परंतु वह टिकती नहीं।

ब्रह्मचर्य और सिद्धत्व

उत्तराध्ययन-सूत्र में भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

ब्रह्मचर्य रूप धर्म, ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। वीतराग प्रभु द्वारा यह उपदिष्ट है। इसकी आराधना कर अनेक प्राणी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होते रहेंगे।[१]

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-१६, गाथा-१७, पृष्ठ : २६६.

समीक्षा

ब्रह्मचर्य शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ बड़ा व्यापक है। ब्रह्म में– आत्मा में चरण करना या आत्मस्वरूप में रमण करना ब्रह्मचर्य है। आत्मास्वरूप में रमण तब सिद्ध होता है, जब मनुष्य संसार के बाह्य भोगों में रमण करना त्याग देता है। बाह्य भोग पाँचों इंद्रियों से संबंधित हैं। वे अनेक प्रकार के हैं। सभी त्याज्य हैं। उन भोगों में तीव्रतम या सबसे अधिक– प्रबल 'काम' है, इसलिए उसे अब्रह्मचर्य कहा है। उसके त्याग का भगवान् ने बहुत जोर देकर उपदेश किया क्योंकि संसार में उसीके लिये लोग धन, वैभव आदि का संग्रह करते हैं। अब्रह्मचर्य से आदमी विरत हो जाए तो वह अन्यान्य आकांक्षाओं से भी छूट सकता है। वैसा होने पर उसे ब्रह्मचर्य समाधि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् वह बाह्य आकर्षणों से मुक्त होकर अपनी आत्मा के विशुद्ध-भाव में रमण करने लगता है।

जिन शासन : मुक्ति का मार्ग

भरत आदि अनेक राजाओं ने जिनशासन का अवलंबन कर मुक्ति प्राप्त की। इस संबंध में उत्तराध्ययन-सूत्र में वर्णन आया है, उसका सार यह है कि अहेतुवादों– एकांतवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद तथा अज्ञानवाद आदि विपरीत सिद्धांतों से प्रेरित होकर व्यक्ति उन्मत्त की तरह पृथ्वी पर विचरण कर सकता है। अर्थात् वह आत्म-कल्याण-पथ प्राप्त नहीं कर सकता, जिनशासन ही सच्चा प्रेरणा-स्रोत है, जिसको अनेक पराक्रमी राजाओं ने स्वीकार किया और अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त किया।

भगवान् ने आगे बताया– जिनशासन अत्यंत निदानक्षम– युक्तिसंगत है, सत्य है, इसे अंगीकार कर अनेक जीवों ने संसार-समुद्र को पार किया, अनेक जीव वर्तमान में पार कर रहे हैं और भविष्य में पार करेंगे।

ऐसी स्थिति में विवेकशील साधक अहेतुवादों से अपने आपको कैसे परिवासित करे, उनसे वह कैसे प्रेरणा ले– अर्थात् उसे उस प्रकार के एकांतवादी सिद्धांतों को स्वीकार नहीं करना चाहिए। जो पुरुष संगों– आसक्तियों से छूट जाते हैं, कर्मरूपी रज से रहित हो जाते हैं, वे सिद्ध हो जाते हैं।[1]

विशेष

भगवान् ने मुक्ति प्राप्त करने का आधार जिनशासन को बतलाया है क्योंकि उसमें जिस मार्ग का प्रतिपादन हुआ है, वह सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट है। वही सत्य है, स्वीकार करने योग्य है, संसार में जो

---

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-१८, गाथा-५२- ४, पृष्ठ : ३०२, ३०३.

तरह-तरह के मतवाद प्रचलित हैं, वे एकांत दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। इसलिये वे स्वीकार करने योग्य नहीं हैं। जब तक कोई भी उनमें ग्रस्त रहेगा, मुक्ति नहीं पा सकेगा।

वीतराग-वाणी में जो साधना का पथ निर्दिष्ट हुआ है, वही सम्यक्-पथ है। जिन्होंने उस पथ का अनुसरण किया, वे मुक्त हुए।

सिद्ध-नमन

उत्तराध्ययन-सूत्र का बीसवाँ अध्ययन सिद्धों और संयतों के नमन से प्रारंभ होता है। आर्य सुधर्मा जंबू को संबोधित कर कहते हैं कि सिद्धों और संयमी साधकों को भाव से, भक्तिपूर्वक नमस्कार कर मैं जीवन के परम लक्ष्य– मोक्ष तथा धर्म, मोक्ष-प्राप्ति के साधनों का ज्ञान कराने वाली तथ्यपूर्ण शिक्षा देता हूँ, सुनो।[१]

अनुचिन्तन

इस गाथा में पंचपरमेष्ठि-पद का दूसरा और पाँचवां पद दिया गया है। पहला, तीसरा और चौथा पद नहीं लिया गया है।

इसका एक विशेष अभिप्राय है– जहाँ प्रथम पद में अरिहंतों को नमन किया जाता है, वहाँ उनके उपकार का भाव मुख्य होता है। यहाँ दूसरे पद को जो पहले लिया गया, उसका आशय यह है कि यह परम पद है, सर्वोच्च स्थान है, जिसे चारों पदों में विद्यमान महापुरुषों को प्राप्त करना होता है। इसके बाद संयमी साधु का पद लेने का भाव यह है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों में मूलगुण तो साधुत्व ही है। उसके होने पर आचार्य और उपाध्याय प्राप्त होते हैं। वे संयमी साधुओं में से मनोनीत होते हैं। विशेष अधिकार, कार्य, योग्यता आदि की दृष्टि से जो भेद हैं, वे उत्तरगुण हैं।

यहाँ मूलगुण और अंतिम लक्ष्य को लेकर वंदन किया गया है। इन दोनों पदों में पाँचों पद सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं।

क्षेमंकर एवं शिवमय स्थान

उत्तराध्ययन-सूत्र के तेबीसवें अध्ययन में भगवान् महावीर के मुख्य गणधर गौतम और भगवान् पार्श्व की परंपरा के केशीश्रमण के बीच जो चर्चा हुई, उसका वर्णन है।

चर्चा के मुख्य कारणों में एक भगवान् पार्श्व का चातुर्याम-धर्म और भगवान् महावीर का पंच-

---

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-२०, गाथा-१, पृष्ठ : ३३३.

महाव्रतमूलक धर्म था। भगवान् पार्श्व के समय में चौथे महाव्रत को और पाँचवें महाव्रत को एक महाव्रत में ही सम्मिलित किया गया था। स्त्री को वहाँ परिग्रह के रूप में स्वीकार किया गया था। इसलिए वह चातुर्याम धर्म कहा जाता था।

दोनों एक ही धर्म की परंपरा हैं, फिर ऐसा भेद क्यों ? लोगों में ऐसी चर्चा होती थी। उसके समाधान हेतु दोनों महापुरुषों ने परस्पर वार्तालाप किया। समाधान प्राप्त हुआ। जो पठनीय है।

उसी विचार-विमर्श या चर्चा के बीच मोक्ष का विषय आता है। सभी बाह्य भेदमूलक पक्षों का समाधान होने के बाद केशीकुमार श्रमण ने श्री गौतम स्वीमी से कहा– हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा–बुद्धि उत्तम है, मेरा संदेह दूर हो गया है। एक संशय और है, उस विषय में आप मुझे बतलाएं।

हे मुनिवर ! इस संसार में शारीरीक और मानसिक दु:खों से बंधे हुए या पीड़ा पाते हुए प्रणियों के लिए कल्याण और शांति का निर्बाध स्थान कौन सा है ? आप किसे मानते है ? बतलाएं।

गणधर गौतम ने केशी कुमार श्रमण से कहा– लोक के अग्रभाग में एक ऐसा ध्रुव– निश्चल स्थान है, जिस पर पहुँचना, जिसे प्राप्त करना बहुत कठिन है। वहाँ वृद्धावस्था, मृत्यु, व्याधियाँ और वेदनाएँ नहीं है।

इस पर पुन: केशीकुमार श्रमण ने जिज्ञासा की वह स्थान कौन सा है ?

गौतम गणधर ने बताया– वह स्थान निर्वाण हैं, मोक्ष है, जो परमशांतिमय है, बाधा रहित है। शाश्वत है। जीवन की अंतिम सफलता है। लोकाग्र में स्थित है। क्षेम, शिव और अनाबाध है।

भव-प्रवाह का– जन्म-मरण की परंपरा का अंत करने वाले महामुनि उसे प्राप्त करते हैं। वे शोक से मुक्त हो जाते हैं। उनका वहाँ शाश्वतरूप से वास होता है। अर्थात् वहाँ से वे कभी च्युत नहीं होते, किन्तु जैसा पहले बताया गया वह बहुत दुरारोह है अर्थात् उसे प्राप्त करना बहुत कठिन है।[1]

यह प्रसंग गणधर गौतम और केशीकुमार श्रमण के वार्तालाप का सार रूप है। क्योंकि चातुर्याम कहें या पंच महाव्रत कहें, बात एक ही है। इनका पालन करने वाले सभी साधकों का लक्ष्य निर्वाण–सिद्धावस्था या मुक्तावस्था पाना है। उसी की यहाँ चर्चा है।

कायोत्सर्ग : सिद्ध-संस्तवन

उत्तराध्ययन-सूत्र में साधु की रात में कैसी चर्या रहे, यह वर्णन आया है तथा प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन का वर्णन भी आया है।

१. उत्तराध्यन-सूत्र, अध्ययन-२३, गाथा-७९-८४, पृष्ठ : ४०४, ४०५.

उसके अंतर्गत कायोत्सर्ग की विशेष रूप से चर्चा हुई है। वहाँ कहा गया है कि कायोत्सर्ग को पारित करके पूर्ण करके साधक गुरु-वंदन करे तथा सिद्धों का संस्तवन करे।[1]

मुनि श्री चन्द्रशेखर विजयजी ने 'अरिहंत-ध्यान' नामक पुस्तक में प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग का सचित्र वर्णन किया है, जिससे साधक को उनका अभ्यास करने में मार्गदर्शन प्राप्त होता है।[2]

"दार्शनिक दृष्टि से कायोत्सर्ग का अर्थ भेद-विज्ञान से संबन्धित है। काया और आत्मा अलग-अलग दो शब्द हैं। एक जड़ है, दूसरा चेतन। एक ज्ञानी नहीं है, दूसरा ज्ञानी है। एक नश्वर है, दूसरा शाश्वत। ऐसा चिन्तन कर अपना ध्यान काय की ओर से आत्मा की ओर मोड़ना, शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही कायोत्सर्ग है।"[3]

"देह से भिन्न अपनी शुद्ध आत्मा की भावना– शुद्धोपयोग करना कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक रूप हैं।"[4]

अर्हम् नामक पुस्तक में युवाचार्य महाप्रज्ञ ने कायोत्सर्ग के आन्तरिक एवं वाह्य स्वरूप पर, जो क्रमशः चैतन्य के अनुभव तथा देह के स्थिरीकरण-शिथलीकरण से संबद्ध है, विशद विवेचन किया है।[5]

पर्य्यवगाहन

'कायोत्सर्ग' जैन शास्त्रों का बहुत ही प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण शब्द है। यह काय + उत्सर्ग के मिलने से बना है। काय का अर्थ शरीर और उत्सर्ग का अर्थ त्याग है।

जीते जी शरीर का त्याग कैसे हो सकता है ? शरीर का त्याग तो तब होता है, जब आयुष्य पूर्ण हो जाता है। यहाँ कायोत्सर्ग का सीधा अर्थ लागू नहीं होता। शरीर को अपना मानने की मोहात्मक वृत्ति को मिटा देना कायोत्सर्ग है।

साधक, आत्मा में ऐसे परिणाम लाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ। आत्मा हूँ। शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ। शरीर को जिस रूप, जिस भाव में स्वीकार किये हुए हूँ, उसका उत्सर्ग या त्याग करता हूँ। जैन सिद्धांतों में इस स्थिति को भेद-विज्ञान कहा जाता है, जहाँ साधक शरीर और आत्मा की भिन्नता या पृथक्ता को स्वीकार करता है। फलतः मन में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं, शरीर से उसका ध्यान हट जाता है और आत्मा में लीन हो जाता है, उसे कायोत्सर्ग कहा जाता है।

---

१. उत्तराध्यन-सूत्र, अध्ययन-२३, गाथा-५२, पृष्ठ : ४५३.
२. अरिहंत-ध्यान, पृष्ठ : ९३.
३. राजेन्द्रकोष-'अ', पृष्ठ : २२९, २३०.
४. समाधि-सोपान, पृष्ठ : २३१.
५. अर्हम्, पृष्ठ : ५८, ५९.

साधक को कायोत्सर्ग करने के बाद गुरुवंदन करने का और फिर सिद्धस्तवन करने का संकेत किया गया है। इसका आशय यह है कि कायोत्सर्ग की स्थिति प्राप्त करना– सिद्धगति की ओर प्रयाण करना है। कायोत्सर्ग करने वाले साधक का अंतिम लक्ष्य सिद्धत्व ही है।

सिद्धस्तव से पूर्व गुरु-वंदन का जो उल्लेख हुआ है, वह बहुत उपयोगी है। जो साधक कायोत्सर्ग की भूमिका पा लेता है, उसे आगे बढ़ने के लिये गुरु से मार्गदर्शन लेना आवश्यक है क्योंकि गुरु ही सच्चा मार्ग बताते हैं। गुरु के प्रति साधक का सदा विनय-भाव रहना चाहिये। विनयशील साधक सिद्धों की गुण-गरिमा का अंकन करता हुआ उनके जैसा बनने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

मोक्ष–मार्ग–प्ररूपणा

उत्तराध्ययन-सूत्र मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप– इन चारों को मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है। सर्वज्ञ जिनेश्वर देव ने इनकी प्ररूपणा की। इस चतुर्विध मार्ग का स्वीकार कर जीव सद्गति– सर्वोत्तम गति या मोक्षगति को प्राप्त करते हैं।[1]

विमर्श

सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र के साथ-साथ यहाँ तप को भी मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्यग् दर्शन से श्रद्धा विशुद्ध बनती है। सम्यग्ज्ञान से ज्ञान में पवित्रता आती है तथा सम्यक्चारित्र से पापों का प्रत्याख्यान होता है। प्राणातिपात-विरमण आदि इसके रूप हैं। इन तीनों के साथ तप शब्द को जोड़ने का एक विशेष अभिप्राय है। चारित्र का तो संयम-ग्रहण करने वाले सभी साधकों को पालन करना होता है। वैसा करना उनके लिये अनिवार्य है।

तपस्या अनिवार्य नहीं है। वह विशेष रूप से की जाती है क्योंकि व्रतों के पालन से आस्रवों का संवरण हो जाता है। नये कर्म आने बंद हो जाते हैं। किन्तु पूर्वजन्म में संचित तथा संयम-ग्रहण करने से पूर्व इस जन्म में संचित कर्मों के क्षय के लिये तपश्चरण आवश्यक है। जब त्रिरत्नात्मक साधना के साथ तप जुड़ जाता है तो वह साधना ओजस्विनी बन जाती है। इसके फलस्वरूप साधक मुक्ति की दिशा में अधिकाधिक प्रगति करता जाता है। इसलिये कहा गया है कि इन चारों को स्वीकार कर साधना-पथ पर आगे बढ़नेवाले साधक सिद्धगति प्राप्त कर लेते हैं।

योगनिरोध द्वारा सिद्धत्व की ओर गति

उत्तराध्ययन सूत्र में त्रयोदश गुणस्थानवर्ती में वे सयोग– योग सहित होते है। जब उनका

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-२८, गाथा-१-३, पृष्ठ : ४६४.

आयुष्य अंतर्मुहूर्त– प्रमाण बाकी रहता है, तब वे योग-निरोध में प्रवृत्त होते हैं। वे सूक्ष्म-क्रिया अप्रतिपाती नामक शुक्लध्यान में लीन होते हैं। सबसे पहले तथा क्रमशः योगों का निरोध करते हैं।

तत्पश्चात वे औदारिक और कार्मण शरीर को सदा के लिए छोड़ देते हैं। इस प्रकार सर्वथा शरीर रहित होकर वे ऋजु-श्रेणी द्वारा एक समय में अस्पृशद् गतिरूप ऊर्ध्व-गति से सीधे साकारोपयोग-युक्त सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत हो जाते हैं। सब दुःखों का अंत करते है। श्रमण भगवान् महावीर ने सम्यक्त्व-पराक्रम-अध्ययन का यह सार बतलाया है।[1]

समीक्षा

योग-निरोध के पश्चात् सिद्धत्व पाने के क्रम का यहाँ निरूपण किया गया है। जब योगों का निरोध हो जाता है, कर्मों का क्षय हो जाता है तो औदारिक और कार्मण-शरीर छूट जाता है। उस समय जीव की ऊर्ध्वगति होती है। गति की दो श्रेणियाँ मानी गई हैं– ऋजु-श्रेणी और वक्र-श्रेणी। मुक्त जीवों का ऊर्ध्वगमन ऋजुश्रेणी द्वारा होता है, अर्थात् वे सीधे सिद्धशिला की दिशा में गति करते हैं। वे सीधे आकाश-प्रदेश की सरल– मोड़ रहित पंक्ति से गमन करते हैं। वक्र-श्रेणी मोड़ युक्त होती है। मुक्तजीव उस श्रेणी से ऊर्ध्वगमन नहीं करते। वक्र-श्रेणी से अमुक्त जीव जहाँ-जहाँ उन्हें जन्म लेना होता है, उस ओर गति करते हैं।

यहाँ अस्पृशद्-गति का उल्लेख हुआ है, उसका अभिप्राय यह है कि मुक्त-जीव अपने आत्म-प्रदेशों के साथ अवगाह-युक्त आकाश-प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य आकाश-प्रदेशों का स्पर्श नहीं करते हुए गति करते हैं।

अमुक्त जीव ऐसा नहीं करते, जब वे गति करते हैं तो उनकी गति स्पृशद्-गति कहलाती है क्योंकि उनका गमन आकाश के प्रदेशों का स्पर्श करते हुए होता है।

तप से विप्रमोक्ष

उत्तराध्ययन-सूत्र के तीसवें अध्ययन का नाम तपोमार्ग-गति है। तप के मार्ग से साधना की ओर गति करना या आगे बढ़ना इसका भाव है। निर्जरा के बारह भेद तपश्चरण के रूप में स्वीकृत हैं। तप आभ्यंतर और बाह्य के रूप में दो प्रकार का है।

पहले से छः भेद तक जो तपों का विधान हुआ है, वे बाह्य तप कहे जाते हैं। सातवें से बारहवें तक भेद आंतरिक तप में आते हैं। दोनों ही तप आत्मा के कल्याण के लिए आवश्यक हैं। बाह्य तप का अधिक संबंध शरीर के साथ है। शरीर और इंद्रियों को नियंत्रित करना उसका लक्ष्य है।

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-२९, सूत्र-७४, पृष्ठ : ५२३.

आंतरिक तप का संबंध मन और आत्मा के साथ है। इन दोनों प्रकार के तप का जो ज्ञानी साधक भलीभाँति आचरण करता है, शीघ्र ही समग्र संसार से जन्म-मरण, आवागमन से सदा के लिए विप्रमुक्त हो जाता है, सिद्धावस्था पा लेता है।[1]

सर्व दुःख विमुक्ति का पथ

सूत्रकार दुःख-विमुक्ति का पथ बताने से पूर्व कहते हैं– समस्त दुःख अनादिकाल से चले आ रहे हैं। दुःखों से समूल छूटने का उपाय मैं बतला रहा हूँ। वह एकांत हितप्रद है। उसे पूर्णतः चित्त लगाकर श्रवण करो।[2]

दुःखों से छूटने के पथ-दर्शन से पूर्व सूत्रकार जो ऐसा कहते है, उसका भाव यह है कि वे जो प्रतिपादित कर रहे हैं, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। बड़ी सावधानी और जागरुकता से सुनना चाहिए। उसमें एकांतरूप से, निश्चितरूप से सबका हित ही हित है। सूत्रकार द्वारा यों जोर देकर कहना श्रोताओं के लिए बड़ा ही प्रेरणा स्वरूप है।

वे आगे लिखते हैं– संपूर्ण ज्ञान के प्रकाशन, अज्ञान और मोह के विवर्जन तथा राग और द्वेष के संपूर्णतः नाश से जीव मोक्ष को प्राप्त करता है, जो एकांत सुखरूप है।

गुरुजनों और वृद्धों की सेवा, अज्ञानी जनों के संपर्क का विवर्जन, स्वाध्याय, एकांतवास, सूत्र तथा अर्थ का सम्यक् चिंतन, धृति-धैर्य– का अनुसरण करने से साधक का ज्ञान प्रकाशित होता है। अज्ञान और मोह नष्ट होते हैं। राग-द्वेष आदि सारे दोष जो जीव को संसार में बांधे रखते हैं, क्षीण हो जाते हैं। वैसा होने पर जीव सब बंधनों से, दुःखों से विमुक्त हो जाता है।[3]

यहाँ मोक्ष-प्राप्ति के मुख्य रूप से तीन कारण बताये हैं। ज्ञान का उद्योत, अज्ञान और मोह का विनाश तथा राग एवं द्वेष का अंत। इन तीनों को प्राप्त करने के लिये गुरुजनों की सेवा आदि की आराधना करना आवश्यक है। महापुरुषों की सेवा करने से ही मनुष्यों में उत्तम गुण निष्पन्न होते हैं और वे स्वाध्याय आदि का मार्ग अपनाते हैं। जिस प्रकार सत्पुरुषों की सेवा आवश्यक है, वैसे ही अज्ञानी जनों से दूर रहने की भी आवश्यकता है क्योंकि उनकी संगति से संस्कार विकृत होते हैं। अधःपतन होता है।

समस्त कर्मों और दुःखों से छूटने का क्रम

वीतराग भावोद्यत साधक क्षण भर में ज्ञानावरणीय-कर्म का नाश कर देता है तथा जो कर्म

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-३०, गाथा-३७.
२. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-३२, गाथा-१, पृष्ठ : ५७२.
३. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-३२, गाथा-२,३, पृष्ठ : ५७२.

आत्मा के दर्शन का आवरण करता है, उसका भी वह क्षय कर डालता है, और अंतराय-कर्म को भी क्षीण कर देता है। ऐसा करने के बाद वह समस्त भावों को जानता है, देखता है और मोह एवं अंतराय रहित हो जाता है। वह अनास्रव हो जाता है। उसका कर्म-प्रवाह रुक जाता है। वह ध्यान और समाधि से युक्त हो जाता है। आयुष्य का क्षय हो जाने पर वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। दीर्घकालीन कर्म और समस्त दुःख जो उसको सतत पीड़ित करते थे, उन सबसे वह छुटकारा पा लेता है।

अनादि काल से आती हुई राग-द्वेष आदि रूप व्याधियों से विमुक्त हो जाता है। प्रशस्त, सर्वोत्कृष्ट एकांत, निश्चित रूप से सुखी हो जाता है, कृतार्थ हो जाता है। उसके लिए फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।[1]

पर्य्यवलोकन

उपर्युक्त रूप से सर्व-विमुक्ति का जो पथ बतलाया गया है, उसका सारांश यह है जीव घाति और अघाति दो प्रकार के कर्मों से बद्ध होता है। घाती का अर्थ घात करनेवाले या मिटानेवाले हैं। कर्म आत्मा के मूल गुणों का घात करते हैं, उन्हें घाति कहा जाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय– ये चार घाति कर्म हैं।

वीतराग-भावोद्योत साधक– इन चार कर्मों का क्षय करता है। वह सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है। फिर वह आस्रव-निरोध की दिशा में अग्रसर होता है। सर्वज्ञ-अवस्था में भी योग-आस्रव विद्यमान रहता है। तब तक मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ छूटती नहीं। अशुभ नहीं होती किन्तु शुभ होती रहती हैं। अशुभ तो पहले ही बंद हो जाती हैं। शुभ को भी रोकना आवश्यक है। संसारावस्था में शुभ या पुण्यात्मक प्रवृत्तियाँ किसी अपेक्षा से उपादेय हैं, किन्तु वे बंधरूप ही हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए उनको भी रोकना आवश्यक है। इसलिए केवल योगों का निरोध करते हैं। इस संबंध में पहले यथाप्रसंग वर्णन आ चुका है। फिर वह शुक्ल-ध्यान की उत्तरोत्तर आराधना द्वारा समाधि-अवस्था प्राप्त कर लेता है। आयुष्य-कर्म का क्षय कर मोक्षावस्था पा लेता है। वैसी स्थिति में वह सब विकारों से रहित हो जाता है। आत्मा की वह परम आनंदावस्था है।

सिद्धिगत जीवों का विशेष निरूपण

उत्तराध्ययन-सूत्र में एक स्थान पर सिद्ध जीवों के विषय में अनेक अपेक्षाओं से वर्णन आया है, जिससे उनके स्वरूप, स्थिति आदि विशेषताओं का विशेष ज्ञान होता है।

जैसे पहले कहा जा चुका है– जैन शास्त्रों में जो वर्णन आते हैं, वे विस्तार-रुचि पुरुषों को लक्षित

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-३२, गाथा-१०८-११०, पृष्ठ : ५९६.

करके कहे गए हैं। साधारण लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें बार-बार समझाना आवश्यक है, इसलिये मोक्ष के संबंध में जो-जो बातें बतलाई गई हैं, उनमें से कतिपय का संकेत पहले भी यथास्थान किया गया हैं।

प्रस्तुत संदर्भ में उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा गया है कि कई जीव उत्कृष्ट, जघन्य तथा मध्यम अवगाहना में तथा ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में अथवा तिर्यक्लोक में, समुद्र में, यान में तथा जलाशय में सिद्ध होते हैं।

एक समय के अंतर्गत नपुंसकरूप में अधिक से अधिक दस, स्त्रीरूप में बीस तथा पुरुषरूप में एक सौ आठ जीव सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। एक समय में गृहस्थरूप में चार, अन्य-वेष में दस एवं स्व-वेष में एक सौ आठ सिद्ध होते हैं। एक समय में उत्कृष्ट-अवगाहना में दो, जघन्य-अवगाहना में चार और मध्यम-अवगाहना में एक सौ आठ जीव सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। एक समय के उंतर्गत ऊर्ध्वलोक में चार, समुद्र में दो, जलाशय में तीन, अधोलोक में बीस एवं तिर्यक् लोक में एक सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।[1]

सूत्रकार ने आगे एक प्रश्न उपस्थित किया है– सिद्ध कहाँ प्रतिहत होते हैं– रुकते है ? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं ? वे देह को कहाँ त्याग कर, कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ? इसके उत्तर में कहा गया है- वे अलोक में प्रतिहत होते हैं। लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित– स्थित होते हैं। इस लोक में– मनुष्यलोक में देह छोड़कर, लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।[2]

दशवैकालिक-सूत्र में आत्म-शुद्धि का चरम विकास : सिद्धत्व

दशवैकालिक सूत्र में आत्मशुद्धि द्वारा विकास के आरोहण-क्रम का वर्णन किया गया है। वहाँ सबसे पहले तत्त्वज्ञान की चर्चा आई है। बतलाया गया है कि साधक, पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष के स्वरूप को जब जान लेता है, तब वह उन सब भोगों से जो दिव्य हैं– देव संबंधी या स्वर्ग संबंधी हैं तथा जो मानवों से संबंध रखने वाले हैं, विरत हो जाता है। फिर वह अभ्यंतर और बाह्य संयोगों का परित्याग करता है। उन सब संबंधों को जो उसके बाहरी जीवन से, पारिवारिकता आदि से जुड़े हुए हैं, त्याग देता है, मन के ममत्वपूर्ण, मोहयुक्त विचारों को भी छोड़ देता है, जो उसे सांसारिक जीवन

१. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-३२, गाथा-४९-५४, पृष्ठ : ६४३, ६४४.
२. उत्तराध्यन-सूत्र, अध्ययन-३२, गाथा-५५-५६, पृष्ठ : ६४४.

के साथ बांधे रखते हैं, और वह श्रमण-प्रवज्या स्वीकार कर लेता है, उत्तम संवररूप धर्म को अंगीकार करता है।

इसी क्रम में आगे बढ़ता हुआ वह अबोधिजनित संचित, कर्मरज का, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षय कर डालता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करता है। वह वीतराग और केवली होकर लोक और अलोक को देखता है, जानता है।

जब लोक, अलोक को जानने तक की स्थिति को पा लेता है, तब वह सयोगी केवली अपने योग का निरोध करता है तथा शैलेशी-अवस्था प्राप्त करता है।

शैलेश– मेरु पर्वत की तरह अविचल और स्थिर हो जाता है। सर्व कर्मों का क्षय कर डालता है। रजमुक्त– आवरण रहित हो जाता है। सिद्धत्व पा लेता है।[1]

"मुक्त या सिद्धजीव अरूपी, अमूर्त्त, अविनाशी, अनादि, अजर, अक्षय, अनन्त, अमल, अगम्य, अनामी, अकर्मी, अवेदि, अबन्धक, अयोगी, अभोगी, अभेदी, अखेदी आदि अनेक संज्ञाओं द्वारा अभिहित हुए हैं।"[2]

'सिद्धो भवई सासओ'– के अनुसार सिद्ध स्वरूपत: शाश्वत होते हैं।[3]

"सिद्ध के अर्थ का जो विविध रूपों में विवेचन हुआ है, वह कर्म-क्षय की अपेक्षा से ही मुख्य है। शास्त्रकारों ने उसी को महत्त्व दिया है।"[4]

"अर्हत् और सिद्ध में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। चेतना की स्थिति में दोनों समान होते है। अर्हत् भी आवरणमुक्त हैं और सिद्ध भी आवरणमुक्त हैं। उतना सा विभेद है कि अर्हत् सशरीरी है और सिद्ध अशरीरी। सिद्धों के शरीर नहीं है। अपनी साधना के द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर वे शरीर नाम, आयुष्यादि समस्त बन्धनों से मुक्त हो गए।"[5]

"तेरहवें गुणस्थान तक रहे हुए आस्रव को सर्वथा हटाकर चौदहवें गुणस्थान में परिपूर्ण संवर

---

१. दशवैकालिक-सूत्र, अध्ययन-४, गाथा-३९-४८, पृष्ठ : १३६, १३७.
२. णमोक्कार मंत्र (मुनि श्री जयानंदविजयजी), पृष्ठ : ३२, ३३.
३. श्री अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग-४, पृष्ठ : २७२४ (सुक्तिसुधारस, खण्ड-४, पृष्ठ : १६६)
४. नमस्कार स्वाध्याय, भाग-३, पृष्ठ २३.
५. सुमरो नित नवकार, पृष्ठ-३१.

होता है। पूर्ण संवर हो जाने पर पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण जितने समय की चौदहवें गुणस्थान की स्थिति पूर्ण करके आत्मा परमात्मदशा– सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है।"[1]

"सिद्ध आत्माएँ अस्तित्वभाव से अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत बलवीर्य, क्षायिक-भाव, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरु-लघुत्व– ऐसे आठ गुणों से युक्त हैं। नास्तित्व से ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों से तथा राग-द्वेषादि भावकर्म और देहादि नौ कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं।"[2]

"एकार्थक कोष में सिद्धों की विशेषताओं का अनेक अपेक्षाओं से वर्णन किया गया है, जो द्रष्टव्य है।"[3]

"णमोक्कार-मंथन में सिद्धों के पद, स्थान, स्वरूप एवं गुण-प्रभुत्व की दृष्टि से उनकी अविनाशिता का उल्लेख हुआ है।"[4]

अनुचिन्तन

यहाँ जीवन की निम्नतम दशा से उच्चतम दशा तक पहुँचने के क्रम का निरुपण किया गया है, जो तत्त्वज्ञान से प्रारंभ होता हैं, जहाँ सम्यक् श्रद्धान जुड़ा रहता है।

जब सम्यक् श्रद्धानयुक्त ज्ञान द्वारा वह तत्त्वों के स्वरूप को भलीभाँति जान लेता है, तब उसे हेय उपादेय, ज्ञेय का भेद-ज्ञान हो जाता है। फिर जो त्यागने योग्य है, उसे छोड़ देता है। उसे छोड़ने का भाव यह है कि वह भोगमय सांसारिक जीवन से विमुख होकर आत्मोन्मुख बन जाता है। सभी सावद्य– पापयुक्त प्रवृत्तियों का मन, वचन, काय एवं कृत, कारित, अनुमोदित पूर्वक परित्याग कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि उसके आस्रव– कर्मागमन-द्वार अवरूद्ध हो जाते हैं।

पूर्व संचित कर्म तपोमय साधना द्वारा निर्जीर्ण होते जाते हैं और जो आत्मा का असीमज्ञान, दर्शन आवृत था, वह उद्भासित हो जाता है। यह साधक की उत्कृष्ट अवस्था है। अपने अगले चरण में समस्त बाह्य भावों को, जिनमें योग और शरीर भी है, वह पार कर जाता है। मुक्त, सिद्ध और परिनिर्वृत हो जाता है।

निम्नतम स्थान से जो आत्मा की यात्रा प्रारंभ हुई थी, वह अंतिम लक्ष्य प्राप्त कर लेती है। फिर आगे कुछ भी करणीय नहीं रहता। आत्मा कृतकृत्य हो जाती है तथा नित्य, अबाधित ,परम आनंद सदा के लिये प्राप्त हो जाता है।

---

१. जैन दिवाकर ज्योतिंपुज, तृतीय खण्ड, पृष्ठ : १०२.
२. श्री अर्हत् तत्त्वार्थ मीमांसा, पृष्ठ : १२.
३. एकार्थक कोष-(मुनि शुभकरण), पृष्ठ : १५२, १५३.
४. णमोक्कार-मंथन, पृष्ठ : १४१.

प्रतिस्रोत : मुक्ति का मार्ग

दशवैकालिक-सूत्र में संसार और मुक्ति का अतिसंक्षेप में अनुस्रोत-मार्ग और प्रतिस्रोत-मार्ग के रूप में विवेचन किया है। कहा है, बहुत से लोग अनुस्रोत की ओर प्रस्थान कर रहे हैं किन्तु जो पुरुष मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें अपनी आत्मा को प्रतिस्रोत की ओर ले जाना चाहिए।

अनुस्रोत संसार है, आस्रव है। लोग उस ओर जाने में सुख मानते हैं किन्तु प्रतिस्रोत संसार से जन्म-मरण से पार जाने का, विमुक्त हो जाने का मार्ग है। अत एव आचार में, संयम की साधना में पराक्रमशील होकर, संवर एवं समाधियुक्त होकर साधु प्रतिस्रोत का आश्रय लेते हैं।[1]

पर्य्यवगाहन

स्रोत का अर्थ प्रवाह होता है। उसके पहले 'अनु' उपसर्ग लगा देने से अनुस्रोत बनता है। उसका अर्थ बहते हुए प्रवाह के साथ बहते जाना है। स्रोत के पहले 'प्रति' उपसर्ग लगा देने से विपरीत अर्थ हो जाता है। बहते हुए स्रोत के साथ में न बहकर उसके सामने चलना प्रतिस्रोत कहा जाता है।

बहते हुए प्रवाह के साथ बहते जाने में कोई जोर नहीं आता किन्तु बहते हुए प्रवाह के सामने चलना, तैरना बहुत कठिन है। जल के प्रवाह में बड़ा वेग होता है। यदि पूरी शक्ति द्वारा उसका सामना न किया जाए तो सम्मुख चलने वाले के पैर उखड़ जाते हैं। वह जल में बहकर नष्ट हो जाता है।

इस उदाहरण से संसार और मुक्ति-मार्ग का सूत्रकार ने बहुत ही सुंदर दिग्दर्शन कराया है। सांसारिक सुखों, अनुकूलताओं और भोगों का प्रवाह अनुस्रोत है, उसमें पड़कर बहना जरा भी कठिन नहीं है क्योंकि वहाँ बहने में अज्ञानी जीवों को सुख मिलता है। वे नहीं जानते कि वह सुख नश्वर है। उसका परिणाम दुःखद है। इसलिये वे बहते जाते हैं। अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित होते जाते हैं। अनुस्रोत से निकलना बहुत दुष्कर है परंतु उससे निकले बिना जीव का कदापि कल्याण नहीं हो सकता।

दुःखों से छूटने की जिसमें उत्कृष्ट भावना जागरित होती है, वह आत्म-पराक्रम, संवर और समाधि का सहारा लेकर उस प्रवाह से प्रतिकूल चलने को तत्पर होता है। जहाँ आत्म-पराक्रम आदि का संबल होता है, वहाँ कठिनाई और दुष्करता सरलता और सहजता में बदल जाती है।

मानव का जीवन नया मोड़ लेता है। वह प्रतिस्रोत की दिशा में बढ़ता जाता है, जिसका तात्पर्य आत्मोन्मुखता है। उसकी वह गति उसे अपने शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति कराती है। अशुद्ध-अवस्था

१. दशवैकालिक-सूत्र, द्वितीय चूलिका, गाथा २-४.

बंधन है। शुद्ध-अवस्था मुक्ति है। अनुस्रोत का परिणाम संसार है, भवभ्रमण है। प्रतिस्रोत का फल मुक्ति या सिद्धत्व है।

भगवान् महावीर द्वारा सिद्धत्व प्राप्ति की रात्रि

कल्पसूत्र में भगवान् महावीर का चरित्र वर्णित है। जिस रात्रि में पावापुरी में, भगवान् महावीर ने अपने जीवन का परमलक्ष्य पूर्ण किया, समस्त कर्मक्षय कर निर्वाण प्राप्त किया, वह रात्रि आध्यात्मिक उद्योत की महारात्रि थी। देववृंद में अत्यन्त उल्लास उत्पन्न हुआ, वे हर्षित हुए। आकाशमार्ग से आने-जाने लगे, जिससे आनंदपूर्ण कोलाहल सर्वत्र व्याप्त होने लगा।[1]

विमर्श

सांसारिक लोग लौकिक सुख के अवसर पर आनंदोत्सव– उत्साह मनाते हैं। समारोह आयोजित करते हैं। ऐसी सांसारिक परंपरा है। यह सभी तो व्यावहारिक है। कुछ देर के लिये लोग क्षणिक–कल्पित सुख का अनुभव करते हैं। जब समारोह और उत्सव समाप्त हो जाते हैं तब वे पुनः सांसारिक दुःख के चक्र में आ फँसते हैं।

भगवान् का निर्वाण होने पर देववृंद जो आनंद, उत्साह प्रगट करते थे, वह विलक्षण था क्योंकि भगवान् महावीर ने अपनी तीव्र साधना और उग्र तपश्चरण द्वारा वह सिद्धि प्राप्त की, जिसके आगे और सब प्रकार की सिद्धियाँ फीकी हैं। देवों का हर्ष इस बात का उदाहरण था कि वे महापुरुष मनुष्यों के ही नहीं देवताओं के भी पूज्य हो जाते हैं, जो कर्मक्षय द्वारा समस्त दुःखों का नाश कर, परमानंद में सदा के लिए लीन हो जाते हैं।

देवों द्वारा प्रगट किया गया हर्ष, उल्लास और प्रमोद इस तथ्य का द्योतक था कि पावन-कृत्य करने वाले महापुरुष ही सभी के लिये वंदनीय है।

निर्वाण या सिद्ध प्राप्ति से बढ़कर संसार में और क्या पावन कृत्य हो सकता है? भगवान् महावीर को जब निर्वाण प्राप्त हुआ, तब एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। गौतम भगवान् महावीर के प्रथम गणधर तथा सर्वाधिक प्रिय अंतेवासी थे। ज्ञान, दर्शन, चारित्र के सफल संवाहक थे। आंतरिक-बाह्य तप के संसाधक थे किन्तु उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ, जबकि उनसे कतिपय कनिष्ठ मुनियों को केवल ज्ञान हो गया था। इसका कारण भगवान् के प्रति भक्ति और अत्यधिक स्नेह था क्योंकि जन्म-जन्मांतर में भगवान् के साथ उनका साहचर्य रहा था।

१. कल्पसूत्र, सूत्र-१२४, १२५.

जिस समय भगवान् का निर्वाण हुआ। गौतम स्वामी वहाँ उपस्थित नहीं थे। भगवान् ने उनकी रागात्मकता को मिटाने के लिए पहले ही उन्हें देवशर्मा ब्राह्मण को उपदेश देने भेज दिया था। रात हो गई, इसलिए वापस नहीं लौटे क्योंकि साधुचर्या में रात्रि-विहार निषिद्ध है। जब वापस पहुँचे तो भगवान् का स्मरण कर एकाएक मोहासक्त हो गये तदनन्तर शुद्ध परिणामों की गहनता में निमग्न होने लगे और उन्हें आत्म-स्वरूप का बोध हुआ। मोह के बंधन टूटे, जो केवलज्ञान में बाधक थे। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भगवान् महावीर के निर्वाण के अनुरूप ही यह भी एक उत्तम कार्य घटित हुआ।

सार-संक्षेप

जैन आगमों में तत्वज्ञान, संयम, साधना, तपश्चरण तथा व्रतमूलक आचार-संहिता का बहुमुखी विवेचन है। आगमों का एक ही लक्ष्य है कि साधक सत् तत्त्वों में निष्ठाशील बनें। तद्विषयक विशद्ज्ञान प्राप्त करे। ज्ञान द्वारा अपने चित्त का परिष्कार करें और जीवन-वृत्तियों में अपने सद् विचारों को साकार करे। यह सब कार्य बहुत सरल तो नहीं है किन्तु विश्वास, संकल्प और भावना की दृढ़ता के साथ जो मनुष्य इस मार्ग पर आरूढ़ होता है, वह कभी निराश नहीं होता।

साधना एक प्रकार का आध्यत्मिक संग्राम है। एक और आत्म स्वभाव या आत्मा के गुण टूटे हुए होते हैं तथा उनके सामने क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय हैं। कषाय आत्म-गुणों को पराजित कर आत्मा पर विजय पाना चाहते हैं। उनसे जूझने के लिये आत्म-गुणों को बड़े उत्कर्ष के साथ, बड़े उत्कृष्ट बल के साथ सामना करना होता है।

यद्यपि आत्मा की शक्ति में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होती, वह तो असीम होती है, किन्तु उसे जगाना होता है। जब वह जागरित हो जाती है तो कषाय आदि विभावों के सैन्य को पराजित कर डालती है।

आत्मा की विजय होती है तथा कषाय आदि शत्रु पराजित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति हो जाने पर आत्मा को अपने लक्ष्य– सिद्धत्व प्राप्ति की दिशा में प्रयाण करने में सहज ही अनुकूलता होती है।

साधना का मार्ग बड़ा कंटाकाकीर्ण है किन्तु आत्मा की ऊर्जा द्वारा उन सभी बाधाओं और विघ्नों को समाप्त करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। साधना के पथ पर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ जीव अपना लक्ष्य– सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है। साधक के लिये वही सबसे बड़ा आध्यात्मिक वैभव है।

आगमों में विविध प्रसंगों में सिद्धपद का विभिन्न अपेक्षाओं से– कही संक्षेप से, कहीं विस्तार से विवेचन हुआ है। इस अध्याय में उसे विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से उपस्थापित करने का

प्रयास किया गया है, जिससे उस पद के अभिलाषी जिज्ञासु, मुमुक्षुजन सिद्धत्व का स्वरूप-बोध प्राप्त कर उस ओर गतिशील हो सकें।

जैन आगमों के उत्तरवर्ती प्राकृत-संस्कृत ग्रंथों में, आगमों की टीकाओं में सिद्ध पद का बहुमुखी विश्लेषण हुआ है। विद्वान् लेखकों ने सिद्धत्व-विषयक प्रायः सभी सामान्य, विशेष पक्षों का अपने गहन शास्त्राध्ययन के सहारे विवेचन किया है, जो सिद्ध परमात्मा की महिमा का बहुत ही सुंदर, विशद भाव-चित्र उपस्थापित करता है। चतुर्थ अध्याय में उन मनीषियों के विचारों का समुपस्थापन और संदोहन करते हुए सविमर्श चिन्तन प्रस्तुत करने का उपक्रम रहेगा।

चतुर्थ अध्याय

उत्तरवर्ती जैन ग्रन्थों में सिद्ध-पद का निरुपण

जैन-वाङ्मय में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं, जहाँ तात्त्विक, स्वरूपात्मक एवं कारण-कार्यात्मक आदि अनेक अपेक्षाओं से सिद्ध-पद का विविध रूपों में विश्लेषण-विवेचन हुआ है।

जैन धर्म, दर्शन या साधना का परम प्राप्य सिद्ध-पद ही है।[१] अत: उसकी गरिमा और महिमा से जिज्ञासु तथा मुमुक्षुवृंद अवगत रहें, प्रेरित रहें, इसे विद्वान् आचार्यों और ग्रंथकारों ने अपने ध्यान में रखा, क्योंकि साहित्य-सर्जन का लक्ष्य 'स्वांत: सुखाय' होने के साथ-साथ 'सर्वजनोपकाराय' भी होता है। अत एव समस्त लोगों के उपकार हेतु लेखकों ने अपने शास्त्र-ज्ञान तथा अनुभूति के आधार पर जो लिखा, वह वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इस अध्याय में जैन-वाङ्मय के अनुसार समीक्षात्मक दृष्टि से सार-संक्षेप प्रस्तुत करने का प्रयास उद्दिष्ट है।

णमोक्कार-विवेचन

व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र के मंगलाचरण में णमोक्कार मंत्र आया है।[२] नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि[३] ने उसका विशेष विवेचन किया है। पंच परमेष्ठी[४] पदों में से द्वितीय सिद्ध-पद का समीक्षात्मक परिशीलन तथा पर्य्यालोचन प्रस्तुत शोध-प्रबंध का विषय है। अत: जैन धर्म के सर्व सम्मत, सर्वमान्य णमोक्कार मंत्र के पाँचों पदों का पृष्ठभूमि के रूप में विश्लेषण करना अपेक्षित मानते हुए, यहाँ पर आचार्य अभयदेव सूरि द्वारा किया गया विवेचन उपस्थित किया जा रहा है, जो सिद्ध-पद के सूक्ष्म चिंतन, अनुशीलन के प्रसंग में उपयोगी सिद्ध होगा।

णमो अरिहंताणं

आवश्यक-निर्युक्ति में ऐसा विवेचन है कि णमो अरहंताणं पद में नम: शब्द नैपातिक है। उसका अर्थ द्रव्य-संकोच और भाव-संकोच है।

---

१. समरो मंत्र भलो नवकार, पृष्ठ : ४२.
२. (क) आगमदीप, आगम-५, पृष्ठ : ९. (ख) आगमदीप, आगम-४०-४५, पृष्ठ : ११.
३. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग-४, पृष्ठ : १४७-१५७. ४. जैन ज्ञान-कोश, खंड-३, पृष्ठ : ३१.

द्रव्य से दो हाथ, दो पैर, मन और मस्तक द्वारा सुप्रणिधान रूप नमस्कार हो, ऐसा अभिप्राय है। भाव से आत्मा को अरहंत आदि के गुणों में लीन करना है।

नमस्कार किसे हो ? अरहंतों को नमस्कार हो। जो देवों द्वारा रचित अशोक वृक्ष आदि आठ महाप्रतिहार्य रूप पूजनीय हैं, वे 'अरहंत' कहे जाते हैं।[1]

आवश्यक-निर्युक्ति में इस संबंध में लिखा है–

अरहंति वंदण-नमंसणाणि, अरहंति पूयसक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति।।

अर्थात् जो वंदन और नमस्कार के योग्य हैं, पूजनीय हैं, सत्कार के योग्य हैं, सिद्धि-गमन के योग्य हैं, वे जिनेश्वर भगवान् अरिहंत कहलाते हैं। ऐसे अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो।[2]

अरहंताणं पद में प्राकृत-भाषा की शैली के नियमानुसार षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, किंतु वह चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में है, क्योंकि नमः शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति आती है।

'अरहंताणं' शब्द का एक और अर्थ भी निकलता है। 'रहः' का अर्थ एकांत या गुप्त स्थान है। अंतर का अर्थ पहाड़ की गुफा आदि का मध्यभाग है। भगवान् सर्वज्ञ हैं। अतः उनके लिए संसार की सभी वस्तुएं दृष्टि-गम्य हैं। कोई भी वस्तु उनके लिये अज्ञात नहीं है। इसलिये भगवान् 'रहः' और 'अंतर' न होने से– 'अरहोन्तर्' कहे जाते हैं। ऐसे अरहोन्तर् (अरहंत) भगवान् को नमस्कार हो।

रथ शब्द से सब प्रकार का परिग्रह उपलक्षित है। वृद्धावस्था आदि भी उससे उपलक्षित है, उनका जिन्होंने विनाश कर डाला, वे अरथान्त या अरहंत हैं। वे नमस्करणीय हैं। आसक्ति-रहित भी इस शब्द का अर्थ होता है। अरहंत राग का क्षय कर चुके हैं अथवा अत्यधिक रागादि के हेतुभूत सुंदर पदार्थों से भिन्न, असुंदर या विपरीत पदार्थों का संपर्क होने पर भी वीतरागत्व के कारण, जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, वे अरिहंत हैं।

'अरिहंताणं' ऐसा पाठांतर भी है। उसका अर्थ कर्म-रूपी शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। आवश्यक-निर्युक्ति में कहा है कि समस्त जीवों के शत्रु-रूप आठ कर्मों का नाश करने के कारण, वे 'अरिहंत' कहे जाते हैं।[3]

कहीं-कहीं 'अरुहंताणं' पाठ भी है। इसका अर्थ जिनमें मान आदि का रोह– उद्भव नहीं होता, वे अरुहंता हैं, क्योंकि उनके कर्म-बीज का क्षय हो चुका है।

१. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-८९०.
२. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-९२१.
३. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-९२०.

कहा गया है–

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ।।

जैसे बीज के अत्यंत दग्ध होने पर– सर्वथा जल जाने पर अंकुर नहीं निकलता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के सर्वथा दग्ध हो जाने पर, क्षीण होने पर, संसार रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता– जन्म-मरण या आवागमन रूप भव-चक्र में फिर आना नहीं पड़ता।[1]

वीतराग[2] अरिहंत देव भीषण संसार रूप वन में भटक जाने से भयभ्रांत प्राणियों को अनुपम आनंदमय, परमपद मोक्षस्थान रूप नगर का मार्ग दिखलाते हैं, इसलिए वे परम उपकारी हैं। वे नमस्करणीय हैं।

"भौतिक सृष्टि में Law of Gravity कार्य करता है तथा आध्यात्मिक सृष्टि में Law of Grace अपना कार्य करता है। Gratitude द्वारा हम हलके बनते हैं, जिससे हमें प्रभु का Grace ऊपर ले जाता है।

"णमो पद Gratitude (कृतज्ञ-भाव) को सूचित करता है। अरहंताणं पद द्वारा Grace (अनुग्रह) प्राप्त होता है।"[3]

"वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में भगवान् ऋषभ प्रथम तथा भगवान् वर्धमान– महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे।"[4]

"श्री अरिहंत परमात्मा ने जिस निर्मल शासन की स्थापना की, उसकी सेवा करना प्रत्येक आत्मा का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। यह शासन-सेवा, शासन में बताए गए मार्ग की आराधना द्वारा शक्य है।"[5]

"अरिहंत-पद सिद्ध-पद का माध्यम है। आचार्य-पद अरिहंत-पद का माध्यम है तथा उपाध्याय-पद आचार्य-पद का माध्यम है। साधु-पद मूलरूप में सर्वव्यापी है एवं सिद्ध-पद फलरूप में सर्वव्यापी है।"[6]

"'अ' से अरिहंत-सिद्ध, 'आ' से आचार्य, 'उ' से उपाध्याय और 'म' से मुनि अर्थात् पंचपरमेष्ठी

---

१. (क) श्री अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग-१, पृष्ठ : ६१० एवं भाग-३, पृष्ठ : ३३४.
(ख) तत्त्वार्थाधिगम-भाष्य-१०, ७.
२. अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग-५, पृष्ठ : ४९०. (सुक्ति-सुधारस, खण्ड-५, पृष्ठ : ७५)
३. अध्यात्मपत्र-सार, पृष्ठ : १९. ४. मंत्रों की महिमा, पृष्ठ : ५.
५. जैन मार्गनी पिछाण, पृष्ठ : ३. ६. नमस्कार मीमांसा, पृष्ठ : १३१.

ही ओऽम् या जैन शास्त्रों में स्वीकृत 'ॐ' स्वरूप, नवकार का ही बीजरूप है।"[1]

"पंचपरमेष्ठी मंत्र अपूर्वकल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, कामकुंभ तथा कामधेनु के समान सब प्रकार की इच्छाएं पूर्ण करने वाला है। इसलिए यह शिवसुख– मोक्ष प्राप्त करा सकता है।"[2]

"अरिहंत की आराधना उनके अतिशयों से आकर्षित होकर नहीं वरन् उनके वीतराग-भाव से आकर्षित होकर करणीय है।"[3]

"मन्त्रराज के 'अरिहन्ताणं' पद से महिमा-सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि अरिहंताणं पद का संस्कृत पर्याय 'अर्हताम्' होता है। अर्ह– पूजायाम् इस धातु से 'अर्हत्' शब्द बनता है, जो पूजा के योग्य हैं, वे अर्हत् हैं। पूजा का अर्थ तो आकर्षण या महिमा है। अर्थात् महिमा से, विशिष्ट अरिहन्तों के ध्यान से महिमा-सिद्धि प्राप्त होती है।"[4]

"वीतराग अरिहंत के प्रति हृदय के असीम अनुभाव से विषयों के प्रति आसक्ति टूटते देर नहीं लगती। इससे विरति का महान् भाव आ सकता है।"[5]

णमो सिद्धाणं

जिन्होंने जाज्वल्यमान शुक्ल-ध्यान रूप अग्नि से कर्मों को शीघ्र दग्ध कर डाला है, वे विधि से– व्युत्पत्ति की दृष्टि से सिद्ध हैं। अथवा षिधुगतौ– षिधु धातु गति अर्थ में है। उसके अनुसार जो निर्वृत्ति– मुक्तिरुपी नगर में चले गये हैं, वे सिद्ध हैं।

अथवा 'षिध् संराद्धौ' के अनुसार जिन्होंने अपना लक्ष्य सिद्ध कर लिया, वे सिद्ध हैं। अथवा जो आत्म-शास्ता बने हैं, सबके लिये मंगल रूप बने हैं, वे सिद्ध हैं। जो सिद्ध हैं, वे नित्य हैं, क्योंकि उनकी स्थिति का कभी पर्यवसान– अंत नहीं होता, सदैव अपनी स्थिति में– सिद्ध अवस्था में विद्यमान रहते हैं। प्रख्यात, भव्य प्राणियों द्वारा उनके गुण-समूह भलीभाँति परिज्ञात हैं, इसलिए वे सुप्रसिद्ध हैं। कहा है–

जिन्होंने पूर्व-संचित कर्मों को दग्ध कर डाला, जो मुक्तिरूपी प्रासाद– महल के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हैं, जो ख्यात– सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, जो अनुशास्ता– आत्मानुशासक हैं, जो अपना लक्ष्य साध चुके हैं, वे सिद्ध मेरे लिए मंगलप्रद हैं।[6]

---

१. णमोकार सागर स्मारिका, पृष्ठ : C-53.
२. नवकार सिद्धि, पृष्ठ : ६३.
३. अरिहंतने ओळखो, पृष्ठ : १.
४. मंत्र जपो नवकार, पृष्ठ : ५७.
५. नवपद प्रकाश (अरिहंत पद-१), पृष्ठ : १६४.
६. नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : ४.

अष्ट कर्मों के नाश[1] के कारण सिद्धों के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण अविनाशी हैं, जिससे वे भव्य जनों में अत्यंत प्रमोद, आध्यात्मिक आनंद उत्पन्न करने के कारण उनके उपकारक हैं, इसलिए वे वंदनीय हैं।

'मंगलमय नवकार' नामक पुस्तक में कहा गया है–

"सिद्धावस्था आत्मा की चरम तथा परम-अवस्था है। सिद्धावस्था प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा का कोई पर्याय बाकी नहीं रहता। जब तक यह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक बार-बार जन्म और मृत्यु होती रहती है।"[2]

"सिद्ध कभी संसार में नहीं आते, क्योंकि संसार कर्मों के संयोग से होता है तथा कर्म आस्रवों द्वारा बंधते हैं। सिद्ध भगवन्तों के कोई भी आस्रव नहीं है, जिससे उनके कर्म नहीं बंधते, अत: जिसके कर्म का संयोग ही नहीं, उनके फिर संसार– जन्म, मरण कैसे होगा ?"[3]

"कर्म-युक्त आत्मा का कर्म-मुक्त बनना, संसारी आत्मा का सिद्धत्व-युक्त बनना, क्षणभंगुर से शाश्वत बनना, यही सिद्ध-पद है।"[4]

शुद्धात्मा के स्वरूप के संबंध में कहा गया है–

"हे शुद्धात्मन् ! आपका स्वरूप अचिन्त्य है। असंख्य आत्म-प्रदेशों में अनंत गुण प्रकट हुए हैं। एक-एक आत्म-प्रदेश में अनंत गुण होते हुए भी प्रत्येक गुण स्वतंत्र रूप से परिणमित हो रहा है। शुद्ध हुआ आपका आत्म-द्रव्य देहजन्य आकार-रहित अर्थात् निराकार है।"[5]

णमो आयरियाणं

इस पद में 'अ'– उपसर्ग का अर्थ मर्यादापूर्वक है। वे (आचार्य) जिनशासन– जैन सिद्धांतों के

१. (क) णमोकार ग्रंथ, पृष्ठ : ९४. (ख) श्री नवकार महामंत्र, पृष्ठ : ७६.
(ग) णमोकार दोहन, पृष्ठ : ६६. (घ) णमोकार महामंत्र, पृष्ठ : २३.
(ङ) अध्यात्म अमृत, पृष्ठ : २५. (च) णमोकार-महामंत्र (रतनचन्द भारिल्ल), पृष्ठ : २२.
(छ) श्री नवपद आराधना, पृष्ठ : २५-२८. (ज) नमस्कार महामंत्र (उपोद्घात) (श्री भानुविजयजी), पृष्ठ: १३.
(झ) नवकार महामंत्र (नरेन टी. शाह), पृष्ठ : १२, १३.
(ञ) स्वरुप-मंत्र, पृष्ठ : २०, २१.
२. मंगलमय नवकार, पृष्ठ : ७९.
३. नवपद प्रकाश (सिद्ध-पद), पृष्ठ : ११.
४. नवपदहृदयमां परमपद सहजमां, पृष्ठ : २०.
५. अनंत तो आनंद, पृष्ठ : ३९६.

अर्थ– आशय या अभिप्राय के उपदेष्टा हैं। अतः धर्म-तत्त्व की आकांक्षा रखने वालों द्वारा उनकी मर्यादापूर्वक सेवा की जाती है। इस कारण वे आचार्य कहे जाते हैं, कहा है–

जो सूत्र एवं अर्थ के वेत्ता– ज्ञाता हैं, आचार्य के गुणों से समायुक्त हैं, गच्छ– धर्म-आम्नाय के मेढ़िभूत, आलंबन रूप हैं, गण की चिन्ता से विप्रमुक्त हैं, गण की अति सुन्दर व्यवस्था करने के कारण निश्चिंत हैं, अर्थ-सिद्धांतों की वाचना देते हैं, उपदेश देते हैं, वे आचार्य हैं।[1]

जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार– इन पाँच प्रकार के आचारों का मर्यादापूर्वक पालन करते हैं अथवा जो मर्यादापूर्वक चार– विहार या विचरण करते हैं, वे आचार्य हैं, जो ऐसे आचार का स्वयं अनुसरण करते हैं, दूसरों को वैसा करने का उपदेश देते हैं, आचार्य कहे जाते हैं।[2]

आचार्य के व्यक्तित्व का द्योतक एक बहुत ही सुन्दर श्लोक प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है–

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते।।

अर्थात् जो सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों के अर्थ का आचयन– मननपूर्वक संचयन अथवा संग्रहण करते हैं, स्वयं विशुद्ध– निरतिचार आचार का सम्यक् परिपालन करते हैं एवं अपने शिष्य-शिष्याओं तथा भव्य-भक्तों को आचार में स्थापित करते हैं, उनको आचार्य कहा जाता है।"[3]

णमो उवज्झायाणं

उपाध्याय शब्द में 'उप' तथा 'अधि' उपसर्ग एवं ईण् धातु है। इनमें 'उप्' का अर्थ समीप और 'अधि' का अर्थ आधिक्य है। ईण् धातु का अर्थ स्मरण करना या अध्ययन करना, गमन करना है। अर्थात् जिनके पास जाकर जिन-वचनों का, सूत्रों का अधिकता के साथ अध्ययन किया जाता है, ज्ञान प्राप्त किया जाता हैं, उन्हें 'उपाध्याय' कहा जाता है। "सामान्यतः उपाध्याय सूत्रदाता तथा आचार्य अर्थदाता कहे जाते हैं।"[4]

आवश्यक-निर्युक्ति में कहा गया है– जिनेश्वर सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी को विद्वज्जन स्वाध्याय कहते हैं। उनका जो उपदेश करते हैं, सूत्र-वाचना देते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।[5]

---

१. नमस्कार-स्वाध्याय (प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : ४.
२. आवश्यक-निर्युक्ति, पृष्ठ : ५.
३. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग-२, पृष्ठ : ५४.
(ख) नवपद प्रकाश, पृष्ठ : १२३.
४. (क) उपाध्याय-पद, पृष्ठ : ३.
५. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-१००१.

उपधि का अर्थ सन्निधि भी होता है। जिनकी सन्निधि या सान्निध्य में श्रुत का– ज्ञान का लाभ होता है, जिसे सुनकर श्रुत-ज्ञान प्राप्त किया जाता है अथवा इनके पास से उपाधि– सुंदर विशेषण या विशेषताएँ प्राप्त की जाती हैं, वे 'उपाध्याय' कहे जाते हैं। अर्थात् जिनका सान्निध्य ही आय– इष्ट फलों का कारणभूत है, जो इष्ट फलप्रद हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।

मानसिक पीड़ा को आधि कहा जाता है। आधि की आय या लाभ आध्याय होता है। अथवा आधि का अर्थ कुबुद्धि है। कुबुद्धि का लाभ आध्याय कहा जाता है। आध्याय का एक अर्थ दुर्ध्यान या दूषित ध्यान है। आध्याय और अध्याय को जिन्होंने उपहृत– नष्ट कर डाला है, वे उपाध्याय कहे जाते हैं, ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार है।

सुसंप्रदाय, समीचीन– सुप्रतिष्ठित परंपरा से चले आते जिन-वचन का अध्ययन कराकर, भव्यजीवों को जो विनीत बनाकर, उपकार करते हैं, वे उपाध्याय भगवंत नमस्करणीय हैं।

णमो लोए सव्वसाहूणं

ज्ञान आदि द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं अथवा सब प्राणियों के प्रति जो समत्व का भाव रखते हैं– समता की दृष्टि रखते हैं, वे साधु कहे जाते हैं।

आवश्यक-निर्युक्ति के अनुसार जो निर्वाण– मोक्ष के साधक योगों की– तपश्चरण, ध्यान आदि की साधना करते हैं, सब जीवों पर समत्व रखते हैं, वे साधु कहे जाते हैं।[1]

संयम का पालन करने वालों की जो सहायता करते हैं, वे साधु कहे जाते हैं। यह साधु शब्द की व्युत्पत्ति है।

'सर्व साधु' शब्द से सामायिक आदि विशेषणों से युक्त– प्रमत्त, पुलाक आदि अथवा जिन-कल्पिक, प्रतिमा-कल्पिक, परिहार-विशुद्धि-कल्पिक, स्थविर-कल्पिक, स्थित-कल्पिक, स्थितास्थित-कल्पिक, कल्पातीत, प्रत्येक-बुद्ध, स्वयं-बुद्ध, बुद्ध-बोधित, भरत-क्षेत्र आदि क्षेत्रों में तथा सुषम-सुषम आदि कालों में होने वाले सभी प्रकार के साधुओं को समझना चाहिए।

समस्त गुणवान् साधु-वृंद बिना किसी भेद-भाव के नमनीय– नमस्कार करने योग्य हैं, यह बताने के लिए सर्व शब्द का यहाँ ग्रहण किया गया है। इसी न्याय से सर्व शब्द का प्रयोग अर्हत् आदि पदों में भी कर लेना चाहिए।

---

१. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-१०१०.

सार्व– सभी जीवों का जो हित करते हैं, वे 'सार्व-साधु' हैं अथवा जो सार्व– सर्वज्ञ अरिहंत के साधु हैं, बुद्ध आदि के नहीं, इसका यह भाव लेना चाहिए।

जो सभी शुभ योगों को साधते हैं, पालन करते हैं, वे सर्व साधु हैं। अथवा जो जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का पालन करते हैं, अरिहंतों की आराधना करते हैं, अथवा जो दुर्नय को दूर करते हैं, अन्य मतों का निषेध (खंडन), निराकरण करते हैं, वे सर्व साधु या सार्व साधु हैं।

जो श्रव्य– श्रवण करने योग्य वाक्यों में अथवा सव्य– अनुकूल कार्यों में निपुण हैं, वे श्रव्य साधु या सव्य अर्थात् सर्व साधु हैं। उनको नमस्कार है।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' में सर्व शब्द देश-सर्वता का वाचक है। देश-सर्वता के साथ अपरिशेषता के प्रतिपादन हेतु लोए– लोक में या मनुष्य-लोक में ऐसा प्रयोग किया गया है। केवल गच्छ आदि के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। जो सर्वत्र साधु हैं, उन्हें नमस्कार हो। उनकी नमनीयता मोक्ष-मार्ग में चलने वाले जीवों के लिये सहायक होने से उपकारक है। इसलिए वे नमस्कार-योग्य हैं। कहा गया है– असहायक के रूप में संयम का पालन करते हुए, मुझे जो सहायता प्रदान करते हैं, उन सर्व साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।[1]

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है। यदि नमस्कार संक्षेप में करना हो तो सिद्धों और साधु को करना ही उपयुक्त है, क्योंकि अर्हत् आदि साधु से भिन्न नहीं हैं, वे साधुओं में समाविष्ट हो जाते हैं। यदि विस्तार से करना हो तो ऋषभदेव आदि सभी का व्यक्तिशः नामोच्चारण करना चाहिए।

यहाँ ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि केवल साधु को नमस्कार करने से अरिहंत आदि को नमस्कार करने का फल प्राप्त नहीं होता। जैसे केवल मनुष्यों को नमस्कार करने से वह फल नहीं मिल पाता, जो राजा को नमस्कार करने से मिलता है। अर्थात् राजा को तो अलग रूप में ही नमस्कार करने से फल-प्राप्ति होती है। इसलिए अरिहंतों को विशेष रूप से नमस्कार करना चाहिए। व्यक्ति-व्यक्ति का नाम लेकर नमस्कार नहीं किया जाता, क्योंकि ऐसा करना असंभव है।

एक शंका और है, जो सबसे प्रधान होता है, पहले उसे लिया जाता है, तदनुसार सिद्ध भगवान् को पहले नमस्कार करना चाहिए। इसका समाधान करते हुए लिखा है– यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि अर्हतों के उपदेश से ही सिद्ध ज्ञायमान हैं, जाने जाते हैं तथा तीर्थ का– चतुर्विध-धर्म-संघ का प्रवर्तन करने के कारण अरिहंत अत्यंत उपकारी हैं। इसलिए अरिहंत एवं सिद्ध यह क्रम रखा गया है। अर्थात् अरिहंत-पद को पहले रखा गया है।

१ आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-१०१३.

पुन: एक शंका उत्पन्न होती है, यदि ऐसा है तो पहले आचार्यों को नमस्कार करना चाहिए , क्योंकि किसी काल में जब अरिहंत आदि का ज्ञान आचार्यों के उपदेश द्वारा ही होता है। इसलिए वे ही अत्यंत उपकारी हैं।

ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आचार्यों को उपदेश देने का सामर्थ्य अरिहंत के उपदेश से ही प्राप्त होता है। आचार्य स्वतंत्र रूप से उपदेश देते हुए , स्वतंत्र रूप से अर्थों का प्रतिपादन नहीं करते। वास्तव में अरिहंत ही सब अर्थों के ज्ञापक-- बताने वाले हैं। अत: आचार्य आदि को नमस्कार करने के बाद अरिहंतों को नमस्कार करना अनुचित है।

उदाहरणार्थ-- कोई भी मनुष्य परिषद् को प्रणाम कर फिर राजा को प्रणाम करे , ऐसा नहीं होता।[1]

आचार्य अभयदेव सूरि ने णमोक्कार मंत्र के पाँचों पदों की जो व्याख्या की है, वह अत्यंत पांडित्यपूर्ण है। विविध प्रकार से इन पाँचों पदों की व्युत्पत्ति और विश्लेषण करते हुए उन्होंने जो तात्त्विक विवेचन किया है, वह मननीय है।

पाँचो पदों के संदर्भ में द्वितीय सिद्ध-पद का विशेष विवेचन करना प्रस्तुत शोध-ग्रंथ का विषय होने से आगे सिद्ध के संदर्भ में विवेचन, समीक्षात्मक परिशीलन-पर्य्यालोचन किया जाएगा।

सिद्ध-पद का विश्लेषण

महानिशीथ-सूत्र का प्रसंग है-- गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा-- प्रभो ! पंच मंगल णमोक्कार महामंत्र का उपधान कैसे करना चाहिए। इस पर भगवान् ने पंच मंगल णमोक्कार महामंत्र का विश्लेषण करते हुए उनको समाधान दिया।

"जिन्होंने निष्प्रकंप, अचल, शुक्ल-ध्यान आदि द्वारा अचिन्त्य आत्म-शक्ति के सामर्थ्य से पराक्रमपूर्वक योग-निरोध आदि हेतु अत्यंत प्रयत्न कर, परम आनंदरूप, महोत्सवरूप, महाकल्याणरूप मोक्ष सिद्ध कर लिया, वे सिद्ध कहलाते हैं। पुनश्च, आठ प्रकार के कर्मों का क्षय कर जिन्होंने सिद्धत्व प्राप्त किया, वे सिद्ध हैं। उनके बंधे हुए कर्म भस्म हो गए, सर्वथा क्षीण हो गए , इसलिए वे सिद्ध कहलाते हैं। अथवा जिनको समस्त प्रयोजन प्राप्त हो गए , सिद्ध हो गए , समाप्त हो गए या करणीय-- करने योग्य शेष नहीं रहा, वे सिद्ध हैं।[2]

---

१. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-१०२१.
२. श्री महानिशीथ-सूत्र : नमस्कार-स्वाध्याय (प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : ७८.

प्राकृत रचनाओं में सिद्ध-पद

जैसा पूर्व प्रसंगों में वर्णित हुआ है, प्राकृत उत्तर भारत की जन-जन की भाषा के रूप में प्रसृत थी। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उसके भिन्न-भिन्न रूप प्रयोग में आते थे। वे भाषाएं मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी तथा पैशाची आदि के नामों से विख्यात थीं।

यह विवेचन किया जा चुका है कि भगवान् महावीर ने अर्द्धमागधी में धर्म-देशना दी, जो अंग-सूत्रों के रूप में प्राप्त है।

आगमों के पश्चात् जैन आचार्य, मुनि एवं विद्वान् प्राकृत में साहित्य रचना करते रहे। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचित 'सन्मति तर्क' प्राकृत का एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसमें उन्होंने नैयायिक दृष्टि से जैन सिद्धांतों का विवेचन किया है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत में इस शैली में रचा गया यह अद्वितीय ग्रंथ है।

जैसा उल्लेख किया गया है, अर्द्धमागधी आगमों पर प्राकृत में निर्युक्तियों और भाष्यों के रूप में व्याख्यामूलक साहित्य रचा गया, जो पद्यात्मक है। आगे चलकर चूर्णियों के रूप में एक ऐसे साहित्य का सर्जन हुआ, जिसमें प्राकृत और संस्कृत के मिश्रित रूप का प्रयोग हुआ।

इन व्याख्यामूलक रचनाओं के अतिरिक्त और भी अनेकविध प्राकृत ग्रन्थ रचे गए। प्राकृत ग्रंथों में णमोक्कार मंत्र के अंतर्गत सिद्ध-पद का उल्लेख और विवेचन हुआ है। यहाँ उस संबध में संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति

प्राकृत में विद्वानों ने सिद्ध-पद की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति की है। इनमें से कतिपय का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है–

१. 'निरुवसुखाणि सिद्धाणि एसिं ति सिद्धा:।'

जिन्होंने निरुपम– परमानंद स्वरूप, कल्याणमय, अनुपम सुख प्राप्त कर लिया है, साध लिया है, वे सिद्ध हैं।

२. 'अट्ठप्पयारकम्मक्खएण सिद्धा सिद्धिं एसिं ति सिद्धा:।'

आठ प्रकार के कर्मों का क्षय कर जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की, वे सिद्ध हैं।

३. 'सियं-बद्धं कम्मं, झायं-भस्मीभूयमेसिमिति सिद्धा:।'

दीर्घकाल से बंधे हुए आठ प्रकार के कर्म, जिनके भस्म हो गए हैं, वे सिद्ध हैं।

४. 'सिद्धे निट्ठिए सयलयपओयणजाए एएसिमिति सिद्धा: ।'

जिनके सब प्रकार के प्रयोजन सिद्ध– निश्चित, परिपूर्ण हो गए हैं, वे सिद्ध हैं।

सिद्ध शब्द षिध् धातु से बना है। इस धातु का एक अर्थ गति है। सिद्ध मुक्तिरूपी नगर में चले गए हैं, जहाँ से वे कभी वापस नहीं लौटते। इस प्रकार धातु का यह अर्थ संगत है। सिध् धातु का दूसरा अर्थ निष्ठितता है। सिद्धों ने अपने सभी प्रयोजन निष्ठित– संपन्न, परिपूर्ण कर लिए हैं। उनके लिए कुछ करना अवशेष नहीं है। इसलिए वे सिद्ध हैं ।

इस धातु का तीसरा अभिप्राय शास्त्र और मांगल्य है। शास्त्र का तात्पर्य शासन या अनुशासन है। सिद्ध अनुशास्ता हैं तथा वे सर्वथा मंगलरूप हैं, अत एव वे सिद्ध हैं।[1]

आवश्यक-निर्युक्ति में सिद्ध-पद

आवश्यक-सूत्र पर आचार्य श्री भद्रबाहु द्वारा विरचित निर्युक्ति के अंतर्गत नमस्कार महामंत्र की व्याख्या के संदर्भ में सिद्ध-पद का जो विवेचन हुआ है, इसका संक्षेप में सारांश यह है–

सिद्ध शब्द षिधु– साध् अथवा षिध्– इन धातुओं से बना है। जिन्होंने इन धातुओं द्वारा सूचित गुण पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिए हैं, वे सिद्ध कहे गए हैं। उनमें नाम-सिद्ध, स्थापना-सिद्ध और द्रव्य-सिद्ध आदि हैं।

इस प्रसंग में सिद्धों के विविध भेदों का विस्तार से निरूपण किया गया है, जिनमें विद्या-सिद्ध, मंत्र-सिद्ध, योग-सिद्ध, कर्म-क्षय-सिद्ध आदि की विशेष व्याख्या है।[2]

इस विवेचन-क्रम में अनेक उदाहरण, दृष्टांत दिये गए हैं, जो उत्तरकालीन साहित्य में विविध प्रसंगों में प्राप्त होते हैं।

नाम-सिद्ध, स्थापना-सिद्ध और द्रव्य-सिद्ध को समझने के लिये नाम, स्थापना, आदि निक्षेपों पर यहाँ चिंतन करना आवश्यक है।

किसी पदार्थ या व्यक्ति का बोध कराने हेतु उसका भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अपेक्षा से नामकरण किया जाता है, उसे निक्षेप कहा जाता है।

तत्त्वार्थ-सूत्र में निक्षेप के भेद बतलाते हुए लिखा है– 'नामस्थापना द्रव्यभावतस्तन्न्यास: ।'

१. त्रैलोक्य दीपक महामंत्राधिराज, पृष्ठ : १७
२. आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा-९२७-९८६(व्याख्या), पृष्ठ : १३४-१५०.

नाम-निक्षेप, स्थापना-निक्षेप, द्रव्य-निक्षेप तथा भाव-निक्षेप के रूप में निक्षेप चार प्रकार के हैं।[1]

१. नाम-निक्षेप

जो अर्थ व्युत्पत्ति द्वारा सिद्ध नहीं है, केवल माता, पिता या अन्य व्यक्तियों के द्वारा दिये गए संकेत से सिद्ध होता है, वह नाम-निक्षेप है। जैसे किसी व्यक्ति में सिद्धत्व का कोई गुण नहीं है, किंतु माता-पिता ने उसका नाम-सिद्ध रखा है। वह बोलने में सिद्ध कहा जाता है, पर वास्तव में वह सिद्ध नहीं है, उसे नाम-सिद्ध कहा जाता है।

२. स्थापना-निक्षेप

वास्तविक वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति, आकृति या चित्र को अथवा जिसमें उस वस्तु का आरोप किया गया हो, उसको स्थापना-निक्षेप कहा जाता है। जैसे सिद्ध का आकार या प्रतीक स्थापना-निक्षेप है। वह सिद्ध नहीं है, उसमें मात्र सिद्धत्व का आरोप किया गया है।

३, ४. द्रव्य-निक्षेप, भाव-निक्षेप

तीसरा द्रव्य-निक्षेप और चौथा भाव-निक्षेप है। प्रस्तुत प्रसंग में द्रव्य-सिद्ध शब्द भाव-निक्षेप के अर्थ में प्रयुक्त है। जिस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति या अर्थ यथावत् रूप में घटित होता हो, जो गुणनिष्पन्न हो, वह भाव-निक्षेप है। इसके अनुसार द्रव्य-सिद्ध वे हैं, जो गुण द्वारा संपूर्णतः सिद्धत्व प्राप्त कर चुके हैं, जो वास्तव में सिद्ध हैं। उन्हें द्रव्य-सिद्ध कहने का अभिप्राय यह हैं कि सामान्यतः उनका द्रव्य रूप में अस्तित्व है।

आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी नमस्कार-निर्युक्ति में सिद्ध-भूमि के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं– सिद्ध-भूमि का वर्ण निर्मल पानी के जैसा है। जल-बिंदू, हिम-बर्फ, गोदुग्ध तथा मुक्ताहार– मोतियों के हार के वर्ण जैसा है। उत्तान– तने हुए छत्र के समान वह संस्थित है। जिनवरों ने ऐसा प्रतिपादित किया है।

सिद्ध-भूमि की परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास योजन है। परिधि का यह परिमाण यहाँ स्थूल-दृष्टि से बतलाया गया है। सूक्ष्म-दृष्टि से संबद्ध शास्त्रों में वह यथास्थान वर्णित है।

सिद्ध-शिला के मध्यभाग में आठ योजन की बहुलता, सघनता– मोटापन तथा अंतिम भाग में

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-१, सूत्र : ५.

अंगुली के असंख्यातवें भाग जितनी तनुता– पतलापन है।

सीता– ईषद् प्राग्भारा भूमि के ऊपर एक योजन में जो अंतिम कोष है, उसके छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना है– वहाँ सिद्ध अवस्थित हैं, जो तीन सौ तेंतीस धनुष का तीसरा भाग– कोष के छठे भाग जितना होता है। सिद्धों की उत्कृष्ट स्थिति उतनी होती है।

पासिल्ल– एक पार्श्व, उत्तान– तने हुए, टिके हुए, आधे झुके हुए या तिरछे रहे हुए अथवा बैठे हुए, आत्मा जिस रूप में देह त्याग करती है, उसी स्थिति में सिद्धत्व निष्पन्न होता है।

इस भव से दूसरे भव में, स्वर्ग आदि में जाता हुआ जीव भिन्न आकार प्राप्त करता है, किंतु सिद्ध के तो कर्म नहीं है, इसलिये उनमें पूर्ववत् ही आकार होता है। तात्पर्य यह है कि अपवर्ग में (मोक्ष में) सिद्ध जीव अपने पूर्व भव के आकार में ही अवगाहना लिए स्थित रहते हैं।

इस भव को छोड़ते हुए सिद्धों का जो संस्थान होता है, उन्हीं प्रदेशों से युक्त संस्थान सिद्ध अवस्था में होता है। अंतिम समय में संस्थान इतना लम्बा या छोटा होता है, उससे तीन भाग कम सिद्धों की अवगाहना बतलाई गई है। वह अवगाहना उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष लम्बी, मध्य चार भाग विभिन्न प्रमाण-युक्त तथा जघन्य– कम से कम दो हाथ प्रमाण होती है। अंतिम भव में जो संस्थान होता है, सिद्ध अवस्था में उससे एक तृतीयांश कम क्यों कहा गया है ?

शरीर के छिद्र या पोल के भाग १/३ हैं। वे प्रदेशों से संकुचित हो जाते हैं। इससे सिद्धों की अवगाहना उतनी रहती है।

जो पाँच सौ धनुष प्रमाण-युक्त शरीर धारक जीव होते हैं, उनकी सिद्धावस्था में अवगाहना तीन सौ तेंतीस धनुष और धनुष के तीसरे भाग जितनी होती है। जिनका शरीर सात हाथ का होता है, सिद्धावस्था में उनकी अवगाहना चार हाथ तथा सोलह अंगुल होती है।

सिद्धों की जघन्य— कम से कम अवगाहना एक हाथ और आठ आंगुल की होती है। सिद्ध जरा-मृत्यु से मुक्त होते हैं। इसलिए उनका कोई लौकिक संस्थान नही होता।

जहाँ एक सिद्ध होते हैं, वहाँ भव का– जन्म-मरण का क्षय कर मुक्ति प्राप्त किए हुए अनंत सिद्ध भी अवस्थित हैं। वे परस्पर अवगाह– युक्त होकर, लोक के अंत में– लोकाग्र में संस्थित हैं।[1]

विशेष

जहाँ अवगाहना की दृष्टि से एक सिद्ध द्वारा जितना स्थान आवृत है, वहाँ अन्य सिद्ध कैसे जा

१. णमोक्कारणिज्जुत्ती, गाथा-७५-७९, नमस्कार-स्वाध्याय (प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : १४५

पायेंगे ? यह शंका उठना स्वाभाविक है।

यथा प्रसंग संकेत किया जाता रहा है– आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। उनमे संकोच और विस्तार की असाधारण क्षमता है। विस्तार किया जाए तो सारे लोक को आवृत्त कर सकते हैं। एक सिद्ध की अवगाहना के क्षेत्र में अनेक सिद्धों के समाविष्ट होने का आशय यह है कि उनके आत्मप्रदेश संकुचित– संकीर्ण हो जाते हैं, अतः उस क्षेत्र में स्थित होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

जैन दर्शन में आत्मा के असंख्य प्रदेशात्मक स्वरूप का जो प्रतिपादन किया गया है, वह न्याय और युक्ति की कसौटी पर खरा उतरता है। इससे आत्मा का अपने कर्मों के अनुरूप प्राप्त छोटे या बड़े भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों में व्यापित्व सहज ही सिद्ध हो जाता है।

तप-सिद्ध और कर्म-क्षय-सिद्ध के लक्षण

नमस्कार-निर्युक्ति में 'तप-सिद्ध' और 'कर्म-सिद्ध' के लक्षण बताते हुए कहा है कि जो पुरुष बाह्य और आभ्यंतर-तप से क्लेश अनुभव नहीं करते, वे दृढ़प्रहारी मुनि की तरह तप-सिद्ध कहलाते हैं।

जिन्होंने कर्म के समग्र अंशों का नाश कर डाला, वे 'कर्म-क्षय-सिद्ध' कहलाते हैं।

दीर्घ स्थिति-युक्त बद्ध अष्ट-विध कर्मों को ध्यानरूपी अग्नि द्वारा भस्मीभूत– क्षीण कर डालने से सिद्धत्व प्राप्त होता है।

वेदनीय कर्म अधिक हैं। आयुष्य कर्म स्वल्प हैं, यह जानकर केवली भगवान् समुद्घात द्वारा समग्र कर्मों का क्षय कर डालते हैं। शरीर में रहते हुए आत्म-प्रदेशों को दण्ड, कपाट, मंथान तथा अंतररूप में पूर्ण करते हुए भाषा-योग का निरोध करके शैलेशी-अवस्था प्राप्त करते हुए सिद्ध हो जाते हैं।

जैसे भीगी हुई साड़ी फैलाने पर शीघ्र सूख जाती है, उसी प्रकार प्रयत्न विशेष द्वारा कर्म रूपी जल अल्प समय में सूख जाता है। जिनेश्वर प्रभु द्वारा समुद्घात का यही अभिप्राय है।

जैसे अलाबु– तुंबिका, एरंड-फल, अग्नि-धूम तथा धनुष से छूटा हुआ तीर– इन सबकी पूर्व प्रयोग के कारण गति होती है, उसी प्रकार सिद्धों की गति या गमन होता है।

कर्मों से मुक्त जीव एक क्षण में उच्च लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाता है। जैसे तुंबिका के ऊपर आठ बार मिट्टी का लेप किया हो और उसे पानी में डाल दिया जाए तो वह नीचे चली जाती है, किंतु ज्यों-ज्यों मिट्टी का लेप हटता जाए , वह पानी के स्तर से ऊँची आ जाती है। उसी प्रकार सिद्धों की गति को समझें। जैसे एरंड का फल बंधन के छिन्न हो जाने पर ऊँची गति करता है– ऊपर की दिशा

में उछलता है, उसी प्रकार सिद्धों की गति है। अग्नि और धुआँ अपने स्वाभाविक परिणाम से जिस प्रकार ऊपर उठते हैं, सिद्धों की भी वैसे ही गति होती है।

सिद्धों की गति के अवरोध और स्थिति के संबंध में प्रश्न किया जाता है– सिद्ध आत्मा कहाँ प्रतिहत होते हैं, रुकते हैं ? वे कहाँ प्रतिस्थित होते हैं ? वे कहाँ शरीर छोड़कर, कहाँ जाकर सिद्धि प्राप्त करते है ? इन प्रश्नों का समाधान इस प्रकार है–

सिद्ध होने वाले जीव अलोक में प्रतिहत हो जाते हैं, रुक जाते हैं, वे अलोक में नहीं जा पाते। वे लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होते हैं। यहाँ शरीर छोड़कर वहाँ जाकर सिद्धि पा लेते हैं।

अलोक में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय नहीं हैं। केवल आकाशास्तिकाय है। वहाँ सिद्ध प्रतिहत होते हैं। वे लोकाकाश में अप्रतिहत हैं। वे लोक के अग्रभाग– पंचास्तिकाय रूप लोक के सर्वोच्च स्थान में प्रतिष्ठत हैं।

इसका यह तात्पर्य है कि वहाँ से सिद्ध फिर आते नहीं। अढ़ाई द्वीप– समुद्रमय लोक में शरीर को सर्वथा छोड़कर वे लोक के अग्रभाग में अस्पृशद्-गति से जाकर सिद्ध हो जाते हैं, स्थिर हो जाते हैं।

इषद्-प्राग्भारा नामक सिद्ध-भूमि से, जिसका दूसरा नाम सीता है, एक योजन दूर लोक का अंतभाग है। सिद्ध-भूमि सर्वार्थ-सिद्ध देवभूमि से बारह योजन दूर है।[1]

सिद्धत्व-आराधना के संदर्भ में रत्नत्रय का निरूपण

सुप्रसिद्ध दिगंबर आचार्य श्री देवसेन ने प्राकृत गाथाओं में तत्त्वसार नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें जैन सिद्धांतों का सार रूप में विवेचन है। तत्त्वसार पर आचार्य श्री सकलकीर्ति की संस्कृत में टीका है। आचार्य देवसेन ने तत्त्वसार में रत्नत्रय का विश्लेषण करते हुए लिखा है— मोक्ष या सिद्धत्व- प्राप्ति का मार्ग, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की पृष्ठभूमि पर अवस्थित है। ये आध्यात्मिक दृष्टि से रत्न– सर्वाधिक मूल्यवान् कहे गए हैं। ज्ञान और आचार की विविध भूमिकाएं इनके आधार पर ही विकसित हुई हैं।

वहाँ रत्नत्रय का स्वरूप बतलाते हुए कहा है, जो कोई योगी, साधक सचेतन और शुद्ध-भाव में स्थित आत्मा को ध्याता है, आत्मा का चिंतन करता है, वह इस लोक में निश्चित दृष्टि से दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहा जाता है।

---

१. नमस्कार-निर्युक्ति, गाथा-८८७-९९२ : नमस्कार-स्वाध्याय (प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : १११-१५२.

आत्मा को वह किस प्रकार, कैसे जानता है ? इसके समाधान में बतलाया गया है— सिद्ध, बुद्ध, एकचित्त, चमत्कार मात्र– चिन्मय-स्वरूप, आत्म-तत्त्व के सम्यक्-श्रद्धान, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-अनुभव रूप चारित्र युक्त– सुन्दर स्वभाव रूप से आत्मा का अनुभव करना, अपने आपको शुद्ध रत्नत्रय रूप जानने की पद्धति है, तदनुरूप जानता है।

वह आत्मा कैसी है ? इसका समाधान यह है कि यह आत्मा निरंजन और सचेतन है। जो आत्मा अंजनरूप कालुष्य से रहित होती है, उसे निरंजन कहा जाता है। जो शुद्धोपयोग मूलक स्वरूप से उत्पन्न चेतना के साथ अवस्थित है, उसे सचेतन आत्मा कहा जाता है।

सचेतन शब्द यहाँ स्थूल चेतना के अर्थ में न आकर शुद्ध उपयोगमय चैतन्य के अर्थ में प्रस्तुत हुआ है।

वह आत्मा को शुद्ध-भावस्वरूप समझता है। विशुद्ध निश्चय-नय की दृष्टि से वह आत्मा शुद्ध कही जाती है, जो मिथ्यात्व, राग आदि दोषों से परिवर्जित है।

भाव का अभिप्राय समझाते हुए बतलाया है कि यह शब्द संस्कृत की 'भू'-धातु से बना है। भू-धातु सत्ता के अर्थ में है। तदनुसार जो सत्‌रूप में होता है, वह भाव होता है। वह अपने यथार्थ रूप में शुद्ध-भाव कहा जाता है। उस शुद्ध-भाव में जो टिका रहता है उसे शुद्ध भावत्व कहा जाता है।

जो इस प्रकार आत्मा की भावना करता है। आत्मभाव में रमण करता है, आत्मा की आराधना एवं उपासना करता है। वह ज्ञानी पुरुष है। उसी को निश्चित रूप में दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रात होता है। परम योगीश्वर वीतराग प्रभु ने यह प्रतिपादित किया है।

उपर्युक्त तत्त्व को समझकर आसन्न-भव्यजन, जिसमें भव्यत्व सन्निकटस्थ है, जिसमें मोक्ष की अभिलाषा है, रुचिपूर्वक अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभावन, चिंतन करे। शुद्ध आत्मभाव में रमण करे।

रत्नत्रय का यह जो विवेचन हुआ है, उसका आधार शुद्ध-नय है। उसके अनुसार आत्मभाव की ही प्रमुखता है। शुद्धोपयोग द्वारा आत्म-परिणमन से सम्यक्त्व सिद्ध होता है, तत्संबंधी सम्यक्-ज्ञान निष्पन्न होता है। पुनश्च, आत्म-पराक्रम द्वारा चरण या चारित्र की दिशा में, व्रतमय जीवन-पथ पर अग्रसर होने की चेतना जागरित होती है, जो क्रमशः क्रियान्विति प्राप्त करती है, वही सम्यक् चारित्र है।[1]

---

१ तत्त्वसार, पर्व-४४, ४५, पृष्ठ : ९४-९७.

सिद्धत्व-प्राप्ति का विश्लेषण

आचार्य देवसेन ने सिद्धत्व-प्राप्ति के संबंध में प्रतिपादन करते हुए लिखा है–

सर्वज्ञ– सयोग केवली– स्थानवर्ती मुनि अवशिष्ट रहे आयुष्य, नाम, गोत्र एवं वेदनीय– इन चार अघाति कर्मों का नाश कर सिद्धत्व-पद प्राप्त कर लेता है। यह वह पद है, जो पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ। इसलिये वह अभूतपूर्व है।

आगे ग्रंथकार सिद्ध-पद की विशेषता, पूज्यता आदि पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं एवं उनके अतिशय ज्ञान एवं अव्याबाध सुख का विश्लेषण करते हैं, उनके गुणों का प्रतिपादन करते हैं।

उनका ज्ञान करण और क्रम से रहित होता है। जिसके द्वारा कार्य किया जाता है, उसे करण कहते है। क्रमशः करने की विधि को क्रम कहा जाता है। सिद्ध के ज्ञान में करण और क्रम का माध्यम नहीं होता। सिद्ध एक ही साथ सब कुछ जानते हैं।

मूर्त्त– पौदगलिक द्रव्य, अमूर्त्त– जीव-द्रव्य आदि सभी को जानते हैं। द्रव्यार्थिक-नय से जीव अमूर्त्त है, उसके अतिरिक्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल– ये चार द्रव्य सर्वथा अमूर्त्त हैं। सिद्ध इन सबको देखते हैं। मूर्त्त और अमूर्त्त सभी द्रव्य अनंत पर्याय और अनंत गुणयुक्त हैं। सिद्ध भगवान् समस्त मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों को एवं उनके अनंत गुणों और पर्यायों को एक ही साथ जानते हैं तथा देखते हैं। उनके ज्ञान की यह विशिष्टता है।

अंत में ग्रंथकार भव्यजनों को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि इस तत्त्व को जानकर वे लोकाग्र भाग में पहुँचने का प्रयत्न करें। सिद्धत्व की साधना में संलग्न बनें।[1]

उक्त वर्णन के पश्चात् ग्रंथकार धर्म-द्रव्य का, सिद्धों की चरम शरीरता का– जन्म-मरण-विमुक्तता आदि का विवेचन करते हैं।[2]

रत्नत्रयरूप आत्मभाव : सिद्धत्व की भूमिका

तत्त्वसार में वर्णन किया गया है कि अपने आत्म स्वभाव का वेदन– अनुभवन करता हुआ जो जीव परभाव का त्याग कर निश्चल-चित्त होता है– चित्त में स्थिरता लाता है, वही जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप है।

---

१. तत्त्वसार, षष्ठ-पर्व, गाथा-६७-७०, पृष्ठ : १२९-१३३.
२. तत्त्वसार, गाथा-७१, ७२, पृष्ठ : १३४-१३६.

परभावों के परित्याग का यह तात्पर्य है कि वह रागादि पर परिणामों को, जो स्वाभाविक नहीं है, वैभाविक हैं, छोड़ देता है, निश्चयनय के अनुसार वह रत्नत्रय-स्वरूप मोक्ष-मार्ग में परिणत हो जाता है।

निश्चय-नय पर आश्रित जीव में– प्राणी में जो आत्मा है, वही ज्ञान है, जो ज्ञान है, दर्शन है, वही चरण– चारित्र है और वही शुद्ध चेतना है।

जब राग एवं द्वेषात्मक भाव विनष्ट हो जाते हैं, तब अत्यंत शुद्ध आत्म-स्वरूप तथा निज भाव उत्पन्न होता है। वैसा होने पर योग-शक्ति से योगियों में परम आनंद विलसित– स्फुरित होता है।[1]

एकत्वसप्तति में योग का लक्षण बताते हुए लिखा है– साम्य-समता, स्वास्थ्य-स्वस्थता, समाधि, योग– चित्त-निरोध एवं शुद्धोपयोग– ये सब योग-वाचक हैं।[2]

अनुचिन्तन

ग्रंथकार का ऐसा अभिप्राय है कि शुद्ध निश्चय-नय के अनुसार आत्म-स्वरूप की अनुभूति, प्रतीति सम्यक् दर्शन है। ऐसे पुरुषों को वे योगी की संज्ञा देते हैं। योगी आत्म-ध्यान में निरत रहता है। उसके समस्त विकल्प मिटने लगते हैं।

इस प्रकार आचार्य देवसेन ने सम्यक् दर्शन को अध्यात्म-योग के साथ या आत्मावबोध– आत्मानुभूति के साथ जोड़ा है। ऐसे सम्यक् दर्शन की पृष्ठभूमि पर सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र विकसित होते हैं।

"दर्शन रहित ज्ञान अज्ञान कहा जाता है। दर्शन का तात्पर्य यहाँ सम्यक्, यथार्थ दर्शन है। सम्यक् दर्शन को आत्मा की आँख और मुक्ति की पाँख कहा गया है।"[3]

श्री विजयरामचन्द्र सूरीश्वर ने सम्यक् दृष्टि जीव की अन्तर्वृत्ति की निर्मलता का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि सम्यक् दृष्टि द्वारा गृहस्थावस्था में पापाचरण होते हुए भी बहुत ही स्वल्प कर्मबन्ध होता है, जिससे उसके कर्म का निर्ध्वंसत्त्व नहीं होता अर्थात् उसके कर्मों का निकाचित् बन्ध नहीं होता। ऐसा बन्ध होता है, जो तपश्चरण द्वारा ध्वस्त– निर्जीर्ण किया जा सकता है।[4]

---

१. तत्त्वसार, पर्व-५७, ५८, पृष्ठ : ११६-११९.
२. एकत्वसप्तति, श्लोक-२५, पृष्ठ : ११७.
३. अनुप्रेक्षानां अजवाळा, पृष्ठ : ११.
४. श्री जिनभक्तिनो महोत्सव, पृष्ठ : ३८.

श्री कानजी स्वामी आत्मप्रसिद्धि में समयसार का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर सम्यक्-दर्शन के संबंध में प्रतिपादित करते हैं–

"सम्यक्-दर्शन होने से समस्त गुण एक साथ पूर्ण विकसित नहीं हो जाते, इसलिए गुण-भेद हैं, परन्तु वस्तुरूप से समस्त गुण अभेद रूप हैं, इसलिए समस्त गुणों का अंश तो एक ही साथ विकसित हो जाता है।"[१]

आचार्य नानेश ने मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है— "मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों दो प्रकार की नींव की ईंटें हैं। मिथ्यात्व संसार के नश्वर सुखाभासों का महल खड़ा करता है तो सम्यक्त्व की नींव पर मोक्ष का महल खड़ा होता है, जो एक भव्य एवं विकासशील आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है।"[२]

"मुक्ति का मंगलमय मार्ग सम्यक् साधना से प्राप्त होता है। सम्यक्-साधना के लिए सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-दर्शन की आवश्यकता होती है। सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-दर्शन की अनुपस्थिति में व्यक्ति धर्म-तत्त्व की पहचान नहीं कर सकता।"[३]

सिद्धों के गुण

सिद्ध णमोक्कारावलिका में सिद्धों के एक सौ आठ गुणों का वर्णन है।

वहाँ सिद्धों को नमस्कार करते हुए प्रतिपादन किया गया है– जिन्होंने तीर्थंकरों के तीर्थ में रहते हुए सिद्धि प्राप्त की तथा तीर्थ के बिना एवं तीर्थ से बाहर रहते हुए जाति-स्मरण आदि ज्ञान द्वारा प्रतिबोध प्राप्त कर सिद्धि प्राप्त की, उन तीर्थ-सिद्ध, अतीर्थ-सिद्ध भगवान् को नमस्कार है।[४]

इसी प्रकार तीर्थ-सिद्ध, अतीर्थ-सिद्ध, तीर्थंकर-सिद्ध, अतीर्थंकर-सिद्ध, स्वयं-बुद्ध-सिद्ध, प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध, बुद्ध-बोधित-सिद्ध, स्त्रीलिंग-सिद्ध, पुरुषलिंग-सिद्ध, नपुंसकलिंग-सिद्ध, स्वलिंग-सिद्ध, अन्यलिंग-सिद्ध, गृहस्थलिंग-सिद्ध, एक-सिद्ध, अनेक-सिद्ध को नमस्कार है।

ज्ञान, पद, तपश्चरण, लब्धि आदि पूर्ण अवस्थाओं में रहते हुए जो क्रमशः राग-द्वेष का क्षय कर वीतराग बन जाते हैं। अष्ट-कर्म-क्षय कर सिद्धत्व पा लेते हैं, उन पूर्ववर्ती अवस्थाओं का उल्लेख करते हुए नमस्कार किया गया है। जैसे परमावधि ज्ञानी, मनः पर्यवज्ञानी, आचार्य पदवर्ती, उपाध्याय पदवर्ती,

१. आत्मप्रसिद्धि, पृष्ठ : ३६. २. आत्मसमीक्षण, पृष्ठ : ११६.
३. अर्चना की उज्ज्वल ज्योति, पृष्ठ : ७४.
४. सिद्ध णमोक्कारावलिका, गाथा-१-१०८ : नमस्कार-स्वाध्याय(प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : १९४-२०२.

अंतकृत् केवली, प्रतिमाधारी मुनि, जंघाचरण-सिद्धि-युक्त मुनि, विद्याचरण-सिद्धि-संपन्न मुनि, आमर्षौषधि-लब्धि आदि विभिन्न सिद्धियोग से तथा विभिन्न लब्धियों से युक्त एवं विभिन्न स्थितियों में विद्यमान मुनिवृंद का इनमें समावेश है।

सिद्धिचंद्रगणीकृत व्याख्या

सिद्धिचंद्र गणी ने 'सप्तस्मरण' की वृत्ति के प्रारंभ में णमोक्कार महामंत्र की व्याख्या की है।

जैसा कि उन्होंने उल्लेख किया है, वे वाचक-शिरोमणि भानुचंद्र के शिष्य थे, जो दिल्ली के बादशाह अकबर और जहाँगीर के दरबार में सम्मानित विद्वान् थे। उन्होंने णमोक्कार-महामंत्र की व्याख्या के अंतर्गत सिद्ध-पद का विवेचन करते हुए लिखा है–

णमो सिद्धाणं- जिन्होंने प्रभूत काल से बंधे हुए आठ कर्मों को शुक्ल-ध्यान की अग्नि से भस्म कर डाला, उन सिद्धों को नमस्कार है।[1]

श्री हर्षकीर्ति सूरि द्वारा सिद्ध-पद-निरूपण

श्री हर्षकीर्ति सूरि ने जो कि नागपुरीय तपोगच्छ के आचार्य थे, णमोक्कार मंत्र की व्याख्या के अंतर्गत सिद्ध-पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है–

'षिञ् बन्धने'– (पाणिनीय धातुपाठ १४७८) के अनुसार जिन्होंने पूर्वकाल में बंधे हुए आठ प्रकार के कर्मों को शुक्ल-ध्यान की अग्नि द्वारा जला डाला, दग्ध या भस्म कर डाला, वे सिद्ध हैं। यह सिद्ध का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है। अथवा जिन्होंने 'सिद्धिगति' नामक स्थान को प्राप्त कर लिया, वे सिद्ध हैं। अर्थात् जिन्होंने अपने लक्ष्य को भलीभाँति साधित कर लिया, मोक्ष प्राप्त कर लिया, जो जन्म-मरण से सर्वथा छूट गए , इस प्रकार अपना संपूर्ण लक्ष्य प्राप्त कर लिया, वे सिद्ध हैं। उनको नमस्कार है।[2]

संस्कृत में जैन मनीषियों द्वारा ग्रंथ-रचना

जैसा पहले विवेचन हुआ है, जैन धर्म का सर्वाधिक प्राचीन साहित्य प्राकृत-भाषा में है, जो आगमों के रूप में आज हमें उपलब्ध है। भगवान् महावीर के समय में प्राकृत लोक-भाषा थी। पश्चिमोत्तर, उत्तर एवं पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में लोगों की बोल-चाल की भाषा के रूप में प्रयुक्त थी।

---

१. नमस्कार-स्वाध्याय (प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : १०.
२. नमस्कार-स्वाध्याय (प्राकृत-विभाग), पृष्ठ : १२.

भगवान् महावीर के पश्चात् उत्तरवर्ती आचार्यों ने आगमों की परंपरा को यथावत् कायम रखते हुए जैन धर्म का उद्योत किया। इस महान् अभियान मे जैन मुनियों का सबसे अधिक योगदान रहा है।

जैन दर्शन ने 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'– के अनुसार, क्रिया या उच्च चारित्र पर बल देते हुए ज्ञानाराधना को भी बहुत महत्त्व दिया। मुनिगण अपने धर्म-सिद्धान्तों का तो अध्ययन करते ही थे, अन्यान्य धर्मों और दर्शनों का भी गहन ज्ञान अर्जित करते थे।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऐसा करना उनके लिए आवश्यक था ? क्या अन्य धर्मों के शास्त्र, जो मिथ्या-श्रुत के अंतर्गत स्वीकृत हैं, अध्ययन कर वे भूल नहीं करतें थे ?

इसका जैन दर्शन की दृष्टि से बड़ा ही सुंदर समाधान है। कहा गया है कि सम्यक्त्वी द्वारा परिग्रहीत मिथ्या-श्रुत भी सम्यक्श्रुत हो जाता है। मिथ्यात्वी द्वारा परिग्रहीत सम्यक्-श्रुत भी मिथ्या-श्रुत हो जाता है। अतः साधु-साध्वियों द्वारा अन्य शास्त्रों के पठन-पाठन में काई बाधा नहीं आती। यही कारण है कि स्व-पर-समयज्ञ अर्थात् अपने सिद्धांतों और अन्य धर्मों के सिद्धांतों के जानने वाले मुनिगण का बड़ा महत्त्व था। इसका परिणाम यह हुआ कि साधु-साध्वी विभिन्न विषयों के अध्ययन में जुटे। विद्याराधना में बहुमुखी विकास किया।

संस्कृत-भाषा और प्राकृत-भाषा का परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। संस्कृत शास्त्रीय दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। सहस्राब्दियों के साहित्यिक प्रयोग के कारण इस भाषा के शब्दों में ऐसा वैशिष्ट्य है कि यह गहन विषयों को बड़े ही विशद रूप में प्रगट करने में समर्थ है। साथ ही साथ अल्पतम शब्दावली में विस्तीर्ण अर्थ को व्यक्त करने की इसमें अत्यधिक क्षमता है। व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत एक परिष्कृत और परिनिष्ठित भाषा है।

संस्कृत के अध्ययन की दिशा में जैन मुनियों का विशिष्ट ध्यान आकर्षित हुआ। अच्छे-अच्छे सुयोग्य विद्वान् बने। उन्होंने यह चिंतन किया कि संस्कृत में रचिते ग्रंथ विशेष रूप से विद्वद्भोग्य होंगे। विद्वज्जन उनके अध्ययन में विशेष रूचि लेंगे। यदि एक भी विद्वान् उनकी प्रेरणा से सद्बोधि की दिशा में प्रेरित हो तो यह बहुत बड़ा लाभ होगा। जैसे एक दीपक से सहस्रों दीपक जलं सकते हैं, वैसे ही एक विद्वान या ज्ञानी से सत्प्रेरित होकर अनेकानेक सुलभबोधिजन लाभान्वित हो सकते हैं। इस चिंतन के परिणामस्वरूप उन्होंने विविध विधाओं में बहुत से ग्रंथों की रचनाएं कीं, जो संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है।

व्याकरण, काव्य, कोष, नीति, ज्योतिष एवं आयुर्वेद आदि पर, विशेष रूप से आध्यात्मिक विषयों

पर उन्होंने अनेकानेक रचनाएँ कीं, जो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। गद्य में भी जो लिखा, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत के विविध ग्रंथों में अनेक प्रसंगों पर णमोक्कार मंत्र का विवेचन हुआ है। वहाँ अन्य पदों की तरह सिद्ध-पद की व्याख्या प्राप्त होती है। जिन-जिन ग्रंथों में सिद्ध-विषयक वर्णन आया है, यहाँ उसे संक्षेप में उपस्थित किया जाएगा।

तत्त्वार्थ-सूत्र में सिद्ध की व्याख्या

आचार्य उमास्वाति मोक्ष की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि बंध के हेतुओं का अभाव होने से तथा निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है। समस्त कर्मों का क्षय ही मोक्ष है।[1]

मोक्ष या सिद्धत्व प्राप्ति के अन्य कारणों का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं– क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन के सद्भाव, औपशमिक आदि भाव तथा अभव्यत्व के अभाव से मोक्ष प्रगट होता है। अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व आदि सिद्धत्व का स्वरूप है। यह औपशमिक आदि भावों का अभाव होने पर व्यक्त होता है, क्योंकि औपशमिक आदि भाव सर्वथा क्षय-युक्त नहीं होते।

उपशम का अर्थ एक बार शांत होना है। जो भाव एक बार शांत होता है या कुछ अवधि के लिए शांत होता है, वह समय पाकर फिर उभर जाता है। इसलिए ऐसे भावों का जब अभाव हो जाता है, समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

जब संपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है, मुक्त जीव तुरंत ऊर्ध्वगति करता है तथा लोक के अन्त तक– अग्रभाग तक ऊपर चला जाता है।[2]

सिद्धत्वोन्मुख ऊर्ध्वगमन : हेतु

जब समग्र कर्म क्षीण हो जाते हैं, जीव मुक्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है तब उसकी ऊर्ध्वगति क्यों होती है? यह एक प्रश्न है। आचार्य उमास्वाति इसके कारणों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं– पूर्वप्रयोग, संग का अभाव तथा बंधन का टूटना– इन कारणों से मुक्त जीव गति के परिणाम से युक्त होकर ऊपर जाता है।[3]

---

१ तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-१०, सूत्र-२, ३, पृष्ठ : २३५.
२. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-१०, सूत्र-४, ५, पृष्ठ : २३६, २३७.
३. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-१०, सूत्र-६, पृष्ठ : २३८.

विमर्श

पूर्व-प्रयोग का अभिप्राय यह है कि जीवद्रव्य का स्वभाव पुद्गल-द्रव्य की भांति गतिशील है। दोनों में इतना ही अंतर है कि पुद्गल स्वभाव से ही नीचे की ओर गति करता है तथा जीव ऊपर की ओर गति करता है।

जीव अन्य प्रतिबंधक द्रव्य के साथ या बंधन के कारण गति नहीं करता। जब कर्मों का संग या कर्मों के बंधन टूट जाता हैं, कोई प्रतिबंधक हेतु नहीं रहता, तब मुक्त-जीव को अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का अवसर मिलता है। वह पूर्व-प्रयोग के निमित्त से ऐसा करता है। पूर्व-प्रयोग का अभिप्राय यह है कि पूर्वबद्ध कर्म के छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त वेग या आवेश के कारण वह ऊर्ध्वगति करता है। जैसे कुंभकार चाक को घुमाकर अपने हाथ और डंडे को हटा लेता है तो भी वह चाक पहले से प्राप्त वेग के कारण घूमता रहता है। वैसे ही कर्म-मुक्त जीव भी पूर्व-कर्म से प्राप्त वेग के कारण स्वभावानुसार ऊपर की ओर जाता है।

संग के अभाव का अर्थ यह है कि कर्म जीव के साथ मिले हुए थे। जब उनका अभाव हो जाता है तो जीव अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। कर्मों के संग के अभाव का अर्थ– कर्म-बंधन का टूटना है। बंधन के कारण ही जीव गति करने में स्वतंत्र नहीं है। बंधन टूटने पर गति की बाधकता मिट जाती है।

सिद्धों की विशेषताएं

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध-बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या तथा अल्प-बहुत्व– इनके आधार पर सिद्धों की विशेषताओं का विचार किया जाता है।[1]

विशेष

सिद्धों के स्वरूप को विशेष रूप से जानने हेतु उनसे संबंधित बारह पक्षों का निर्देश किया गया है। यहाँ प्रत्येक पक्ष के आधार पर सिद्धों के स्वरूप पर चिंतन अपेक्षित है।

गति, लिंग आदि सांसारिक भाव हैं। ये भाव सिद्धों में नहीं होते, इसलिए वास्तव में उनमें कोई विशेष भेद घटित नहीं होता। फिर भी अतीत की दृष्टि से उनमें भी भेद की कल्पना की जा सकती है।

---

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-१०, सूत्र-७, पृष्ठ : २३८.

क्षेत्र

क्षेत्र का अर्थ स्थान है। वर्तमान भाव की दृष्टि से सभी मुक्त-जीवों का स्थान एक ही क्षेत्र है। अर्थात् वे आत्म-प्रदेश या आकाश-प्रदेश हैं। भूतकाल की दृष्टि से इनके सिद्ध होने का स्थान एक नहीं है, क्योंकि जन्म की दृष्टि से पन्द्रह कर्म-भूमि में से कोई किसी एक कर्म-भूमि से सिद्ध होते हैं। कोई किसी दूसरी से तथा संहरण की दृष्टि से समग्र मनुष्य क्षेत्र से सिद्ध हो सकते हैं।

काल

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने का कोई लौकिक कालचक्र नहीं है, क्योंकि एक ही समय में सिद्ध होते हैं। भूतकाल की दृष्टि से, जन्म की अपेक्षा से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी आदि में जन्मे हुए जीव सिद्ध होते हैं। संहरण की दृष्टि से उक्त सभी कालों में सिद्ध होते हैं।

गति

वर्तमान की दृष्टि से सिद्धगति में ही समस्त सिद्ध हैं। भूतकाल की अपेक्षा से यदि अंतिम भव को दृष्टि में रखकर विचार किया जाए तो मनुष्य गति से तथा अंतिम से पहले के भवों को लेकर विचार करें तो चारों गति से जीव सिद्ध होते हैं।

लिंग

लिंग का अर्थ वेद या चिह्न है। वेद का तात्पर्य पुरुषत्व, स्त्रीत्व तथा नपुंसकत्व का संवेदन है। वर्तमान की दृष्टि से सिद्ध अवेद– लिंग-त्रय-शून्य हैं। भूतकाल की दृष्टि से पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक– इन तीन वेदों से युक्त हो सकते हैं।

एक दूसरा आशय यह भी है कि वर्तमान की दृष्टि से सिद्ध अलिंग ही हैं। भूत की दृष्टि से यदि भाव-लिंग या आंतरिक योग्यता का विचार करें तो स्व-लिंग, वीतरागता से ही सिद्ध होते हैं।

यदि द्रव्य-लिंग की दृष्टि से विचार किया जाय तो स्व-लिंग– जैन-लिंग, जैन-वेश, पर-लिंग– जैनतेर-वेष तथा गृहस्थ-लिंग– गृहीवेश इन तीनों में सिद्ध होते हैं।

तीर्थ

कोई तीर्थंकर रूप में कोई अतीर्थंकर रूप में सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। अतीर्थंकरों में कोई तीर्थ प्रवर्तित हो, तब होते हैं और कोई तीर्थ प्रवर्त्तमान न हो तब भी होते हैं।

चारित्र

वर्तमान की अपेक्षा से सिद्ध-जीव न तो चारित्री ही होते है और न अचारित्री ही। भूतकाल की दृष्टि से यदि अंतिम समय को लेकर विचार किया जाय तो यथाख्यात चारित्री ही सिद्ध होते हैं तथा उसके पूर्व समय को लें तो तीन सामायिक, सूक्ष्म-संपराय और यथाख्यात अथवा छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्म-संपराय, एवं यथाख्यात, चार– सामायिक, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय एवं यथाख्यात और पांच– सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय तथा यथाख्यात चारित्रों से सिद्ध होते हैं।

प्रत्येक-बुद्ध-बोधित

प्रत्येक-बुद्ध-बोधित और बुद्ध-बोधित दोनों सिद्ध होते हैं। जो किसी के उपदेश के बिना अपनी ज्ञान शक्ति से सिद्ध होते है, वे स्वयं-बुद्ध हैं। अरिहंत तथा अरिहंत-भिन्न ये दो प्रकार के हैं। जो अरिहंतों से भिन्न होते हैं, वे दोनों प्रत्येक-बोधित या प्रत्येक-बुद्ध कहलाते हैं। जो दूसरे ज्ञानी पुरुष से उपदेश ग्रहण कर सिद्धत्व प्राप्त करते हैं, वे बुद्ध-बोधित कहलाते हैं। इनमें ऐसे होते है जो दूसरों को बोध कराते हैं और कई केवल आत्म-कल्याण साधते हैं।

ज्ञान

वर्तमान की अपेक्षा से केवल ज्ञानी ही सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। भूतकाल की अपेक्षा से दो– मति, श्रुत, तीन– मति, श्रुत, अवधि, अथवा मति, श्रुत, मनः पर्याय, तथा चार– मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञान वाले भी सिद्धत्व प्राप्त करते हैं।

अवगाहना

वर्तमान की अपेक्षा से जिस शरीरावगाहना से सिद्ध हुए हों, सिद्धावस्था में उसी का २/३ अवगाहना होती है।

अंतर

अंतर का अर्थ व्यवधान है। किसी एक जीव के सिद्ध होने के बाद तुरंत ही जब दूसरा जीव सिद्ध होता है तो उसे निरंतर-सिद्ध कहा जाता है। जब किसी के सिद्धत्व प्राप्त करने के बाद अमुक समय व्यतीत होने पर कोई सिद्ध होता है तो वह सान्तर-सिद्ध कहलाता है। दोनों के सिद्धत्व पाने का अंतर कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छः महिने है।

संख्या

एक समय में कम से कम एक और अधिक से अधिक १०८ सिद्ध होते हैं।

अल्प-बहुत्व

क्षेत्र आदि जिन ग्यारह विषयों का विचार किया गया है, उनके संबंध में संभावित भेदों की पारस्परिक न्यूनता और अधिकता पर विचार करना अल्प-बहुत्व है। जैसे क्षेत्र-सिद्धों में संहरण-सिद्धों की अपेक्षा जन्मसिद्ध-संख्यात गुण अधिक होते हैं। ऊर्ध्वलोक-सिद्ध सबसे कम होते हैं।

अधोलोक-सिद्ध उनसे संख्यात-गुण अधिक होते हैं तथा तिर्यक् लोक-सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणा अधिक होते हैं। समुद्र-सिद्ध सबसे कम होते हैं और द्वीप-सिद्ध उनसे संख्यात गुण अधिक होते हैं। इसी तरह काल आदि प्रत्येक विषय के साथ अल्प-बहुत्व का विचार किया जाता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में मोक्ष-मार्ग

आचार्य उमास्वाति रचित तत्त्वार्थ-सूत्र पर भट्ट अकलंकदेव विरचित तत्त्वार्थ राजवार्तिक नामक सुप्रसिद्ध संस्कृत टीका है। तत्त्वार्थ के प्रथम सूत्र– 'सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'– इसका विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं कि सांसारिक आत्माओं के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही अंतिम और सबसे मुख्य है। अतः उसे प्राप्त करने के लिये मोक्ष-मार्ग का उपदेश वांछित है।

एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब मोक्ष ही अंतिम, निरुपम, सर्वश्रेष्ठ, प्रधान पुरुषार्थ है, तब उसी का उपदेश किया जाना चाहिए। उसके मार्ग का उपदेश पहले कैसे किया जाए ?

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए वार्तिककार लिखते हैं— मोक्ष के विषय में प्रायः सभी सैद्धांतिकों का एक ही मंतव्य है। सभी दुःखों का सर्वथा निवृत्त हो जाना मोक्ष है, किंतु मोक्ष को प्राप्त करने के जो मार्ग हैं, उनमें उनके मंतव्य भिन्न-भिन्न हैं, परस्पर विवाद हैं।

उदाहरणार्थ विभिन्न दिशाओं से जो यात्री पाटलिपुत्र जा रहे हों, उनका पाटलिपुत्र नगर के अस्तित्व में कोई विवाद या मतभेद नहीं होता, किंतु वहाँ जाने के मार्गों में विवाद होता है। सब अपने-अपने दृष्टिकोण के रूप में मार्ग स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार जीवन के सर्वोच्च, परम लक्ष्य– मोक्ष में विभिन्न सैद्धांतिकों का विवाद या मतभेद नहीं है, किंतु उस ओर ले जाने वाले मार्ग में विभिन्न मत हैं।

कुछ सैद्धांतिकों का मत है कि ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। यहाँ टीकाकार का संकेत केवल अद्वैत वेदांत की ओर है, जिसको आद्यशंकर ने प्रतिष्ठित किया था। तदनुसार 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः'– अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

कतिपय मतवादी ज्ञान और वैराग्य से मुक्ति मानते हैं। वैराग्य का आशय विषयों से विरक्तता है। यहाँ ग्रंथकार का अभिप्राय पातंजल-योग में आस्थाशील साधकों, योगियों की ओर है जो विरक्ति प्रधान होते हैं।

कई सैद्धांतिक केवल क्रिया से ही मोक्ष मानते हैं। इनकी ऐसी मान्यता है कि नित्य-कर्म करने से ही मोक्ष हो जाता है।

बौद्धों के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान– इन पाँच स्कंधों का निरोध निर्वाण है।

सांख्य दर्शन ऐसा मानता है कि जब प्रकृति और पुरुष में भेद-विज्ञान या भिन्नत्व की प्रतीति हो जाती है, तब पुरुष की शुद्ध चैतन्य-मात्र-स्वरूप में आत्म संप्रतिष्ठा हो जाती है, वही मोक्ष है। सांख्य-दर्शन में पुरुष आत्मा के लिए प्रयुक्त है।

न्याय दर्शन के अनुसार बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार– ये आत्मा के विशेष गुण हैं। इनका उच्छेद मोक्ष है।

प्राय: सभी मतवादी सामान्यत: इस बात में एकमत हैं कि कर्मों के बंधन का नाश कर आत्मा द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त किया जाना मोक्ष है।

प्रश्न उपस्थित होता है, मोक्ष जब प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, तब उसके मार्ग की खोज करने से क्या प्रयोजन है ?

यह सही है कि मोक्ष प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता, किंतु उसको अनुमान-प्रमाण से जाना जा सकता है।

एक उदाहरण है, जैसे घट-यंत्र– रँहट का परिभ्रमण उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का भ्रमण उससे जुते हुए बैल के घूमने पर निर्भर है। यदि बैल का घूमना रुक जाए तो धुरे का घूमना बंद हो जाता है। उसी प्रकार कर्म का उदय बैल के समान है, चार गतियाँ धुरे के समान है। उसी से शारीरिक, मानसिक वेदना रूप रँहट घूमता है। जब कर्मोदय की निवृत्ति हो जाती है तो चतुर्गतिमय चक्र रुक जाता है। उसके अवरुद्ध हो जाने से संसार रूपी घट-यंत्र का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है। वही मोक्ष है।

इस प्रकार इस सामान्य अनुमान द्वारा मोक्ष सिद्ध हो जाता है। सभी शिष्टवादी– अनुशासनशील जन मोक्ष के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं तथा उसके मार्ग की गवेषणा करते हैं।

जैसे सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि पहले प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, किंतु आगम, ज्योतिष आदि शास्त्रों द्वारा उनका पहले ही ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार मोक्ष भी आगम-प्रमाण से सिद्ध है। यदि प्रत्यक्षतया सिद्ध न होने के कारण मोक्ष को स्वीकार न किया जाए तो अन्यमतवादियों के अपने सिद्धांत के भी वह विरूद्ध होगा, क्योंकि वे भी किसी न किसी ऐसे पदार्थ को स्वीकार करते हैं, जो अप्रत्यक्ष है– अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है।

पुनश्च, एक प्रश्न उपस्थित होता है, बंध से छूटना जब मोक्ष है, तो पहले बंध के कारणों का विवेचन किया जाना चाहिए। वैसा करने से ही मोक्ष के कारणों का विश्लेषण सुसंगत या उपयुक्त हो सकता है।

इसका समाधान यह है कि आगे अष्टम अध्याय में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग का वर्णन है, जो बंध के कारण हैं। यह सही है कि बंध पहले और मोक्ष बाद में होता है, इसलिये पहले बंध के हेतुओं का उल्लेख करना उचित था फिर भी आश्वासन हेतु मोक्ष-मार्ग का निर्देश किया गया है।

एक उदाहरण है– कारावास में पड़ा हुआ व्यक्ति, यदि उसको बंध के कारण बतलाए जाएं तो वह सुनकर भयभीत हो जाता है, निराश हो जाता है। यदि उसे कारावास से मुक्त होने का उपाय बतलाया जाए तो वह आशान्वित हो जाता है, उसी प्रकार मोक्ष के कारणों को सुनकर जिज्ञासु, मुमक्षु व्यक्ति के मन में आशा और आश्वासन उत्पन्न होते हैं। इसलिए मोक्ष के कारणों को ही पहले निर्देशित किया गया है, जो तत्त्वार्थ के पहले सूत्र में आया है।[1]

मुक्त पुरुषों का अनाकार है : अभाव नहीं

अन्यमतवादियों की ओर से एक शंका की जाती है कि जब मुक्तात्माओं का कोई आकार नहीं हैं, वे अमूर्त्त हैं तो उनका अस्तित्व ही कैसे माना जाए ?

इसका समाधान देते हुए ग्रंथकार लिखते हैं कि मुक्तात्मा जब अपने अंतिम शरीर का परित्याग करती है, तब अतीत शरीर के १/३ न्यून आकार– विस्तार लिए होती है। इसलिए उनका अभाव नहीं किया जा सकता।

लोकाकाश के समान असंख्य प्रेदशयुक्त जीव शरीरानुविधायी होता है। अर्थात् मुक्त जीव के प्रदेशों का विस्तार उस द्वारा छोड़े हुए अंतिम शरीर के ढाँचे के अनुरूप होता है। इसलिये शरीर के न रहने पर भी प्रदेशों को विस्तार या फैलाव का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि नाम-कर्म के कारण आत्मा

१. तत्त्वार्थ-राजवार्तिक, पृष्ठ : १-३.

के प्रदेशों का प्राप्त शरीर के अनुसार छोटे-बड़े रूप में संकोच और विस्तार होता है। यहाँ मुक्तात्मा कर्म रहित हो जाती है, इसलिए कर्मजनित परिवर्तन, परिसर्पण या विस्तार वहाँ कदापि नहीं होता।[1]

सिद्धों का अव्यय, अविनश्वर सुख

सिद्धों का सुख अव्यय– अविनश्वर कहा गया है। वह सांसारिक विषयों से अतीत या निरपेक्ष है। अर्थात् वहाँ उनकी जरा भी अपेक्षा नहीं रहती। वह अत्यंत अव्याबाध– बाधा रहित है।

एक शंका उपस्थित की जाती है। मुक्त जीव तो अशरीरी हैं तथा उसके आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं फिर उसे सुख कैसे होगा ? क्यों होगा ?

वार्तिककार उसका समाधान करते हुए लिखते हैं कि सुख शब्द का प्रयोग चार अर्थों में होता है (१) विषय, वेदना का अभाव (२) विपाक (३) कर्मफल एवं (४) मोक्ष।

'अग्नि सुखप्रद है, वायु सुखकर है।' इत्यादि में सुख शब्द विषय के अर्थ में हैं। जब रोग आदि दुःख मिट जाते हैं, तब मनुष्य कहता है– मैं सुखी हूँ। यहाँ सुख शब्द अभाव के अर्थ में है। जब पुण्य कर्मों का विपाक– पकना हो जाता है, वे परिपक्व हो जाते हैं, फल देने की स्थिति में आ जाते हैं, तब इन्द्रियों के विषयों द्वारा सुख अनुभव होता है।

इस प्रकार विपाक और कर्मफल में सुख का प्रयोग हेाता है। जब कर्म और क्लेशों से छुटकारा हो जाता है तथा मोक्ष के अनुपम सुख का अनुभव होता है, वहाँ सुख शब्द मोक्ष के अर्थ में है।

कुछ लोग सुख को सुषुप्तावस्था के सदृश मानते हैं। जब व्यक्ति नींद में होता है तो उसे कोई दुःख नहीं होता। यह मान्यता यथार्थ नहीं है, क्योंकि सुषुप्त अवस्था तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जनित श्रम, क्लम– परिश्रांति या थकावट, भय, रूग्णता, काम आदि निमित्तों से पैदा होती है तथा मोह विकारमय है। उससे जो सुख माना जाता है, उस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है, वह सुख तो इन्हीं विकारों का एक रूप है।

मोक्ष का सुख निरंतर सुखानुभव रूप परिणमन किए होता है। समग्र संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिस द्वारा उस सुख को उपमित किया जा सके। वह सर्वथा अनुपम, उपमा रहित है।

अनुमान लिंग या चिह्न से और उपमान प्रसिद्धि से उत्पन्न होता है। यह मोक्ष का सुख किसी लिंग से– बाहरी चिह्न से अनुमित नहीं होता। उसका कोई ऐसा बाह्य रूप नहीं है, जिसे देखकर उसका अनुमान किया जा सके तथा ऐसा कोई प्रसिद्ध पदार्थ नहीं है, जिसकी उपमा देकर उसे व्यक्त

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, सूत्र-४, पृष्ठ : ६४३.

किया जा सके। वह सुख अरिहंत भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग प्रभु को प्रत्यक्ष है। वे उसे साक्षात् जानते-देखते हैं। छद्मस्थ जन, असर्वज्ञ पुरुष उन्हीं के वचन को प्रमाण मानकर मोक्ष के सुख का अस्तित्व जानते हैं।

यह ग्रंथ का अंतिम प्रशस्तिमूलक विवेचन है, जिसमें मोक्ष-सुख का विश्लेषण किया गया है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष-सुख प्राप्त करने का सत्पथ है।[1]

प्रशमरति प्रकरण में सिद्ध-पद का निरूपण

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण के दूसरे श्लोक में पंचपद प्रणमन के अंतर्गत जो सिद्ध-पद का कथन किया है, उसकी टीका करते हुए श्री हरिभद्रसूरि ने लिखा है–

निष्ठित सिद्ध वे हैं, जिनके समस्त प्रयोजन परिसंपन्न या परिपूर्ण हो चुके हैं, कर्मों के विमोक्ष से सर्वथा छूट जाने से जो लोक के शिखर पर– लोकाग्र भाग में अध्यासित– अवस्थित हैं, जो आत्म-सुख में तन्मय हैं तथा सादि और अनंत हैं।

सादि-अनंत का यह अभिप्राय है कि उनकी आदि तो है– संसार में उनका आगमन हुआ, उन्होंने साधना की, किन्तु विमुक्त हो जाने के बाद उनका कभी अंत नहीं होगा। वे शाश्वत काल तक अर्थात् सर्वदा सिद्धत्व में संस्थित रहेंगे।[2]

रत्नत्रय द्वारा मोक्ष की सिद्धि

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप संपदा मोक्ष का साधन है। उनमें से किसी एक का भी अभाव होने पर मोक्ष-मार्ग सिद्ध नहीं होता । अर्थात् जब वे तीनों समवेत रूप में प्राप्त होते हैं, तभी मोक्ष सिद्ध होता है।

"जैसे पृथ्वी पर तीन रत्न माने जाते हैं– जल, अन्न और सुभाषित। यदि एक की भी कमी हो तो जीवन का आनंद खंडित हो जाता है, उसी प्रकार अध्यात्म की धरती पर इन तीनों में से एक की भी अपूर्णता आनंद की संपूर्णता में बाधक है।[3]"

इन तीनों में पूर्ववर्ती दो अर्थात् सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के होने पर भी चारित्र भजनीय

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, प्रशस्ति श्लोक-२५-३३, पृष्ठ : ६५०.
२. प्रशमरति प्रकरण, मंगलाचरण-२, पृष्ठ : ३.
३. जैन दर्शन और कबीर- एक तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ : ११७.

है, क्योंकि तब भी उसका प्राप्त होना निश्चित नहीं है। वह होता भी है और नहीं भी होता ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन साहित्य में दो शब्द– नियमा और भजना प्रसिद्ध हैं। जहाँ निश्चित रूप से, नियमित रूप से कोई बात होती है, उसे नियमा कहा जाता है तथा जहाँ किसी और बात के होने में निश्चितता नहीं होती है, होने या न होने के रूप में दोनों विकल्प रहते हैं, उसे भजना कहा जाता है।

इसका यह आशय है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान के होने पर भी सम्यक् चारित्र की प्राप्ति निश्चित नहीं है, किन्तु चारित्र लाभ के होने पर पूर्ववर्ती दोनों– सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन निश्चित रूप से सिद्ध होते ही हैं।[1]

यह स्थिति ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं मोहनीय कर्मों के संपूर्णत: अपगम से अधिगत होती है, जिसकी फल निष्पत्ति मुक्ति के रूप में अभिव्यक्ति पाती है।

तत्त्वत: बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।[2]

सिद्धत्व प्राप्ति का क्रम

त्रयोदश गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली मानसिक, वाचिक और कायिक योग का निरोध करते हैं। उसके 'सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति' नामक तृतीय शुक्ल-ध्यान होता है। उसके पश्चात् वह 'विगतक्रिय' नामक शुक्ल-ध्यान को प्राप्त करता है। उस ध्यान के पश्चात् दूसरा कोई ध्यान उसके नहीं होता। सब योग निरूद्ध हो जाते हैं।

योग निरोध के पश्चात् अर्थात् मन-योग, वचन-योग तथा श्वासोच्छ्वासमय क्रिया से निवृत्त होकर केवली प्रभु अपरिमित– अपार, असीम कर्म-निर्जरा करते हैं। कर्मों को निर्जीर्ण– नष्ट कर डालते हैं और संसार रूपी सागर से पार हो जाते हैं। व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति-ध्यान के समय वे शैलेशी-अवस्था प्राप्त करते हैं। व्युपरत-क्रिया-ध्यान का यह तात्पर्य है कि उस समय समस्त क्रियाएँ विशेष रूप से– संपूर्णतया उपरत या परिसमाप्त हो जाती हैं। परिणामस्वरूप वे शैलेष– मेरू पर्वत के सदृश स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। वह परमशांत अवस्था है।

संयम-बल एवं पराक्रम द्वारा लेश्या-रहित भाव से प्राप्त शैलेषी अवस्था का समय पाँच ह्रस्व अक्षरों अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण जितना है। शैलेषी अवस्था के इन पाँच समयों की पंक्ति में

१. प्रशमरति प्रकरण, अधिकार-१५, गाथा-२३०, २३१, पृष्ठ : १६२.
२. जैन सिद्धान्त कोश, भाग-३, पृष्ठ : ३२२.

प्रत्येक समय में वे अवशिष्ट कर्म-प्रकृतियों को उत्तरोत्तर असंख्यात-गुण क्षीण करते जाते हैं।

प्रति समय असंख्यात गुणपूर्वक कर्मांशों को क्षीण करते-करते जब अंतिम समय में पहुँचते हैं तब अघाति कर्मों की त्रयोदश प्रकृतियों के असंख्यात गुण-कर्मांश अवशिष्ट रह जाते हैं। उन सबको एक साथ क्षीण कर डालते हैं। वैसा होते ही समस्त अघाति कर्म, समूल नष्ट हो जाते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और कार्मण शरीर का, जो सब गतियों के योग्य है, संसार का मूल कारण है, सर्वथा त्याग कर उन तीनों से विमुक्त जीव स्पर्श-रहित, ऋजु-श्रेणी को प्राप्त कर विग्रह-रहित, एक समय में निर्बाध रूप में ऊर्ध्वगमन कर लोकाग्र भाग में संस्थित हो जाता है।

जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि से विमुक्त आत्मा, विमल, निर्मल सिद्धि-क्षेत्र में सिद्ध-पद प्राप्त कर लेती है।

आचार्य उमास्वाति आगे उनकी अवस्थिति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं– विमुक्त जीव अधोगमन नहीं करता, नीचे नहीं जाता। उसमें गुरुत्व अर्थात् भारीपन का अभाव है, क्योंकि उसमें गुरुत्व हो ही नहीं सकता, वह अमूर्त्त है, भौतिक आकार से रहित है।

जिस तरह जहाज अपनी सीमा से आगे नहीं जा पाते, उसी तरह सिद्ध लोकांत के आगे नहीं जा सकते, क्योंकि वहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव है। धर्मास्तिकाय के बिना गति नहीं होती। वह गति का निरपेक्ष हेतु है।

मुक्त-जीव में योग-क्रिया का अभाव है। मानसिक, वाचिक कायिक योग से– तद्गत् क्रियाओं से वह रहित है, इसलिए उसकी तिर्यक्-गति भी नहीं हो सकती। अत एव मुक्त– सिद्ध जीव की गति लोक के अंत तक ही होती है।

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है, यदि मुक्त– मोक्ष-प्राप्त जीव के क्रिया नहीं है तो वह ऊर्ध्वगमन कैसे करता है ? उसका समाधान देते हुए कहा गया है कि यह गति पूर्व-प्रयोग से सिद्ध है। पहले जो गति थी, वह गति नहीं रही, किंतु तद्गत सूक्ष्म तीव्रता के कारण ऐसा होता है।

बंधे हुए कर्मों के सर्वथा उच्छिन्न हो जाने से, सिद्ध जीव शरीर और मन से रहित हैं। शारीरीक एवं मानसिक दुःख शरीर और मन की वृत्ति की विद्यमानता के कारण होते हैं। सिद्ध– मुक्त जीव इनका अभाव होने से शारीरिक एंव मानसिक दुःखों से रहित हैं। स्वभावतः वे सिद्धत्व या मुक्ति के सुख या आनंद में परिणत रहते हैं।[1]

---

१. प्रशमरति प्रकरण, अधिकार-२१, कारिका-२८२, २८३, २८६-२९५.

प्रशमरति प्रकरण के विवेचन में श्री भद्रगुप्तविजय लिखते हैं– समस्त कर्मों का आत्मा से वियोग होना मोक्ष है। मोक्ष के दो भेद हैं– १. देश-विमोक्ष तथा २. सर्व-विमोक्ष।

श्रावक अमुक अंश में कर्म-क्षय करते हैं, अत: उनका देश-विमोक्ष में अंतर्भाव होता है।

साधु सब कर्मों का क्षय करते हैं, इसलिए उनका सर्व-विमोक्ष में अंतर्भाव होता है।[1]

सिद्ध-पद का विश्लेषण

षट्खंडागम के प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में णमोक्कार मंत्र का उल्लेख हुआ है। षट्खंडागम पर धवला टीका के महान् रचनाकार आचार्य वीरसेन ने पंचपरमेष्ठि-पद की व्याख्या के अंतर्गत सिद्ध-पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है–

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य तथा सिद्धसाध्य– ये शब्द एकार्थ वाचक हैं।

निष्ठित का अर्थ है, जिन्होंने समग्र कर्मों का निराकरण कर दिया है, वे सिद्ध-पद वाच्य हैं। इसी प्रकार निष्पन्न का अर्थ है, जो निष्पाद्य या निष्पन्न करने योग्य था, उसे जो निष्पन्न कर चुके हैं। कृतकृत्य– जो भी करने योग्य कार्य थे, उनको उन्होंने कर लिया है। उसी प्रकार जो सिद्ध-साध्य है– जो साधने योग्य था, उसे जिन्होंने साध लिया है।

इन सभी पर्यायवाची शब्दों में सिद्धत्व का स्वरूप व्याख्यायित हुआ है।

वे बाह्य पदार्थों से निरपेक्ष, अनंत, अनुपम, सहज, अप्रतिपक्ष– प्रतिपक्षरहित, निर्बाध सुख को प्राप्त कर चुके हैं। निरुपलेप– उपलेप या कर्मावरण से विरहित हैं। अविचल, सुस्थिर स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। समस्त अवगुणों से विवर्जित हैं। नि:शेष– समस्त गुणों के निधान हैं, अपने चरम देह, मुक्त होते समय के अंतिम शरीर से कुछ कम दैहिक विस्तार युक्त हैं।

कोष से– तूणीर से निकले हुए बाण के सदृश, वे संगरहित, आशक्ति-शून्य हैं।

कहा है– सिद्ध भगवान् अष्टविध कर्मों से सर्वथा पृथक् हैं, विमुक्त हैं। समग्र दु:खों से छूट जाने के कारण वे परमशांतिमय हैं, निरंजन, नित्य तथा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व इन आठ गुणों से समायुक्त हैं। जो करणीय था, उसे संपन्न कर चुके हैं।[2]

---

१. प्रशमरति प्रकरण, भाग-२, सूत्र ८.
२. षट्खंडागम, पुस्तक-१, खण्ड-१, भाग-१, पृष्ठ : २०१.

धवला में मंगलाचरण : सिद्ध-नमन

षट्खंडागम के जीवस्थान के प्रारंभ में टीकाकार आचार्य वीरसेन सिद्ध भगवान् के नमन हेतु पाठकों को प्रेरित करते हैं। वे लिखते हैं–

अनंत-स्वरूप– जिनके स्वरूप का कभी अंत नहीं होता, अनिंद्रिय– इन्द्रिय विवर्जित, अनुपम– उपमा रहित, आत्मस्थ– आत्मस्वभावगत, सौख्ययुक्त, अनवद्य– दोष या पाप रहित, केवलज्ञान की प्रभा के समूह से जिन्होंने दुर्नय– कुत्सितनय, मिथ्या-सिद्धांत रूप अंधकार को पराभूत कर दिया। उन सिद्ध भगवान् को नमन करें।[1]

यहाँ आचार्य वीरसेन ने सिद्धों के जो विशेषण दिए हैं, वे साधनामूलक तथा अतिशयमूलक वैशिष्ट्य के द्योतक हैं।

सिद्धत्व– आत्म-विकास का चरम प्रकर्ष

धवलाकार ने गतियों के वर्णन के संदर्भ में उल्लेख किया है– मनुष्य जाति में होने वाले कई ऐसे होते हैं, जिन्हें पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। उसका आशय यह है कि मनुष्य-योनि में भी जन्म पाकर कुछ विकलेन्द्रिय भी होते हैं, जिनके परिपूर्ण इन्द्रिय नहीं होती। उसके आगे विकास की अगली श्रेणी आभिनिबोधिक ज्ञान– मतिज्ञान है, जिसको कतिपय मानव प्राप्त करते हैं। उनमें कई ऐसे होते हैं, जो ज्ञान-प्राप्ति में आगे बढ़ते हैं। वे श्रुतज्ञान प्राप्त करते हैं।

मतिज्ञान, मननात्मक है। वह स्वगत है, श्रुतज्ञान की प्रतीति कराने में सक्षम होता है।

मतिज्ञानी स्वयं जानता है। दूसरों को जताने की क्षमता उसमें श्रुतज्ञान द्वारा आती है। श्रुतज्ञान शास्त्राध्ययन से, गुरु-मुख से, श्रवण से प्राप्त होता है।

इसके आगे बढ़ता हुआ कोई अवधि-ज्ञान प्राप्त करता है, मनःपर्याय-ज्ञान प्राप्त करता है तथा इसके भी आगे कोई साधक केवल-ज्ञान प्राप्त करते हैं।

कतिपय ऐसे हैं, जो सम्यक्-मिथ्यात्व युक्त होते हैं, कई सम्यक्त्वी होते हैं। कई संयतासंयत– देशव्रत होते हैं तथा कई संयमी जीवन अपनाते हैं।

कुछ ऐसे है, जो बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर पद नहीं पाते। कतिपय अंतकृत् होकर,

---

१. षट्खंडागम (धवला टीका समन्वित), खंड-१, पुस्तक-१, भाग-१, पृष्ठ : १.

मुक्त होते हैं। मोक्ष प्राप्त करते हैं, परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं। वे सब दुःखों के अंत का अनुभव करते हैं।

जो अष्ट कर्मों का अंत या विनाश करते हैं, वे अंतकृत् कहे जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे कर्मों का अंत कर सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। अपने स्वरूप में निष्ठित होते हैं, निष्पन्न होते हैं। यह आत्म-विकास का चरम प्रकर्ष है।

सिद्धभक्त्यादि संग्रह में सिद्ध-स्वरूप

जैसे भट्टी, धोंकनी आदि अपेक्षित साधनों के प्रयोग से स्वर्णमय पाषाण में से शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान आदि सर्व उत्कृष्ट गुणों के समुदाय को आच्छादित करने वाले ज्ञानावरणीय आदि दोषों को ध्यान रूप अग्नि द्वारा दग्ध कर डालने से शुद्ध आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह सिद्धि कहलाती है।

वह आत्म-सिद्धि, जिन्होंने प्राप्त की अथवा जिनको शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हुई अथवा जो कर्मों की प्रकृति के समुदाय से रहित हैं, उन सिद्ध भगवंतों के अनुपम गुणरूपी शृंखला से आकर्षित और परितुष्ट मैं शुद्ध आत्म-स्वरूप की सिद्धि के लिए वंदन करता हूँ।[1]

इस संदर्भ में आचार्य श्री पूज्यपाद ने अन्य मतवादियों द्वारा स्वीकृत मोक्ष के स्वरूप की विवेचना की है। उन्होंने लिखा है–

बौद्ध मोक्ष का स्वरूप अभावात्मक मानते हैं। मोक्ष का स्वरूप अभावात्मक नहीं हो सकता। अभाव का अभिप्राय स्वयं का मिट जाना है। ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरूष है, जो अपना नाश करने हेतु प्रयत्न करे।

तात्पर्य यह है कि मोक्ष के लिए प्रयत्न करना, बौद्धों के अनुसार अभाव के लिए प्रयत्न करना है। अभाव हो जाने पर, फिर बचता ही क्या है ? कहाँ मोक्ष होगा, कहाँ मोक्ष रहेगा ? कहाँ निर्वाण रहेगा ? वहाँ तो कुछ नहीं रहेगा।

वैशेषिक दर्शन में बताया गया है– बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार– ये आत्मा के विशेष गुण हैं। इन गुणों का नाश हो जाना मोक्ष है। वास्तव में मोक्ष का स्वरूप आत्मा के गुणों का नाश होना नहीं है। यदि ऐसा माना जाए तो उनके तपोनुष्ठान, व्रतपालन

---

१. सिद्धभक्त्यादि संग्रह, श्लोक-१ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : ३०५.

आदि का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, क्योंकि आत्मा के गुणों के नाश के लिए कोई तप या व्रत क पालन नहीं करता।

चार्वाक कहते हैं कि आत्मा जैसा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। उनमें से कई आत्मा को तो मानते हैं, परंतु भूत तथा भविष्य के साथ उसका संबंध नहीं मानते।

इसका समाधान यह है कि आत्मा है और वह अनादिकाल से चली आ रही है तथा इसका आशय यह है कि वर्तमान गत आत्मा का अस्तित्व वर्तमान, भूत, भविष्य तीनों कालों में विद्यमान है। वह कर्मों से बंधी होने के कारण संसार में परिभ्रमण करती है।

सांख्य-दर्शन में विश्वास करने वाले ऐसा मानते हैं कि आत्मा कर्मों की कर्ता नहीं है। इसका निरसन (समाधान) करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा स्वयं ही कर्म करती है। उनका शुभ एवं अशुभ फल भोगती है। कर्मों का सर्वथा, संपूर्ण रूप में नाश कर मोक्ष में जाती है। आत्मा ज्ञाता तथा द्रष्टा है। वह ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग से युक्त है।

सांख्य, मीमांसा, वेदांत और योग में विश्वास करने वाले आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। इस संबंध में यह समाधान है– आत्मा का परिमाण अपने शरीर प्रमाण जितना हैं अर्थात् एक आत्मा सर्वत्र व्यापक नहीं होती।

सांख्य, मीमांसा, वेदांत और वैशेषिक दर्शन के अनुयायी आत्मा को सर्वथा नित्य मानते हैं। बौद्ध आत्मा की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। वे आत्मा को अनित्य मानते हैं। अर्थात् वे नित्यत्वयुक्त आत्मा में विश्वास नहीं करते। इसके समाधान में आचार्य उमास्वाति कहते हैं– आत्म-रूप द्रव्य उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त है।[१]

आत्मा अपने ज्ञान आदि गुणों से युक्त है। अपने गुणों से सुशोभित होने पर ही उसे अपने स्वरूप की प्रतीति होती है– मोक्ष की प्राप्ति होती है। पूर्वोक्त गुणयुक्त आत्मा मानी जाए तभी मोक्ष रूप साध्य की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

यहाँ आत्मा का अपने गुणों से सुशोभित होने का अभिप्राय यह है कि उसके गुण, जो कर्मों से आवृत्त हैं, कर्मों के क्षीण हो जाने पर प्रकट हो जाते हैं। वही आत्मा का सुशोभित होना है।

दर्शन, मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम सम्यक् दर्शन उत्पन्न होने के आंतरिक कारण हैं। गुरु का उपदेश, चर्या, जातिस्मरण-ज्ञान आदि बाह्य कारण हैं। आंतरिक और बाह्य कारण मिलने से सम्यक् दर्शन प्रकट होता है।

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-५, सूत्र-३०.

सम्यक् ज्ञान का उत्थान होने के लिए दर्शनमोहनीय और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम आदि होना अंतरंग कारण हैं तथा गुरु का उपदेश, स्वाध्याय आदि बाह्य कारण हैं। इन अंतरंग तथा बहिरंग कारणों के मिलने पर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र प्रकट होते हैं तथा कर्मों का विशेष क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने से सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र अत्यंत निर्मल होते हैं।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की निर्मलता ही आत्मा की सम्पत्ति है। कर्मों का नाश करने के लिए रत्नत्रय रूप यह संपत्ति आत्मा का शस्त्र है। इस शस्त्र के प्रबल प्रहार से घाति– आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले कर्म रूपी पाप अत्यंत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।[१]

आचार्य पूज्यपाद ने आगे सिद्धात्मा के परिमाण आदि के संबंध में प्रकाश डाला है, जो पूर्व संदर्भों में वर्णित किया जा चुका है।

सिद्ध भगवंतों के सुख के संबंध में उन्होंने लिखा है– सिद्ध परमात्मा को जो सुख प्राप्त होता है, वह केवल आत्मा से ही उत्पन्न होने वाला है। अन्य कोई प्रकृति आदि से उत्पन्न होने वाला नहीं है। इसलिए वह सुख अनित्य नहीं है। वह सुख स्वयं अतिशय-युक्त है। समस्त बाधाओं से वर्जित है। अत्यंत विशाल एवं अनंत है। वह आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त है। वह सुख न तो कभी कम होता है और न कभी बढ़ता है। सांसारिक सुख विषयों से उत्पन्न होते हैं। सिद्धों का सुख विषयों से उत्पन्न नहीं होता। वह स्वाभाविक है। सुख का प्रतिद्वन्द्वी– विरोधी दुःख है। सिद्ध दुःख से सर्वथा रहित हैं। सांसारकि जीवों का सुख, दुःखों से मिश्रित है, परंतु सिद्धों का सुख सदा सुखरूप ही होता है।

सांसारिक सुख साता वेदनीय कर्म के उदय से होता है। उसमें फूलों की माला, चंदन, भोजन आदि बाह्य सामग्री की अपेक्षा रहती है, किंतु सिद्धों का सुख दूसरी किसी अपेक्षा से रहित है। वह सुख निरुपम– उपमा रहित है। अमित– अपरिमित है। शाश्वत है तथा सदैव रहने वाला है। उसका सामर्थ्य परमोत्कृष्ट और अनंत है, अतः वह सुख अनंत-सुख कहलाता है।

जैसे किसी जीव को प्राणांतक व्याधि की कोई पीड़ा या दुःख नहीं हो तो उसे पीड़ा को शांत करने वाली किसी औषधि की आवश्यकता नहीं होती। जिस समय अंधकार का सर्वथा अभाव हो तथा सभी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हों, उस समय दीपक की कोई जरूरत नहीं होती। उसी प्रकार सिद्धों को न कोई दुःख है, न कोई पीड़ा। उनकी भूख और प्यास सदा के लिये नष्ट हो गई है, इसलिए उनको अनेक प्रकार के रसों से परिपूर्ण अन्न-जल का कोई प्रयोजन नहीं है। सिद्धों के किसी प्रकार की अपवित्रता

१. सिद्धभक्त्यादि संग्रह, श्लोक-१-३ : नमस्कार स्वाध्याय(संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : ३०५, ३०६.

का स्पर्श नहीं है। इसलिए उन्हें केसर, चंदन, पुष्पमाला आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। सिद्ध भगवंतों में ग्लानि, परिश्रांति, निद्रा आदि का सर्वथा अभाव होने से उनको कोमल शय्या आदि की कोई अपेक्षा नहीं है।

वे सिद्ध भगवान् अनंत ज्ञान आदि अनेक उत्तम संपत्तियों से युक्त हैं तथा समग्र नयों की दृष्टि से विशुद्ध तप, संयम, ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से युक्त हैं। उनका यश चारों ओर फैला हुआ है। वे विश्व के देवाधिदेव हैं। तीनों लोक के सभी भव्य जन उनकी सदैव स्तुति करते हैं।

भूतकाल में हुए, भविष्य काल में होने वाले तथा वर्तमान काल में विद्यमान समस्त अनंत सिद्धों को– सिद्ध स्वरूप पाने की इच्छा लिए मैं त्रिसंध्य– प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल नमस्कार करता हूँ।[1]

सिद्धत्व-प्रतिष्ठा का चित्रण

जैन जगत् के महान् क्रांतिकारी आचार्य, उद्भट विद्वान् श्री हरिभद्र सूरि ने अपने द्वारा रचित षोडशक प्रकरण में परमात्म-प्रतिष्ठापना या सिद्ध-प्रतिष्ठापना के संदर्भ में बहुत ही सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने जिन-प्रवचन के विवेचन से अपनी व्याख्या शुरू की है।

वे लिखते हैं– जब जिन प्रवचन हमारे हृदय में स्वाध्यायादि द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं, परमार्थतः श्री जिनेश्वर परमात्मा ही हमारे हृदय में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तथा हमारे सभी प्रयोजन अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

सभी प्रयोजन सिद्ध होने का कारण यह है कि जिनेश्वर प्रभु परम चिंतामणि-स्वरूप हैं। हमारे हृदय में उनके प्रतिष्ठित हो जाने पर उनके साथ समरसता-एकरूपता-एकानुभूति हो जाती है। यह समरससमापत्ति योगियों के लिए मातृ-स्वरूप है, निर्वाण रूप फल की साधिका है।

इसका तात्पर्य है कि यह आत्मा जब सर्वज्ञ के स्वरूप में उपयोग-युक्त हो जाती है, तब उसका उपयोग अन्यत्र नहीं जाता, वह स्वंय सर्वज्ञ हो जाती है। ऐसा माना जाता है कि जिस-जिस वस्तु के उपयोग में आत्मा वर्तित होती है, वह उस-उस वस्तु के स्वरूप को धारण करती है।

जिस प्रकार निर्मल स्फटिक में जिसका प्रतिबिंब पड़ता है, वह उस मणि के वर्ण को धारण कर लेता है। उसी प्रकार निर्मल आत्मा परमात्म-स्वरूप को धारण करती है। उसे ही समापत्ति कहा जाता है। अथवा ध्याता, ध्यान और ध्येय के योग को भी समापत्ति कहा जाता है।

---

१. सिद्धभक्त्यादि संग्रह, श्लोक-७-९ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : ३०८, ३०९

यह भाव-यज्ञ है– गृहस्थ की भाव-पूजा है। यह मानव जीवन का परम फल है और क्रमशः अविच्छिन्नतया अभ्युदय– स्वर्ग आदि फल प्राप्त करा कर निश्चित रूप में मोक्ष प्राप्त कराता है।

मुक्ति में पँहुचे हुए श्री ऋषभादि परमात्मा की प्रतिष्ठा संभव नहीं है, क्योंकि वे तो बहुत दूर हैं। मंत्र आदि संस्कारों द्वारा उनका अधिष्ठान या सन्निधान संभव नहीं है। इसी प्रकार देवों की सांसारिक प्रतिष्ठा भी मुख्य नहीं हैं, क्योंकि वे देवता मंत्रादि द्वारा मूर्ति में आ ही जाएं, ऐसा नियम नही है।[1]

इससे अपने मुख्य देवता को उद्दिष्ट करके अपने भाव में ही उनकी प्रतिष्ठा करना शक्य है। प्रतिष्ठा के विषय में यों चिंतन करना चाहिए कि मुक्ति में पहुचे हुए जो ऋषभादि परमात्मा हैं, वे सिद्ध हैं। वही मैं हूँ, ऐसा भाव आत्मा में उत्पन्न होना चाहिए, यह तात्त्विक दृष्टि से प्रतिष्ठा है ।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने सिद्धों की पूजा-अर्चना के प्रसंग में अध्यात्म-भावों का सुंदर निरूपण किया है, जो वास्तव में उनके जीवन की शुद्धानुभूति को प्रगट करता है। पूजा, उपासना, अर्चना या आराधना का लक्ष्य यह होता है कि आधारक आराध्य के परमोत्तम गुणों को आत्मसात् करने की दिशा में अग्रसर हो। वह उनसे उसी प्रकार की प्रेरणा प्राप्त करे। ऐसी प्रेरणा तभी प्राप्त होती है, जब उनकी उपासना, आराधना या ध्यान किया जाए, उनके भावात्मक स्वरूप को अपने अंतःकरण में स्थापित करे। उसका पुनः-पुनः चिंतन करे, अनुभावन करे, इससे आराधक के मन के विकार दूर होंगे। विभाव-दशा मिटेगी, वह शुद्धोपयोगमयी स्थिति प्राप्त करेगा, सिद्धत्व को अपने अतःकरण में प्रतिष्ठित करेगा।

तत्त्वानुशासन में सिद्धों के ध्यान का निर्देश

श्री नागसेनाचार्य विरचित तत्त्वानुशासन में सिद्धों के ध्यान का संक्षेप में वर्णन आया है। वहाँ अर्हम् मंत्र की आराधना के अंतर्गत कहा गया है–

जिन्होंने समस्त कर्मों को ध्वस्त कर डाला है, जो अमूर्त्त हैं, ज्ञान से भास्वर– देदीप्यमान उन सिद्ध भगवान् के रूप में आत्मा का ध्यान करें।[2]

यहाँ ग्रंथकार ने विशेष रूप से आत्मा का ध्यान करने का निर्देश किया है। आत्मा का ध्यान अनेक विधियों से, अनेक रूपों में किया जाता है। ध्यान का एक प्रकार यह है– ध्यानी ऐसा चिंतन करे– "मेरी विशुद्ध आत्मा सिद्ध-स्वरूप है। मैं जीव के रूप में एक सीमित कर्म-बद्ध अवस्था में हूँ। वह

१. षोडशक प्रकरण, अध्याय-२, श्लोक-१४, १५, अध्याय-६, श्लोक-१४, अध्याय-८, श्लोक-६-१२ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : २९३, २९४.
२. तत्त्वानुशासन, श्लोक-१८७ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : २३०.

मेरा स्वभाव नहीं है, मेरी विभाव-दशा है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति आत्म-स्वभाव से नहीं हुई, परभाव से या कर्म-संश्लेष से हुई है। मुझे अपनी उस परम सिद्धावस्था को अधिकृत करना है, जिसे मैं अपने आत्मपराक्रम द्वारा ही स्वायत्त कर सकता हूँ। शुद्ध सिद्धात्म-स्वरूप– सिद्ध परमेश्वर के ध्यान से निश्चय ही मुझ में आध्यात्मिक ऊर्जा संस्फुरित होगी।"

सिद्धों के ध्यान का फल

नागसेनाचार्य ने ध्यान के फल का प्रतिपादन करते हुए इसी ग्रंथ में आगे लिखा है–

जो अरिहंत और सिद्ध के ध्यान में लीन रहते हैं, उनको देखकर ग्रह तो क्या महाग्रह भी काँप उठते हैं। भूत-प्रेत-शाकिनी-डाकिनी आदि का निवारण हो जाता है। क्रूर प्राणी, जीव-जन्तु क्षण भर में प्रशांत हो जाते हैं।[1]

पर्य्यालोचन

आचार्य नागसेन ने यहाँ ध्यान के फल का उल्लेख करते हुए उन बाधाओं से मुक्त होने की ओर संकेत किया है, जिनका संबंध सांसारिक जीवन से है। इस संदर्भ में उन्होंने विपरीत ग्रह-दशा, भूत-प्रेतादि निम्न कोटि के देव तथा हिंसक, निर्दयी प्राणियों की चर्चा की है। इनसे होने वाले कष्ट दूर हो जाते हैं, ऐसा निर्दिष्ट किया है।

यहाँ आचार्य का भाव लौकिक जनों के बाह्य कष्टों की ओर रहा है। साधारणतया इसे देखने से लगता है– जैन आचार्य ध्यान का फल ऐसा कैसे बता सकते हैं ? उनके जीवन का लक्ष्य तो आध्यात्मिक विकास होता है। वे अपनी आत्मा का एवं सांसारिक जनों की आत्माओं का परम कल्याण करने का लक्ष्य लेकर चलते हैं। इस अपेक्षा से ध्यान का फल मोक्ष ही होता है।

यद्यपि निश्चय दृष्टि से तो बात सही है, किंतु व्यवहारिक भूमिका पर भी सोचना आवश्यक होता है। सांसारिक-जन यदि ऐसी बाधाओं से उत्पीड़ित रहेंगे तो उन्हें ध्यान और साधना से जुड़ने का अवसर मिलना बहुत कठिन होगा।

शारीरिक अस्वस्थता, विपरीतता, पीड़ा आदि के कारण जब मनुष्य व्याकुल हो जाता है तो उसका मन स्वाध्याय, ध्यान आदि में लग नहीं सकता। अत: इन पीड़ाओं से छूटने की जो बात कही गई है, वह भी एक दृष्टि से संगत है, क्योंकि जो व्यक्ति ऐसी बाधाओं से रहित होता है, उसके लिये ध्यान आदि करना सहजतया संभव होता है।

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक-१९७-२०० : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : २३२.

यहाँ तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो ध्यान का संबंध निर्जरा से है। जैसा आचार्य उमास्वाति ने लिखा है–

'तपसा निर्जरा च'[1]– तप से निर्जरा होती है, उसके साथ-साथ एक बात और है, आत्मोन्मुखभाव या शुद्धोपयोग निर्जरा के हेतु हैं। तप की दिशा में जो शुभात्मक कर्म प्रवृत्ति होती है, वह पुण्य की हेतु है। निर्जरा से आत्मा में निर्मलता आती है। पुण्य से सांसारिक सुख मिलते हैं, दु:ख मिटते हैं, प्रतिकूलताएँ दूर होती हैं, अनुकूलताएं प्राप्त होती हैं। इसलिए ध्यान से भौतिक दु:खों की निवृत्ति की जो बात कही गई है, वह तात्त्विक दृष्टि से असंगत प्रतीत नहीं होती।

अर्हम् एवं सिद्ध-चक्र का विवेचन

आचार्य हेमचन्द्र ने गुजरात के नरेश सिद्धराज जयसिंह द्वारा की गई अभ्यर्थना और प्रेरणा पर संस्कृत-व्याकरण की रचना की, जो सिद्धराज और उनके नाम पर 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस व्याकरण का पहला सूत्र– 'अर्हम्'[2] है। तत्वप्रकाशिका टीका में 'अर्हम्' शब्द का विश्लेषण किया गया है। वहाँ उसे सिद्ध-चक्र का आदि बीज बतलाया गया है। अक्षर का अर्थ बीज है, जो आदि बीज द्वारा ज्ञापित किया गया है।

सिद्ध चक्र-रूप तत्व के सबीज तथा निर्बीज– इस प्रकार दो भेद हैं। जो सबीज सिद्धचक्रात्मक तत्त्व है, उसका अर्हम् आदि बीज है।

धर्मसारोत्तर में लिखा है– अक्षर तथा अनक्षर– दो प्रकार के तत्त्व हैं। उनमें जो बीज है, वह अक्षर तत्त्व कहा जाता है तथा जो बीज-रहित है, उसे अनक्षर तत्त्व कहते हैं।

अक्षर तत्त्व का एक और अर्थ है। जो अपने स्वरूप से क्षरित– नष्ट, चलित नहीं होता हो, वह अक्षर है। अक्षर शब्द द्वारा तत्त्वध्येयरूप ब्रह्म को लेना चाहिए अथवा वर्णात्मक अक्षर को लेना चाहिए।

यदि अ, आ आदि में से कोई एक वर्ण हो तो उसे अक्षर कहा जाता है। किन्तु यहाँ अर्हम् में तो अधिक अक्षर मिले हुए हैं, इसलिए इसको वर्ण या अक्षर कैसे कहा जाए ? इसे तो 'अक्षराणि'– बहुत अक्षर कहा जाना चाहिए, किन्तु यहाँ तो अक्षर कहा गया है, ऐसा क्यों ?

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-९, सूत्र-३.
२. सिद्धहेमशब्दानुशासन- १, १, १ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : २६-२८.

मंत्र दो प्रकार के होते है– (१) कूट और (२) अकूट। जिसमें अक्षर संयुक्त होते हैं, उसे कूट कहा जाता है। जहाँ संयुक्त अक्षर नहीं होते, उसे अकूट कहा जाता है। कूट मंत्र में जो अक्षर अधिक होते है, उनमें मंत्र तो एक ही अक्षर होता है, शेष के अक्षर तो मंत्र के परिकर– परिवार रूप होते हैं।

सिद्धत्व की साधना में कषाय-विजय का स्थान

अध्यात्म-साधना या आत्मोपासना के पथ पर आरूढ़ साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषायों को जीतने का प्रयास करे।

क्रोध के वश में होकर मनुष्य अपना संतुलन खो देता है और बुरे से बुरा कार्य करते भी संकोच नहीं करता, वह अपने स्वरूप को सर्वथा भूल जाता है।

मान के साथ भी यही बात है। जब किसी व्यक्ति को मन में मान, अहंकार, गर्व उत्पन्न हो जाता है तो वह अपने को सबसे महान् मानने लगता है, जो उसकी सबसे बड़ी भूल है। ऐसा मानने वाला श्रेयस् या कल्याण के पथ से विचलित हो जाता है।

माया, प्रवंचना, छलना भी एक ऐसा दोष है, जो अंत:करण में आत्म-विपरीत भाव उत्पन्न करता है। माया के परिणाम-स्वरूप और भी अनेक दोष जीवन में आ जाते हैं।

लोभ मनुष्य को सत्पथ से विचलित कर देता है। जिससे व्यक्ति सर्वथा बहिर्द्रष्टा हो जाता है। अपने स्वभाव को भूल जाता है।

मोक्ष-मार्ग या सिद्धत्व की दिशा में गतिशील साधक के जीवन में ये सबसे बड़े विघ्न हैं। इन्हें जीतना अत्यन्त आवश्यक है।

उसके जीवन में सच्चिंतन, मनन, निदिध्यासन एवं ध्यान आदि जो सिद्धत्व भाव की ओर ले जाने के उपक्रम हैं, सध नहीं पाते, इसलिए सिद्धत्व के आराधक को इन पर विजय पाना अत्यंत आवश्यक है।

योगशास्त्र में कषाय-विजय का मार्ग

आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र में क्रोध, मान, माया, लोभ– इन चार कषायों का तथा उनके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन– इन चार भेदों का वर्णन किया है।[1]

१. योगशास्त्र, प्रकाश-४, श्लोक-६-२२, पृष्ठ : ११६-१२०.

उन्होंने उन कषायों को जीतने का मार्ग बताते हुए लिखा है– क्षांति– क्षमाशीलता द्वारा क्रोध को, मृदुत्व– मृदुता या मार्दव द्वारा मान– अहंकार को, आर्जव– ऋजुता या सरलता द्वारा माया– छल या प्रवंचना को तथा अनीहा (इच्छा का अभाव)– निःस्पृहता द्वारा लोभ को जीतना चाहिए।

कषायों को जीतने हेतु इन्द्रियों पर नियंत्रण करना आवश्यक है। वैसा किए बिना कोई उन्हें जीतने में सक्षम नहीं हो पाता। जैसे हेमंत ऋतु– मार्गशीर्ष और पौष की भंयकर सर्दी को प्रज्वलित आग के बिना कौन नष्ट कर सकता है ? वैसे ही इंद्रियजय के बिना कषाय कैसे जीते जा सकते हैं ?

इन्द्रियाँ चंचल अश्वों के सदृश हैं। जब वे नियंत्रण में नहीं होती तो कुत्सित– विपरीत मार्ग में चली जाती हैं और जीव को नरक रूप भयावह वन में खींच ले जाती हैं। जो जीव इंद्रियों पर विजय नहीं कर पाता, वह नरकगामी होता है।

जो इंद्रियों द्वारा पराभूत हो जाता है, विजित हो जाता है, उसे कषाय भी पराजित कर देते हैं।

जैसे शक्तिशाली पुरुष किसी सुंदर भवन से ईंटों को खींच लेता है, निकाल लेता है, तत्पश्चात् उस भवन को कौन नहीं तोड़ सकता ?

जिन इंद्रियों को विजित– नियंत्रित नहीं किया गया तो वे मनुष्यों के कुल का नाश कर डालती है तथा उनके कर्म-बंध का हेतु बनती हैं।[1]

इस प्रकार कषाय-विजय तथा इंद्रिय-विजय का परिणाम बतलाकर आगे ग्रंथकार ने इंद्रियासक्ति का फल बताया है। अनेक उदाहरण देते हुए प्रगट किया है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र– इन पाँचों इंद्रियों का एक-एक विषय ही नाश का कारण है तो फिर पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन से तो निश्चित रूप से नाश होगा ही।[2]

इन संबंध में एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक है–

कुरंग-मातंग-पतंग भृंगा, मीना हता पंचभिरेव पंच।
एकः प्रमादी सकथं न हन्यते, यः सेवते पंचभिरेवपंच।।

अर्थात् हिरण– श्रोत्रेन्द्रिय, हाथी– स्पर्शनेन्द्रिय, पतंगा– चक्षुइन्द्रिय, भ्रमर– घ्राणेन्द्रिय, मीन–

१. योगशास्त्र, प्रकाश-४, श्लोक-२३-२७, पृष्ठ : १२०, १२१.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-४, श्लोक-२८-३३, पृष्ठ : १२१, १२२.

मछली– रसनेन्द्रिय की वासना के कारण नष्ट हो जाते हैं। एक-एक ने एक-एक इन्द्रिय की वासना में ग्रस्त होकर प्राण गँवाए। वह प्रमादी मनुष्य क्यों नहीं नष्ट होगा, जो पाँचों इन्द्रियों– पाँचों विषयों का सेवन करता है।

परमात्म-भाव के साक्षात्कार में मनोजय का स्थान

योगाभ्यास या आत्म-साधना में मन का बड़ा महत्त्व है। कहा है– 'मन एव मनुष्याणां, कारणं बंध मोक्षयो:'– अर्थात् मन ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है। आत्मसाक्षात्कारमूलक रत्नत्रय की आराधना में मन को जीतना और नियंत्रित रखना बहुत आवश्यक है। आचार्य हेमचंद्र ने इस पर बहुत बल दिया है। उन्होंने लिखा है कि मन को शुद्ध किए बिना यम, नियम आदि का पालन मात्र काय-क्लेश होता है, जो व्यर्थ है।

मन निरंतर उच्छृंखल निशाचर के समान है, जो नि:शंक होकर भ्रमण करता है अथवा तीनों लोकों के प्राणियों को संसार रूपी गड्ढे में गिराता है– जन्म-मरण के चक्र में डालता है। तूफान की तरह चंचल मन उन लोगों को कहीं का कहीं ले जाकर ढ़केल देता है, जो मुमुक्षु– मोक्ष पाने के इच्छुक हैं, जो तीव्र तपश्चरण में संलग्न हैं।

अत एव मन का नियंत्रण किए बिना जो योग-साधना करने में प्रयत्नशील होता है, वह उसी तरह उपहासास्पद बनता है, जैसे एक पंगु मनुष्य पैदल चलकर गाँव में पहुँचना चाहता है।

जब मन का निरोध हो जाता है तो कर्मों का आगमन भी पूर्णत: रुक जाता है, क्योंकि कर्मास्रव का मन से ही संबंध है। जो मन को निरूद्ध– नियंत्रित नहीं कर पाता, उसके कर्मों का अभिवर्धन होता जाता है।

मन की शुद्धि वह प्रदीप है, जो कभी निर्वपित नहीं होता– बुझता नहीं। वह निर्वाण मोक्ष के पथ को प्रकाशित करता है।

यदि मन शुद्ध हो गया तो जो उत्तम गुण जिन साधकों में विद्यमान नहीं हैं, वे भी विद्यमान के तुल्य हो जाते हैं, क्योंकि मन: शुद्धि से उन गुणों का उत्तम फल साधक को स्वयमेव उपलब्ध हो जाता है। यादि मन की शुद्धि नहीं हो पाई हो तो उत्तम गुण होते हुए भी न होने के तुल्य हैं। अत एव विवेकशील पुरूषों को सबसे पहले अपने मन को शुद्ध करना चाहिए।

जो मन का परिशोधन किए बिना मोक्ष हेतु तपश्चरण करते हैं, वे उन पुरूषों के समान हैं, जो नाव का परित्याग कर अपनी भुजाओं द्वारा अगाध, अपार सागर को पार करना चाहते हैं।

जिस प्रकार नेत्रहीन के लिए दर्पण निष्प्रयोज्य है, वैसे ही मन को परिशुद्ध नहीं किया तो तपस्वी साधक का ध्यान करना निष्प्रयोजन है, क्योंकि मन की शुद्धि के बिना वास्तव में ध्यान होता ही नहीं, केवल ध्यान की औपचारिकता ही होती है।

जो सिद्धि– मुक्ति पाने की इच्छा रखते हैं, उनको अवश्य ही मन की शुद्धि करनी चाहिए। मन की शुद्धि के बिना तप का आचरण, श्रुत का अभ्यास तथा यमों– व्रतों का पालन केवल शरीर के लिए दण्ड या कष्टप्रद है। उनसे मोक्षमूलक लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।

मन की शुद्धि द्वारा योगी– साधक राग तथा द्वेष को जीत सकता है। आत्मा का मालिन्य– कालुष्य त्याग सकता है। ऐसा कर वह अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो सकता है।[1]

मन के भेदों का वर्णन करने के अनंतर ग्रंथकार योगाभ्यासी को सूचित करते है कि उसे बाहिरात्म-भाव का परित्याग करना चाहिए। अंतरात्म-भाव के साथ सामीप्य, अनिवृत्तता स्थापित करनी चाहिए तथा परमात्म-भाव को प्राप्त करने के लिए निरंतर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।[2]

परमात्म-भाव और रत्नत्रय

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में आत्मा और रत्नत्रय के अभेद का वर्णन करते हुए एक अपेक्षा से आत्मा की उस यात्रा का वर्णन किया है, जो उसको परमात्म-भाव तक पहुँचाती है। वे लिखते हैं कि वास्तव में यति– साधक की आत्मा ही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप है।

जो योगी– साधक मोह का परित्याग कर अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानता है, वह उसका सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र है।

समस्त दु:खों का हेतु आत्म-विषयक अज्ञान ही है, जिसका आत्म-ज्ञान से नाश होता है। जो आत्म-ज्ञान से विवर्जित हैं, वे तपश्चरण करके भी दु:खों का नाश नहीं कर सकते ।

तत्त्वत: आत्मा चैतन्यमय– चेतन स्वरूप है। कर्मों के संयोग के कारण वह शरीर धारण करती है, जब वह शुक्ल-ध्यान रूपी अग्नि से समस्त कर्मों को भस्म कर देती है तब निरंजन, निर्मल होकर सिद्धात्मा बन जाती है।[3]

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-४, श्लोक-३४, ३५.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-१२, श्लोक-६.
३. योगशास्त्र, प्रकाश-४, श्लोक-१-४.

द्व्याश्रय महाकाव्य में सिद्ध-चक्र का उल्लेख

आचार्य हेमचन्द्र रचित संस्कृत 'द्व्याश्रय महाकाव्य' का प्रथम श्लोक निम्नांकित है–

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणिदध्महे ।।

अर्हम्– यह अक्षर ब्रह्म या परमेष्ठि का वाचक है। यह सिद्ध-चक्र का श्रेष्ठ बीज है। उसका हमें सब प्रकार से ध्यान करना चाहिए।[1]

द्व्याश्रय महाकाव्य के टीकाकार श्री अभयतिलक गणी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है–

अ+र्+ह्+अ+म्= अर्हम्– इस वर्ण समूह का हमें सब क्षेत्र में, सर्व काल में प्रणिधान या ध्यान करना चाहिए।

न्यस्त– ध्यातारूप अपनी आत्मा अर्हम् बीज में न्यस्त या स्थापित है तथा अर्हंकार रूप ध्येय से सब ओर आत्मा वेष्टित है। हमें ऐसा चिंतन करना चाहिए अथवा अर्हम् शब्द द्वारा वाच्य अरिहंत भगवान् रूप ध्येय से अपनी आत्मा को अभिन्न मानते हुए ध्याता का, आत्मा का ध्यान करना चाहिए। यहाँ जो आत्मा है, वहीं अरिहंत है, जो अरिहंत है, वही आत्मा है। इससे अभेद-परिधान– ऐक्यमूलक ध्यान निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों की एकता यहाँ सध जाती है।

त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित में सिद्ध-नमन

आचार्य हेमचन्द्र रचित त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित के अंतर्गत पंच नमस्कार-स्तोत्र में सिद्ध-पद को नमस्कार करने का उल्लेख है। वह श्लोक निम्नांकित है–

सिद्धेभ्यो नमस्कारं, भगवद्भ्यः करोम्यहम् ।
कर्मौघोऽदाहि यैर्ध्यानाऽग्निना भव-सहस्रजः ।।

मैं उन सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने सहस्रों भवों में संचित कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि से दग्ध कर डाला है।[2]

---

१. द्व्याश्रय महाकाव्य, सर्ग-१, श्लोक-१ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : ३८.
२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पंच नमस्कार स्तोत्र, श्लोक-३, विभाग-४ : नमस्कार स्वाध्याय, (संस्कृत विभाग), पृष्ठ : ६८.

नमस्कार के माध्यम से यहाँ ग्रंथकार ने सिद्धत्वमूलक साधना पर बहुत ही संक्षिप्त शब्दों में बड़ा सुंदर प्रकाश डाला है। सांसारिक आत्मा कर्मों के सघन आवरणों से आच्छन्न है। यह आवरण ईंधन के समान है। ग्रंथकार ने यह कल्पना की है कि ईंधन को भस्मसात् करने के लिये जैसे अग्नि की आवश्यकता होती है, वैसे ही ध्यान रूपी अग्नि द्वारा कर्म रूपी ईंधन को भस्मसात् किया जा सकता है।

यहाँ साधना में ध्यान को अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि ध्यान आंतरिक तप है। बाह्य तप की भी अपनी उपयोगिता है, परंतु जब तक ध्यान रूप आंतरिक तप सिद्ध नहीं होता, तब तक कर्मों के सूक्ष्म आवरण उच्छिन्न– नष्ट नहीं होते।

जैन साधना में प्राचीन काल में ध्यान-योग को अधिक महत्त्व दिया जाता था। आचारांग-सूत्र के प्रथम श्रुत-स्कंध के नवम अध्ययन में भगवान् महावीर के तपोमय जीवन का जो वर्णन आया है, वहाँ उन द्वारा विविध रूप में ध्यान किये जाने का उल्लेख है। उस संबंध में स्पष्ट विवेचन नहीं है। इसलिए आज हम नहीं जान पाते कि भगवान् महावीर किस प्रकार का ध्यान करते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन साधना में ध्यान की अपनी विशेष पद्धतियाँ थीं। आगे उनका प्रचलन कम होता गया और वे लगभग विस्मृत हो गईं।

इस संदर्भ में अनुसंधाओं द्वारा विशेष रूप से गवेषणा किया जाना वांछनीय है।

श्री हरिविक्रमचरित में सिद्ध-प्रणमन

श्री जयतिलक सूरि विरचित श्री हरिविक्रमचरित के अंतर्गत मंगलाचरण में पंचपरमेष्ठि-नमस्कार में सिद्धों को नमन करने का उल्लेख है–

सिद्धेभ्योऽपि नमस्तेभ्यो, मुक्तेभ्यो कर्मकश्मलैः।
मूर्ध्नि चूड़ामणीयन्ते, लोकपुंसः सदैव हि।।

अर्थात् जो कर्मों की कालिमा से मुक्त हैं, लोक-पुरुष के मस्तक पर चूड़ामणि की तरह सुशोभित हैं, उन सिद्ध भगवंतों को सदैव नमस्कार हो।[1]

सिद्ध परमात्मा के सर्वोत्कृष्ट, सर्वोच्च स्थान या पद का यहाँ संसूचन है। जहाँ एक और वह स्थान की दृष्टि से सर्वोच्च है, उसी प्रकार गुणात्मक दृष्टि से भी सर्वातिशायी स्थान है, क्योंकि कर्म-मल वहाँ अपगत हो गया है और आत्मा का परम निर्मल, उज्ज्वल, उत्कृष्ट स्वरूप अभिव्यक्त है।

१. श्री हरिविक्रमचरित, श्लोक-३, नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : २९९.

बहिरात्म-अन्तरात्म-परमात्म-भाव

विभाव से स्वभाव की दिशा में आगे बढ़ते साधक की स्थिति, जो अशुभ से शुभ एवं शुभ से शुद्धभाव की दिशा में गतिशील होती है, बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा के रूप में व्याख्यात की गई है। बहिरात्मा निम्नतम और परमात्मा उच्चतम स्थिति है। 'साधनानुं हृदय' पुस्तक में इसका विशद विवेचन किया गया है।[१]

(१) बहिरात्म-भाव

काय आदि बाह्य पदार्थों को आत्म-बुद्धि से समुपात्त करना– ग्रहण करना, धन, कौटुंबिक– पारिवारिक जन मेरे अपने हैं, ऐसी ममत्त्व-युक्त बुद्धि द्वारा उनको अपनाना, उनमें आसक्त रहना बहिरात्म-भाव है। बहिरात्म-भाव-युक्त मनुष्य के लिए आत्मा का वह महत्त्व नहीं होता जो बाह्य पदार्थों का होता है।

(२) अंतरात्म-भाव

जो देह आदि को आत्मा नहीं मानता, आत्मा के तुल्य उन्हें महत्त्व नहीं देता, अपने को देह आदि बाह्य पदार्थों का अधिष्ठायक या नियामक मानता है, उसकी वह स्थिति अन्तरात्म-भाव कहलाती है।

बहिरात्म-भाव और अन्तरात्म-भाव में यह अंतर है कि बहिरात्मभावाविष्ट पुरुष देह, इंद्रिय आदि को आत्म-स्वरूप मानता है। अन्तरात्म-भावाविष्ट पुरुष देह और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझता है। वह अनुभव करता है– "मैं देह नहीं हूँ, देह में स्थित हूँ, देह का नियामक या संचालक हूँ।"

अंतरात्म-भाव का लक्ष्य आत्मा है। आत्म-स्वरूप में रमण, परिणमन उससे घटित होता है। बहिरात्म-भाव नितांत भौतिक या परभावापन्न स्थिति है। अंतरात्म-भाव में बहिर्मुखता छूट जाती है, अन्तर्मुखता घटित होती है।

(३) परमात्म-भाव

चिद्रूप, चिन्मय, आनंदमय, निःशेष, उपाधि-विवर्जित समस्त बाह्य उपाधियों से रहित, अप्रत्यक्ष– इंद्रियों से अगोचर, असंबंद्ध तथा अनंत गुणायुक्त आत्मा परमात्मा है, ऐसा ज्ञानी जनों ने बतलाया है। वैसी स्थिति प्राप्त करना परमात्म-भाव है।[२]

---

१. साधनानुं हृदय, पृष्ठ : ११५, ११६.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-१२, श्लोक-७८.

"शुद्ध स्वरूप में अवस्थिति ही बहिरात्म-भाव से विमुक्त होकर अन्तरात्मभाव-पूर्वक परमात्मभाव की प्राप्ति है।"[1]

परमात्म-भाव के रहस्य का उद्घाटन करते हुए डॉ. हुकमचंद भारिल्ल लिखते हैं–

"आत्मा के वर्तमान पर्याय में मोह, राग, द्वेषादि भाव पाए जाते हैं, तथापि वे आत्मा के स्वभाव-भाव नहीं हैं, विकार हैं, विकृतियाँ हैं। विकार और विकृतियाँ वस्तु नहीं हुआ करती। यद्यपि वे विकार आत्म-वस्तु में ही उत्पन्न होते हैं, तथापि वे आत्म-वस्तु कदापि नहीं हो सकते।"[2]

डॉ. नरेंद्र भानावत ने परमात्म-भाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है– परमात्मा की स्वतंत्रता जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये मुक्त होकर अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतबल के प्रकटीकरण की स्वतंत्रता है। यह स्वतंत्रता जीवन का सर्वोच्च मूल है, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। तीर्थंकर, अर्हत् केवली, सिद्ध आदि परमात्मा इस श्रेणी में आते हैं।[3]

आचार्य विजयलब्धि ने आत्मा और परमात्मा का विश्लेषण करते हुए व्याख्यात किया है– "आत्मा की विशुद्धावस्था ही परमात्मावस्था या भगवद्दशा है। आत्मा की विशुद्ध को बताने हेतु ही उसे परमात्मा कहा जाता है। जैन शास्त्रकारों ने तो कहा है, जो आत्मा मोक्ष की ओर झांकती रहती है, मोक्षोन्मुख या मुमुक्षु बनी रहती है, वह एक दिन परमात्मा बनेगी ही।"[4]

यद्यपि मूल स्वरूप की दृष्टि से आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप और परमानंदमय है, किन्तु कर्मों के आवरण से उसका शुद्ध स्वरूप आच्छन्न है। शुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये कार्मिक आवरणों को उच्छिन्न करना आवश्यक है। उनके उच्छेद या नाश में सबसे बड़ा बाधक वह मन है, जो स्वभाव से हटकर विभाव में लीन है।

ज्ञानार्णव में सिद्ध-पद-वर्णन

जैन परंपरा में आचार्य शुभचन्द्र का नाम उद्भट विद्वान् और योगी के रूप में अत्यंत प्रसिद्ध है। उन्होंने ज्ञानार्णव नामक महान् ग्रंथ की रचना की। ज्ञानार्णव का अर्थ ज्ञान का सागर होता है। उन्होंने ज्ञान को योग के साथ विशेष रूप से जोड़ा, इसलिए इसमें योग की दृष्टि से अध्यात्मिक साधना का बड़े ही सुंदर रूप में विवेचन किया है। यह ग्रंथ बयालीस सर्गों में विभक्त है।

---

१. श्री अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग-२, पृष्ठ : १८८ (सुक्ति-सुधारस, खण्ड-२).
२. गागर में सागर, पृष्ठ: १८.
३. जैन दर्शन : आधुनिक दृष्टि, पृष्ठ : १०.
४. भगवतीजी सूत्रना व्याख्यानो, पृष्ठ : १६१ (भाग-३, अंश-१).

इसके प्रथम सर्ग में श्रुत की प्रशंसा की गई है। इसके प्रथम सर्ग के मंगलाचरण का प्रथम श्लोक परमात्मा या सिद्ध भगवान् को उपलक्षित कर रचित है। उन्होंने इसमें लिखा है–

"ज्ञान-रूपी लक्ष्मी के प्रगाढ़ आलिंगन से उत्पन्न आनंद द्वारा आह्लादित निष्ठितार्थ– कृतकृत्य अथवा अपने समग्र कर्मों को संपूर्णत: क्षीण कर मुक्त-पद को प्राप्त, अज– जन्म-मरण रहित, अव्यय– अविनश्वर या शाश्वत, परमात्मा– सिद्ध भगवान् को नमन करता हूँ।"

इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन है, रूपक अलंकार का प्रयोग है। ज्ञान में लक्ष्मी का आरोप किया गया है। प्रगाढ़ आलिंगन का अर्थ नितांत ज्ञानमयता है। नितांत ज्ञानमयता का परिणाम परमानंद है।

सिद्धों का ज्ञान और आनंद अव्याबाध है। सिद्ध-पद अविनश्वर है। जिन्होंने यह पद प्राप्त कर लिया, वे उससे कभी च्युत नहीं होते। उनके लिए कुछ करना नहीं रहा। इसलिए वे निष्ठितार्थ हैं।

इस मंगल श्लोक का प्रारंभ ज्ञान-पद से होता है। जो ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का परिचायक है। ग्रंथ का नाम ज्ञानार्णव है। ज्ञानार्णव की इस पद के साथ सहज रूप से संगति है। ज्ञान का सागर तो ज्ञान जल से ही शुरू होता है, उसी में समाहित होता है तथा उसी में पर्य्यवसित होता है।

ग्रंथ के नाम और ग्रंथ के विषय के साथ इस श्लोक का सामंजस्य है। इससे विषय की महनीयता सूचित होती है।

परमात्मा या सिद्ध को नमन करने के पीछे आचार्य का एक और भाव है। ज्ञानार्णव में उनके द्वारा बताए गए साधना-पथ का परम लक्ष्य परमात्म-पद ही है। इसलिए इस नमस्कारात्मक श्लोक के साथ यही भाव जुड़ा है कि ज्ञानार्णव के अध्येता– अनुकर्ता साधक परमात्म-पद का लक्ष्य लेकर चलें। इस ग्रंथ के पठन, पाठन, मनन तथा परिशीलन का यह मुख्य फल है।[1]

मोक्ष का लक्षण : स्वरूप

नि:शेष कर्म-च्युति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग मूलक समस्त कर्मों के संबंधों का विध्वंस, विनाश, जन्म का– संसार में आवागमन का प्रतिपक्ष– निरोध, यह मोक्ष का लक्षण है। अर्थात् मोक्ष वह है, जहाँ नि:शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा आवागमन मिट जाता है।

मोक्ष वह है, जहाँ वीर्य आदि गुण विद्यमान रहते हैं, जो सांसारिक जन्म-मरण आदि के क्लेशों से परिच्युत– रहित हैं तथा जहाँ आत्यंतिक चिदानंदमयी अवस्था प्राप्त होती है। जहाँ अत्यक्ष–

१. ज्ञानार्णव, सर्ग-१, श्लोक-१.

अतीन्द्रिय– विषयातीत, सांसारिक विषय भोगों से परिवर्जित, निरुपम– उपमा रहित, स्वभावज– स्वभाव से निष्पन्न, अविच्छिन्न– विच्छेद-रहित, पारमार्थिक सुख प्राप्त है, उसे मोक्ष कहा जाता है। जहाँ आत्मा निर्मल– कर्म-मल-रहित, निष्कल– काय-रहित, शांत– निर्वेदमय, निष्पन्न– सिद्ध स्वरूप, परमशांत, कृतार्थ– कृतकृत्य सम्यक् ज्ञान स्वरूप हो जाती है, वह शिव या मोक्ष है।[१]

धैर्यशील पुरुष इस अनंत प्रभावयुक्त मोक्षार्थ कार्य के निमित्त समस्त प्रकार के भ्रमों को त्यागकर कर्म-बंध को विध्वस्त करने हेतु तपश्चरण स्वीकार करते हैं। अर्थात् परम-पद को प्राप्त करने के लिए मुमुक्षु जन संसार का परित्याग कर मुनि-पद अपनाते हैं, अंगीकार करते हैं।

यहाँ मोक्ष और मुनि-पद का कार्य-कारण भाव संबंध है। मोक्ष कार्य है तथा मुनिपद– संयममय साधना-पथ उसका कारण है। कोई भी कार्य कारण के बिना सिद्ध नहीं होता।[२]

आचार्य शुभचंद्र ने यहाँ चौथे श्लोक से नौवें श्लोक तक सिद्ध-पद का लक्षण और स्वरूप व्याख्यात किया है। दसवें श्लोक में मोक्ष-प्राप्ति के कारण, त्याग एवं संयममय जीवन की ओर संकेत किया है।

आगे मार्ग या साधना-पथ को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि सर्वज्ञ जिनेंद्र प्रभु ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा है। इसलिए मुक्ति की इच्छा करने वाले इस मार्ग का अनुसरण करते हैं।[३]

सिद्ध-पद की गरिमा

आचार्य शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव में यथाप्रसंग शुद्ध परमात्मा के संदर्भ में विविध अपेक्षाओं से बड़े अन्तःस्पर्शी उद्‌गार प्रकट किए हैं। ज्ञानार्णव जहाँ योग-साधना का महान् ग्रंथ है, वहीं शब्द रचना के सौंदर्य के कारण एक उत्तम काव्य भी है। इसका सर्गों के रूप में विभाजन इस बात का सूचक है।

काव्य-शास्त्र के अनुसार जो सर्गों में रचित होता है, वह महाकाव्य कहा जाता है। आचार्य शुभचंद्र महायोगी होने के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि भी थे।

एक स्थान पर उन्होंने लिखा है– सिद्ध भगवान् में क्षुधा, तृषा, श्रांतता– खिन्नता, मद– उन्माद, मूर्च्छा– आसक्ति तथा मत्सर– ईर्ष्या आदि भाव नहीं होते।

---

१. ज्ञानार्णव, सर्ग-३, श्लोक-६,७.
२. ज्ञानार्णव, सर्ग-३, श्लोक-१०.
३. ज्ञानार्णव, सर्ग-३, श्लोक-११.

सिद्धों की आत्मा में वृद्धि और ह्रास नही होता। वे सदैव एक रूप में अवस्थित हैं। उनके वैभव– ऐश्वर्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कल्पना और सीमा से सिद्ध अतीत हैं, वे निष्कल– देह रहित हैं। इंद्रियातीत हैं। मानसिक विकल्पों से रहित हैं। निरंजन हैं– अंजन या कर्मों का उनके बंध नहीं है। वे अनंतवीर्य– अनंत आत्मपराक्रम, आत्मशक्ति के धनी हैं। उनका आनंद नित्य है, कभी नष्ट नहीं होता, उनके सुख का कभी विच्छेद नहीं होता। वह अविच्छिन्न और अखंड है। वे परम-पद में विराजित हैं, परम ज्योति, परम ज्ञान स्वरूप हैं, अपने आप में परिपूर्ण हैं, शाश्वत हैं। वे संसार-सागर को पार कर चुके हैं, जो करना था, वह कर चुके हैं। उनकी स्थिति अचल– अत्यंत स्थिर प्रदेश– क्रिया से रहित है।

वे संतृत्व हैं– सर्वथा परितुष्ट हैं। त्रैलोक्य के सर्वोच्च स्थान में संस्थित हैं। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु या व्यक्ति नहीं है, जिससे उनके सुख को उपमित किया जा सके– जिनकी उनको उपमा दी जा सके। उनका सुख अनुपम है।

यदि चल या जंगम तथा स्थिर-स्थावर पदार्थों से परिपूर्ण तीनों लोक में उपमान की खोज की जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध स्वयं ही अपने उपमान और स्वयं ही उपमेय हैं, क्योंकि उपमेय और उपमान का संबंध तो तभी घटित होता है, जब दोनों में सदृशता हो। सिद्ध भगवान् के सदृश तीनों लोकों में न कोई गतिशील पदार्थ है और न स्थितिशील ही है। इस जड़-चेतनात्मक जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सिद्ध भगवान् के सदृश हो।

काव्य-शास्त्र में एक ऐसा अलंकार माना गया है, जिसमें वही उपमेय और वही उपमान होता है। उसे 'अनन्वय अलंकार' कहा गया है– जैसे मुख, मुख के समान है।[1]

यह बात सिद्ध भगवान् पर लागू होती है। सिद्ध भगवान् तो सिद्ध भगवान् जैसे ही हैं। उनको किसी से भी उपमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि सिद्धेतर कोई भी ऐसा पदार्थ जगत् में नहीं है, जो उनके समान हो।

तीनों लोकों में सिद्ध भगवान् के अनंत गुणों के अनंतवें अंश जैसा भी कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए उनकी समानता कोई भी नहीं कर सकता। जैसे आकाश का, काल का अंत ज्ञात नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सिद्ध भगवान् के स्वाभाविक गुणों का कोई अंत नहीं जान सकता।

गगन, मेघ, भानु, अहींद्र, चंद्र, पर्वतों का इंद्र– मेरु, पृथ्वी, अग्नि, पवन, सागर तथा कल्पवृक्ष के

१. (क) आचार्य हेमचन्द्र-काव्यानुशासनञ्च समीक्षात्मकमनुशीलनम्, पृष्ठ : १७४.
(ख) काव्यप्रकाश, उल्लास-१०, सूत्र-१३४.

गुणों के समग्र समवाय का भी चिंतन किया जाए, सिद्ध भगवान् को उपमा देने हेतु उन पर विचार किया जाए तो भी सिद्ध भगवान् के गुणों के साथ उनके गुणों की कोई समानता या तुलना नहीं हो सकती।

सिद्ध भगवान् के गुण पूर्वकाल में नहीं थे, यह बात नहीं है, अर्थात् पूर्व में भी आत्मशक्ति के रूप में थे, कर्माच्छिन्न होने के कारण ज्ञात नहीं होते थे, क्योंकि असत् का, जो जिसमें नहीं है, उसका उत्पाद् या प्रादुर्भाव नहीं होता। जो जिसमें है, वही प्रकट होता है। आत्मा में मूलरूप से सिद्धत्व के गुण विद्यमान हैं, जो साधना द्वारा प्रकट होते हैं। वे किसी विशेष प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न नहीं हैं। वे स्वाभाविक हैं, अभूतपूर्व हैं।

सिद्धों का माहात्म्य– महत्ता, गरिमा वाणी द्वारा व्याख्यात नहीं की जा सकती। सिद्धों का ज्ञानात्मक वैभव अनंत है। वह सर्वज्ञों के ज्ञान का विषय है। त्रयोदश गुणस्थानवर्ती केवली भगवान् ही उनके गुणों को जानते हैं।

यहाँ इतनी और विशेष बात है, सर्वज्ञ देव सिद्धों के गुणों को जानते तो हैं, किंतु यदि वे उन गुणों का सम्यक् समाधान पूर्वक वर्णन करें तो वे भी उनका पार– अंत नहीं पा सकते, क्योंकि वचनों की संख्या स्वल्प है– सीमित है तथा गुणों की कोई सीमा या अंत नहीं है। ससीम, असीम को कैसे व्यक्त कर सकता है ?

यहाँ आचार्य शुभचन्द्र ने जो कहा है– उपनिषदों के ऋषि भी उसी बात को परब्रह्म, परमात्मा के संबंध में प्रतिपादित करते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी तीनों लोकों के तिलक रूप हैं। मस्तक में तिलक का जो स्थान है, लोक में वैसा ही सिद्धों का सर्वोच्च, सर्वोत्तम स्थान है। वे समग्र विषयों से अतीत, निर्द्वन्द्व, अविनश्वर, इंद्रियातीत, आत्मस्वभावजनित, आनंदस्वरूप, निरुपम, अविच्छिन्न, ज्ञान एवं सुख रूप अमृत का पान करते हुए त्रैलोक्य के शिखर पर स्थिर हैं– विराजित हैं।

अनंतवीर्य– अपरिमित आत्मशक्ति-युक्त, दर्शन, ज्ञान एवं सुखरूप अमूल्य रत्नों से अवकीर्ण– परिव्याप्त, संसाररूप अंधकार को विध्वस्त कर सूर्य के समान सुशोभित सिद्ध भगवान् अपनी आत्मा से ही समुत्पन्न, अनंत, नित्य, उत्तम शिवसुखमय सुधा के सागर में सदैव निमग्न रहते हैं। वे विकल्प रहित हैं। उनकी महिमा, महत्त्व, गौरव, अप्रतिहत है– किसी के द्वारा व्याहत या बाधित नहीं है, वे त्रैलोक्य के मस्तक पर– शिखर पर सदैव निवास करते हैं।[1]

१. ज्ञानार्णव, सर्ग-४२, श्लोक-७२-८५.

आचार्य शुभचंद्र ने उपर्युक्त रुप में सिद्ध भगवान् की विशेषताओं का सुंदर, सरस पदावली में जो विवेचन किया है, वह बड़ा हृदयस्पर्शी है।

सिद्धत्व वह पद है, जो शब्दों का विषय नहीं है। शब्दों की अपनी सीमाएं हैं। वे किसी भी पदार्थ का अपनी सीमाओं के अंतर्गत ही विश्लेषण कर सकते हैं। उससे आगे बढ़ना उन द्वारा शक्य नहीं है। ग्रंथकार ने शब्दों की सीमाओं के अंतर्गत उन निर्मल, उज्ज्वल, अवदात (शुद्ध) भावों को संजोने का बड़ा ही स्तुत्य प्रयास किया है, जिनका सिद्धत्व की महिमा से संबंध है।

इस वर्णन से ग्रंथकार की दो विशेषताएँ स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है, वे बहुत बड़े भाव-शिल्पी होने के साथ-साथ शब्द शिल्पी भी थे। भावशिल्प शब्द-साधना और आत्मानुभूति से जुड़ा है एवं शब्द-शिल्प, वैदुष्य एवं कवित्व-संलग्न होता है।

सुंदर, समीचीन और प्रेरक शब्दावली द्वारा निरुपित तत्त्व पाठकों और श्रोताओं पर ऐसी छाप छोड़ता है, जो तत्काल मिट नहीं पाती। यदि उस छाप को संभाला जाए तो वह हृदय में एक ऐसा परिवर्तन ला सकती है, जिससे जीवन की दिशा ही बदल जाती है।

आचार्य हरिभद्र के शब्दों में साधक ओघ-दृष्टि को लांघकर योग-दृष्टि में आ जाता है।

संसार के प्रवाह में, लौकिक विषयों में, एषणाओं में तन्मय होकर उन्हीं को जीवन का सर्वस्व मानकर उनके प्रवाह में बहते रहना ओघ-दृष्टि है।

अंत:करण में जहाँ बोध की एक हलकी सी रेखा आविर्भूत होती है तब मानव के जीवन में एक परिवर्तन आता है, एक स्फुरणा उत्पन्न होती है कि जिस प्रवाह में वह बह रहा है, उसमें उसका कल्याण नहीं है। वह सत्य के मार्ग की ओर कुछ-कुछ संवेदनशील बनता है। वैसा होना ओघ-दृष्टि से योग-दृष्टि में आना है।[१]

तत्त्वार्थसार दीपक में सिद्ध-विवेचन

भट्टारक श्री सकलकीर्ति ने 'तत्त्वार्थसार दीपक' नामक ग्रंथ की रचना की। उसमें भावना प्रकरण के अंतर्गत अर्हत्-सिद्ध संज्ञक षडात्मक विद्या का संकेत किया है। उन्होंने लिखा है–

अरिहंत और सिद्ध के सुन्दर नामों से समुत्पन्न षडक्षरात्मक यह विद्या (अरिहंत-सिद्ध) तत्त्वभूत है– संसार में सार रूप है। ध्यानी पुरुष सदा उसका जप करें।

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१४,१५ : जैन योग ग्रन्थ-चतुष्टय, पृष्ठ : ४,५.

जो व्यक्ति मानसिक, वाचिक एवं कायिक शुद्धि पूर्वक इस विद्या का– षड् वर्ण समुदाय का तीन सौ बार जप करता है, उसे संवर सिद्ध हो जाता है। अर्थात् कर्मों का निरोध करने की आंतरिक शक्ति जागरित होती है। साथ ही साथ उपवास का भी फल प्राप्त होता हैं।[1]

विशेष

जप का अर्थ है– इष्ट का नाम स्मरण। योग-सूत्र में 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'[2]– जप की यह परिभाषा की है। अर्थात् जिसका जप किया जाता है, तद्गत अर्थ का भावन या चिंतन, मनन भी साथ में रहे, तब जप सार्थक होता है। यहाँ अरिहंत-सिद्ध के नाम जप का जो निर्देश किया है, वहाँ भी यह ज्ञातव्य है कि जप करते समय उनके गुणों का अनुभावन, अनुचिंतन रहे।

उपवास का फल प्राप्त होने का आध्यात्मिक तात्पर्य यह है– उप– समीप, वास– निवास अर्थात् आत्म-सानिध्य या आत्म-स्वरूप का भान और अनुभूति की भी इससे प्रेरणा मिलती है।

तत्त्वार्थसार दीपक में 'चत्तारी मंगलं' से लेकर 'केवलिपण्णत्तं धम्मं शरणं पवज्जामि' के आधार पर एक विशिष्ट विद्या का संकेत किया है। इस विवेचन में लिखा है कि अर्हत्– अरिहंत, सिद्ध तथा सयोग केवली के अक्षरों से उत्पन्न मुक्ति रूपी प्रासाद पर शीघ्र आरोहण करने के लिए सोपान– श्रेणी सदृश पन्द्रह सुन्दर वर्णों से सुशोभित ओंकार आदि युक्त सारभूत विद्या का योगीजन गुणस्थान प्राप्ति हेतु ध्यान करें। वह विद्या– "ॐ अरिहंत, सिद्ध, सयोगी केवली स्वाहा"– के रूप में है।[3]

'णमो सिद्धाणं' पद को उपलक्षित कर कहा है– समस्त कर्म-कलंक-कालुष्य के ओघ– समूह रूप अंधकार का नाश करने में सूर्य के सदृश, श्रेष्ठ, सिद्ध नमस्कार से उत्पन्न साक्षात् शिव– कल्याणप्रद तथा सर्व विघ्न विनाशक, ऐसे पंचवर्णमय मंत्र का लक्ष्य– मोक्ष प्राप्ति हेतु सुयोग्य जन सदा स्मरण करें, जप करें। वह मंत्र है– "णमो सिद्धाणं"।[4]

पंच पदों के आद्य वर्णों– अक्षरों से विरचित मंत्र के संदर्भ में तत्त्वार्थ-सार के रचयिता लिखते हैं कि संजयंत आदि योगिवर्यों ने विद्या-प्रवाद-पूर्व में भुक्ति और मुक्ति के निधान-स्वरूप इस सिद्ध-चक्र का अनेक प्रकार से उद्धार किया है, जो समस्त विघ्नों का नाश करने वाला हैं। गुरुजन के उपदेश से उनके प्रयोजक, शास्त्र के ज्ञान को अवगत कर प्रज्ञाशील पुरुष मुक्ति हेतु उनका ध्यान करें।

---

१. तत्त्वार्थसार दीपक, श्लोक-९०,९१ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : ८४.
२. योग-सूत्र, अध्याय-१, समाधिपाद, सूत्र-२८.
३. तत्त्वार्थसार दीपक, श्लोक-१०३,१०४ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : ८५,८६.
४. तत्त्वार्थसार दीपक, श्लोक-१०७,१०८ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत विभाग), पृष्ठ : ८७.

उनमें 'अ' वर्ण मंत्र पदों के आदिश्वर श्री अरिहंत के नाम का वाचक है। वह मोक्ष-मार्ग में दीपक के तुल्य है। अर्थात् जैसे मार्ग में चलते हुए पथिक को दीपक का प्रकाश अंधकार-युक्त मार्ग में भी चलने में एक आलंबन रहता है, उसी प्रकार मोक्ष के साधना-पथ पर चलने वाले साधक के लिए, यह वर्ण प्रेरणादायक है। 'अ' वर्ण का नाभि-पद्म में स्मरण करें।

इसी प्रकार 'सि' वर्ण का मस्तक-कमल– ब्रह्म-रंध्र में, 'सा' वर्ण का मुख-कमल में, 'आ' वर्ण का कंठ-पद में तथा 'उ' वर्ण का हृदय-कमल में ध्यान करें।

यह मंत्रों का राजा है। मंत्रों में श्रेष्ठ है। यह अनेक प्रकार के अभीष्टों को प्राप्त कराता है तथा अनिष्टों को शांत करता है। वह मंत्र इस प्रकार है– अ-सि-आ-उ-सा।[1]

यहाँ ग्रंथकार ने 'अ' एवं 'सि' वर्ण के पश्चात् 'सा' वर्ण को लिया है। 'सा' वर्ण साधु का सूचक है, जो णमोक्कार में पंचम पद में अवस्थित है। मंत्र के क्रमानुसार 'आ' और 'उ' क्रमागत हैं, तदनंतर 'सा' का स्थान आता है।

ऐसा अनुमान होता है कि ग्रंथकार ने यह सोचकर कि आचार्य, उपाध्याय तो साधुओं में से ही होते हैं, साधुत्व की पृष्ठभूमि पर ही तो आचार्य और उपाध्याय-पद अवस्थित हैं। अत: मंत्र में क्रम को न बदलते हुए उन्होंने व्याख्या में उनके क्रम को इस रूप में परिवर्तित किया हो। मंत्र में तो क्रम नहीं बदला जाता, ऐसा करना दोष है, क्योंकि मंत्र का वर्ण-क्रम पूर्व-परंपरा से प्राप्त है।

जैसा संकेत किया गया है– सिद्ध-चक्र की अंतर्वर्तिनी विद्याएँ और तद्गत मंत्र विद्या-प्रवाद-पूर्व से लिए गए हैं। पूर्व-ज्ञान आप्त पुरुषों की परंपरा से प्राप्त माना जाता है। अत: वहाँ कुछ भी परिवर्तनीय नहीं है।

ग्रंथकार ने यहाँ इस मंत्र के जप के दो फल बताएं हैं। अभीष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-शांति। मोक्षार्थी का अभीष्ट मोक्ष, निर्वाण या सिद्धत्व-प्राप्ति है। यही उसका अंतिम लक्ष्य है। इस साधना में जो विघ्न-बाधाएं, परिषह, उपसर्ग आदि आते हैं, वे सब अनिष्ट हैं। आत्म-साधक की दृष्टि से यहाँ मोक्ष एवं तद्बोधक विघ्न-नाश का ही अभिप्राय है।

जिनका चिंतन सांसारिक दृष्टिकोण पर आधारित होता है, वे उसको भौतिक अभीप्साओं की पूर्ति तथा उनकी प्राप्ति में होने वाले विघ्नों की शांति में लेते हैं।

अपने-अपने पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण होते हैं। उनके अनुसार शब्दों के अर्थ को खींचा जा सकता है। 'शब्दा: कामदुघा:'– ऐसा कहा गया है। अर्थात् जैसे कामधेनु सभी इच्छाओं को पूर्ण करती है,

१. तत्त्वार्थसार दीपक, श्लोक-१३६-१४० : नमस्कार-स्वाध्याय(संस्कृत विभाग), पृष्ठ : ७२.

उसी प्रकार शब्द अनेकानेक अर्थ देने में समर्थ हैं। किंतु महाव्रती साधक के लिये तो मोक्ष से बढ़कर अभीष्ट पद है ही क्या ? अत: उसके लिए तो मोक्षपरक अर्थ की ही संगति बनती है।

सिद्ध विषयक एक अन्य मंत्र का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि यह मंत्र साक्षात् सिद्धि प्रदान करने में समर्थ है, इसका प्रतिदिन स्मरण करना चाहिए। यह समस्त विघ्नों का नाशक है। ज्येष्ठ, श्रेष्ठ या श्रेयस्कर है। वह इस प्रकार है– 'नम: सर्व सिद्धेभ्य:।'

इसी प्रकार उपरोक्त तथा जो अन्य सारभूत मंत्र-पद हैं, उनका योगियों ने जगत् के हित–कल्याण के लिए आगम वाङ्मय से उद्धार किया है। वे निर्वेद के उत्पादक हैं तथा मन के लिए शांतिकारक हैं। वे प्रज्ञाशील पुरुषों द्वारा पदस्थ-ध्यान की सिद्धि के लिये अनुचिंतनीय हैं।

उनके ध्यान से सात्त्विक जनों के राग-द्वेष, इंद्रियासक्ति तथा मोहरूप शत्रुओं का क्षय हो जाता है। समभाव, संवेग– मोक्ष की उत्कट अभिलाषा आदि गुण प्रादूर्भूत होते हैं।

दोषनाशक सारभूत पद, वर्ण, मंत्र-समूह द्वारा संवर, निर्जरा, मोक्ष और मनोजय सिद्ध होते हैं। अत: उन सबका मुनि जन को बार-बार ध्यान और चिंतन करना चाहिए। उन्हें दूसरों को बताना चाहिए। उनकी निरंतर भावना करनी चाहिए।

आत्मा की मुक्ति हेतु इन मंत्रों का सर्वत्र जप करते रहना चाहिए। अपने मन में उनके प्रति निश्चय करना चाहिए कि नि:संदेह ये आदि सत्य हैं तथा उन पर श्रद्धा रखनी चाहिए।

ध्यानी, वीर– आत्मपराक्रमी पुरुषों को सुख-दुख, अनेक अवस्थाओं में जप आदि के द्वारा सुन्दर पदस्थ-ध्यान को स्वायत्त करना चाहिए। स्वप्न में भी इसका त्याग नहीं करना चाहिए।

शयन, आसन और गमन आदि में भी मोक्ष-प्राप्ति का ध्येय सम्मुख रखते हुए ध्यान करते रहना चाहिए। सत्– उत्तम मंत्र के जप से मोह, इंद्रिय-राग एवं कामरूपी चोर तथा दुर्धर, कठोर कषाय सहित पाप-रूप शत्रु अत्यंत क्षीण हो जाते हैं। साधकों को इससे मनोजय, परिषह-जय, कर्म-निरोध, कर्म-निर्जरा, मोक्ष तथा आत्म-जन्य शाश्वत सुख, परम आनन्द प्राप्त होता है।

वीतराग प्रभु ने कहा है कि राग-द्वेष आदि दोषों से रहित वीतराग मुनियों को ही ध्यान-सिद्धि होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है, ऐसा मान कर मनोविजेता साधकों को क्षमा, संतोष आदि द्वारा कषाय और इन्द्रिय रूप सुभटों को जीत कर, राग-द्वेषादि शत्रुओं का हनन कर तथा सर्वत्र, सर्वथा समत्व को धारण कर सिद्धत्व प्राप्त करने हेतु समग्र प्रयत्न पूर्वक पदस्थ-ध्यान का विविध रूप में अभ्यास करना चाहिए।[1]

१. तत्त्वार्थसार दीपक, श्लोक-१४८-१५४ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत विभाग), पृष्ठ : ९४.

अनुचिन्तन

यहाँ सिद्धत्व-प्राप्ति हेतु ध्यान करने का जो संकेत रूप में दिशा-दर्शन दिया है, उसमें एक बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। सामान्यत: लोग किसी एक विशेष समय में ध्यान करते हैं। फिर अपने-अपने कार्यों में लग जाते हैं। उन्होंने क्या ध्यान किया, क्या अनुचिंतन किया, उसकी कुछ भी झलक उनमें रह नहीं जाती। ध्यान की सूक्ष्म व्याप्ति जीवन में ढ़लनी चाहिए। उससे वृत्ति में एक ऐसा परिष्कार आता है कि उसकी आत्मा असत् या पापमय कर्म में प्रवृत्त होते रुक जाती है।

ध्यान, साधना आदि अनुबद्धता से ही सिद्ध होते हैं, यह वास्तविकता नहीं है। अत एव यहाँ ग्रंथकार ने कहा है कि उठते, बैठते, सोते, जागते, दिन में, रात में, आते, जाते, सभी समय सांसारिक कार्य करते हुए भी मन में ध्यान-जन्य आत्मानुभूति का आभास रहना चाहिए। यहाँ तक कहा है कि स्वप्न में भी ऐसी ही स्थिति रहे। यह आराधना का जीवनव्यापी रूप है। आज वैसा बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। पूजा, उपासना, आराधना आदि सब औपचारिक तथा प्रथात्मक रूप लेते जा रहे हैं। अत एव उनकी तेजस्विता बाधित सी प्रतीत होती है। उसे पुन: उभारने की दिशा में साधक को प्रस्तुत विवेचन से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए।

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र

श्री रत्नचंद्र गणि विरचित 'मातृका-प्रंकरण-संदर्भ' नामक ग्रंथ में 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र का वर्णन आया है। अरिहंत, अज– अजन्मा– जन्म-मरण-रहित, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि– इनके पाँचों आद्य अक्षर अ+अ+आ+उ+म्– मिलकर, जिसमें राजित– सुशोभित होते हैं, वह ओंकार पद है। ॐ इन पाँच अक्षरों के मेल से बना है।

"ॐ नम: सिद्धम्" इस मंत्र में तीन पद हैं। इसमें पहला पद जो एकाक्षर 'ॐ' है, वह प्रणव है तथा मंत्र का बीज है। दूसरा पद ' ॐ नम:'– तीन अक्षर युक्त है। वह मंत्र का मूल है। तीसरा पद 'ॐ सिद्धम्' भी तीन अक्षर युक्त है, जो मंत्र की शिखा है। संपूर्ण मंत्र 'ॐ नम: सिद्धम्' है, जो पाँच अक्षर युक्त है। इस प्रकार अक्षरों के विभाग के अनुक्रम से मंत्र का चार प्रकार से जप किया जाए तो उसका अनंत फल प्राप्त होता है।

एक व्यक्ति नमस्कार करता है। दूसरा अनुशंसा, प्रशंसा या अनुमोदना करता है। नमस्कार करने वाले को चाहे फल मिले या न मिले, किन्तु अनुमोदना करने वाले को यथेष्ट फल प्राप्त होता ही है।[1]

---

१. मातृका-प्रकरण-संदर्भ, श्लोक-१-३ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : २४८.

इसका आशय यह है कि यदि कोई स्वयं नमस्कार न कर सके तो कम से कम वह उनकी प्रशंसा या अनुमोदना तो करे।

यहाँ नमस्कार का फल मिले या न मिले, ऐसा कहने में फल-प्राप्ति में संशय का भाव नहीं है। नमस्कार का फल तो मिलता ही है। उसका फल न मिल पाए, ऐसा कभी नहीं होता, किन्तु जो नमस्कार नहीं करते, वे कम से कम अनुमोदना तो करें, कुछ निकट तो आएं। उनमें प्रेरणा जगाना, आत्म-चेतना उत्पन्न करना, यहाँ व्यंजनागम्य अर्थ है।

आचार-दिनकर-संदर्भ में सिद्ध-स्तुति

आचार्य श्री वर्धमान सूरि ने स्वरचित 'आचार-दिनकर-संदर्भ' नामक ग्रंथ में मंगलाचरण के रूप में छः श्लोक लिखे हैं। उन्होंने तीसरे श्लोक में सिद्ध भगवान् की स्तवना की है।

उन्होंने लिखा है– "जिन्होंने दीर्घकालिक स्थिति से युक्त अत्यंत निकाचित– प्रगाढ़ बंधन द्वारा बंधे हुए, विषम, विपरीत, विपाक-युक्त, अभेद्य– जिन्हें भिन्न कर पाना, मिटा पाना कठिन है, उन अष्टविध कर्मों को नष्ट कर डाला और परम-पद– मोक्ष प्राप्त कर लिया, वे सिद्ध भगवान् हमें महती कार्य-सिद्धि प्रदान करें। वे हमारे मोक्ष रूप लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रेरक बनें।[१]

अनुचिन्तन

सिद्ध हमें अपने कार्य में सिद्धि प्रदान करें, ऐसा जो प्रस्तुत श्लोक में उल्लेख हुआ है, उसके साथ एक सूक्ष्म आशय संलग्न है। यह सुविदित है कि सिद्ध संसार से सर्वथा विमुक्त हैं। अनुग्रह, निग्रह आदि सभी भावों से वे अतीत हैं। इसलिए वे किसी को कुछ प्रदान करें, यह कदापि संभव नहीं है, किंतु एक भक्त, जब भक्ति के उद्रेक से ऐसा भाव प्रगट करता है, वहाँ सिद्ध भगवान् को वह अपने सर्वोच्च आदर्श के रूप में स्वीकार करता है। ऐसी मानसिक, सात्त्विक प्रवृत्ति स्वयं ही एक ऐसे वातावरण का परिवेश या स्थिति का निर्माण करती है कि भक्त की वांछा स्वयं ही सफल हो जाती है, किंतु वह भक्त सफलता की फल प्राप्ति का महत्त्व भी उन्हीं को देना चाहता है। इसलिए भक्त के मुंह से ऐसी ही वाणी मुखरित होती है।

साम्य का मोक्ष रूप फल

आचार्य श्री मुनिसुंदर सूरि स्वरचित अध्यात्म-कल्पद्रुम नामक ग्रंथ में तत्त्वज्ञों को संबोधित करते हुए साम्य या समता की विशेषता बतलाते हैं–

१. आचार-दिनकर-सन्दर्भ, श्लोक-३ : नमस्कार-स्वाध्याय (संस्कृत-विभाग), पृष्ठ : २४१.

"अभ्यास-योग द्वारा समता को आत्मसात् करो, अपनाओ। सबको आत्म-सदृश समझो, भव-- जन्म-मरण के भय को मिटा देने वाली शिवसंपदा या मोक्षरूपी संपत्ति तत्काल-- अ हस्तगत कर पाओगे।"[1]

जीवन में समताभाव आ जाने से, हिंसा आदि असत् प्रवृत्तियाँ स्वयमेव रुक जाती हैं। आत्मोन्मुख बन जाता है। फलत: आत्मा के शुद्ध स्वरूप में उसकी अवस्थिति हो जाती है। सब से-- भव-भ्रमण, जन्म-मरण आदि से वह जीव विमुक्त हो जाता है।

महाप्रभाविक नवस्मरण में सिद्ध-पद

'महाप्रभाविक नवस्मरण' नामक ग्रंथ में सिद्ध-पद की निरुक्ति, निष्पत्ति बतलाते हुए उन शुक्ल-ध्यान की जाज्वल्यमान अग्नि द्वारा कर्मों को दग्ध करने वाला बताया है।

'षिधू' धातु जो गत्यर्थक है, उसके द्वारा सिद्ध शब्द की निष्पत्ति बतलाई है। उसका अ अपुनरावृत्ति है। अर्थात् वे मोक्ष गति में चले गए, जहाँ से कभी पुनरागमन नहीं होता।

सिद्ध शब्द का अर्थ यह भी बतलाया गया है कि उनके सब कार्य सिद्ध हो गए हैं। कुछ भी कर शेष नहीं रहा, इत्यादि।[2]

सिद्ध भगवान् के आठ गुण

इसी ग्रंथ में सिद्ध भगवान् के आठ गुणों की चर्चा है--

नाणं च दंसणं चेव, अव्वाबाहं तहेव सम्मतं।
अक्खठिइ अरुवी, अगुरुलहु वीरियं हवइ।।

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अव्याबाध सुख, अनंत चारित्र, अक्षय स्थिति, अरूपता-- अमूर्त्तता, अगुरुलघुत्व तथा अनंतवीर्य-- ये सिद्धों के आठ गुण हैं।

१. अनंत ज्ञान

ज्ञानावरणीय-कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से केवल ज्ञान प्राप्त होता है। वह उन्हें अधिगत है। जिससे वे लोक और अलोक के स्वरूप को जानते हैं।

१. अध्यात्मकल्पद्रुम, अधिकार-१६, श्लोक-१, पृष्ठ : ३६२.
२. महाप्रभाविक नवस्मरण, पृष्ठ : ३०.

२. अनंत दर्शन

दर्शनावरणीय-कर्म का सर्वथा क्षय होने से उन्हें केवल दर्शन प्राप्त है। इससे वे लोक के अलोक स्वरूप को देखते हैं।

३. अव्याबाध सुख

वेदनीय-कर्म सर्वथा क्षय होने से वे सब प्रकार की पीड़ाओं से रहित हैं। उन्हें अव्याबाध-बाधा रहित अनंत सुख प्राप्त हैं।

४. अनंत चारित्र

मोहनीय-कर्म का सर्वथा क्षय होने से उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व तथा यथाख्यात चारित्र प्राप्त है। वे सदैव आत्म-स्वभाव में अवस्थित हैं।

५. अक्षय स्थिति

आयुष्य-कर्म का सदा क्षय होने से उन्हें सर्वथा अनंत स्थिति प्राप्त है।

६. अमूर्त्तता

नाम-कर्म का सर्वथा क्षय होने से वे वर्ण, गंध, रूप, रस, स्पर्श रहित हैं, क्योंकि जब शरीर होता है, तभी वर्ण आदि होते हैं। सिद्ध भगवान् अशरीरी हैं, अरूपी हैं, अमूर्त्त हैं।

७. अगुरु लघु

गोत्र कर्म का सर्वथा क्षय होने से भारीपन, हलकापन, ऊँचापन, नीचापन आदि के व्यवहार से रहित हैं।

८. अनंत वीर्य

अंतराय कर्म के सर्वथा क्षीण होने से वे अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग तथा अनंत वीर्य-युक्त हैं अर्थात् वे समग्र लोक को अलोक कर सकते हैं तथा अलोक को लोक कर सकते हैं। ऐसी सिद्धों में स्वाभाविक शक्ति होती है, किंतु वे अपनी वीर्य-शक्ति या पराक्रम का कभी उपयोग नहीं करते, न ही किया है और न ही करेंगे, क्योंकि उनका पुद्गल के साथ कोई संबंध नहीं है। अतः वे अपने अनंत वीर्य, अनंत शक्ति के गुण द्वारा अपने आत्म-गुणों में परिणत हैं। वहाँ उनकी शक्ति उसी रूप में विद्यमान है। अन्य किसी रूप में परिणत नहीं होती।[१]

१. (क) महाप्रभाविक नवस्मरण, पृष्ठ : ५४,५५. (ख) जिनतत्त्व, भाग-६, पृष्ठ : ६२-६४.
(ग) श्रावक जीवन, भाग-४, पृष्ठ : ६८.

"आचार्य श्री शिवार्य ने भगवती आराधना में सिद्धों के अनुपम, अव्याबाध सुख आदि का वर्णन करते हुए उनकी आराधना करने की प्रेरणा दी है, जो साधक के मन में उत्सुकता उत्पन्न करती है।"[१]

आचार्य योगीन्दुदेव ने 'अमृताशीति' में शुद्धात्मस्वरूप परमात्म-तत्त्व का विश्लेषण करते हुए साधकों को परब्रह्म-स्वरूप में तन्मय होने का उद्‌बोधन देते हुए कहा है–

"निज शुद्धात्मा का रुचिरूप सम्यक् दर्शन, निजपरमात्मतत्त्व का परिच्छित्तिरूप सम्यग्ज्ञान और निजनिरञ्जन परमात्मतत्त्व का निश्चल अनुभूतिरूप सम्यक् चारित्र– ऐसे निश्चयरत्नत्रयात्मक निजस्वरूप में अन्दर जाकर अगाध जलनिधि(समुद्र) के समान गंभीर स्वरूप-युक्त परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है। तुम भी हे निश्चयज्ञ ! मेरे वचनों के सार को समझकर उस परब्रह्मस्वरूप में निवास करो। (इससे तुम) संसार के समाप्ति रूप-स्थित, अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त निःश्रेयस् (मोक्ष) के अधिपति हो जाओगे।"[२]

सिद्धत्व आत्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। वह अनंत ज्ञानमय है। सर्वथा शाश्वत है, अनंत अध्यात्मिक आनंदमय है। मूर्त्तत्व से वर्जित है। इसलिए मूर्त्त शरीर के साथ घटित होने वाली स्थितियों से रहित है। अनंत शक्तिमय है।

इन गुणों के स्मरण से मोक्ष-मार्ग के पथिकों को यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि उनकी आत्माओं में भी ये सभी गुण विद्यमान हैं, जिनको संवर-निर्जरामूलक आत्म-पुरुषार्थ द्वारा अधिकृत कर सकते हैं।

ज्ञाप्य है कि इस विवेचन के अन्तर्गत आठ कर्मों के क्षय से सिद्धावस्था में प्राप्त होने वाले आठ गुणों की चर्चा आई है। अतः प्रसंगोपात्त रूप में यहाँ आठ कर्मों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा हैं।

अमूर्त्त, चैतन्य-स्वरूप जीव के साथ लगे हुए सूक्ष्म मलावरण, कर्म कहे जाते हैं। कर्म पुद्‌गल हैं, जड़ हैं। कर्म के परमाणु कर्मदल कहलाते हैं। आत्मा पर स्थित राग-द्वेष रूपी चिकनेपन और योग रूपी चांचल्य के कारण कर्म परमाणु आत्मा के साथ संश्लिष्ट होते जाते हैं। यह ज्ञातव्य है कि कर्मदल आत्मा के साथ अनादिकाल से लगे हुए हैं। उनमें से कई पृथक् होते रहते हैं और कई नये लगते रहते हैं। यह प्रक्रिया निरंतर चालू रहती है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग के कारण आत्मा कर्म-वर्गणा ग्रहण करती रहती

१. भगवती आराधना, गाथा-२१४७-२१५७, पृष्ठ : ९०४-९०६.
२. अमृताशीति (सटीक), श्लोक-६०, पृष्ठ : ११९, १२०.

है। कर्म-वर्गणा एक प्रकार की अत्यंत सूक्ष्म रज है। उसे सर्वज्ञ या अवधिज्ञानी ही जान सकते हैं।

शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और संश्लिष्ट होकर कर्म पुद्गल आत्मा के स्वरूप को ढ़कते हैं, विकृत करते हैं, शुभ या अशुभ फल के कारण बनते हैं।

केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक-सुख, क्षायक-सम्यक्त्व, अटल-अवगाहन, अमूर्त्तत्व, अगुरुलघुत्व एवं लब्धि– आत्मा के ये आठ गुण हैं। इनको आवृत्त करने के कारण कर्मों के आठ भेद हैं। ये निम्नांकित हैं–

१. ज्ञानावरणीय-कर्म

आत्मा का पहला गुण केवलज्ञान है। जो कर्म-पुद्गल उसको रोकते हैं, वे ज्ञानावरणीय-कर्म कहलाते हैं। संसार में जितनी आत्माएँ हैं, उन सबमें अनंत ज्ञान विद्यमान है, परंतु जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय नहीं होता, तब तक वह ज्ञान उससे ढ़का रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से केवल ज्ञान प्रगट होता है।

२. दर्शनावरणीय-कर्म

आत्मा का दूसरा गुण केवल-दर्शन है, वह भी ज्ञान की तरह सब आत्माओं में विद्यमान है। इसको आवृत करने वाले कर्म पुद्गल दर्शनावरणीय कहलाते हैं। इसका क्षय होने से केवल दर्शन प्रगट होता है।

३. वेदनीय-कर्म

आत्मा का तीसरा गुण आत्मिक सुख है। इसको रोकने वाले कर्म-पुद्गल वेदनीय कर्म कहलाते हैं। साता-वेदनीय और असाता-वेदनीय के रूप में इसके दो भेद हैं। साता वेदनीय के परिणाम स्वरूप भौतिक-सुख प्राप्त होते हैं तथा असाता वेदनीय के परिणाम स्वरूप भौतिक दुःख प्राप्त होते हैं। वेदनीय कर्म का क्षय होने से ये दोनों ही मिट जाते हैं।

४. मोहनीय-कर्म

आत्मा का चौथा गुण सम्यक श्रद्धान् है। जो कर्म पुद्गल उसको रोकते हैं, उन्हें मोहनीय कर्म कहा जाता है। सम्यक् श्रद्धान् आध्यात्मिक विकास का प्रथम चरण है। उसके बिना आत्मोपासना संभव नहीं होती।

५. आयुष्य-कर्म

आत्मा का पाँचवां गुण अटल अवगाहन है। अटल-अवगाहन या शाश्वत-स्थिरता को जो

कर्म-पुद्गल रोकते हैं, वे आयुष्य-कर्म कहलाते हैं। इनका क्षय होने से आत्मा का अटल-अवगाहन व्यक्त होता है।

६. नाम-कर्म

आत्मा का छठा गुण अमूर्त्तत्त्व है। जो कर्म पुद्गल उसको रोकते हैं, वे नाम-कर्म कहे जाते हैं। नाम-कर्म के उदय से शरीर प्राप्त होता है। शरीर स्थित अमूर्त्त आत्मा भी मूर्त्त शरीर के कारण मूर्त्त सी प्रतीत होती है। उसका क्षय होने से आत्मा का अमूर्त्तत्त्व प्रकट होता है।

७.गोत्र-कर्म

अगुरु लघुत्व आत्मा का सातवाँ गुण है, क्योंकि आत्मा न बड़ी और न छोटी है। इस गुण को रोकने वाले कर्म-पुद्गल गोत्र-कर्म कहलाते हैं। उसका क्षय होने से आत्मा का अमूर्त्तत्व उद्घाटित होता है।

८. अंतराय-कर्म

आत्माश्रय का आठवां गुण लब्धि है। जो कर्म पुद्गल उसको रोकते हैं, वे अंतराय-कर्म कहलाते हैं। उसका क्षय होने से लब्धि या लाभ में होने वाले विघ्न दूर हो जाते हैं।[1]

घाति-अघाति कर्म

आत्मा के साथ संश्लिष्ट होने वाले कर्म-पुद्गलों को दो भागों में विभक्त किया गया है, जो घाति-कर्म और अघाति-कर्म कहलाते हैं। जो कर्म पुद्गल आत्मा के मुख्य या मूल गुणों का घात करते हैं, आवरण करते हैं, उनको घाति-कर्म कहा जाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय– ये चार घाति-कर्म हैं। इनका क्षय या मूलोच्छेद होने से ही आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन सकती है।

जो कर्म आत्मा के मुख्य या मूलगुणों का घात नहीं करते, वे अघाति कर्म कहलाते हैं। घाति-कर्मों के नष्ट हो जाने पर ये कर्म पनपते नहीं, उसी जन्म में क्षीण हो जाते हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र– ये चार अघाति कर्म हैं।[2]

ये आठ कर्म आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आवृत्त किए रहते हैं। जब तक ये क्षीण नहीं होते तब तक आत्मा अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाती। जब इन आठों कर्मों का संपूर्णतः क्षय हो जाता है, आत्मा अपनी परम शुद्धावस्था को स्वायत्त कर लेती है। शुद्धावस्था ही सिद्धावस्था है।

१. जीव-अजीवं, पृष्ठ : ४८,४९.
२. नीति दीपक शतक, प्रकरण-३, श्लोक-९,१०.

पंच-परमेष्ठि-स्तवन में सिद्ध-पद

पंच-परमेष्ठि-स्तवन के अंतर्गत द्वितीय श्लोक में सिद्ध-पद का वर्णन है। वहाँ कहा गया है–

लोक के अग्रभाग में जिनका निवास है, संसार के भयों से जो मुक्त है, सर्वज्ञत्व द्वारा जिन्होंने समस्त पदार्थ-समूहों को ज्ञात कर लिया है, जो स्वाभाविक, सुस्थिर तथा विशिष्ट आत्मसुख से समृद्ध हैं, जिनका कर्म-रूप कालुष्य विनष्ट हो गया है, वे सिद्ध जयशील हैं।[1]

अरिहंत भक्ति : सिद्धत्व-प्राप्ति का पथ

जिस प्रकार सूर्य के उदित होने से अंधकार मिट जाता हैं, कमल खिल उठते हैं, उल्लू अंधे बन जाते हैं तथा चंद्रविकसित कुमुद कुम्हला जाते हैं, उसी प्रकार अरिहंत के भक्ति रूपी सूर्य का उदय होने से अज्ञानरूपी अंधकार नष्ट हो जाता है, भक्तजनों का मन-कमल विकसित हो जाता है, पाप पंक्तिरूप उल्लूक-श्रेणी आलोकहीन बन जाती है तथा मद, मोह और अभिमान रूपी कुमुद तत्क्षण कुम्हला जाते हैं।

जो पुरुष शुद्ध हृदय से अरिहंत देव की भक्ति करता है, उसके घर का आंगन स्वर्ग-तुल्य हो जाता है। सुख-संपत्ति सहज ही उसकी सहचरी बन जाती है। वह संसार-सागर को पार कर लेता है तथा मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सिद्ध बन जाता है।[2]

सिद्धों की सिद्ध-साध्यता

जो निष्ठित अर्थात् पूर्णत: अपने स्वरूप में स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहा जाता है।

यहाँ सिद्धत्व की व्याख्या में निष्ठितादि जिन चार विशेषणों का प्रयोग हुआ है, वह महत्त्वपूर्ण है। संसारी जीव शुद्ध स्वरूप में विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि वे कार्मिक आवरणों से आवृत्त हैं। जब वे आवरण अपगत हो जाते हैं तब जीव अपने शुद्ध स्वरूप में समवस्थित हो जाते हैं। जो करने योग्य था, वह सब कृत हो जाता है, समाप्त हो जाता है, इसलिये वास्तव में कृतकृत्यावस्था पा लेते हैं। यही उनकी साधना की संपन्नता है, सिद्धत्वोपलब्धि है।[3]

---

१. जीव-अजीव, पृष्ठ ५०.
२. पंच-परमेष्ठि-स्तवन, श्लोक-२ : नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत विभाग), पृष्ठ : २१८.
३. णमो सिद्धाणं, भाग-१, पृष्ठ : ५.

आठ कर्मों का क्षय कर जो सिद्ध बने हैं तथा स्वाभविक, ज्ञान दर्शन की समृद्धि एवं सर्व अर्थों की लब्धि से संपन्न, निष्पन्न हुए हैं, ऐसे वे सिद्ध परमात्मा-शरणरूप हैं।[१]

सिद्ध का अर्थ पूर्ण है। जो राग-द्वेष रूप शत्रुओं को जीत कर, अरिहंत बन कर, चौदहवें गुणस्थान की भूमिका को भी पार कर सदा के लिए जन्म-मरण से रहित होकर, शरीर और शरीर-सबंधी सुख-दुःखों को लांघ कर, अनंत, एक रस आत्मस्वरूप में स्थित हो गए हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध-दशा मुक्त-दशा है। वहाँ आत्मा ही आत्मा है। वहाँ कर्म नहीं हैं और कर्म-बंधन के कारण भी नहीं हैं। अत एव वहाँ से लौट कर संसार में जन्म-मरण के चक्र में आना नहीं होता।[२]

शुद्धनय के अनुसार सभी जीव स्वत: सिद्ध शुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव हैं।[३]

वैराग्य भावना में श्री भक्तिविजयजी द्वारा किये गए विवेचन के अनुसार सिद्ध-चक्र की स्तुति में लिखा है कि नवपद का सदैव ध्यान करें। वहाँ मयणासुंदरी का उदाहरण दिया गया है। सिद्धाचल तलहटी का भी वर्णन है।[४]

अहिंसा को निर्वाण की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि यह निर्वाण अर्थात् मोक्ष का कारण होती है अथवा यों कहे कि यह मोक्षदायिनी होती हैं।[५]

सार-संक्षेप

उपर्युक्त वर्णन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि सिद्धत्व वस्तुत: कहीं बाहर से नहीं आता। वह तो अपनी आत्मा में ही समवस्थित है। जब आत्मा का 'स्व-भाव', 'पर-भाव' की सघन परतों से आच्छादित रहता है, तब उसकी प्रतीति नहीं होती। जब तक यह अवस्था छूटती नहीं, तब तक परमज्योतिर्मय आत्मा अज्ञान अंधकार से आवृत्त रहती है। उसे तथ्यातथ्य का विवेक नहीं होता। वह सत्य को गृहीत नहीं कर पाती, किन्तु जब सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप परम-उज्ज्वल आध्यात्मिक रत्न उसे प्राप्त हो जाते हैं तो चिरकाल से व्याप्त अंधकार ध्वस्त हो जाता है। अंत:करण में आत्म-भाव की दिव्य लौ जल उठती है। जिसके द्वारा स्व और पर को, स्वभाव और विभाव को परखने की क्षमता आ जाती है। फिर विकास के पथ पर आगे बढ़ने में आत्मा को देर नहीं लगती। अंत:करण में शुद्धभाव जिस परिणाम में तीव्रता करते हैं, तदनुसार त्वरापूर्वक आत्मा की

१. सिद्धशरण, पृष्ठ : २०८.
२. जैन अंगशास्त्र के अनुसार मानव-व्यक्तित्व का विकास, पृष्ठ : १२९.
३. कुंदकुंदाची तीन रत्ने, श्लोक-१.
४. वैराग्य भावना, पृष्ठ : २४२.
५. जैन धर्म में अहिंसा, पृष्ठ : १७४.

परिणामोन्मुखी यात्रा गतिशील रहती हैं। उसी की अंतिम मंजिल सिद्धावस्था है।

महान् ज्ञानियों ने, ग्रंथकारों ने इस भाव को अपनी-अपनी शैली में संक्षेप में प्रतिपादित किया है।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ के इस अध्याय में उस पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है, जिससे आगे इस विषय पर विशद, विश्लेषणात्मक, समीक्षात्मक विवेचन करने में आधार रूप पृष्ठभूमि प्राप्त रहे।

जैन आगम वाङ्मय तथा तदनुस्यूत विपुल साहित्य, ज्ञान रूप दिव्य रत्नों का अक्षय भंडार है, जिसमें जीवन के अनेक पक्षों का विस्तृत विवेचन हुआ है। उसका लक्ष्य आत्मस्वरूपावबोध तथा तदुपलब्धि हेतु जीव द्वारा किए जाने वाले आध्यात्मिक उपक्रमों के रूप में विस्तार से व्याख्यात हुआ है। साधना का परम साध्य मुक्तावस्था या सिद्धावस्था है। अत एव इस वाङ्मय में सिद्धत्व का विविध अपेक्षाओं से जो विस्तृत विवेचन हुआ है, वह वास्तव में प्रत्येक मुमुक्षु के लिए पठनीय है। पंचम अध्याय में इन्हीं विषयों पर समीक्षात्मक दृष्टि से बहुमुखी विश्लेषण किया जाएगा।

परम सत्य एक है, उस तक पहुँचने के विविध मार्ग हैं। विविधता के बावजूद उनमें एक ऐसी आध्यात्मिक समरसता है, जो बहिर्दृष्ट्या भिन्न दिखने पर भी परम सत्य में जाकर एकाकार हो जाती है।

जैन मनीषियों ने साधकों की विविध रुचियों का आकलन करते हुए सिद्धत्व के साक्षात्कार हेतु अनेक पथ प्रतिपादित किए हैं, जो अपनी-अपनी अपेक्षा से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें चतुर्दश गुणस्थानमूलक एक ऐसा सोपान-क्रम है, जो जीव को मिथ्यात्व से पृथक् कर उत्तरोत्तर विरतिमूलक साधना में अग्रसर करता हुआ, अंततः सिद्धत्व प्राप्त करा देता है। वह अयोगी केवली गुणस्थान के रूप में विश्रुत है, जो इस सोपान-क्रम की अंतिम मंजिल है, जहाँ पहुँचने के बाद आवागमन सदा के लिए विराम पा लेता है। यही सिद्धावस्था है।

पंचम अध्याय

सिद्धत्व-पथ : गुणस्थानमूलक सोपान-क्रम

परमलक्ष्योन्मुखी उपक्रम

भारतीय परंपरा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जीवन के ये चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए हैं। मोक्ष इनमें अंतिम है। भारतीय चिंतन के अनुसार यह जीवन का उत्कृष्टतम या सर्वोत्तम विकास है। यह आत्मा की सहज अवस्था है। वह निरतिशय आनंदात्मक स्थिति है। उस आनंद से बढ़कर दूसरा कोई आनंद नहीं है।

मोक्ष का अर्थ छुटकारा या बंधन से मुक्ति है। वह बंधन क्या है ? उससे कैसे छूटा जा सकता है ? बंधे हुए और छूटे हुए की स्थिति में क्या अंतर हैं ? ये वे प्रश्न हैं, जिनके समाधान में भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है।

जैन दर्शन और अद्वैत वेदांत के अनुसार जीव वस्तुत: आनंद-स्वरूप है, शुद्ध एवं बुद्ध है। दु:खात्मकता, अशुद्धता और अबुद्धता वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह उसकी वैभाविक दशा है। इस दशा का क्या कारण है? इसकी व्याख्या में विभिन्न दर्शनों में कर्म, अविद्या, माया, अज्ञान आदि नामों से विश्लेषण किया गया है।

विभाव से हटकर पुन: स्वभाव में आने के पुरुषार्थ की प्रक्रिया या साधना की यात्रा भारतीय चिंतन-धारा की एक सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

जीव कब, किसी एक स्थिति से, किसी अन्य स्थिति में, कैसे पहुँचता है, पहुँचने का कैसा स्वरूप और विधिक्रम है ? इत्यादि अनेक तथ्यों का विवेचन उक्त प्रसंग में बहुत ही सुंदर, विशद और व्यापक रूप में प्राप्त होता है। अध:स्थित आत्मा के ऊर्ध्वगामी पराक्रम के परिणाम-स्वरूप विकास की विविध कोटियाँ उद्भूत होती हैं, जिनका परिसमापन आत्मा के शुद्ध-स्वरूप के पुन: अधिगम में है, जीवन के परम साध्य सिद्धत्व या मुक्तत्व की प्राप्ति में है।

उस स्थिति– मोक्षावस्था या सिद्धावस्था तक पहुँचने का प्रमुख माध्यम, प्राय: सभी तात्त्विक धाराओं में आत्मा की उत्तरोत्तर सत्त्वोन्मुखी या स्वोन्मुखी विकासशीलता तथा उज्ज्वलता माना गया है। यह यकायक प्राप्त हो सके, ऐसा संभव नहीं है।

विकृतियों के साथ जूझता हुआ जीव अपने स्वाभाविक बल का आश्रय लिए हुए अग्रसर होने को

उद्यत रहता है। अंतिम साध्य तक पहुँचने में अनेक विघ्न या बाधाएँ आती हैं। उनका पराभव करते हुए साधक को अपने साध्य की दिशा में निरंतर गतिशील रहना होता है।

जैसे किसी गगनचुंबी प्रासाद के ऊपर पहुँचने के लिए क्रमशः अनेक सोपानों को पार करते हुए उत्तरोत्तर अग्रसर होना होता है, उसी प्रकार जीवन के अंतिम, सर्वोच्च, सर्वातिशायी परमध्येय– मोक्ष या सिद्धत्व तक पहुँचने के लिए आत्मा को क्रमशः विकास के एक सोपान-मार्ग को पार करना होता है। जैन दर्शन में आत्मा के इस ऊर्ध्वगामी विकास-क्रम को 'गुणस्थान' के नाम से व्याख्यात किया गया है।[1]

गुणस्थान का स्वरूप

जीवात्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुण के विकास-हास की अवस्थाएं , श्रेणियाँ गुणस्थान हैं।

गुणस्थान में गुण+स्थान दो शब्द हैं। गुण का अर्थ ज्ञान, दर्शन, चारित्र से और स्थान का अभिप्राय अवस्था, स्थिति-विशेष अर्थात् कर्मों के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से होने वाली आत्मा की विशिष्ट अवस्थाओं से है।

दूसरे शब्दों में आत्मा की अशुद्धतम अवस्था के परिहार से लेकर शुद्धतम दशा तक– मुक्तावस्था तक की विकास भूमिकाएँ गुणस्थान हैं। जैन दर्शन में इन्हें चौदह भागों में बांटा गया है। आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नतिशील निर्मलता से गुणस्थान क्रमशः ऊँचे होते जाते हैं।

गुणस्थान आत्मा के गुण को, मूल स्वभाव या शक्ति को, जो कर्मों से आच्छादित है, आत्मा के पराक्रम, अध्यवसाय द्वारा प्राप्त करते जाने की क्रमिक उन्नत स्थितियाँ हैं।[2]

आत्मा की निम्नतम स्थिति से आगे बढ़ते-बढ़ते विकास की उच्चतम दशा या मोक्ष तक पहुँचने का बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गुणस्थान के अंतर्गत किया गया है।

अंतिम गुणस्थान संपूर्णतः शुद्धावस्था है, जहाँ जीव शाश्वत, अनंत, अशेष, आनंद और शान्ति प्राप्त करता है।

गुणस्थान का विस्तार

यदि सूक्ष्मता में जाएं तो आत्मा की क्रमशः संजायमान विकास की श्रेणियों को निश्चित रूप में संख्याबद्ध नहीं किया जा सकता, पर उन विकास दशाओं की व्यक्त रूप में तरतमता के आधार पर

---

१. जैन धर्म दर्शन, पृष्ठ : ४९३.

२. मूलाचार (उत्तरार्द्ध), गाथा-९४२.

जैन-परंपरा में गुणस्थानों[1] की कल्पना की गई है, जो गहन चिंतनपूर्ण है, वे निम्नांकित हैं।

(१) मिथ्या-दृष्टि	(२) सास्वादन-सम्यक्-दृष्टि	(३) मिश्र
(४) अविरत सम्यक्-दृष्टि	(५) देश-विरति	(६) प्रमत्त संयत
(७) अप्रमत्त संयत	(८) निवृत्ति-बादर	(९) अनिवृत्ति-बादर
(१०) सूक्ष्म-सम्पराय	(११) उपशांत-मोह	(१२) क्षीण-मोह
(१३) सयोग केवली	(१४) अयोग केवली [2]	

आधार

आत्मा का मूल स्वरूप संपूर्ण शांतिमय, अव्याबाध सुखमय या आनंदमय है। सांसारिक आत्माओं में इसकी जो विपरीतता दिखाई देती है अर्थात् अशांतता या दु:खमयता प्रतीत होती है, उसका मुख्य कारण कषाय एवं आत्म-स्वरूप का कर्मों के आवरण से आच्छादित होना है।

कार्मिक आवरण आठ भागों में विभक्त किए गए हैं,[3] जो आत्मा की विभिन्न शक्तियों का अवरोध किए रहते हैं। इनमें मोहनीय सबसे प्रधान है। आत्मा के सत् श्रद्धान और सद् आचरण को विकृत किए रहने से वह मुख्यत: दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो भेदों में विभक्त है।

दर्शन यहाँ सत् श्रद्धान् या सम्यक् आस्था का वाचक है। जब तक दर्शनमोह दूर नहीं होता, सत् तत्त्वों के प्रति श्रद्धा, निष्ठा या विश्वास नहीं जमता, तब तक चारित्र

मोहनीय के विकारक पुद्गल भी नहीं हटते। वे आत्मा के सद् वीर्य या सत् पराक्रम को कार्यशील नहीं होने देते। गुणस्थानों की कल्पना मुख्यत: मोहनीय कर्म की विरतता एवं क्षीणता के आधार पर की गई है।

---

१. (क) धर्मामृत अणगार, अध्याय-४, पृष्ठ : २३६-२३८. (ख) जैन धर्म दर्शन, पृष्ठ : ४९२-५००.
(ग) भारतीय-दर्शन (बलदेव उपाध्याय), पृष्ठ : ११३, ११४.

२. (क) पंचसंग्रह (प्राकृत अधिकार-१), गाथा-४, ५.
(ख) तत्त्वार्थ राजवार्तिक-भाग २, अध्याय-९, सूत्र-१-११, पृष्ठ : ५८८.
(ग) गोमट्टसार (जीवकांड), सूत्र-९, १०, पृष्ठ : ३०. (घ) पंच संग्रह (संस्कृत-अधिकार-१), श्लोक-१५-१८.
(ङ) सर्वार्थ सिद्धि, अध्याय-१, सूत्र ८-३६, पृष्ठ : २२, २३.
(च) तत्त्वसार, गाथा-५, ६, पृष्ठ : ३०. (छ) जैन ज्ञान कोश (खंड-दूसरा), पृष्ठ : १५९.
(ज) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग-५, पृष्ठ : ६३-९८.

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (द्वितीय पर्व), श्लोक-४६५-४७५, पृष्ठ : ८३, ८४.

१. मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान

आत्मा की सर्वाधिक निम्नावस्था मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का अभिप्राय श्रद्धान की विपरीतता है। जो जैसा है, उसे वैसा न समझकर अन्यथा समझना मिथ्यात्व है। यह अविकास या निम्नावस्था की पराकाष्ठा है, किंतु ऐसा होते हुए भी वहाँ ज्ञात-अज्ञात रूप में आत्मा को अपना स्वरूप प्राप्त करने की उत्सुकता या तड़प अव्यक्त रूप में यत्किंचित् विद्यमान रहती है। इस अपेक्षा से इसे गुणस्थान कहा गया है।

ग्रंथी-भेद

पर्वत से निकलती हुई, बहती हुई नदी के साथ जैसे एक पत्थर का टुकड़ा लुढ़कता, घिसता, बहता चला आता है। उसे आकृति देने का किसी का कोई प्रयत्न नहीं होता, फिर भी अंततः वह सुंदर, चिकना आकार पा लेता है। उसी की ज्यों, एक ऐसी अप्रयत्न-साध्य स्थिति आत्मा प्राप्त करती है, जहाँ राग-द्वेषात्मक ग्रंथि के शिथिलीकरण की दिशा में अन्तःस्फूर्ति उद्भव होती है। जैन दर्शन में इसे 'यथाप्रवृत्तकरण' कहा गया है।

अपूर्वकरण

विशेषावश्यक भाष्य में लिखा है– आत्मा के प्रगाढ़ राग-द्वेषात्मक परिणामों से संपृक्त, कर्म-जनित यह ग्रंथी बड़ी सघन, दृढ़ एवं घुली हुई गांठ की तरह दुर्भेद्य है। यदि इसका भेदन हो जाए तो सम्यक्त्वादि मोक्ष के साधनभूत गुण प्राप्त हो जाते हैं, पर वैसा होना अत्यंत दुर्लभ है। वहाँ प्रबल अध्यवसाय की आवश्यकता है। चित्त को अस्थिर, विचलित बनाने वाले अनेक विघ्न वहाँ आते रहते हैं। घोर संग्राम में लड़ते हुए योद्धा की तरह, जो वहाँ डट जाता है, वह कृत-कार्य या सफल हो सकता है।[१]

वास्तव में यह एक भयावह संग्राम की स्थिति है। एक ओर राग-द्वेष अपना पूरा बल लगाए रहते हैं, दूसरी ओर विकासोन्मुख जीव अपने आत्म-बल एवं पराक्रम द्वारा उनकी भयानक मोर्चा-बंदी या व्यूह को तोड़ कर आगे बढ़ना चाहता है।

स्वभाव और विभाव, श्रेयस् और अश्रेयस् के इस संग्राम में दृढ़ता के साथ युद्ध करता हुआ जीव विकारों को लांघकर ग्रंथी-भेद के समीप पहुँच जाता है। अपनी शक्ति को संभालता हुआ आगे बढ़ने में उद्यत रहता है, किंतु वह जीव, जो साहस छोड़ देता है, ग्रंथी-भेद के समीप पहुँचकर भी विकारों के आघात को सहन करने और उनका प्रतिकार करने में असमर्थ होता हुआ वापस अपने स्थान पर लौट

१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-११९५-११९७.

आता है। अनेक बार प्रयत्न करने पर भी वह विजय-लाभ नहीं कर पाता। एक वह जीव, जो इस संग्राम में लड़ता रहता है, जो न इतना कम साहसी है कि मैदान को छोड़कर भाग जाए और न इतना अधिक साहसी है, जो राग-द्वेष को पराजित कर दें। दीर्घकाल तक उस आध्यात्मिक संघर्ष में लगा रहता है।

आत्म-विकास की ज्योति प्राप्त करने हेतु आकुल, उत्सुक, आत्मा का शुद्धिमूलक प्रयत्न आगे बढ़ता है। वृद्धि पाते हुए वीर्योल्लास या आत्म-पराक्रम द्वारा राग-द्वेष के दुर्ग को भग्न करती हुई आत्मा ग्रंथी-भेद के लिए अपने आप को सर्वतोभाव से संलग्न कर देती है। दर्शन की भाषा में इसे 'अपूर्वकरण' कहा जाता है। यह आत्मा के उन उज्ज्वल परिणामों की स्थिति है, जो इससे पूर्व कभी नहीं आई। अपूर्वकरण नाम का यही हेतु है। यह दुर्लभ किंतु अत्यंत वांछनीय स्थिति है, जिसे प्राप्त करने पर आत्म-विकास का भाव उद्घाटित हो जाता है।

'लोक प्रकाश' में इस विषय को उदाहरण के साथ बहुत सुंदर रूप में समझाया है। तीन मनुष्य किसी बड़े नगर को जाना चाहते थे। यात्रा-क्रम के मध्य वे एक जंगल में पहुँचे। वहाँ चोर थे, जिनके कारण वह स्थान भयजनक था। वे मनुष्य शीघ्रता से चल रहे थे। इतने में दो चोर उन्हें दिखाई दिए। उन मनुष्यों में से एक भयभीत होकर वापस भाग उठा। दूसरे को उन चोरों ने पकड़ लिया। तीसरा पराक्रम द्वारा उन चोरों को पराभूत कर उस भयानक स्थान को लांघकर नगर में पहुँच गया।

यह एक रूपक है। यात्रा पर निकले हुए मनुष्य जीव हैं। यह संसार जंगल है। कर्मों की स्थिति मार्ग है। ग्रंथी भयानक स्थान है। राग तथा द्वेष दो चोर हैं। दीर्घ स्थिति-युक्त कर्मों से बद्धजीव, जो ग्रंथी-भेद के समीप पहुँचकर भी विकारमय भाव के कारण फिर अपनी स्थिति में लौट जाता है, वह पहला मनुष्य है।

रागादि से बाधित होता हुआ, जो न तो ग्रंथी को भेद पाता है और न वहाँ से लौटता ही है, वह जीव चोरों द्वारा पकड़े गए दूसरे मनुष्य की तरह है।

अपूर्वकरण द्वारा जो राग और द्वेष को मिटा कर, उन्हें पराजित कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, वह तीसरा मनुष्य है। वैसा मनुष्य अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाता है।[1]

विशेषावश्यक भाष्य में भी ऐसा ही रूपकमय चित्रण किया गया है।[2]

स्वर्णिम वेला

सम्यक्त्व-प्राप्ति जीवन का वह स्वर्णिम प्रसंग है, जिससे आत्मा के उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो

१. लोक प्रकाश, प्रकाश-३, गाथा-६१९-६२५. २. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा-१२११-१२१४.

उठता है। वास्तव में मुमुक्षु आत्माओं के लिए यह चिरवांछित आनंदमयी वेला है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने सम्यक्त्व को कर्मों के वन को जलाने के लिए दावानल, मोक्षरूपी पादप का अनुपम बीज, संसार-आवागमन रूपी मगर से छुड़ाने में समर्थ, चिंतामणि रूपी रत्न से भी उत्तम, अनादि संसार-सागर में अप्राप्त पूर्व, सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के अनुवेदन, उपशम तथा क्षय से आविर्भूत, प्रशम, संवेग, निर्वेद और अनुकंपा से अंकित तथा स्वभाव-परिणाम रूप कहा है।[1]

सम्यक्त्व पा लेने का तात्पर्य 'स्व' एवं 'पर' के भेद को यथावत् रूप में हृदयंगम कर लेना है। स्व और पर का भेद ज्यों ही स्वायत्त हो जाता है, विपथगामिनी आंतरिक वृत्तियाँ स्वयं एक नया मोड़ लेने को उद्यत हो जाती हैं। अब तक बहिरात्म-भाव में ग्रस्त जीव अंतरात्म-भाव से संयुक्त हो जाता है। उसमें कर्तव्य या अकर्तव्य का विभाजन, भेद करने वाली बुद्धि उदित हो जाती है। अंत:स्थित सहज, शुद्ध परमात्म-भाव की उसे अनुभूति होती है। साध्य के सम्बन्ध में बद्धमूलक भ्रांत धारणा का अपगम हो जाता है। उसमें अस्थिर, नश्वर, विपरीत परणिामयुक्त पौद्गलिक भोगों– भौतिक सुखों के प्रति अनास्था तथा अपरिमित, स्थिर, उत्तम परिणाम-युक्त आध्यात्मिक सुख के प्रति आस्था उत्पन्न होती है।

सम्यक्त्व का व्यावहारिक पक्ष

सम्यक्त्व का व्यावहारिक रूप सिद्ध, साधना और साधक के प्रति निष्ठा से संबद्ध है। जिन्होंने राग-द्वेष, ममत्व, मोह आदि को जीतकर समग्र कर्म-बंधनों के जाल से अपने को मुक्त करा लिया है, जो कार्मिक कलेवरमय आवरण से निकलकर, सिद्ध स्थान में पहुँचकर अव्याबाध तथा अखंड सुख में, आध्यात्मिक आनंद में, अधिष्ठित हो गए हैं, वे सिद्ध हैं।

वे महापुरूष– जो वीतराग, सर्वदर्शी तथा सर्वज्ञ हैं, पर सशरीर हैं, दूसरे शब्दों में जो जीवन्मुक्त की दशा में विद्यमान हैं, वे 'अर्हत्' कहे जाते हैं। वे भी लगभग साधना की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए होते हैं। उन्होंने जो जीवन-शुद्धि का मार्ग दिखलाया, उस पर गतिशील होना साधना है। जो सांसारिक मोह-माया से छूटकर प्राणपण से उस पर चलते हैं, वे साधक या साधु हैं।

इनके प्रति स्थिर-निष्ठा व्यक्ति को सत्योन्मुख बनाए रखती है, जीवन-शुद्धि के पथ पर गतिशील रहने की प्रेरणा देती है। यह निष्ठा, आस्था सम्यक्त्व का व्यावहारिक रूप है। चार मंगल, चार लोकोत्तम, चार शरणों का स्वीकार उसको विशदता देता है। उनका शब्द-बद्ध रूप इस प्रकार है– लोक में अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ-प्रज्ञप्त धर्म, ये चार मंगल हैं। लोक में अरिहंत, सिद्ध,

१. समराइच्चकहा, प्रथम-भव, पृष्ठ : ९०.

साधु और सर्वज्ञ प्रज्ञप्त धर्म, ये चार उत्तम हैं। लोक में अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ-प्रज्ञप्त धर्म, ये चार शरण हैं।[1]

सत्योन्मुख व्यक्ति द्वारा सम्यक्त्व स्वीकार करने की शब्दावली इस प्रकार है– "अरिहंत मेरे देव– उपास्य हैं। सुसाधु– संयमी सत्पुरुष मेरे गुरु हैं। वीतराग प्रभु द्वारा प्रज्ञप्त– प्ररूपित तत्त्व मेरे द्वारा गृहीत है, यथार्थ है। मैंने इस प्रकार सम्यक्त्व को ग्रहण किया है।" इसे और दृढ़ करते हुए वह कहता है– "मुझको परमात्म का, जीवादि पदार्थों का परिचय हो। तात्त्विक सिद्धांतों को जानने वाले साधुओं की सन्निधि प्राप्त हो, सम्यक्त्व से भ्रष्ट मिथ्यात्वी जनों की संगति कदापि न हो। सम्यक्त्व में मेरी श्रद्धा अविचल हो।"

आंतरिक शुद्धि के लिए साधक आत्म-पर्य्यालोचन करता हुआ कहता है– "यदि मैंने वीतराग प्रभु के वचन में शंका की हो, जो धर्म असर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित है, उसकी आकांक्षा की हो, सत्य-धर्म के फल के संबंध में विचिकित्सा– संदेह किया हो, परमतवादियों की प्रशंसा की हो, उनका संस्तव, परिचय या संपर्क किया हो तो मैं आलोचना करता हूँ। मेरे द्वारा किए गए ये असत् कृत्य निष्फल हों।" सम्यक्त्व के ये पांच अतिचार हैं, जो ज्ञातव्य– जानने योग्य हैं, अनाचरित्त्व– आचरण करने योग्य नहीं है।

गुरु का वैशिष्ट्य

सम्यक्त्व स्वीकार करते समय सुसाधुओं को गुरु रूप में अंगीकार किया जाता है। उनके मुख्य गुणों की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है, जो पाँच इंद्रियों का संवरण करते हैं, उनकी विषय-वासना संबंधी चंचलता को रोकते हैं, नव प्रकार की गुप्ति या बाड़ों से युक्त ब्रह्मचर्य का परिपालन करते हैं, क्रोधादि चार कषायों से जो विमुक्त हैं, इस प्रकार जो अठारह गुणों से संयुक्त है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह– इन पाँच महाव्रतों से युक्त हैं, पाँच आचारों के परिपालन में समर्थ हैं, पाँच समिति और तीन गुप्ति के धारक हैं। इस प्रकार छत्तीस गुणों से युक्त उत्तम साधु (आचार्य) मेरे गुरु हैं।[2]

मिथ्यात्व के दस भंग

विशेष स्पष्टीकरण की दृष्टि से मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के दस-दस भंग किए जाते हैं।

१. अधर्म को धर्म मानना, २. धर्म को अधर्म मानना,

१. आवश्यक सूत्र, प्रथम अध्ययन, पृष्ठ : ८-१०. २. आवश्यक-सूत्र, अध्ययन-४, पृष्ठ : ८८-८९

३. मोक्ष के मार्ग को अमार्ग मानना, ४. अमार्ग को मोक्ष-मार्ग मानना,
५. अजीव को जीव मानना, ६. जीव को अजीव मानना,
७. असाधु को साधु मानना, ८. साधु का असाधु मानना,
९. अमुक्त को मुक्त मानना, १०. मुक्त को अमुक्त मानना।

ये मिथ्यात्व या विपरीत श्रद्धा के दस भंग हैं।[1]

सम्यक्त्व के दस भंग

१. अधर्म को अधर्म मानना, २. धर्म को धर्म मानना,
३. अमार्ग को अमार्ग मानना, ४. मार्ग को मार्ग मानना,
५. अजीव को अजीव मानना, ६. जीव को जीव मानना,
७. असाधु को असाधु मानना, ८. साधु को साधु मानना,
९. अमुक्त को अमुक्त मानना, १०. मुक्त को मुक्त मानना।

सम्यक्त्व के विषय में संक्षेप में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि सच्चे देव, गुरु और धर्म को स्वीकार करना सम्यक्त्व का लक्षण है, किंतु जन-साधारण को हृदयंगम कराने की दृष्टि से एक-एक बात को खोलकर स्पष्ट रूप में विस्तार पूर्वक बताना, व्याख्या करना अपेक्षित है। इसीलिए भिन्न रूप में इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न शास्त्रकारों ने किया है।

सम्यक्त्व के विविध पक्ष

आत्मगुणों के उत्तरोत्तर विकास के माध्यम से जो अध्यात्म-यात्रा गतिशील होती है, उसका मूल सम्यक्त्व है। जिस प्रकार नींव के बिना विशाल प्रासाद निर्मित नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्त्व की पृष्ठभूमि के बिना संयम और साधना की अट्टालिका का होना संभव नहीं है।

आचार्यों, संतों और विद्वानों ने इस तथ्य पर अनेक प्रकार से चर्चा की है। तदनुसार सम्यक्त्व के सड़सठ बोल स्वीकार किए गए हैं, जो चार श्रद्धान, तीन लिंग, दस विनय, तीन शुद्धि, पाँच दूषण-त्याग, आठ प्रभावना, पाँच भूषण, पाँच लक्षण, छः यतना, छः आगार, छः भावना, छः स्थानसूत्र– इन रूपों में विभक्त हैं।

---

१. जैन तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ : ४६६-४७१.

१. श्रद्धान

श्रद्धान की शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है– 'सम्यक्त्वं श्रद्धीयते अनेन इति श्रद्धानम्'– जिससे सम्यक्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, प्रतीति होती है, उसे श्रद्धान कहा जाता है। उसके चार भेद हैं– १. परमार्थ-संस्तव, २. सुदृढ़-परमार्थ-सेवन, ३. व्यापन्न-वर्जन तथा ४. कुदर्शन-वर्जन।

जीव आदि नव तत्त्व का ज्ञान, वैसे ज्ञानी जनों की सेवा, सम्यक्त्व-विहीन जनों का अस्वीकार, असाहचर्य तथा उनके संग का वर्जन, इनसे सम्यक्त्व के प्रति मन में भावोद्रेक होता है। ये श्रद्धान या आस्था को बल प्रदान करते हैं। इनमें मुख्यत: दो बातें हैं– १ तत्त्वज्ञान-प्राप्ति और तत्त्वज्ञानियों की सेवा। इनसे सम्यक्त्व की प्रेरणा मिलती है। दूसरी दो बातें मिथ्यात्व और मिथ्यात्वियों के संपर्क से बचने के संबंध में हैं, क्योंकि उनके संसर्ग से श्रद्धा से विचलित होने का भय रहता है। श्रद्धान सुस्थिर बनाए रखने के लिए इन चारों की महत्ता और उपयोगिता है।[१]

२. लिंग

लिंग का अर्थ बाहरी चिह्न हैं, जो आंतरिक वस्तु का संसूचक होता है। धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है। धुआँ अग्नि का लिंग है, क्योंकि उसकी पहचान कराता है।

सम्यक्त्व के लिंग– चिह्न या सूचक तीन हैं– १. सुश्रूषा, २. धर्मराग, ३. देव-गुरु धर्म की सेवा का नियम।

धर्म-श्रवण की आकांक्षा, श्रुत-चारित्र रूप धर्म के प्रति अनुराग एवं आत्मा के परमोपकारी देव-गुरु-धर्म की यथोचित सेवा-भक्ति है। जिस व्यक्ति में ये लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, वह सम्यक्त्वी है, ऐसा प्रतीत होता है।[२]

मिथ्यात्वी व्यक्तियों में न तो धर्म-श्रवण करने की उत्सुकता होती है, न उनमें सद्धर्म के प्रति आकर्षण होता है तथा न उनके मन में धर्मनिष्ठ जनों के प्रति भक्ति एवं सेवा की वृत्ति होती है।

३. विनय

'विशेषेण नय: विनय:'– विशेष रूप से नत होना, झुकना, अंहकार-शून्य होना विनय है। जैन शास्त्र में– 'विणय मूलो धम्मो'– जो कहा गया है, उसका यही तात्पर्य है कि विनय धर्म का मूल है।[३]

---

१. आवश्यक-सूत्र, अध्ययन-५,. पृष्ठ : ८८. २. जिणधम्मो, पृष्ठ : १०७.
३. बृहदावश्यक, भाष्य-४४४१.

उत्तराध्ययन-सूत्र का पहला अध्ययन विनयश्रुत या विनयसूत्र नाम से प्रसिद्ध है। विनय शब्द के नम्रता, आचार एवं अनुशासन ये तीन अर्थ हैं।

उत्तराध्ययन-सूत्र के प्रथम अध्ययन में विनय शब्द श्रमणों के आचार एवं अनुशासन के अर्थ में मुख्य रूप में प्रयुक्त हुआ है।

ठाणांग-सूत्र में सात प्रकार के विनय का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं– (१) ज्ञान- विनय, (२) दर्शन-विनय, (३) चारित्र-विनय, (४) मन-विनय, (५) वचन-विनय, (६) काय-विनय, (७) लोकोपचार-विनय।[1]

औपपातिक सूत्र में भी विनय के इन्हीं सात भेदों का वर्णन आया है।[2]

विद्या ददाति विनयम्, विनयात् याति पात्रताम्।

संस्कृत-साहित्य की यह सुप्रसिद्ध उक्ति है। विद्या विनय देती है तथा विनय से सत्पात्रता आती है। विद्या उस ज्ञान को कहा जाता है, जो 'सा विद्या या विमुक्तये' के अनुसार विमुक्ति– परमकल्याण का साधन बनती है।

सम्यक्त्वी पुरुष में विनय सहजगुण के रूप में प्रस्फुटित होता है। जो अभिमानी या अहंकारी नहीं होता, वही साधना के पथ पर अग्रसर हो सकता हैं। विनय से सम्यक्त्व की संपुष्टि और संप्रतीति होती है। विनय विशुद्ध आत्मभाव से किया जाता है, स्वार्थ से नहीं।

विनय के सामान्यत: दस भेद माने गए हैं–

(१) अरिहंत-विनय, (२) सिद्ध-विनय, (३) आचार्य-विनय, (४) उपाध्याय-विनय, (५) स्थविर-विनय, (६) कुल-विनय, (७) गण-विनय, (८) संघ-विनय, (९) स्वधर्मी-विनय, (१०) क्रियावान्-विनय।

इनमें प्रथम चार का अर्थ स्पष्ट है तथा शेष विनयों का क्रमानुसार विवेचन इस प्रकार है–

५. स्थविर-विनय

ज्ञान में उत्कृष्ट, चारित्र में बड़े तथा अवस्था में बड़े साधुओं के प्रति विनय करना, स्थविर-विनय है।

---

१. स्थानांग-सूत्र, स्थान-७, सूत्र-१३०, पृष्ठ : ६१०.
२. औपपातिक-सूत्र, सूत्र-३०, पृष्ठ : ४८.

६. कुल-विनय

एक गुरु द्वारा दीक्षा प्रदान किए गए साधुओं के समुदाय को कुल कहा जाता है। कुल-विनय ऐसे समुदाय के प्रति विनयशीलता का सूचक है।

७. गण-विनय

एक आचार्य के अनुशासन में विद्यमान साधु-समुदाय गण कहा जाता है। उसके प्रति होने वाला विनय, गण-विनय है।

८. संघ-विनय

श्रमण-श्रमणी-श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका-समुदाय चतुर्विध संघ कहा जाता है। उसे धर्म-तीर्थ भी कहा जाता है। उसके प्रति विनय रखना, संघ-विनय है।

९.स्वधर्मी-विनय

जिनका श्रुत-चारित्र मूलक धर्म या संयम-साधना-पथ एक समान हो, वे स्वधर्मी कहलाते हैं। उनके प्रति किया जाने वाला विनय, स्वधर्मी-विनय है।

१०. क्रियावान्-विनय

जिनेश्वर देव द्वारा प्रतिपादित धार्मिक सिद्धांतों पर जो श्रद्धाशील हों, सम्यक्त्व युक्त हों, चारित्रशील हों, वैसे पुरुषों के प्रति विनय शील रहना, क्रियावान-विनय है।[1]

विनय के ये जो दस भेद किए गए हैं, उनका संबंध मुख्य रूप से ज्ञान एवं चारित्र के साथ है, जो धर्म के प्रमुखतम आधार हैं, मोक्ष के हेतु हैं।

४. शुद्धि

कोई भी वस्तु प्राप्त हो जाए तो उसको भलीभाँति संभाल कर रखना आवश्यक होता है, क्योंकि वैसा किए बिना वह वस्तु विकृत या अशुद्ध हो सकती है। जो वस्तु जितनी बहुमूल्य होगी, उसको उतनी ही अधिक सावधानी से सुरक्षित रखना पड़ता है। इस दृष्टि से सम्यक्त्व की शुद्धि के तीन रूप हैं– १. मन की शुद्धि, २. वाणी की शुद्धि और ३. शरीर की शुद्धि। मन द्वारा, वचन द्वारा और शरीर द्वारा देव, गुरु एवं धर्म के प्रति स्थिर निष्ठा या आस्था बनाए रखना सम्यक्त्वी का कर्तव्य है। वचन और शरीर शुद्ध हैं, किंतु यदि मन शुद्ध नहीं है तो उसकी अशुद्धता का वचन और शरीर पर भी प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार वचन-शुद्धि और शरीर-शुद्धि का प्रभाव भी मन शुद्धि पर पड़ता है। इसलिए ये

१. जिणधम्मो-पृष्ठ : १०८.

तीनों सर्वथा शुद्ध, निर्दोष या निर्विकार रहें। एक सम्यक्त्वी साधक को इस दिशा में पूरी तरह जागरू रहना अपेक्षित है।

५. दूषण-त्याग

जैसे वात, पित्त एवं कफ आदि दोषों से देह में रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही कुछ ऐसे दो हैं, जो सम्यक्त्व को दूषित करते हैं। उनसे बचने के लिए साधक को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्या-दृष्टि-प्रशंसा तथा मिथ्या-दृष्टि-संस्तव– सम्यक्त्व को दूषित करने वाले ये पाँच दोष हैं।

१. शंका

सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रभु द्वारा जो प्रतिपादित किए गए तत्त्व हैं, उनकी यथार्थता या सत्यता में संदेह करना सम्यक्त्व का पहला दोष है। सम्यक्त्वी को चाहिए कि वीतराग भाषित तत्त्वों में वह कभी किसी तरह का संशय या संदेह न करे। मानव से ऐसी भूल होना संभावित है। इसलिए स्पष्ट रूप में यहाँ शंका न करने का संकेत किया गया है।

२. कांक्षा

कांक्षा का अर्थ इच्छा या आकांक्षा है। सम्यक्त्वी को चाहिये कि वह उन पुरुषों द्वारा जो सर्वज्ञ नहीं है, जो राग-द्वेष आदि दोषों से युक्त हैं, बतलाए गए मतों की आकांक्षा न करे। उन्हें स्वीकार कर लेने की इच्छा तक मन में न लाए।

३. विचिकित्सा

विचिकित्सा का अर्थ संदेह या अविश्वास है। जैसे कोई साधक लम्बे समय से धार्मिक क्रिया कर रहा हो, वह कभी सोचे कि वैसा करते हुए उसको कितना लम्बा समय हो गया, फिर भी कोई फल प्राप्त नहीं हो रहा है। आगे भी कोई फल मिलेगा या नहीं ? कहीं मैं धर्माराधना करता हुआ भूल तो नहीं कर रहा हूँ ? इस प्रकार के विचारों को मन में लाना विचिकित्सा है। सम्यक्त्वी अपने मन में ऐसे विचार कभी भी न आने दे।

४. मिथ्या-दृष्टि-प्रशंसा तथा ५. मिथ्या-दृष्टि-संस्तव का अर्थ स्पष्ट ही है।

६. प्रभावना

मनुष्य को यदि उत्तम वस्तु प्राप्त हो तो उसे चाहिए कि वह दूसरों को भी उससे लाभान्वित करे। सम्यक्त्व एक बहुमूल्य आध्यात्मिक रत्न है, अतः उसका तथा जिनेंद्र भगवान् के शासन का प्रभाव

विस्तृत करने में, जन-जन तक उसको फैलाने में यत्नशील रहना, धर्म-प्रसार करना प्रभावना कहा जाता है। प्रभावना के आठ प्रकार बतलाए गए हैं–

(१) प्रावचनी, (२) धर्मकथी, (३) वादी, (४) नैमित्तिक, (५) तपस्वी, (६) विशिष्ट विद्या प्राप्त (७) सिद्ध– विशिष्ट योग-सिद्धि प्राप्त (८) कवि।

प्रवचन, धर्म-कथा, वाद, निमित्त, तपस्या, विद्या, सिद्धि और कवित्व के द्वारा धर्म की प्रभावना करना इनका लक्ष्य है।

यहाँ वादी का तात्पर्य उस तत्त्वज्ञ व्यक्ति से है, जो खंडन-मंडन द्वारा अपने पक्ष को स्थापित करने में समर्थ होता है।

जिस शास्त्र से वर्तमान, भूत, भविष्य इन तीनों कालों से संबंधित लाभ या अलाभ, प्राप्ति या हानि का जो ज्ञान होता है, उसे निमित्त-शास्त्र कहा जाता है। निमित्त-शास्त्र के सहारे धर्म की महत्ता स्थापित करना, प्रभावना करना, नैमित्तिक प्रभावना कहा जाता है।

कठोर तपस्या द्वारा जैन शासन की प्रभावना करना, तपस्वी-प्रभावना के अंतर्गत है।

अनेक प्रकार की विद्याओं, भाषाओं, लिपियों द्वारा धर्म की प्रभावना करना, विद्या प्रभावना है।

योग-साधना से प्राप्त अंजन, पादलेप आदि सिद्धियों या लब्धियों द्वारा चमत्कार दिखलाकर धर्म की प्रभावना करना, सिद्ध-प्रभावना है। सम्यक्-दृष्टि या संयति पुरुष अपनी मान, प्रतिष्ठा, ख्याति, जीवन-निर्वाह आदि के लिए विद्या या साधना का प्रयोग नहीं करते, किंतु जब धर्म-तीर्थ पर कभी विपत्ति या संकट आ पड़ता है, तब वे विद्याओं और सिद्धियों का प्रयोग करते हैं, धर्म की प्रभावना करते हैं। इसमें दोष लगता है, अत: प्रायश्चित लेकर वे दोषों का शुद्धिकरण करते हैं।

कवित्व प्रभावना

कविता का श्रोताओं पर विलक्षण प्रभाव होता है। काव्य थोड़े से शब्दों में मानव के चित्त को चमत्कृत कर देता है, उस द्वारा धर्म की प्रभावना करना, कवित्व-प्रभावना है।[1]

सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट ने काव्य या कविता की चामत्कारिकता का वर्णन करते हुए लिखा है–

काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृतये, कान्ता सममितत्तयोपदेशयुजे।।

१. जिणधम्मो, पृष्ठ : ११०-११२.

काव्य से यश, अर्थ एवं व्यवहार-ज्ञान प्राप्त होता है अकल्याण का नाश होता है, तत्क्षण परम आनंद की प्राप्ति होती है तथा वैसा प्रिय और मनोहर उपदेश मिलता है, जैसा कांता के वचन से प्राप्त होता है।[1]

आचार्य मम्मट की इस कारिका से प्रकट होता है कि काव्य लौकिक लाभ के अतिरिक्त वैसा परम आनंद भी प्राप्त कराता है, जो आध्यात्मिकता से प्राप्त होता है। काव्य द्वारा जो संदेश दिया जाता है, वह खाली नहीं जाता है। कवित्व-शक्ति का धर्म की प्रभावना में उपयोग करना, कवित्व-प्रभावना है।

७. सम्यक्त्व के भूषण

भूषण का अर्थ अलंकार, आभूषण या गहना है। जिस प्रकार शरीर आभूषणों से सुंदर प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिन गुणों से सम्यक्त्वी की विशेषताओं से सम्यक्त्व और धर्म भूषित, सुशोभित होता है, वे सम्यक्त्व के गुण बतलाए गए हैं। वे पाँच हैं– १. जिनशासन में कुशलता, २. प्रभावना, ३. तीर्थ-सेवा, ४. स्थिरता और ५. भक्ति।

१. जिन शासन में कुशलता

कुशल का अर्थ प्रवीण या निपुण है। यदि सम्यक्त्वी पुरुष धर्म के सिद्धांतों में कुशल, निपुण या प्रवीण होता है तो उसका सम्यक्त्व सुशोभित होता है, क्योंकि वह अपनी प्रवीणता या सैद्धांतिक निपुणता के कारण विरोधियों के कुतर्कों का खंडन कर सकता है। अपने प्रबल तर्कों द्वारा सत्य पक्ष की स्थापना कर सकता है। अपनी तात्त्विक योग्यता के कारण स्वयं समझने में तथा दूसरों को समझाने में सक्षम होता है। इससे उसका सम्यक्त्व सुशोभित होता है, अन्य लोगों को भी प्रभावित करता है।

२. प्रभावना

पहले आठ प्रभावना का वर्णन किया जा चुका है। प्रभावना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। इसलिए उसे सम्यक्त्व के पाँच भूषणों में दूसरे भूषण के स्थान पर भी रखा गया है।

३. तीर्थ-सेवा

अन्य प्रसंगों पर यथास्थान तीर्थ शब्द का विश्लेषण करते हुए साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की चर्चा की है, जिसे तीर्थ कहा जाता है। इन सबको धर्माराधना के पावन कृत्य में सहयोग करना, इनकी सेवा करना, आदर करना, सम्यक्त्वी का अलंकरण है।

---

१. काव्य प्रकाश, प्रकाश-१, कारिका-२.

४. स्थिरता

स्वीकार किए गए सम्यक्त्व में स्थिर— दृढ़ रहना, धृतिशील— सहनशील रहना, औरों को स्थिर रखना बहुत उत्तम है। यह सम्यक्त्व का आभरण है। कोई व्यक्ति सम्यक्त्व से च्युत हो रहा हो तो उसे धर्म में स्थिर रखना, यह सम्यक्त्व की शोभा है।

५. भक्ति

वीतराग प्रभु के शासन में, प्रवचन में, उपदेशों में साधु-साध्वी आदि गुणवान् सत्पुरुषों में तथा सम्यक्त्वी पुरुषों में, भक्ति, श्रद्धा या बहुमान रखना सम्यक्त्व का भूषण है।

८. सम्यक्त्व के पाँच लक्षण

असाधारण धर्म को लक्षण कहा जाता है। असाधारण उसे कहा जाता है, जो उसके अतिरिक्त औरों में नहीं मिलता। लक्षण से पदार्थ का बोध होता है, पहचान होती है। शम, संवेग, निर्वेद अनुकंपा, तथा आस्तिक्य— आस्था— ये सम्यक्त्व के पाँच लक्षण हैं।

१. शम

सम्यक् दृष्टि के अत्यंत तीव्र अनंतानुबंधी क्रोध आदि कषायों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है, उसके परिणामों में उग्रता नहीं रहती, उसे शम कहा जाता है।

२. संवेग

सांसारिक, पौद्गलिक या भौतिक सुखों में रत— आसक्त न रहना, इन्द्रजालोपम क्षणभंगुर सांसारिक संपत्ति पर राग न रखना संवेग है। इससे सम्यक्त्वी में मानवीय और स्वर्गीय सुखों में आसक्ति नहीं रहती। मोक्षाभिलाषा मन में समुदित रहती है, तदर्थ वह अध्यवसायशील रहता है।

३. निर्वेद

सम्यक्त्वी में आरंभ-परिग्रह के प्रति आकर्षण नहीं रहता, क्योंकि वह इनको अनर्थ का हेतु समझता है। इनसे निवृत्त होने की उसमें सदा अभिलाषा बनी रहती हैं। संसार से वैराग्य एवं औदासीन्य भाव उसमें व्याप्त रहता है।

४. अनुकंपा

सम्यक्त्वी के अंतःकरण में अनुकंपा— दया का भाव विद्यमान रहता है। अनुकंपा से परिव्याप्त हृदय में ही धर्म का पौध अंकुरित होता है।

'अनुकूलं कंपनं अनुकंपा'– किसी प्राणी को दुःखित, पीड़ित देखकर तदनुरूप मन में कंपन, स्पं होना अनुकंपा है।

अनुकंपा उभयपक्षी हितावह है। दुःखी को देखकर किसी के मन में दुःखात्मक कंपन होता है, उ शांत करने के लिए वह दुःखी प्राणी पर दया करता है, इससे उसके मन में शांति उत्पन्न होती है। जि पर दया की जाती है, वह भी दुःख या पीड़ा से छूटने पर सुखी होता है। इस प्रकार अनुकंपा दो के लिये उपकारक होती है।

विशेष

अनुकंपा, दया या करुणा का प्रभाव प्रायः सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है। बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय में तो करुणा का अत्यंत विकास हुआ है। वहाँ निर्वाण के लिए करुणा को अनिवार्य माना गया है। सार रूप में महाशून्य एवं महाकरुणा– ये दो तत्त्व बौद्ध धर्म में स्वीकृत हैं।

जिस प्रकार एक माता कष्ट में पड़े हुए अपने शिशु को बचाने हेतु प्राणपण से जुट जाती है, उसे बचाने में अपना जीवन भी समाप्त हो जाए तो भी वह उसकी चिंता नहीं करती। जब किसी भी परिचित, अपरिचित, दुःखी व्यक्ति के प्रति मनुष्य के मन में इस प्रकार की करुणा उत्पन्न होती है, तब उसे महाकरुणा कहा जाता है।

महाकरुणा को साध लेने पर ही महाशून्य या निर्वाण तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। इस प्रकार महाकरुणा महायान की साधना में अपना सर्वोपरि स्थान रखती है।

जैन धर्म में तो इसका महत्त्व है ही। एक सम्यक्त्वी साधक के व्यक्तित्व में सहजरूप से करुणा का स्रोत फूट पड़ता है।

५. आस्तिक्य– आस्था

आस्तिक्य शब्द आस्तिक से बना है। आस्तिक उसे कहा जाता है, जो आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, आदि में श्रद्धा या विश्वास रखता है। जो इहलोक और परलोक दोनों को मानता हैं। इहलौकिक, पारलौकिक कर्मों में विश्वास करता है। आस्तिक्य में इन सब गुणों का समावेश है।

जिसके जीवन में सत् तत्त्व के प्रति आस्था नहीं होती, उसके जीवन में धर्म, साधना, आदि सद्गुण टिक नहीं सकते। आस्थाविहीन पुरुष अपना कार्य या लक्ष्य सिद्ध नहीं कर सकता। आस्था होने पर ही भावना का उदय होता है। भावना से धर्मोद्योत होता है। धर्माराधना में व्यक्ति रस लेता है। सम्यक्त्वी में आस्तिकता विशेष रूप से समुदित रहती है। इसलिए इसे सम्यक्त्व का लक्षण कहा है।[1]

१. जिणधम्मो, पृष्ठ : ११४, ११५.

९. यतना के छः रूप

यतना का अभिप्राय सावधानी या जागरूकता है। सद् वस्तु प्राप्त हो तो उसे सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य को सावधान रहना पड़ता है। सम्यक्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से एक अमूल्य रत्न है। उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती, उसका प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है। इसलिए सम्यक्त्वी हर समय अपने प्रत्येक कार्य में जागरूक रहता है कि उसके सम्यक्त्व में जरा भी कमी न आए।

१. वंदना, २. नमस्कार, ३. आलाप, ४. संलाप, ५. दान और ६. मान के रूप में यतना के छः प्रकार बतलाए गए हैं।

१. वंदना

वंदना का तात्पर्य गुण-स्तवना या प्रशंसा से है। सम्यक्त्वी उन पुरुषों के गुणों की प्रशंसा या श्लाघा करे, जो सम्यक्त्व से युक्त हैं। सम्यक्त्व विहीन जनों का संस्तवन या गुणानुवाद सम्यक्त्वी नहीं करता।

२. नमस्कार

सम्यक्त्वी उन्हें नमस्कार करे, जो आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यक् दृष्टि हों, चारित्र आदि गुणों से उत्कृष्ट हों, सम्यक्त्व विहीन देवों और पुरुषों को धार्मिक दृष्टि से नमन न करे।

सांसारिक या व्यावहारिक दृष्टि से नमन करना अनुचित नहीं है किंतु गुरुत्व, पूज्यत्व, या श्रद्धेयत्व भाव से यहाँ सम्यक्त्वी जनों को नमस्कार करने और मिथ्यात्वी को नमस्कार न करने का विधान है। सम्यक्त्व की पवित्रता के लिए यह आवश्यक है।

३. आलाप

इसका तात्पर्य वार्तालाप या बातचीत है। बोलने में या किसी के साथ वचनमूलक संबंध जोड़ने में सम्यक्त्वी सदैव जागरूक रहता है। वह सम्यक्त्वी पुरुषों से ही रुचिपूर्वक वार्तालाप करें। सम्यक्त्वहीन पुरुषों से यथासंभव वचनमूलक संबंध न जोड़े।

४. संलाप

सामान्य वार्तालाप को आलाप कहा जाता है तथा विशेष रूप से जो वार्तालाप किया जाता है, उसे संलाप कहा जाता है। विशेष वार्तालाप से पारस्परिक घनिष्ठता बढ़ती है, इसलिए सम्यक्त्वी के लिए यह विधान है कि वह सम्यक् दृष्टि व्यक्तियों के साथ ही संलाप करे। धर्म, सदाचार, नीति, कर्तव्य आदि विषयों में उनके साथ चर्चा करे, उनका कुशलक्षेम पूछे, इससे गुणीजनों के साथ उसका संपर्क

बढ़ता है, जो आत्म-कल्याण में सहायक होता है। सम्यक्त्वी, मिथ्या-दृष्टि-जनों के साथ संलाप न करे। उनके साथ घनिष्ठता बढ़ाना सम्यक्त्व के लिए हानिकारक हो सकता है।

५. दान

अनुकंपा की तरह दान का भी बड़ा महत्त्व है। दान के संदर्भ में सम्यक्त्वी का यह कर्तव्य है कि वह दुःखित, पीड़ित, अनाथ, दरिद्र, विकलांग आदि जनों को करुणा, अनुकंपा बुद्धि से दान दे, उनका सहयोग करे, पर उसके मन में ऐसा भाव न रहे कि उसके द्वारा दिया गया दान मोक्ष का हेतु है। यह पुण्यात्मक कार्य है, इस भाव से वह करे।

सम्यक्त्व-संपन्न जीवों को भोजन आदि उपयोगी वस्तुओं का सहयोग करना, साधर्मिक जनों की अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करना सम्यक्त्वी का कर्तव्य है।

६. मान

मान का अर्थ सम्मान या सत्कार है। सम्यक्त्वी पुरुष उन्हीं का सम्मान करे, जो सम्यक्त्वी और सद्धार्मिक हों। इससे वे जिनका सम्मान किया जाता है, सम्यक्त्व में सुदृढ़ बनते हैं। मिथ्या दृष्टियों का सम्मान करना, उनको धार्मिक दृष्टि से गौरव देना सम्यक्त्वी के लिए अविहित है, क्योंकि ऐसा होने से मिथ्यात्व को बल मिलता है। सम्यक्त्वी का सम्मान करने से उस ओर लोगों का आकर्षण होता है, अभिरूचि बढ़ती है।[१]

समीक्षा

वंदना, नमस्कार, आलाप, संलाप, दान एवं मान ये ऐसे कार्य हैं, जो एक गृहस्थ साधक के जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। आपस में नमन का व्यवहार सर्वत्र चलता है। इसी प्रकार सामाजिक जीवन में रहने वाले लोगों में परस्पर विविध विषयों पर चर्चा, वार्तालाप आदि होते रहते हैं। दान, सम्मान और सत्कार का भी व्यवहार है। इन कार्यों में सम्यक्त्वी को किस प्रकार वर्ताव करना चाहिए, यहाँ यह बतलाया गया है।

सम्यक्त्वी के जीवन के दो पक्ष हैं– एक आध्यात्मिक और दूसरा लौकिक या व्यावहारिक। सम्यक्त्व में, जो आध्यात्मिकता या धार्मिकता का मूल है, उनमें जरा भी दोष न आए, इस दिशा में एक सम्यक्त्वी को सदैव अत्यधिक यतनाशील, सावधान या जागरूक रहना चाहिए। उपर्युक्त कार्यों में जब भी वह प्रवृत्त हो, तब उसका पूरा ध्यान रहे कि उसका सम्यक्त्व जरा भी धूमिल न बने और मिथ्यात्व को उसके इन कार्यों से प्रश्रय प्राप्त न हो, इसलिए जहाँ भी इन कार्यों के करने का प्रसंग बने,

१. जिणधम्मो, पृष्ठ : ११५, ११६.

उसे उनको उसी रूप में करना चाहिए, जिससे उसका सम्यक्त्व उज्ज्वल, निर्मल और पवित्र बना रहे।

वह मिथ्यात्वियों के साथ व्यावहारिक दृष्टि से संबंध रखे, उनको सहयोग करे, उनका अभिवादन करे, उसमें कोई बाधा नहीं है, किंतु वैसा करने में वह अध्यात्म या मोक्ष की आराधना न माने। मोक्षाराधना तो शुद्ध आत्म पक्ष के साथ जुड़ी हुई है।

१०. छः आगार

आगार जैन दर्शन का एक विशेष शब्द है। यह अपवाद या विकल्प का द्योतक है। सब साधकों में एक जैसा आत्मबल, धैर्य या पुरुषार्थ नहीं होता। कुछ ही साधक ऐसे होते हैं, जो अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी धर्म का पालन करते हैं। अपने द्वारा स्वीकार किए गए व्रतों का भलीभाँति पालन करते हैं। उसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं आने देते, पर कुछ ऐसे होते हैं, जिनका आत्मबल इतना जागरित नहीं होता। वे अपने व्रत-पालन में कतिपय अपवाद या विकल्प स्वीकार करते हैं। अपवाद पूर्वक या आगार युक्त स्थितियों के साथ लिए गए नियम, व्रत या आचार में यदि गृहीत विकल्प के अन्तर्गत यत्किंचित् भंग होता है तो वह दोषजनक नहीं माना जाता।

सम्यक्त्व की आराधना में भी छः आगार माने गए हैं। साधारणतः एक सम्यक्त्वी साधक का प्रयत्न तो यही होता है कि वह सर्वथा सम्यक्त्व की आराधना करता रहे, किंतु वैसा सामर्थ्य न होने पर उसके लिए निम्नलिखित छः आगारों का प्रतिपादन किया गया है— १. राज्याभियोग, २. गणाभियोग, ३. बलाभियोग, ४. सूराभियोग, ५. वृत्तिकांतार तथा ६. गुरु-निग्रह।

१. राज्याभियोग

एक धार्मिक सम्यक्त्वी किसी भी राजा के राज्य में रहता है। उस राज्य पर राजा अथवा राज्याधिकारियों का शासन चलता है। राज्य के नागरिकों को उनकी आज्ञानुसार कार्य करना होता है। यदि वे वैसा न करें तो उनके प्राण एवं प्रतिष्ठा आदि की हानि का भय रहता है। किसी सम्यक्त्वी के जीवन में ऐसा विषम प्रसंग आ जाए, राजा या राज्याधिकारियों की ओर से हानि होने की आशंका पैदा हो जाए, उनसे वैसी धमकी मिल जाए, वे उसे सम्यक्त्व के विरुद्ध कार्य करने का आदेश दे तो राजा या अधिकारियों के अत्याचार से बचने के लिए वह खिन्न मन से, उदासीनता से सम्यक्त्व के प्रतिकूल आचरण करे तो उसका सम्यक्त्व भग्न— खंडित नहीं होता।

२. गणाभियोग

गण का अर्थ समूह या संघ होता है। संघ धार्मिक जनों का भी हो सकता है, राज्य का भी हो सकता है। जैसे भगवान् महावीर के समय उत्तर बिहार में कई गणराज्य थे, जो गणतंत्र कहे जाते थे। भगवान् महावीर का जन्म वज्जि— विदेह या लिच्छवि गणराज्य की राजधानी वैशाली के उपनगर

क्षत्रियकुंड ग्राम में हुआ था। उनका वंश लिच्छवी-वंश कहा जाता था।[1]

भगवान् बुद्ध का जहाँ जन्म हुआ था, वह मल्ल गणराज्य था। इन गणराज्यों को संघ भी कहा जाता था। गण, समूह, बहुसंख्यक जनसमुदाय या गणराज्य के दबाव के कारण एक सम्यक्त्वी के जीवन में ऐसी स्थिति आ जाए कि उसे सम्यक्त्व के विरूद्ध आचरण करना पड़े तो उसके सम्यक्त्व का भंग नहीं होता।

३. बलाभियोग

यदि कभी किसी धनबल, जनबल, तनबल, विद्याबल आदि से युक्त पुरुष के दबाव, डर या धमकी आदि के कारण एक सम्यक्त्वी साधक को सम्यक्त्व के विपरीत कार्य करने को बाध्य होना पड़े तो उसका सम्यक्त्व भग्न नहीं होता।

४. सुराभियोग

यदि कभी कोई देव किसी सम्यक्त्वी को सम्यक्त्व से विचलित करने को भयभीत करे, प्राण लेने की, परिवार या धन नष्ट करने की धमकी दे तो वैसी स्थिति में सम्यक्त्वी यदि सम्यक्त्व के विपरीत आचरण हेतु बाध्य हो जाता है तो उसका व्रत टूटता नहीं।

५. वृत्तिकांतार

वृत्ति का अर्थ आजीविका और कांतार का अर्थ भयानक वन है। सम्यक्त्वी कभी मार्ग भूल कर घोर जंगल में भटक जाए, रास्ता भूल जाए, तब उस वन को पार करने के लिए यदि उसे सम्यक्त्व की मर्यादा या सीमा से बाहर कोई आचरण करना पड़े अथवा वृत्ति– आजीविका के निर्वाह में विपरीत परिस्थिति उत्पन्न हो जाए, तब सम्यक्त्वी को यदि विवश होकर सम्यक्त्व के प्रतिकूल कोई कार्य करना पड़े तो उसका सम्यक्त्व नहीं टूटता।

६. गुरुनिग्रह

कदाचित् माता-पिता आदि मान्यजन, सम्माननीय गुरुजन, महापुरुष किन्हीं विशेष कारणों को लेकर सम्यक्त्वी को सम्यक्त्व के प्रतिकूल आचरण करने को कहें तो उनके कथन या आग्रह के कारण सम्यक्त्वी को सम्यक्त्व के विपरीत कार्य करना पड़े तो उसका सम्यक्त्व भंग नहीं होता।

कदाचित् ऐसा प्रसंग बने, कोई मिथ्यात्वी पुरुष सम्यक्त्वी साधक के देव, गुरु एवं धर्म की प्रशंसा करे, तब उसके उस कार्य से, धर्मानुराग से प्रेरित होकर सम्यक्त्वी उस मिथ्यात्वी का आदर सत्कार करे तो उसका सम्यक्त्व भंग नहीं होता।

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ : ९.

कदाचित् कोई सम्यक्त्वी किसी विशिष्ट धर्मलाभ या धार्मिक प्रभावना आदि के हेतु कोई ऐसा कार्य करे, जो सम्यक्त्व के विरुद्ध हो तो उसे सम्यक्त्व भंग का दोष नहीं लगता।[1]

समीक्षा

आगार या अपवाद का अभिप्राय यह है कि जहाँ साधक में उतनी शक्ति उत्पन्न नहीं हुई हो कि वह किसी भी कठिनाई या विपरीतता के साथ जूझता हुआ अपने व्रत पर टिका रहे, वैसी स्थिति में वह आगार– अपवाद स्वीकार करता है, जो उसकी दुर्बलता से संबद्ध है।

जो पुरुष शौर्य, धैर्य, गांभीर्य आत्म-पराक्रम और दृढ़ता के धनी होते हैं, उनके लिये अपवाद नहीं हैं, क्योंकि उनके तो अस्थि-मज्जा के कण-कण में धर्म व्याप्त होता है। उनके प्राण भी चले जाएं तो भी वे सम्यक्त्व के विपरीत कार्य नहीं करते, ये अपवाद उनके लिए नहीं हैं।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। जैन धर्म सार्वजनीन है। वह सबके लिए है। इसमें एक ओर जहाँ असीम आत्मबल के धनी वीर पुरुष आते हैं, वहाँ दूसरी ओर इसका साधारण लोगों के लिए भी मार्ग खुला है। वे अपनी शक्ति के अनुसार कुछ अपवाद या विकल्प रखते हुए सम्यक्त्व एवं साधना-पथ स्वीकार करते हैं। उनके मन में भाव या संकल्प यही रहता है कि वे उत्तरोत्तर अपना आत्मबल बढ़ाते जाएंगे, अपनी दुर्बलताओं को जीतते जाएंगे, अपने आगारों को कम करते जाएंगे।

ऐसे शुभ अध्यवसाय के परिणामस्वरूप वे ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेंगे कि फिर उनको अपवाद ग्रहण करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

जैन दर्शन का यह चिंतन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इससे हर किसी को धर्माराधना का और आत्मविकास का सुअवसर प्राप्त होता है।

११. सम्यक्त्व की छः भावनाएं

भावना और क्रिया का घनिष्ठतम संबंध है। कोई भी व्यक्ति जब किसी कार्य को करने हेतु उद्यत होता है तो सबसे पहले उसके अंतःकरण में उस कार्य का एक भावात्मक चित्र अंकित होता है। तद्-विषयक भावना उत्पन्न होती है। भावना परिपक्व होकर क्रिया के रूप में परिणत होती है। परिपक्व या सुदृढ़ भावनापूर्वक जो क्रिया होती है, वह सुस्थिर होती है, टिकती है, उसका उत्तम फल प्राप्त होता है। वह सार्थक होती है। इसलिए भावना पर बहुत बल दिया गया है। आध्यात्मिक साधना में तो भावना का अत्यधिक महत्त्व है।

---

१. जिणधम्मो, पृष्ठ : ११६, ११७.

सम्यक्त्वी की दृढ़ता, निर्मलता, पवित्रता बनाए रखने हेतु छः भावनाएं शास्त्रकारों ने अभिहित की हैं। संक्षेप में उनका यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

१. मूल-भावना

धर्मरूपी पादप का मूल सम्यक्त्व है- 'छिन्नेमूले नैव शाखा न पत्रम्'- मूल यदि छिन्न- नष्ट हो जाए तो वृक्ष की न तो शाखाएँ हरी-भरी रह सकती है और न पत्ते ही। सब सूख जाते हैं। वृक्ष नष्ट हो जाता है। यही स्थिति धर्म और सम्यक्त्व के संबंध में है। यदि सम्यक्त्व नष्ट हो जाय तो धर्म और आध्यात्मिक साधना सब कुछ मिट जाते हैं। यदि वृक्ष का मूल सुदृढ़ होता है तो वृक्ष, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प सब विकसित होते रहते हैं।

सम्यक्त्वी साधक सदैव ऐसा चिंतन करता रहे कि उसका सम्यक्त्व, उसकी सत्यनिष्ठा, उसकी तात्त्विक आस्था सदैव अचल, स्थिर बनी रहे। पुनः-पुनः ऐसा विचार करने से आत्मबल जागरित होता है। जिस वृक्ष की जड़ मजबूत होती है, वह हवा, तूफान, आँधी आदि से आहत होकर भी टिका रहता है। इसी प्रकार जिसका सम्यक्त्व दृढ़ होता है, वह धर्माराधना में विघ्नों, बाधाओं और आपदाओं के आने पर भी धर्म के पथ से विचलित नहीं होता।

जैसे हरा-भरा, फला-फूला वृक्ष छाया द्वारा पथिकों का संताप मिटाता है, उसी प्रकार सुदृढ़ सम्यक्त्व के मूल पर अवस्थित धर्म रूपी पादप सांसारिक संताप एवं क्लेश से उद्विग्न और व्यथित लोगों को शांति प्रदान करता है।

२. द्वार-भावना

धर्म को यदि एक नगर की उपमा दी जाए तो सम्यक्त्व को उसके द्वार की उपमा दी जा सकती है। किसी नगर में प्रविष्ट होने के लिए द्वार की आवश्यकता होती है। यदि नगर के द्वार न हों, चारों ओर परकोटा हो तो कोई भी उसमें प्रवेश नहीं कर सकता और नगर में से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही बात सम्यक्त्व के साथ लागू हो सकती है।

यदि सम्यक्त्व न हो तो धर्म की आराधना नहीं हो सकती। धर्म द्वारा जो आध्यात्मिक विभूति, शांति प्राप्य है, वह प्राप्त नहीं हो सकती। सम्यक्त्वी निरंतर इस भाव से अनुभावित रहे।

३. प्रतिष्ठा-भावना

प्रतिष्ठान का अर्थ यहाँ नींव है। कोई भी भवन निर्मित होता है तो पहले उसकी नींव डाली जाती है। वह सुदृढ़ और पक्की की जाती है। फिर उस पर भवन का निर्माण होता है। सुदृढ़ नींव पर चाहे कितनी ही मंजिलें बनाई जाएं तो भी कोई भय नहीं रहता।

धर्म को भवन या प्रासाद की उपमा दी जा सकती है। धर्म रूपी प्रासाद की नींव सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व की नींव पर प्रतिष्ठित धर्म रूपी प्रासाद सदैव सुदृढ़ रहता है, उसे उन्नततर बनाया जा सकता है।

४. आधार-भावना

आधार का अर्थ यहाँ प्रकोष्ठ या कोठा है, जिसमें किराने का सामान रखा जाता है। कोठा जितना स्वच्छ, सुदृढ़ और मजबूत होता है, उसमें रखी गई सामग्री उतनी ही सुरक्षित रहती है। उसे चूहे नहीं काट सकते। चोर आदि उसे चुरा नहीं सकते। सम्यक्त्व को आधार या कोठे की उपमा दी जाती हैं। धर्म उसमें रखा जाने वाला किराना या सामग्री है। मिथ्यात्व को चूहे की उपमा दी जाती है और विषय-कषाय को चोरों की उपमा दी जाती है। यदि सम्यक्त्व रूपी प्रकोष्ठ अत्यंत दृढ़ हो तो मिथ्यात्व रूपी चूहों तथा विषय-कषाय रूपी चोरों का उपद्रव नहीं हो सकता। उसमें जरा भी विकार नहीं आ सकता। सम्यक्त्वी सदा इस चिंतन से अनुप्राणित रहे।

५. भाजन-भावना

भाजन का अर्थ पात्र या बर्तन है। धर्म को भोजन की उपमा दी जाती है और सम्यक्त्व को भाजन या पात्र की उपमा दी जाती है। उत्तम रसायन, भोजन आदि उत्तम भाजन या पात्र में ही टिकते हैं। धर्म रूपी उत्तम भोजन के लिए सम्यक्त्व रूपी स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष और सुदृढ़ पात्र की आवश्यकता है। पात्र उत्तम होगा तो उसमें श्रेष्ठ भोजन टिक पाएगा। लोक में यह प्रसिद्ध है कि सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही टिक सकता है।

सम्यक्त्व का आधार धर्म के टिकाव या स्थिरता के लिए परम आवश्यक है। वस्तु कितनी ही उत्तम क्यों न हो, यदि उसे सुरक्षित रखने का भाजन– पात्र नहीं है तो उसे कहाँ रखा जा सकेगा? भाजन की नितांत आवश्यकता है। धर्म की स्थिरतापूर्वक अनुपालना, साधना के लिए सम्यक्त्व अनिवार्य है।

६. निधि-भावना

धर्म एक अमूल्य रत्न है। सम्यक्त्व एक निधान है। जैसे संसार में बहुमूल्य रत्नों को रखने के लिए उत्तम मंजूषा एवं तिजौरी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म की सुरक्षा के लिए सम्यक्त्व रूपी तिजौरी परम आवश्यक है। वैसा होने से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चोर धर्माराधना रूपी बहुमूल्य रत्न को चुराने में सक्षम नहीं होते, क्योंकि सम्यक्त्व रूपी तिजौरी यदि बहुत मजबूत हो तो उसे चोर तोड़ नहीं सकते।[१]

१. जिणधम्मो, पृष्ठ : ११७-११८.

१२. सम्यक्त्व के स्थान

सम्यक्त्व की सुस्थिरता के लिये छः स्थान या तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं, जिनका परिशीलन सम्यक्त्वी के लिए सर्वथा आवश्यक और उपयोगी है। वे छः स्थान इस प्रकार हैं–

१. आत्मा का अस्तित्व है।

२. आत्मा द्रव्यापेक्षया नित्य है।

३. आत्मा कर्मों की कर्ता है।

४. आत्मा अपने किये हुए कर्मों को भोगने वाली है।

५. आत्मा मुक्त होती है।

६. मुक्त होने का सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र, सम्यक् तप रूप मार्ग है।[1]

समीक्षा

संसार में धर्म के संबंध में दो प्रकार के वाद प्रचलित हैं– १. आस्तिकवाद, २. नास्तिकवाद। इन दोनों का आधार आत्मा को स्वीकार करना और अस्वीकार करना है। आस्तिक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। नास्तिक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। वे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश– इन पाँच तत्त्वों से निर्मित शरीर को ही सब कुछ मानते हैं। उनका अभिमत है कि इन पाँच तत्त्वों के सम्मिलन-सम्मिश्रण से चेतना उत्पन्न होती है। जब वह सम्मिलन बिखर जाता है, तब चेतना नष्ट हो जाती है। आत्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। अस्तित्ववादी आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं। वह शाश्वत और अविनश्वर है। आत्मा के अस्तित्व पर ही पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि टिके हैं। यदि आत्मा को ही न माना जाए तो इन तत्वों को मानने का कोई अवकाश नहीं रहता।

सम्यक्त्वी के लिए सबसे पहले आवश्यक है कि वह सम्यक्त्व में दृढ़ आस्थावान् हो। उसे आत्मा के अस्तित्व में जरा भी संशय– संदेह न हो। यदि वैसा संदेह होगा तो सम्यक्त्व टिक ही नहीं पाएगा।

दूसरा पक्ष आत्मा के नित्यत्व, अनित्यत्व का है। प्राणियों को लोग मरते हुए देखते हैं। जिनको यथार्थ बोध नहीं होता, वे मानते हैं कि उनकी आत्माएं मर गईं। उनका यह मानना तथ्य-रहित है।

---

१. जिणधम्मो, पृष्ठ : ११८.

जैन दर्शन आत्मा को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य मानता है। शरीर अशाश्वत है, अनित्य है। आत्मा उसे छोड़ कर अपने द्वारा संचित कर्मों के अनुसार दूसरा शरीर अपना लेती है। सम्यक्त्वी सदैव ऐसा चिंतन करे कि आत्मा नित्य है।

भारत के आस्तिकवादी दर्शनों में आत्मा को नित्य माना गया हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यह प्रसंग बड़े ही सुंदर रूप में चित्रित किया गया है।

अर्जुन जब मोह से व्याकुल हो गया था, देह-नाश को ही जीवन की समाप्ति मानने लगा, तब योगीराज श्रीकृष्ण ने उसे आत्मा के नित्यत्व, अविकारित्व आदि का तत्त्व-बोध दिया।[1]

आत्मा के नित्यत्वमूलक स्वरूप का चिंतन-अनुभव करने से आस्था, श्रद्धा या विश्वास को प्रबलता एवं सुस्थिरता प्राप्त होती है। संसारवर्ती आत्मा और कर्मों का गहरा संबंध है।

जैन दर्शन यह मानता है कि आत्मा ही कर्म करती है, कोई दूसरा उससे कर्म नहीं करवाता। वह कर्म करने में स्वतंत्र है। एक सम्यक्त्वी के मन में ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए।

जैन आगमों में इस संबंध में बहुत ही स्पष्ट रूप में उल्लेख हुआ है। कहा गया है– दुःखों, सुखों की कर्ता, विकर्ता आत्मा ही है। दूषित आचरण में संलग्न आत्मा अपना शत्रु है तथा सुप्रस्थित–सदाचरण में संलग्न आत्मा अपना मित्र है।[2]

जिस प्रकार आत्मा शुभ, अशुभ कर्म करती है, उसी प्रकार वह उनका फल भोगती है। कोई दूसरा उनका फल नहीं भोगता। अर्थात् अपने द्वारा किए गए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। सम्यक्त्वी के मन में यह भावना सदा बनी रहनी चाहिए।

आत्मा कर्मों के आवरण को मिटाकर मुक्तावस्था प्राप्त करती है। यही सत्य है। सम्यक्त्वी के मन में यह धारण भी सदा स्थिर रहनी चाहिए।

मोक्ष, मुक्तत्व या सिद्धावस्था आत्मा का सर्वोपरि लक्ष्य है। उसे प्राप्त करने का संवर-निर्जरा मूलक साधना रूप उपाय है।[3]

अनुचिन्तन

ऊपर विभिन्न अपेक्षाओं से सम्यक्त्व के संदर्भ में जो विस्तृत विवेचन किया गया है, उसका यह लक्ष्य है कि बहुत कठिनाई से प्राप्त होने योग्य सम्यक्त्व अबाधित, सुरक्षित, परिपुष्ट और समुन्नत बना

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-२, श्लोक-२०, २२-२५. २. उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन-२०, गाथा-३७.
३. जिणधम्मो, पृष्ठ : ११८.

रहे। मनुष्य का मन बड़ा चंचल है। क्षण-क्षण उसमें तरह-तरह के विचार आते रहते हैं। वह सत्पथ से विचलित भी हो सकता है, अत: पल-पल जागरित रहते हुए उसे संप्रेरित करना आवश्यक है।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रसंग में योगिराज श्री कृष्ण ने अर्जुन को जब कर्मयोग का उपदेश दिया तो अर्जुन कहने लगा कि भगवन्! आपने जो मुझे मार्ग बतलाया है, मैं चंचलता के कारण अपने आप में उस पर टिक नहीं पा रहा हूँ। भगवन्! यह मन बहुत चंचल है, प्रमथनशील है, प्रबल और दृढ़ है। इसको निगृहीत करना, रोकना या वश में करना उतना ही दुष्कर है, जितना वायु को रोकना। अर्थात् जिस तरह हवा को कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार मन की चंचलता, अस्थिरता को कोई रोक नहीं पाता। मैं क्या करूँ? इस पर श्री कृष्ण ने कहा– नि:संदेह यह मन बड़ा चंचल है। कठिनता से वश में आने वाला है, किंतु अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसको वश में किया जा सकता है।[१]

जैसे गीताकार ने कहा है– निरंतर अभ्यास करने से वैराग्य-भावना को उद्दीप्त करते रहने से मन को जीता जा सकता है। सम्यक्त्व के प्रसंग में जो तरह-तरह से उसके पोषण के उपाय बतलाए हैं, वे इसीलिए हैं कि मानसिक दुर्बलता एवं चंचलता के कारण कहीं सम्यक्त्व की हानि न हो जाए।

गीता में आया हुआ अभ्यास शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ सम्यक्त्व के संबंध में जो कहा गया है, वह अभ्यास की सार्थक पद्धति है। अभ्यास से किसी श्रेयोमय तत्त्व को बार-बार आवर्तन करने से संस्कार जमता है। वैराग्य-भाव परिपुष्ट होता है।

जो साधक सम्यक्त्व के इन सड़सठ बोलों का बार-बार अनुचिंतन, अनुभावन एवं अभ्यास करता है, उन पर मनन एवं निदिध्यासन करता है, उसके मन से नि:संदेह दुर्बलता निकल जाती है, वह सांसारिक आकर्षण, भोग, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि किसी के भी द्वारा अपने सत्पथ से विचलित नहीं होता। उस पर अडिग भाव से टिका रहता है। ऐसा होने से उसकी आराधना रूपी अट्टालिका सुदृढ़ होती जाती है। गुणस्थानमूलक साधना के सोपानों द्वारा आगे बढ़ने का उसमें उत्साह जागता है। वह अपनी आध्यात्मिक यात्रा में अपरिश्रांत रूप में आगे बढ़ता जाता है, कहीं रुकता नहीं।

सम्यक् दृष्टि : मोक्षानुगामी आयाम

जैन योग के आविष्कर्ता, प्रबुद्ध मनीषी आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'योगबिंदु' में एक स्थान पर लिखा है–

ग्रंथी-भेद हो जाने पर साधक की दृष्टि सम्यक् हो जाती है। वह उत्तम भाव-निष्पन्न मोक्षानुगामी

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-६, श्लोक-३१-३३.

मोड़ ले लेती है। अपने दैनंदिन कार्यों में संलग्न रहते हुए भी साधक का चित्त मोक्ष पर टिका रहता है। वह कर्तव्यवश लौकिक कार्य करता रहता है, किंतु उनमें वह रस नहीं लेता।

एक ओर उसका चिंतन सांसारिक बंधनों से आत्मा के छूटने के संबंध में चलता है तथा दूसरी ओर धर्मानुष्ठान में बहु तत्पर रहता है। जब तक प्रकृति गतिशील रहती है, तब तक निवृत्ति या निवृत्तिमय संयममूलक धर्म जीवन में घटित नहीं होता। जैसे-जैसे प्रकृति का पुरुष से वियोग घटित होता जाता है, वैसे-वैसे मन निर्मल बनता जाता है। उसके अनुसार ही चिंतन-मनन गतिशील होता है।

यहाँ प्रयुक्त प्रकृति[1] और पुरुष[2] शब्द सांख्य दर्शन से संबद्ध हैं। सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा जाता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य जागतिक स्थिति प्रकृति का विस्तार है। पुरुष चेतनामय है, प्रकृति जड़ है।

चिंतन-मनन के परिणामस्वरूप भावात्मक स्थिरता आती है। उससे देदीप्यमान रत्न के समान अंतरात्मा में सत्व-संपृक्त अंर्तज्योति उद्भासित होती है, मन प्रशांत होता है, साधक के जीवन में सदा शुद्ध अनुष्ठान उल्लसित होता है।[3]

सम्यक्त्व और सम्यक् दर्शन

सम्यक्त्व और सम्यक् दर्शन औपचारिक दृष्टि से एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। तत्त्वत: उनमें कार्य-कारण-भाव संबंध है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय एवं सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोहनीय के अपगम से आत्मा में एक प्रकार का शुद्ध परिणमन उत्पन्न होता है, वह सम्यक्त्व है, जो आभ्यंतर दर्शन, अंतर्मुख्यत्व या अंतरात्मभाव का हेतु है। आत्मा का वह शुद्ध परिणमन उन मोहात्मक परमाणुओं की प्रतिरोधक शक्ति का भी काम करता है, जो आत्मा की सत्य के प्रति आस्था होने की क्षमता को विकृत करने के लिए तत्पर रहते हैं।

यथार्थ दर्शन, अविपरीत दर्शन, यथार्थ-तत्त्व-श्रद्धान, सही दृष्टि, सत्याभिमुखता, सत्यरुचि, यथावस्थित-वस्तु-परिज्ञान तथा अभिनिवेश– सत्त्व में आस्था आदि सम्यक् दर्शन के अभिव्यंजक शब्द हैं। सम्यक्त्व कारण है, सम्यक् दर्शन कार्य है।

---

१. (क) सांख्यकारिका, कारिका-३.
(ख) सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ : ६१८.

२. (क) सांख्यकारिका, कारिका-१७.
(ख) सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ : ६२८.

३. जैनयोग ग्रंथ-चतुष्टय : योगबिंदु, श्लोक-२०५-२०९.

सम्यक्त्व होने पर ही तत्त्व श्रद्धान होता है। तत्त्व श्रद्धान होने पर ही सम्यक्त्व होता है, इस प्रकार जो कहा जाता है, वहाँ कार्य में कारण का उपचार है।

सम्यक्त्व आत्म-विकास का चौथा सोपान है। शास्त्रीय भाषा में यह चौथा गुणस्थान है। इसे अविरित सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। इस स्थिति को प्राप्त व्यक्ति की अपनी दृष्टि परिमार्जित होती है, सत्-असत् की यथार्थ पहचान उसे हो जाती है, पर वह अंशत: भी विरत नहीं होता।

२. सास्वादन-सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान

प्रथम और चतुर्थ गुणस्थान के मध्य सास्वादन-सम्यक्-दृष्टि दूसरा तथा सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि या मिश्र दृष्टि तीसरा– ये दो गुणस्थान हैं। सास्वादन-सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान वह है, जहाँ सम्यक् दर्शन का कुछ आस्वाद सा रहता है, यथावत् अनुभूति नहीं होती है। यह अवक्रांति– नीचे गिरने के समय की आत्म-स्थिति है। आत्मा के परिणामों में शिथिलता आ जाने के कारण जब उसका पतन होता है तो वह पुन: मिथ्यात्व में गिरने लगती है। तब अंतर्वर्ती-मध्यवर्ती अर्थात् उच्च गुणस्थान से प्रच्युति और मिथ्यात्व में स्थिति के बीच की दशा वह दशा है, जिसमें मिथ्यात्व की अनुभति प्रारंभ नहीं हुई है और सम्यक्त्व का भी यथावत् अनुभव नहीं है, किंतु सम्यक्त्व की एक हलकी सी अनुभूति आत्मा में विद्यमान रहती है।

उदाहरणार्थ– एक वृक्ष से फल नीचे गिरा। जब तक वह पृथ्वी को नहीं छूता, उसकी तब तक की अंतरालवर्तिनी– बीच की दशा से इस गुणस्थान को उपमित किया जा सकता है। फल न तो पृथ्वी पर है और न वृक्ष पर। उसी प्रकार गिरने वाली आत्मा न ऊपर के गुणस्थान में और न नीचे के मिथ्यात्व गुणस्थान में है। बीच की दशा परिणाम शून्य तो नहीं हो सकती। आत्मा में निरंतर परिणामों की धारा चलती रहती है। पतनोन्मुख आत्मा में विलुप्त होते सम्यक्त्व की एक विलक्षण सी अनुभूति रहती है।

जैन जगत् के महान् विद्वान् पंडित सुखलालजी संघवी ने इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए समझाया है। खीर आदि मिष्ट भोजन करने के बाद जब वमन हो जाता है, तब मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद अर्थात् न मधुर, न अति आम्ल जैसा प्रतीत होता है। उसी प्रकार दूसरे गुणस्थान के समय विलक्षण आध्यात्मिक स्थिति पायी जाती है, क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्व-ज्ञान की निश्चित भूमिका पर है, न ही तत्त्वज्ञान-शून्य की निश्चित भूमिका पर, अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़ने की सीढ़ियों से खिसक कर, जब तक जमीन पर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में एक विलक्षण अवस्था का अनुभव करता है, वैसे ही सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को पाने तक में अर्थात् बीच में

आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करती है। यह बात हमारे इस व्यावहारिक अनुभव से भी प्रसिद्ध है कि जब निश्चित उन्नत अवस्था से गिर कर कोई निश्चित अवनत अवस्था प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक बीच में एक विलक्षण परिस्थिति विद्यमान रहती है।[1]

यद्यपि यह दूसरा गुणस्थान है। मिथ्यात्व से इसकी श्रेणी ऊँची है, इसमें अंशत: सम्यक्त्व एक हलकी सी व्याप्ति रहती है, किंतु यह पतनावस्था से संबद्ध है। मिथ्यात्व उत्थान से जुड़ा है, क्यों कि मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर बढ़ती आत्मा को इस पर रुकना नहीं पड़ता, इसे वह लांघ जाती है। केवल गिरती हुई आत्मा इसका संस्पर्श करती हुई मिथ्यात्व में आती है।

आत्मा के परिणामों में ज्यों ही मोह का उभार आता है, त्यों ही जीव अपने उन्नत स्थान से च्युत हो जाता है। इस गुणस्थान की यही स्थिति है। इसमें तीव्र मोहात्मक कषाय सशक्त रहता है, जो विकास की दृष्टि से उच्च स्थान पर पहुँचे हुए जीव को वहाँ से नीचे धकेल देता है।

३. मिश्र-गुणस्थान

तीसरा सम्यक्-मिथ्या दृष्टि या मिश्र-गुणस्थान है। यह आत्मा की श्रद्धान के विषय में दोलायमान– हिलती हुई सी स्थिति है। न इसमें सत् तत्त्व पर संपूर्णत: आस्था होती है और न अनास्था ही। आत्मा में एक संशययुक्त स्थिति बनी रहती है। परिणाम-स्वरूप न वह तत्त्व को संपूर्णत: अतत्त्व रूप में स्वीकार करती है और न तत्त्व-अतत्त्व में कोई भेद-रेखा ही खीच पाती है। आत्मा की अवक्रांति और उत्क्रांति– दोनों में यह गुणस्थान आ सकता है।

मिथ्यात्व का आवरण चीर कर सम्यक्त्व की ओर बढ़ने में तत्पर आत्मा ज्यों ही अग्रसर होना चाहती है, दर्शन-मोह का बंधन, जो टूटा नहीं है, केवल कुछ शिथिल सा हुआ है, उसे संपूर्ण रूप में वैसा नहीं करने देता। यों प्रथम गुणस्थान से आत्मा का सीधे तृतीय-गुणस्थान में प्रवेश होता है। यदि परिणाम विशुद्ध होते जाएं , बाधक कर्म पुद्गलों का अपचय– नाश होता जाए तो आत्मा विकास की ओर बढ़ने लगती है। तृतीय गुणस्थान से उसका उत्तरोत्तर अग्रगमन होता जाता है, यह उत्क्रांति की स्थिति है।

जीव चतुर्थ या उससे उच्चतर किसी गुणस्थान में स्थित है। परिणामों में कलुषता आती है। स्थिरता टूट जाती है। पतन आरंभ हो जाता है। ऊपर से लुढ़कता हुआ वह जीव, जिसकी स्थिति सम्यक्त्व से पराङ्मुख तथा मिथ्यात्व की ओर उन्मुख है, तृतीय गुणस्थान में भी टिक सकता है। तब

१. दर्शन और चिंतन, खंड-२, पृष्ठ : २७३.

उसके परिणाम पूरी तरह न मिथ्यात्व-युक्त होते हैं और न सम्यक्त्व-युक्त ही। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व घुले-मिले रहते हैं। यह अवक्रांति की स्थिति है।[1]

४. अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान

यह चौथा गुणस्थान है। यहाँ दृष्टि तो सम्यक् हो जाती है, पर तब तक आत्मा अपने को विरति-प्रत्याख्यान या व्रतों के साथ जोड़ नहीं पाती। सम्यक् दृष्टि पहले यथा प्रसंग विस्तार से वर्णित है।

५. देशविरति गुणस्थान

विश्वास या आस्था की शुद्धि होने के अनंतर आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होती है। केवल सत् तत्त्व के प्रति श्रद्धा से लक्ष्य सिद्ध नहीं होता, जब तक उसके अनुरूप चारित्र के क्षेत्र में अग्रसर न हो।

शास्त्रीय भाषा में मोहनीय की दूसरी शक्ति चारित्रमोह को शिथिल करने के लिए आत्मा प्रेरित और प्रगतिशील होती है। जब तक चारित्रमोह शिथिल नहीं होता, तब तक आत्मस्थिरता नहीं होती, पर-परिणति- आत्मा के सिवाय दूसरे भावों में परिणमन का त्याग नहीं होता। अपना अंतर्मन जागरित कर आत्मा अपने सद् विश्वास के अनुरूप असत् से विरत होने के लिए पराक्रमशील नहीं होती। अंशत: वह स्वरूप में अधिष्ठित होती है। यह सत् चर्या या सत् चारित्र में पहला पदन्यास है। इसे देशविरति कहा जाता है। यह पंचम गुणस्थान है।

इसमें साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों की एक देशीय-आंशिक आराधना में संलग्न होता है। दूसरे शब्दों में अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत अपनाता है।

देशविरति-गुणस्थानवर्ती या देशविरत साधक द्वारा, जिसे श्रावक या श्रमणोपासक कहा जाता है, ग्रहण करने योग्य व्रतों की संरचना में जैन तत्त्ववेत्ताओं की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है। सर्वविरति उच्च या सर्वविरत साधकों की, मुनियों की जीवन-चर्या में या संयमाराधना में सर्वथा एकरूपता संभाव्य है, क्योंकि पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को छोड़कर वे केवल व्रतमय वैयक्तिक

१. (क) षट् खंडागम, प्रथम खंड, पुस्तक-६, जीवस्थान चूलिका-१२-१३ : धवला टीका सहित, पृष्ठ : २४७-२६७.
(ख) तत्त्वसार, गाथा-१३, पृष्ठ : १६. (ग) मूलाचार, भाग-२, गाथा-११९७.
(घ) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, भाग-२, अध्याय-९, (प्रथम सूत्र की व्याख्या), पृष्ठ : ५८९.
(ङ) पंच संग्रह, प्राकृत अधिकार-१, २०-२१. (च) गोमट्टसार (जीवकांड),५६. ५७. १४९.
(छ) द्रव्य संग्रह, टीका-१३. ३५.

जीवन जीते हैं, परन्तु गृहवर्ती साधनोन्मुख व्यक्ति जिन पर माता, पिता, पत्नी, पुत्र तथा अन्य परिवारिक जनों के योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त की रक्षा) का दायित्व है, जिनके अनेक सामाजिक संबंध हैं, कर्त्तव्य हैं, केवल वैयक्तिक जीवन नहीं जी सकते तथा दायित्व और कर्त्तव्य-निर्वाह की दृष्टि से उनकी एक सी आवश्यकताएं भी नहीं होती। अत एव व्रतों के ग्रहण में जो आंशिकता है, वहाँ एकरूपता नहीं हो सकती। आंशिकता अनेक कोटियों की हो सकती है।

साधक अपनी तितिक्षा-वृत्ति और आवश्यकताओं को तोलता है, जैसी क्षमता या सामर्थ्य अपने में पाता है, उसी मात्रा में वह व्रत, संयम स्वीकार करता है, अथवा असत् वृत्तियों का त्याग करता है। इस पाँचवें गुणस्थान को देशविरति के अतिरिक्त संयतासंयति, व्रताव्रती, धर्माधर्मी आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है, जो एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

६. प्रमत्त-संयत : सर्वविरति गुणस्थान

देशविरति गुणस्थान में संयम की साधना है, पर आंशिक या एकदेशीय है। विकास या ऊर्ध्वगमन जिसका स्वभाव है, वह अनंत शक्तियों की पुंजात्मा यद्यपि तब तक उसका शक्ति-पुंज अधिकांशत: आवृत्त होता है, अन्त:पराक्रम का संबल लिए संयम की ओर आगे बढ़ना चाहती है। जीव के अंत:स्थित देव और दानव-- स्वभाव और परभाव का तुमुल संग्राम छिड़ जाता है। जब देव या आत्मा का शुद्ध-भाव दानव या अशुद्ध-भाव को पराभूत कर देता है तो शीघ्र ही उसकी गति में एक विलक्षण वेग या तीव्रता आ जाती है और आत्मा आंशिक स्थान पर संपूर्ण संयम का साम्राज्य प्राप्त कर लेती है। यह आत्मा की सर्वविरति दशा है।

विकास की मंजिल पर पहुँचने का यह छठा सोपान है। शास्त्र की भाषा में तो इसे सर्वविरत, प्रमत्त संयत या प्रमादी साधु गुणस्थान कहा जाता है। सर्वविरत-- महाव्रत ग्रहण की भाषा इस प्रकार है--

"करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि ! तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"[1]

"भगवन् ! मैं सामायिक-व्रत ग्रहण करता हूँ। समस्त सावद्य-योग का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान करता हूँ। मैं मन, वचन, एवं शरीर द्वारा कोई पाप कर्म न स्वयं करूंगा, न अन्य से कराऊंगा और न करने वालों का समर्थन या अनुमोदन करूंगा। अब तक जो एतत्प्रतिकूल मुझ से

१. आवश्यक-सूत्र, अध्ययन-१, प्रतिज्ञा-सूत्र, पृष्ठ : ७.

होता रहा, उससे मैं प्रतिक्रांत होता हूँ– निवृत्त होता हूँ। आत्म-साक्षी से मैं उनकी निन्दा एवं गर्हा करता हूँ, उस ओर से आत्मा का व्युत्सर्जन करता हूँ, पूर्णत: उनका परित्याग करता हूँ।" इस प्रतिज्ञा के साथ एक साधक अपने को संयमी साधना में समर्पित करता है। वह निरपवाद रूप में व्रत-पालन के लिए संकल्पबद्ध होता है। जीवन का धागा भले ही टूट जाए, किंतु महाव्रतों की रज्जु जीते जी कदापि टूट न पाए, सर्वविरति साधक का यह निश्चय होता है, फिर वह प्रमत्त कैसे ? यह प्रश्न है, वह तो भलीभाँति जागरित है।

समीक्षा

जैसा यथाप्रसंग वर्णित हुआ है, यहाँ प्रमत्त शब्द बाह्य प्रमाद युक्तता की दृष्टि से प्रयुक्त नहीं हुआ है। यदि बाह्य प्रमाद विद्यमान रहेगा तो साधक इस गुणस्थान पर नहीं टिक पाएगा। नीचे गिर जाएगा।

प्रमाद या प्रमत्तता का आशय आत्म-प्रदेशगत उस अनुत्साह रूप अंतर्वृत्ति से है, जो संयम के प्रति आंतरिक उत्साह उभरने नहीं देती। उसका हेतु अरति आदि मोह का उदय बताया गया है। यहाँ प्रमाद आस्रव अनवरूद्ध रहता है।[1]

पंडित सुखलालजी संघवी ने षष्ठ गुणस्थान के साथ रहे प्रमाद को साधक की आत्म-कल्याण के अतिरिक्त लोक-कल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति के साथ जोड़ा है। इससे कभी-कभी थोड़ी बहुत मात्रा में प्रमाद का होना संभाव्य है।[2]

यह व्यवहार की भूमि से की गई विवेचना प्रतीत होती है, अन्यथा लौकिकता में संलग्न होकर थोड़ी मात्रा में भी संयम के प्रति असावधानी, उपेक्षा दिखलाना, उतने समय के लिए संयम से पृथक् होना है। संयमी द्वारा बाह्य जीवन में व्यक्त उपेक्षा या प्रमाद इस गुणस्थान में वर्जित है।

प्रमत्त-संयत या षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक अपने चर्यात्मक जीवन में जब-जब प्रमाद, असावधानी या अजागरूकता को प्रश्रय देता है, तब तक वह अपने गुणस्थान से अध:पतित होता रहता है, पर आत्म-प्रदेशगत प्रमाद-संयम के प्रति समय-समय पर आत्म-प्रदेशों में उभरने वाली जो अनुत्साहात्मक स्थिति है, वह नितांत आभ्यंतरिक है।

७. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान

आत्मा अपनी शुद्ध अंत:परिणति का संबल लिए अरति आदि मोह-प्रसूत प्रमाद से जूझती रहती

१. जैन सिद्धांत दीपिका, प्रकाश-४, सूत्र-२२. २. दर्शन और चिंतन, खंड-२, पृष्ठ : २७२.

है। ज्यों-ज्यों भावों की उज्ज्वलता बढ़ती है, त्यों-त्यों एक अभिनव शक्ति निष्पन्न होती है। प्रमाद का दुर्गम दुर्ग टूटने लगता है। साधक एक श्रेणी आगे बढ़ जाता है। तब उसकी आभ्यंतरिक– आत्मप्रदेशगत अनुत्साह-वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। वह भीतर से और बाहर से अनवरत बढ़ते हुए उत्साह से आत्मविभोर, आत्मोत्साहित हो उठता है। तब 'संयत' के साथ जुड़ा प्रमत्त विशेषण 'अप्रमत्त' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह सप्तम गुणस्थान है।

जैसा कि कहा गया है– इसका आधार भावों की उज्ज्वलता एवं शुद्धि है। जब-जब षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक प्रमाद के विपरीत भावों द्वारा अपना आत्मबल संजोता है, वह सप्तम गुणस्थान में पहुँचता है। आंतरिक प्रमाद बड़ा दुर्जेय हैं। ज्यों ही यह बलवत्तर होता है, साधक को पुन: षष्ठ गुणस्थान में धकेल देता है। साधक फिर जोर लगाता है, जूझता है, प्रमाद को पराभूत कर लेता है, तब वह सप्तम गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है। यह क्रम अनेक बार चलता है। अंत में प्रमाद का पराभव हो जाता है और साधक अप्रमत्तता प्राप्त कर लेता है।

८. निवृत्ति-बादर गुणस्थान

आठवाँ निवृत्ति-बादर गुणस्थान है। 'बादर' जैन वाङ्मय का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ स्थूल है। इस गुणस्थान में स्थूल रूप में, थोड़े रूप में कषायों से– क्रोध, मान, माया और लोभ से निवृत्ति होती है। अप्रमत्त अवस्था तो इससे पूर्ववर्ती अवस्था में प्राप्त हो ही जाती है। इस गुणस्थान में आत्मा अपनी शक्ति वृद्धिंगत करने के लिए उद्यत रहती है, जिससे अवशिष्ट– बचे हुए मोह-मल्ल से लोहा ले सके, टक्कर ले सके, उसे विध्वस्त कर सके।

मोह के साथ होने वाले विकराल युद्ध के लिए आत्मा की यह तैयारी की स्थिति है। निवृत्ति बादर गुणस्थान का दूसरा नाम 'अपूर्वकरण' है। इस गुणस्थान में मोह से जूझने के लिये आत्म-बल की आवश्यकता होती है। फलत: इसमें अभूतपूर्व आंतरिक शुद्धि, शक्ति स्फुरित होती है। अपूर्व– जो पहले कभी निष्पन्न नहीं हुए, जैसे परिणामों से आत्मा इस गुणस्थान में संयुक्त हो जाती है। इसी कारण इसे अपूर्वकरण कहा जाता है।

उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी

इस गुणस्थान से आगे विकास की दो श्रेणियाँ आविर्भूत होती हैं–१. उपशम श्रेणी, २. क्षपक श्रेणी।[1]

उपशम श्रेणी में आरूढ़ आत्मा कषायों को उपशांत करती हुई आगे बढ़ती है। उपशम का तात्पर्य

१. श्री केवल नवकार मंत्र प्रश्नोत्तर ग्रंथ, भाग-२, पृष्ठ : ८३, ८४.

विकार का दबना है। वहाँ विकृति निर्मूल नहीं होती। उसकी स्थिति उस अग्नि जैसी होती है, जिस पर राख का एक आवरण छाया हुआ है। आवरण के कारण छूने पर भी अग्नि जलाती नहीं, पर ज्यों ही आवरण को हटा दिया जाए, अग्नि उभर आती है और वह पहले की तरह जलाने लगती है।

एक दूसरा उदाहरण और लें। एक बर्तन में पानी भरा है। पानी का मैला नीचे बैठते ही पानी स्वच्छ प्रतीत होता है, पर ज्यों ही उसे हिला दिया जाए तो नीचे बैठा हुआ मैला तुरंत उभर आता है, पानी को गंदा कर देता है। इसी प्रकार उपशम-श्रेणी पर आरूढ़ साधक के उपशांत या दबे हुए कषाय ज्यों ही उभार में आते हैं, त्यों ही आत्मा को विकृत कर देते हैं, नीचे गिरा देते हैं।

क्षपक श्रेणी क्षय या समूल नाश पर आधारित है। विकासोन्मुख आत्मा कषायों को क्षीण करती हुई अग्रसर होती है। तब उसके पतन की आशंका नहीं रहती है। वह उत्तरोत्तर विकास-पथ पर बढ़ती जाती है। इन दोनों श्रेणियों के आरोह-क्रमों में जो अंतर है, वह मननीय है।

९. अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान

जिसमें स्थूल कषाय की अनिवृत्ति होती है अर्थात् कषाय स्थूल– थोड़ी मात्रा में बचे रहते हैं, वह अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान है। इसका अभिप्राय यह है कि इस अवस्था में आत्मा कषाय से प्राय: निवृत्त हो जाती है। इससे पूर्व आठवें गुणस्थान में कषाय की निवृत्ति स्थूल या थोड़ी मात्रा में होती है। उसे निवृत्ति-बादर कहे जाने का यही कारण है। नौवें गुणस्थान को अनिवृत्ति-बादर इसलिए कहा जाता है कि वहाँ कषाय थोड़ी मात्रा में अवशिष्ट रहता है। सारांश यह है कि आठवें गुणस्थान का नाम, जो कषाय-निवृत्त हुआ, उसके आधार पर किया गया है और नौवें गुणस्थान का नाम, जो कषाय-निवृत्त नहीं हुआ, उसके आधार पर किया गया है।

१०. सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान

दसवाँ सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान है। संपराय का अर्थ लोभ है। इस गुणस्थान में लोभ का सूक्ष्म अंश विद्यमान रहता है। आत्मा के प्रबल पराक्रम द्वारा कषाय के अन्यान्य अंशों के उच्छिन्न कर दिए जाने पर भी कुछ सूक्ष्म लोभांश रह जाता है। उस अवशिष्ट रहे लोभांश की अपेक्षा से इसका यह नामकरण हुआ है।

११. उपशांत-मोह गुणस्थान

ग्यारहवाँ उपशांत-मोह गुणस्थान है। इसमें केवल वही आत्माएँ आती हैं, जो उपशम-श्रेणी से आगे बढ़ती हैं। क्षपक श्रेणी से आगे बढ़ने वाली आत्माएँ दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान में चली जाती हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में मोह का उपशम हो जाता है, पर उसे पुन: उभरते भी देर

नहीं लगती। ज्यों ही उभार आता है, उस पर आरूढ़ आत्माएँ नीचे गिर जाती हैं। यद्यपि यह मोह के उपशम की पराकाष्ठा की स्थिति है, किंतु उसके आगे आत्माएँ विकास की ओर बढ़ नहीं पातीं। वे अनिवार्य रूप में अंतर्मुहूर्त के पश्चात् अध:पतित होती हैं।

ग्यारहवें गुणस्थान से पतन तो होता है और वह प्रथम गुणस्थान तक भी जा सकता है, किन्तु एक बार जो आत्मा इतने ऊँचे विकास को प्राप्त कर चुकी, वह अध:पतित नहीं रहती। पुन: सद्वीर्य, सत्पराक्रम और सद् उत्साह के सहारे वह विकास-पथ पर आरूढ़ होती है। वह मार्ग में आते हुए विभावात्मक शत्रुओं से संघर्ष करती हुई, उन्हें पराभूत करती हुई क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो जाती है, जहाँ से फिर पतन नहीं होता।

१२. क्षीण-मोह गुणस्थान

बारहवाँ क्षीण-मोह गुणस्थान है। जिसका मोह-कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसके यह गुणस्थान सिद्ध हो जाता है। पूर्व अवस्था में संज्वलन-लोभ का अस्तित्व नहीं मिटता। इस अवस्था में वह पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है। आत्मा पूर्णत: वीतरागता प्राप्त कर लेती है।

१३. सयोग-केवली गुणस्थान

तेरहवाँ सयोग-केवली गुणस्थान है। आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले मुख्यत: शत्रु-घाति कर्मों का इसमें सर्वथा नाश हो जाता है। उसके परिणामस्वरूप आत्मा अनुपम शांति, सुख, ज्ञान, चारित्र, दूसरे शब्दों में निरतिशय आध्यात्मिक साम्राज्य प्राप्त कर लेती है। कैवल्य के आवरक-आवरण करने वाले समस्त कर्माणु अपगत हो जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाती है।

इस गुणस्थान को सयोग केवली कहे जाने का कारण यह है कि कैवल्य प्राप्त आत्मा में मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तिरूप योग व्याप्त रहता है। मोक्षरूपी लक्ष्य को स्वायत्त करने हेतु आत्मा को उसका भी अपाकरण या नाश करना होता है। वह सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति शुक्ल-ध्यान का आश्रय लेकर मन, वचन, काय के व्यापारों को सर्वथा निरुद्ध कर देती है, उसे अयोगावस्था प्राप्त हो जाती है।

१४. अयोग-केवली गुणस्थान

अयोगावस्था की प्राप्ति आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा या अंतिम मंजिल है। इसमें मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति रूप योग सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं, इसलिए इसे अयोग-केवली गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है।

समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति शुक्ल-ध्यान द्वारा आत्मा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकंप बनकर स्व-स्वरूप में अधिष्ठित हो जाती है।

अंत में आत्मा देह का त्याग कर लोकोत्तर स्थान प्राप्त कर लेती है। यही परम शुद्धि, पूर्णता, कृत-कृत्यता तथा अव्याबाध आनंद का अविचल स्थान है।

'ज्ञानसार' में इस अवस्था का वर्णन करते हुए कह गया है– "त्याग परायण साधक को अंततः सभी योग छोड़ देने होते हैं, मेघ-शून्य गगन में चमकते हुए चंद्र की तरह तब साधक की आत्मा अपने संपूर्ण शुद्ध स्वरूप में व्यक्त होती है।"[१]

गुणस्थानों का कालमान

चौदह गुणस्थानों की काल-स्थिति के संबंध में शास्त्रों में जो वर्णन आया है, तदनुसार प्रथम गुणस्थान की कोई निश्चित अवधि नहीं है। इसे समुद्र के साथ उपमित किया गया है, जब कि अन्य अवस्थाओं की छोटे जलाशयों के साथ तुलना की गई है।

अभव्य जीवों के लिए जिनमें मोक्षोपयोगी योग्यता का सर्वथा अभाव होता है, जीवों के लिए यह अवस्था अनादि अनंत है अर्थात् अनादिकाल से मिथ्यात्व के गर्त में वे फँसे हुए हैं, जिसका कोई अंत नहीं है।

भव्य जीवों के लिए यह अवधि अनादि सांत है। उसकी सांतता आत्मा के अपने कर्मों के क्षय, उपशम तथा उसके अपने पराक्रम और पुरुषार्थ पर निर्भर है, जिसमें विभिन्न आत्माओं की योग्यता के अनुसार तरतमता रहती है।

दूसरे गुणस्थान का कालमान छः अवलिका, तीसरे गुणस्थान का अंतर्मुहूर्त, चौथे गुणस्थान का तैंतीस सागर से कुछ अधिक, पाँचवें-छठे गुणस्थान का कुछ कम करोड़ पूर्व तथा सातवें से बारहवें तक का अंतर्मुहूर्त, तेरहवें गुणस्थान का कुछ कम करोड़ पूर्व तथा चौदहवें का अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितना समय है।[२]

आत्मा की तीन अवस्थाएं

गुणस्थानों और उनकी अन्तर्वर्तिनी स्थितियों का बहिरात्मावस्था, अंतरात्मावस्था तथा परमात्मावस्था के रूप में उल्लेख हुआ है।[३]

१. ज्ञानसार (त्यागाष्टक) श्लोक : ७, ८.
२. जीव-अजीव, पृष्ठ : ७२.
३. जैन धर्म : अर्हत् और अर्हताएं, पृष्ठ : २५४.

विश्लेषण

पहली अवस्था में आत्मा का शुद्ध स्वरूप विजातीय परमाणुओं– कर्म-पुद्गलों से अत्यंत आच्छन्न रहता है। फलत: आत्मा मिथ्या अध्यवसाय लिए हुए परोन्मुख बनी रहती है। भौतिक सुख, विलास तथा समृद्धि को ही जीवन का परम लक्ष्य मानती हुई चलती है, जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्राणपण से संलग्न रहती है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय गुणस्थान बहिरात्मावस्था के निदर्शन हैं।

दूसरी अवस्था में आत्मा के ऊपर छाया हुआ कर्मों का आवरण क्रमश: शिथिल तथा नि:सत्त्व होता जाता है। परिणामस्वरूप उसकी दृष्टि भौतिक सुखों और एषणाओं से हटकर शुद्ध स्वरूप की ओर उन्मुख रहने लगती है। उसका लगाव कायिक कलेवर से न होकर आत्मा से ही– अपने आपसे ही बढ़ता जाता है।

दैहिक-अपचय– नाश में दु:ख तथा उपचय– वृद्धि में सुख की वृत्ति मिटती जाती है। यह अंतरात्मस्वरूप है। चतुर्थ से द्वादश गुणस्थान तक का इसमें समावेश किया गया है।

तीसरी अवस्था वह है, जहाँ आत्मा का आच्छादित स्वरूप प्रगट हो जाता है। वे कार्मिक आवरण, जो उसकी नैसर्गिक शक्तियों को अवरूद्ध कर रहे थे, मिट जाते हैं। सत्-चित्-आनंदमय स्वरूप की अमिट ज्योति जल उठती है। जीवन्मुक्त और तदनंतर सर्वमुक्त होकर आत्मा शाश्वत सुख का निरंतर, निश्चल और निरुपद्रव स्थान पा लेती है। इसमें तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान का समावेश है। आत्मा की यह परमात्म रूप में विकास की अवस्था है।

जैन दर्शन में आत्मा की यही परमेश्वरत्व या परमात्मत्व की स्थिति है। सर्जन, पालन तथा संहार– ये अनादिकाल से चले आते सांसारिक कार्य हैं, जो अपने-अपने कर्म पुद्गलात्मक कारण-समुदाय पर, वीर्य, पराक्रम, उद्यम आदि पर आश्रित हैं। परमात्मा का, जो शुद्धत्व की चरम अभिव्यक्ति है, इनसे लगाव कैसे संभव है ? व्यक्तिरूप में जैन दर्शन अनेक या अनंत आत्मा स्वीकार करता है। अनंत कर्म बद्ध हैं, अनंत मुक्त हैं। मुक्त आत्मा, परमात्मा, ईश्वर या परमेश्वर कहे जाते हैं, जो एक नहीं अनेक हैं।

ईश्वर या परमेश्वर का तात्पर्य उस ऐश्वर्य को धारण करने से है, जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप की समग्र अभिव्यक्ति के अनंतर नि:सीम, निर्विकल्प एवं निरुपम सुख आदि के रूप में प्रस्फुटित होता है।

दार्शनिक शब्दावली में उपर्युक्त विवेचन का सार-संक्षेप इस प्रकार है–

मिथ्या दर्शन आदि में परिणत आत्मा 'बहिरात्मा' है। सम्यक् दर्शन आदि में परिणत आत्मा 'अंतरात्मा' है। केवलज्ञान आदि में परिणत आत्मा 'परमात्मा' है।

बहिरात्मा की प्रथम तीन गुणस्थानों में, अंतरात्मा की क्षीण मोहनीय तक, उत्तरवर्ती गुणस्थानों में तथा उनके आगे परमात्मा की स्थिति है। अभिव्यक्त रूप में जो बहिरात्मा है, शक्ति की अपेक्षा से वह अंतरात्मा और परमात्मा भी है। अभिव्यक्ति की अपेक्षा से जो अंतरात्मा है, शक्ति की अपेक्षा से वह परमात्मा और अनुभूति पूर्वनय आधार पर बहिरात्मा भी है। व्यक्त रूप में जो परमात्मा है, अनुभूत पूर्वनय की अपेक्षा से वह बहिरात्मा और अंतरात्मा भी है।

जैन दृष्टि से यह गुणस्थानों का विवेचन है। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि में विश्वास करने वाले अन्य दर्शनों में भी आत्मा के अभ्युदय अथवा जीवन के अंतिम साध्य मोक्ष की ओर अग्रसर होने का एक विकास-क्रम अपनी-अपनी दृष्टि से स्वीकार किया गया है। यहाँ विभिन्न दर्शनों के एतद्विषयक विचारों को सार रूप में उपस्थित कर तुलनात्मक समीक्षा की जा रही है।

योगवासिष्ठ में आध्यात्मिक विकास पर चिंतन

योगवासिष्ठ वैदिक वाङ्मय के प्रमुख आध्यात्मिक ग्रंथों में है। इसमें वेदांत के सिद्धांतों का मार्मिक विश्लेषण है। इसमें आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन पर गहन चिन्तन किया गया है।

अनात्मा में– शारीरिक कलेवर में जो आत्म-बुद्धि रखता है, उसे जैन शास्त्रों में जिस प्रकार बहिरात्मा कहा गया है, लगभग वैसा ही वर्णन योगवासिष्ठ में प्राप्त है–

"वह अज्ञ जिसके अंत:करण में अज्ञान भरा है, वह देह को ही आत्मा मानता है। उसके इंद्रिय रूप शत्रु मानो रोष-युक्त होकर उसे अभिभूत कर लेते हैं।"[१]

जैन शास्त्रों के अनुसार मोह मुख्य रूप से बंधन, संसार में आवागमन का– जन्म-मरण का हेतु है। यही बात योगवासिष्ठकार ने दूसरे शब्दों में कही है– "अविद्या संसार है, बंध है। सर्वज्ञों ने उसी के माया, मोह, तमस् आदि नाम कल्पित किए हैं।"[२]

जैन शास्त्रों में आत्मा के अभ्युदय के लिए ग्रंथि-भेद करना अति आवश्यक माना है। योगवासिष्ठ ने भी ऐसा ही माना है। वहाँ केवल अर्थ की समानता ही नहीं है किंतु शब्द भी समान हैं। उन्होंने ग्रंथि-भेद के स्थान पर ग्रंथि-उच्छेद का प्रयोग किया है।[३]

योगवासिष्ठ में वर्णित सम्यक् ज्ञान का लक्षण भी बहुत अंशों में जैन शास्त्र सम्मत है।[४]

१. योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण (पूर्वार्ध), अध्याय-६, श्लोक-३.
२. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, अध्याय-१, श्लोक-२०.
३. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, अध्याय-१८, श्लोक-२३.
४. योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, अध्याय-७९, श्लोक-२.

जैन शास्त्रों के अनुसार सम्यक् दर्शन की प्राप्ति नैसर्गिक स्वभाव से तथा आधिगमिक– बाह्य निमित्त से– दो तरह से बताई गई है।[1]

योगवासिष्ठकार ने भी सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति गुरुप्रोक्त अनुष्ठान से या एक जन्म अथवा अनेक जन्मों के संस्कारों से– दो प्रकार से बतलाई है।[2]

चौदह भूमियाँ

जैन दर्शन में अध्यात्म-विकास के सोपान-क्रम के रूप में जैसे चौदह गुणस्थान प्रतिपादित हुए हैं, योगवासिष्ठ में भी चौदह भूमियों का वर्णन है। उसमें सात अज्ञान भूमियाँ और सात ज्ञान भूमियाँ हैं।

अज्ञान दुःख एवं अधःपतन का कारण है। वह मोहजनित है। अज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि आत्मा को अपने स्थान से च्युत कर, उसे अधिकाधिक अधःपतन की ओर ले जाती है। अज्ञान भूमियों में अज्ञान की ओर आगे से आगे वर्धनशील अवस्थाओं का विवेचन है।

ज्ञान, अज्ञान का विरोधी है। ज्यों-ज्यों वह विकास पाता जाता है, तब साधक की आत्म-स्थिति उत्तरोत्तर उन्नत हो जाती है। योगवासिष्ठकार के शब्दों में सत्यावबोध हो जाना ही मोक्ष है। सत्यावबोध हो जाने पर जीव को फिर से संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।[3]

सात ज्ञान भूमियों का विस्तार

सात ज्ञान भूमियों में ज्ञान के क्रमिक विकास और साथ ही साथ छूटती जाती आसक्ति एवं ममता का वर्णन है। उनमें आत्मा द्वारा शुद्ध स्वरूप-प्राप्ति, ब्रह्म-साक्षात्कार किए जाने तक का विवेचन है। योगवासिष्ठ में शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थ-भावनी तथा तुर्यगा इन सात ज्ञान भूमियों का उल्लेख है।

१. शुभेच्छा

"मैं मूढ़ बना क्यों बैठा हूँ ? मैं शास्त्रों के सहारे और सत्पुरुषों के संपर्क से परम तत्त्व का साक्षात्कार करूँ।" इस प्रकार वैराग्य से जो ज्ञान पाने की उत्कंठा होती है, उस शुभेच्छा कहा जाता है।

---

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्याय-१, सूत्र-३. २. योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, अध्याय-७, श्लोक-४.
३. योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, अध्याय-११८, श्लोक-४.

२. विचारणा

शास्त्रों के अनुशीलन, सत्पुरुषों के संसर्ग तथा वैराग्य के अभ्यास से जो सद् आचार में प्रवृत्ति होती है, वह विचारणा है।

३. तनुमानसा

शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इंद्रिय-विषयक भोगों में आसक्ति नहीं रहती। मन तनुता– सविकल्प-समाधिरूप सूक्ष्मता को प्राप्त कर लेता है। अत: वह तनुमानसा कही गई है।

४. सत्त्वापत्ति

पूर्वोक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से एवं चित्त में बाह्य विषयों के प्रति उत्पन्न विरक्ति से स्वरूप– सन्मात्र रूप शुद्ध आत्मा में जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसे सत्त्वापत्ति कहा जाता है।

५. असंसक्ति

शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा एवं सत्त्वापत्ति– इन चार ज्ञान भूमियों के अभ्यास से, बाह्य और आभ्यंतर विषय-विकारों तथा संस्कारों के प्रति संग– आसक्त भाव छोड़ देने से सत्त्व-चमत्कार– ब्रह्मात्मभाव-साक्षात्कार-रूप चमत्कार जिसमें उत्पन्न हो जाता है, उसे असंसक्ति नामक भूमिका कहा जाता है।

इस भूमिका में द्वैतभाव का अत्यंत उच्छेद होने से अति उत्कर्षमय स्थिति उत्पन्न होती है। चौथी भूमिका के अंत में उत्पन्न होती हुई ब्रह्मसाक्षात्कार की स्थिति दृढ़तर हो जाती है।

६. पदार्थभावनी

पिछली पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से स्वात्माराम अर्थात् अपने आप में अपनी परम आनंदमय स्थिति बनती है। बाह्य और आभ्यंतर पदार्थों के साथ जुड़े हुए संस्कारों का इतना पार्थक्य हो जाता है कि उनकी भावना तक मन में नहीं उठती। अर्थात् बाह्य और आभ्यंतर पदार्थों की व्यक्त-अव्यक्त भावना शेष नहीं रह पाती। पदार्थों की अभावना के कारण इसे पदार्थभावनी भूमिका कहा जाता है।

७. तुर्यगा

पूर्वोक्त छ: भूमिकाओं के चिर अभ्यास के उपरान्त जहाँ स्व-पर का भेद नहीं रह पाता, जो स्व-भाव में एक निष्ठावस्था है, उसे तुर्यगा भूमिका कहा जाता है।

जागर्ति (जागृति), स्वप्न तथा सुषुप्ति– इन तीनों अवस्थाओं में अतीत होने के कारण इसे तुर्यगा और चौथी कहा गया है। संस्कृत में तुर्य या तुरीय शब्द चतुर्थ– चौथे के अर्थ में है।

योगवासिष्ठ में निरूपित इन सात भूमियों के अन्तर्गत चौथी भूमि में साधक ब्रह्मवित्, पाँचवीं भूमि में ब्रह्मविद्वर तथा छठी भूमि में ब्रह्मविद्वर्य कहा जाता है। सातवीं भूमि में इन तीनों से आगे की चरम उन्नत अवस्था है।

ये विकास दशाएँ जीवन-जीते हुए भी विद्यमान रहती हैं। वह अवस्था सदेहावस्था है। इसके अनंतर विदेह-मुक्ति की स्थिति आती है।[1]

समीक्षा

योगवासिष्ठ में वर्णित चौदह भूमियों में सात अज्ञान भूमियाँ जैन दर्शन की भाषा में मिथ्यात्व की सूचक हैं। मोह की गाढ़ता के तरतम भाव को अपनाए हुए वे मिथ्यात्व की उत्तरोत्तर वृद्धिंगत-उग्रातिउग्र दशाएँ हैं।

ज्ञानभूमियाँ विकास की सूचक हैं। पहली भूमि में जीव अपनी अज्ञान-अवस्था पर आकुल हो जाता है। वह सोचता है- मैं क्यों मूढ़ बना हूँ ? मुझे यथार्थ का- सत्य का साक्षात्कार करना चाहिए। यह सद्बोध और सद्वीर्य की तीव्र अनुभूति है। यह जैन दर्शन में वर्णित 'अपूर्वकरण' जैसी स्थिति है।

तदनंतर साधक शास्त्र-ज्ञान अर्जित करता है, सत्पुरुषों का सत्संग करता है। अपने में उद्बुद्ध वैराग्य के अनुरूप अपना आचरण बनाता है। इस प्रकार वह सद् आचार- ब्रह्मोन्मुख चर्या या आत्म-साक्षत्कारमय प्रवृत्ति में संलग्न होता है। यह जैन परिभाषा के अनुसार दर्शनमोह और चारित्रमोह की शिथिलता से सत् श्रद्धा और सत् चारित्र में संप्रवृत्त होने की स्थिति है, जो चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर उत्तरोत्तर अग्रसर रहती है।

आगे की भूमियों में इंद्रिय-संबंधी भोगों के प्रति अनासक्ति, सवितर्क-समाधिरूप मन की तनुता- सूक्ष्मता, सन्मात्र रूप शुद्ध आत्म-भाव में अवस्थिति, बाह्य और आभ्यंतर विषय-विकारों और संस्कारों के प्रति असंसक्ति- अनासक्तता, द्वैतभाव का अत्यंत उच्छेद, ब्रह्मसाक्षात्कार, जीवन्मुक्त आदि का जो विवेचन हुआ है, वह अप्रमत्त-संयत, निवृत्ति-बादर, अनिवृत्ति-बादर आदि से लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक से तुलनीय है। योगवासिष्ठ में वर्णित जीवन्मुक्त सयोग केवली स्थानीय है। योगवासिष्ठ में प्रयुक्त विदेह-मुक्ति अयोग केवली दशा है। इस प्रकार सामान्यत: दोनों की एक सीमा तक संगति हो सकती है।

वस्तुत: जैन दर्शन में गुणस्थानों के रूप में आत्मा की क्रमिक उत्थानोन्मुख अवस्थाओं का बड़ा मनोवैज्ञानिक एवं तात्त्विक विकास हुआ। उसमें तत्त्ववेत्ताओं का गहरा चिंतन भरा है।

---

१. योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, अध्याय-११८, श्लोक-८-१६.

उत्कर्ष की ओर बढ़ने में श्रद्धा और क्रिया की शिथिलता, स्फूर्तता, परिणामों की आसक्ति, अनासक्ति मोह का उपचय, इन सबका क्या स्थान है ? किन-किन दशाओं में, ये साधक को किस रूप में प्रभावित करते हैं, उत्कर्ष और अपकर्ष किस प्रकार चढ़ते एवं उतरते परिणामों से जुड़े हैं, कर्मों के आवरण और अनावरण के भावात्मक पक्ष किस प्रकार आध्यात्मिक उत्थान और पतन से अनेक अंशों में संलग्न हैं आदि पर जैन दर्शन ने व्यवस्थित रूप में अपने तलस्पर्शी विचार दिए हैं, जो शृंखला-बद्ध हैं।

पातंजल योग दर्शन : चित्त-भूमियाँ

पातंजल योग-दर्शन आध्यात्मिक साधना के सिद्धांत-पक्ष और अभ्यास-पक्ष दोनों का विवेचन करने वाला प्रमुख शास्त्र है। महर्षि पतंजलि ने 'योग-सूत्र' में मोक्ष के साधन के रूप में योग का वर्णन किया है। जिस भूमिका से योग का प्रारंभ होता है, उससे लेकर क्रमशः भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में पुष्ट होते, अंततः जिस भूमिका में वह पूर्णता को पहुँचता है, वहाँ तक की चैतसिक स्थितियों को आध्यात्मिक विकास-क्रम में लिया गया है।

योग दर्शन के प्रारंभ में समाधिपाद के द्वितीय सूत्र– 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'– की व्याख्या करते हुए योग-सूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास ने चित्त-भूमियों का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है– चित्त-भूमि का अर्थ, चित्त की अवस्था है। चित्त-भूमियाँ पाँच प्रकार की हैं– क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

१. क्षिप्त

जो चित्त अत्यंत अस्थिर होता है, अतीन्द्रिय विषयों की विचारणा के लिए जितनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता है, उतनी जिस चित्त में नहीं है तथा जिस चित्त को संपूर्ण तत्त्वों की सत्ता अचिन्त्य प्रतीत होती है, वह चित्त 'क्षिप्त-भूमिक' होता है।

२. मूढ़

जो चित्त किन्हीं इंद्रिय-विषयों में मुग्ध होने के कारण तत्त्व-चिंतन करने में अयोग्य हो जाता है, वह 'मूढ़-भूमिक' चित्त है। वह मोहक विषयों में सहज ही समाहित– लीन हो जाता है। कंचन-कामिनी के अनुराग से लोग इन विषयों में ध्यान-मग्न हो जाते हैं।

३. विक्षिप्त

जो क्षिप्त से विशिष्ट हो, उसे विक्षिप्त कहा जाता है। अधिकांश साधकों का चित्त विक्षिप्त-भूमिक होता है। जिस अवस्था में चित्त कभी स्थिर हो जाता है और कभी-कभी चंचल हो जाता है, वह विक्षिप्त है। क्षणिक स्थिरता के कारण विक्षिप्त भूमिक चित्त श्रवण, मनन आदि द्वारा

स्वरूप-अवधारण करने में कदाचन समर्थ होता है ? मेधा तथा सद्वृत्तियों की न्यूनता-अधिकता के कारण विक्षिप्तता के अनेक स्तर हैं। विक्षिप्त चित्त में भी समाधि हो सकती है, किंतु वह स्थायी नहीं होती, क्योंकि इस भूमि की प्रकृति कभी स्थिर और कभी अस्थिर होती है।

४. एकाग्र

जिस चित्त का अग्र-अवलंबन एक है, वह एकाग्र चित्त है। सूत्रकार पतंजलि ने प्रतिपादित किया है– एक वृत्ति के निवृत्त होने पर यदि उसके बाद तदनुरूप वैसी ही वृत्ति उठे तथा उसी प्रकार की अनुरूप वृत्तियों का प्रवाह चलता रहे तो ऐसा चित्त 'एकाग्र-चित्त' कहा जाता है।[1]

इस प्रकार की एकाग्रता जब चित्त का स्वभाव हो जाती है, जब दिन-रात में अधिकांश समय चित्त एकाग्र रहता है, यहाँ तक कि स्वप्नावस्था में चित्त एकाग्र रहता है, तब ऐसे चित्त को 'एकाग्र-भूमिक' कहते हैं। एकाग्र-भूमिक चित्त वशीकृत होने पर संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।[2]

यही समाधि वास्तविक है, कैवल्य की साधक है।

५. निरुद्ध

पाँचवीं भूमि निरुद्ध-भूमिक कहलाती है। यह शेष अंतिम अवस्था है। निरोध-समाधि के अभ्यास द्वारा जब चित्त का चिरस्थायी निरोध वशीकृत हो जाता है, तब उस अवस्था को निरुद्ध-भूमिक कहते हैं।[3]

निरुद्ध-भूमिक में चित्त के विलीन होने पर कैवल्य प्राप्त होता है। संसार में जितने भी जीव हैं, उन सब के चित्त साधारणत: इन पाँच अवस्थाओं में रहते हैं। इनमें कौन-कौनसी भूमि समाधि के लिए उपादेय और कौन-कौन सी भूमि समाधि के लिए अनुपादेय है, भाष्यकार ने इसका विवेचन किया है।

पंडित सुखलालजी संघवी ने इस संबंध में लिखा है– जो चित्त सदा रजोगुण की बहुलता से अनेक विषयों में प्रेरित होने के कारण अत्यंत अस्थिर होता है, वह क्षिप्त है। जो चित्त तमोगुण के प्राबल्य से निद्रा-वृत्ति-युक्त बनता है, वह मूढ़ है। जो चित्त विशेष अस्थिरता के होते हुए भी कभी-कभी प्रशस्त विषयों में स्थिरता अनुभव करता है, वह 'विक्षिप्त' है। जो चित्त एकतान, स्थिर बन जाता है, वह 'एकाग्र' है। समस्त वृत्तियों का निरोध हो गया हो और संस्कार ही बाकी रहे हों, वह 'निरुद्ध' चित्त है।[4]

---

१. योग-सूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-१२.
२. योग-सूत्र, समाधिपाद, सूत्र-४४-५१.
३. योग-सूत्र, समाधिपाद, सूत्र-१-३.
४. दर्शन अने चिंतन खंड-२, पृष्ठ : १०१४ (टिप्पण).

समीक्षा

व्यास-भाष्य में वर्णित पहली चित्त-भूमि वह चैतसिक स्थिति है, जहाँ सत् चिंतन या विचार के लिए अपेक्षित स्थिरता है ही नहीं। इस भूमिका में स्थित व्यक्ति सत्-असत् के मध्य भेद करने की जरा भी क्षमता लिए नहीं होता। यह अविकास की निम्नतम दशा है। जैन दर्शन की भाषा में यह मिथ्यात्व के तीव्रतम उदय और ज्ञानावरणीय के सघन आवरणों द्वारा ज्ञान के आच्छन्न रहने की स्थिति है।

दूसरी भूमिका में मोह की घोर प्रबलता रहती है। भौतिक एषणाओं अथवा वासनाओं में व्यक्ति अंधा बना रहता है। तत्त्व-चिंतन की योग्यता ऐसे व्यक्ति में कहाँ से आएगी ? जैन दृष्टि के अनुसार इसमें प्रथम भूमिका से चले आते श्रद्धानमूलक एवं आचारमूलक मोह ही अजस्र धारा का समावेश है।

तीसरी भूमिका विकास और अविकास का मिला जुला रूप है। कभी परिणामों में चंचलता तथा कभी स्थिरता– दोनों आती रहती हैं। यह क्रम तरतमता लिए हुए अनेक रूपों में चलता है। जब तक चित्तमें स्थिरता व्याप्त होती है, वह सत् की ओर उन्मुख होता है। जैसे ही अस्थिरता आ जाती है, वह असत् की ओर झुक जाता है। इस उत्थान और पतन की तरतमता के कारण इसमें असंख्य स्थितियाँ बनती हैं। यह मिश्र गुणस्थान जैसी दशा है, जहाँ न संपूर्णत: सम्यक्त्व ही है और न संपूर्णत: मिथ्यात्व ही।

ये तीनों भूमियाँ आत्मा के विकास की स्थितियाँ नहीं हैं। अविकास की दशाएँ हैं। पहली और दूसरी तो संपूर्णत: अविकास से जुड़ी हुई हैं। तीसरी भी अविकास की ही दशा है। विकास केवल कदाचित् होता है, जो टिकता नहीं। जैसे ही अस्थिरता, चंचलता का प्राबल्य होता है, अविकास विकास को दबा देता है। इसमें विकास से अविकास बलवत्तर रहता है।

पंडित सुखलालजी संघवी इन तीनों भूमियों को योग-कोटि में गिनने योग्य नहीं मानते। उनका अभिमत है– इन पाँच चित्तों में पहले दो तो क्रमश: रजोगुण और तमोगुण की बहुलता के कारण नि:श्रेयस्-प्राप्ति में हेतु तो हो ही नहीं सकते, बल्कि वे उल्टे श्रेयस् के बाधक हैं, जिससे वे योग-कोटि में गिनने योग्य नहीं हैं। अर्थात् चित्त की उन दो स्थितियों में आध्यात्मिक अविकास होता है। विक्षिप्त चित्त किन्हीं किन्हीं तात्त्विक विषयों में समाधि पाता है, किंतु समाधि के सम्मुख अस्थिरता इतनी अधिक होती है, जिससे वह योग कोटि में गिनने योग्य नहीं है।

एकाग्र और निरुद्ध– इन दो चित्तों के समय में ही जो समाधि होती है, उसे योग कहा जाता है। एकाग्र चित्त के समय में जो योग होता है, वह असंप्रज्ञात है।[1]

---

१. दर्शन अने चिंतन, खंड-२, पृष्ठ : १०१५ (टिप्पण).

क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त को योग भूमियों में लिए जाने के पीछे संभवत: यह विचार रहा हो कि अस्थिरता और विषय-मूढ़ता के साथ-साथ क्षिप्त और मूढ़ चित्त में कुछ न कुछ बहुत हलकी ही सही, अव्यक्त, अस्फुट, स्थिरता और अमूढ़ता बीज-रूप में विद्यमान रहती है।

विक्षिप्त में तो स्थिरता और अस्थिरता का मिश्रण है ही। जैन दर्शन के अनुसार मिथ्यात्वी में जैसे कुछ न कुछ क्षयोपशम विद्यमान रहता है, सद्वीर्य और सत्पराक्रम की हलकी सी लौ छिपी रहती है, कुछ अंशों में वैसी ही स्थिति अपेक्षा-दृष्टि में क्षिप्त और मूढ़ की परिकल्पित की जा सकती है।

अविद्या और विवेकख्याति

योगदर्शन में मिथ्यात्व के स्थान पर अविद्या का व्यवहार हुआ है। अविद्या ही सब दु:खों का हेतु है। उसका नाश विवेकख्याति से होता है।

योग-सूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास ने उसके संबंध में लिखा हैं--

बुद्धि तथा पुरुष की अन्यता-- भेद का प्रत्यय या प्रतीति ही विवेकख्याति है। बुद्धि भिन्न है तथा पुरुष या आत्मा भिन्न है, ऐसा बोध होना भेद-प्रतीति है। जब तक मिथ्याज्ञान अनिवृत्त रहता है, अर्थात् हटता नहीं, तब तक विवेकख्याति नहीं होती। जब मिथ्या ज्ञान दग्ध-बीजता तथा प्रसव-शून्यता प्राप्त कर लेता है, तब बुद्धि, जिसका क्लेशमल अपगत हो गया है, सम्यक् निर्मलता प्राप्त कर लेती है। वशीकार संज्ञक वैराग्य की परावस्था में विद्यमान योगी का विवेक-प्रत्यय-प्रवाह निर्मल हो जाता है। वह अविप्लवा विवेकख्याति है। उसमें विप्लव-- विघ्न नहीं होता। यह दु:ख मिटने का उपाय है, मोक्ष का मार्ग है।[1]

विशेष

जैन दर्शन में मिथ्यात्व के ध्वस्त होने पर साधक सम्यक्त्व का वरण करता है। वह दु:खोन्मुक्ति के पथ पर आरूढ़ हो जाता है। यद्यपि उसे एक लम्बी यात्रा तय करनी होती है, किंतु वह पथ वही अपनाता है, जो उसे उसके अभीप्सित स्थान या लक्ष्य पर ले जाने वाला हो, जहाँ पहुँचने पर न क्लेश रहता है, न परतंत्रता। वह चिन्मयता, स्ववशता, स्वतंत्रता का अखंड साम्राज्य पा लेता है। लगभग यही स्थिति कैवल्य-प्राप्त योगी की होती है, जिसका अंतिम लक्ष्य मोक्ष या सिद्धत्व है।

सप्तविध प्रज्ञाएं

विवेकख्याति द्वारा निवृत्ति क्रम या आत्मोत्कर्ष-क्रम किस प्रकार आगे बढ़ता है ? इस विषय में

१. योग सूत्र, साधनपाद, सूत्र-२६ (भाष्य).

महर्षि व्यास ने सप्तविध प्रज्ञाओं का विवेचन करते हुए कहा है– चित्त से अशुद्धि रूप आवरण और मल के दूर होने के अनंतर यदि प्रत्ययान्तर– अन्य प्रकार की प्रतीति हो तो विवेक के फलस्वरूप सात प्रकार की प्रज्ञाएँ स्फुरित होती हैं, जो इस प्रकार हैं–

समस्त हेय– त्यागने योग्य पदार्थ परिज्ञात हो चुके हैं, इस संदर्भ में अन्य परिहेय नहीं हैं, ऐसा उद्‌बोध होना प्रथम प्रज्ञा है।

समस्त हेय-हेतु– त्यागने योग्य कार्यों के कारण क्षीण हो चुके हैं। उनमें कोई क्षेतव्य– क्षीण करने योग्य नहीं बच पाया है, यह दूसरी प्रज्ञा है।

निरोध-समाधि द्वारा हेयत्व-भाव स्वायत्त हो चुका है, यह तीसरी प्रज्ञा है।

विवेकख्याति के अधिगत होने का उपाय भावित हो चुका है, अनुभूति का विषय बन चुका है, यह चौथी प्रज्ञा है।

इनके अतिरिक्त तीन प्रज्ञाएँ चित्त-विमुक्ति मूलक हैं– बुद्धि चरिताधिकार हो चुकी है अर्थात् भोग और अपवर्ग निष्पादित हो चुके हैं और कोई अर्थ शेष नहीं रहा है। इस प्रकार बुद्धि व्यापार की विरति हो गई है, यह चित्त-विमुक्ति की पहली प्रज्ञा है।

समस्त गुणगिरि-शिखर-च्युत– पर्वत की चोटी से गिरे हुए उपलखंड– पत्थर के टुकड़े के समान निरवस्थान होकर स्वकारण में प्रलयोन्मुख हुए है, उस कारण के साथ अस्त हो रहे हैं, इस प्रकार उन विप्रलीन गुणों का प्रयोजन न होने से उत्पादन न होना चित्त-विमुक्ति की दूसरी प्रज्ञा है।

तीसरी प्रज्ञा में पुरुष (आत्मा) गुण संबंध से अतीत, स्वरूप-मात्र-ज्योतिर्मय, विगतमल– मल रहित या सर्वथा निर्मल कैवल्य रूप होता है।

इन सप्तविध प्रज्ञाओं का अनुदर्शन करने वाला कुशल कहा जाता है। चित्त के प्रलीन होने पर उसे मुक्त कहा जाता है, क्योंकि उस समय वह गुणों से अतीत हो जाता है।[1]

अनुचिन्तन

चित्त-विमुक्ति के पथ पर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ निवृत्ति का क्रम इन प्रज्ञाओं में वर्णित है। निवृत्ति मोक्ष का बीज है। जैन दर्शन अंततः निवृत्तिपरक है। असत्– अशुभ-प्रवृत्ति से सत्– शुभ-प्रवृत्ति में आते हुए जीव को अंत में उसका भी निरोध कर निवृत्ति का अवलंबन करना होता है।

१. योगशास्त्र, साधनपाद, सूत्र-२६ (भाष्य).

इन सात प्रज्ञाओं में विमुक्तिपूर्वक– चैतसिक वृत्तियों से विमुक्त होकर कैवल्य की ओर बढ़ते हुए जीवन का चित्रण है। कर्म चित्त-प्रसूत हैं। अत: चित्त-विमुक्त होने पर कर्म-विमुक्ति संभाव्य है।

ये भूमियाँ जैन दर्शन के गुणस्थानमूलक विकास-क्रम के साथ किन्हीं अपेक्षाओं से समन्वित होती हैं। जैन दर्शन भी कषायात्मक, मोहात्मक चित्त वृत्तियों को मिटाते हुए आगे बढ़ने का मार्ग प्रस्तुत करता है। कर्म क्रमश: क्षीण होते जाते हैं। अन्तत: मन, वचन तथा काय के योगों– प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है, सिद्धत्व, मुक्तत्व प्राप्त हो जाता है।

बौद्ध धर्म के तीन यान

बौद्ध शास्त्रों में निर्वाण प्राप्ति के मार्ग को 'यान' कहा गया है। वे तीन प्रकार के हैं– १. श्रावक-यान, २. प्रत्येक-बुद्ध-यान, ३. बोधिसत्व-यान।

१. श्रावक-यान

श्रावक-यान हीनयान का ही पर्याय है। श्रावक का अर्थ गुरु के पास जाकर धर्म सुनने वाला, सीखने वाला है। वह स्वयं अप्रतिबुद्ध होता है और उसमें निर्वाण प्राप्त करने की उत्कंठा होती है। वह योग्य अधिकारी या गुरु के पास जाकर धर्म-तत्त्व प्राप्त करता है। धर्म का सहायक या धर्म प्राप्ति में सहयोग करने वाला बौद्ध-परंपरा में कल्याण-मित्र कहा जाता है। जैन-परंपरा में भी इस शब्द का प्रचलन है। श्रावक का चरम लक्ष्य अर्हत्-पद प्राप्त करना है।

२. प्रत्येक-बुद्ध-यान

जिसको अपने पूर्व संस्कारवश स्वयं बोध प्राप्त हो जाता है, गुरु के उपदेश या मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती, वह प्रत्येक-बुद्ध कहलाता है।

जैन आगमों में बताए गए सिद्धों के पंद्रह भेदों में पाँचवाँ स्वयं-बुद्ध है, जिसकी ज्ञान-प्राप्ति में ऐसी ही स्थिति है। प्रत्येक-बुद्ध का प्रातिभचक्षु स्वयं उन्मीलित हो जाता है। वह केवल अपना उद्धार करता है। दूसरे का उद्धार करने की वृत्ति उसमें नहीं रहती। वह लोगों के बीच में नहीं रहता। इस द्वंद्वमय जगत् से हटकर किसी निर्जन स्थान में वास करता है। वह विमुक्ति के अनुपम सुख की अनुभूति में निमग्न रहता है।

३. बोधिसत्त्व-यान

बोधिसत्त्व-यान वैयक्तिक मुक्ति से संतुष्टि नहीं मानता। वह समस्त प्राणियों को सांसारिक क्लेशों से मुक्त करना चाहता है। परोपकार या सेवा-वृत्ति उसकी विशेषता है।

'बुद्धो भवेयं जगतो हिताय'– मैं जगत् के हित के लिए बुद्ध बनूँ, इस प्रकार वह लोगों का उपकार करने हेतु ही बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है।[1]

श्रावक-यान की साधना : विकास

श्रावक-यान की साधना में उत्तरोत्तर वृद्धिशील विकास-क्रम की एक रूपरेखा बौद्ध-शास्त्रों में बताई गई है। जैन शास्त्रों में वर्णित गुणस्थानों से वह तुलनीय है।

बौद्ध शास्त्रों में धर्मोन्मुखता के आधार पर प्राणियों– जीवों को दो भागों में विभक्त किया गया है। १. पृथक्जन और २. आर्य।

१. पृथक् जन

पृथक् जन वह है, जो अज्ञानवश संसार के माया जाल में फँसा रहता हुआ जीवन व्यतीत करता है। जो मनुष्य धर्म से पृथक्– अलग या दूर है, वह पृथक् जन है।

२. आर्य

जो व्यक्ति सांसारिक प्रपंच से हटकर बुद्धबोधित बोध की ज्योति– किरणों से अपने को जोड़ लेता है, तब वह आर्य कहा जाता है। अर्हत्-पद-प्राप्ति आर्य का चरम लक्ष्य होता है। वहाँ तक पहुँचने के लिए उसे स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्– इन चार दशाओं को पार करना होता है।

१. स्रोतापन्न

स्रोत का अर्थ प्रवाह और आपन्न का अर्थ प्राप्त है। अर्थात् वह साधक, जिसने निर्वाण के प्रवाह को प्राप्त कर लिया है, स्रोतापन्न कहा जाता है। निर्वाण के पथ पर आरूढ़ हुए साधक को वहाँ से गिरने की जरा भी आशंका नहीं रहती। वह पाप से हट कर कल्याणमय प्रवाह में अपने चित्त को निमग्न रखता है। उत्तरोत्तर कल्याण की ओर बढ़ता जाता है।

बौद्ध दृष्टि के अनुसार स्रोतापन्न दशा तब प्राप्त होती है, जब साधक सत्काय-दृष्टि, विचिकित्सा तथा शीलव्रत-परामर्श– इन तीन संयोजनों या बंधनों का क्षय कर देता है।

आत्मा के नित्यत्व का स्वीकार, विचिकित्सा, सत्काय-दृष्टि, बुद्ध-बोधित तत्त्वों में संदेह तथा शीलव्रत-परामर्श– व्रत, उपवास आदि में आसक्ति, बौद्ध दर्शन के अनुसार बंधन हैं। इनमें ग्रस्त

१. बौद्ध दर्शन मीमांसा, परिच्छेद-१०, पृष्ठ : ११६.

व्यक्ति कभी निर्वाणोन्मुख नहीं हो सकता। साधक ज्यों ही इन बंधनों को तोड़ डालता है, उसके चरण अप्रतिपाति नहीं गिरने वाली संबोधि की ओर चल पड़ते हैं। बौद्ध ग्रंथों में संबोधि के चार अंग बतलाए गए है।

१. बुद्धानुस्मृति

बौद्ध धर्म में अत्यंत श्रद्धा से युक्त होना, बुद्धानुस्मृति है।

२. धर्मानुस्मृति

भगवान् बुद्ध का धर्म स्वाख्यात है, सुंदर रूप में प्ररूपित है। सांदृष्टिक– इसी जीवन में फलप्रद है। अकालिक– फल देने में कालिक-व्यवधान रहित है अर्थात् सद्य: फलप्रद है। इस प्रकार बुद्ध-निरूपित धर्म में श्रद्धा रखना, धर्मानुस्मृति है।

३. संघानुस्मृति

बुद्ध के भिक्षु-संघ की न्याय-परायणता तथा सुमार्गानुरूढ़ता पर विश्वास रखना, संघानुस्मृति है।

४. शीलानुस्मृति

अखंडित, अनिन्दित, समाधिगामी, कमनीय शीलों का अनुसरण करना, शीलानुस्मृति है। संबोधि के माध्यम से साधक स्रोतापन्न भूमि में पदार्पण करता है। यहाँ काम क्षय हो चुकता है। अर्थात् साधक इस अवस्था में काम-धातु– कामना या वासनामय जगत् से अपना संबंध विच्छिन्न कर लेता है। रूप धातु– विशुद्ध भूतमय या कामनावर्जित जीवन की दिशा में आगे बढ़ता है।

इसका यह आशय है कि वह एषणाओं और आकांक्षाओं से आंदोलित जीवन से मुँह मोड़कर अनेषणामय एवं आनाकांक्षामय जीवन को पाने के लिए प्रयत्नशील होता है। शास्त्रों में इसे नव जन्म कहा गया है, क्योंकि यह भोग-विरति और संयमानुरति का जीवन है। स्रोतापन्न-भूमि में विद्यमान साधक को निर्वाण-प्राप्ति के लिए सात से अधिक जन्म नहीं लेने पड़ते।

२. सकृदागामी

स्रोतापन्न के आगे का सोपान सकृदागामी है। बौद्ध शास्त्रों के अनुसार स्रोतापन्न साधक काम-राग– इंद्रिय विषयक भोग लिप्सा तथा प्रातिघ– दूसरों का अनिष्ट करने की वृत्ति, इन दो बंधनों को हीन सत्त्व– क्षीण बल बना कर मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ता है। सकृदागामी भूमि में आ जाने पर आस्रव-क्षय– क्लेश-नाश साधक का मुख्य कार्य रहता है। सकृद्+आगामी– एक बार आने

वाला अर्थात् इस भूमिका में आने के अनंतर साधक संसार में फिर एक ही बार आता है।

३. अनागामी

सकृदागामी भूमि पार कर साधक अनागामी भूमि में आता है। विकास के मुख्य प्रतिबंधक हेतु ऊपर की भूमियों में नष्ट हो चुकते हैं। उसकी तितिक्षा, निर्भोग-वृत्ति तीव्रतम होती जाती है। इस भूमि में आने के बाद साधक को न संसार में और न किसी दिव्यलोक में ही जन्म लेना पड़ता है। इसलिए यह अनागामी कहलाता है।

४. अर्हत्

अर्हत्-दशा विकास की उच्चतम पराकाष्ठा है। इसे प्राप्त करने के लिए साधक को रूप-राग, अरूप-राग, मान, उद्धतता, अविद्या– इन पाँच बंधनों को भी विनष्ट करना होता है। जैसे ही ये बंधन टूट जाते हैं, क्लेश नष्ट हो जाते हैं। समस्त दु:ख स्कंधों का अंत हो जाता है। साधक इस जगत् में रहते हुए भी तृष्णा-क्षय के कारण संसार से सर्वथा निर्लेप रहता है। वह अप्रतिम शांति का अनुभव करता है। यह निर्वाणावस्था हैं।[१]

उपर्युक्त विकास-क्रम बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा के अनुसार है, जो अन्य शाखाओं से प्राचीन है। पालि-त्रिपिटक इस शाखा का प्रामाणिक एवं मान्य ग्रंथ है।

महायान : बोधिसत्त्व-यान

हीनयान की अपेक्षा महायान में इन भूमियों की कल्पना भिन्न प्रकार से की गई है। इस संबंध में चर्चा करने से पूर्व इन दोनों शाखाओं के अंतर पर चिंतन करना अपेक्षित होगा।

हीनयान व्यक्तिगत साधना का पक्षपाती है। वहाँ अर्हत्-पद पाने का अर्थ साधक का वैयक्तिक रूप में परम उन्नत अवस्था में पहुँच जाना है।

महायान का लोकोद्धार की ओर विशेष झुकाव दिखाई देता है। उसके अनुसार बोधिसत्त्व–बोधि-प्राप्ति-द्वार केवल अपना ही मंगल और कल्याण नहीं चाहता, वह प्राणीमात्र को दु:ख से छुड़ाना चाहता है। उसका 'स्व' इतना विस्तीर्ण और व्यापक हो जाता है कि उसमें समस्त जगत् के जीव मात्र का समावेश होता है। जब तक एक भी प्राणी जगत् में दु:खी है, वह मुक्ति नहीं चाहता। उसके हृदय में इतनी करुणा और कोमलता भरी रहती है, वह किसी भी प्राणी को पीड़ित देखकर द्रवित हो उठता

१. बौद्ध दर्शन मीमांसा, परिच्छेद-१०, पृष्ठ : ११७, ११८.

है। महायान में जीवन-विकास की दस भूमिकाएँ मानी गई हैं—

१. मुदिता, २. विमला, ३. प्रभाकरी, ४. अर्चिष्मती, ५. सुदुर्जया,
६. अभिमुक्ति, ७. दूरंगमा, ८. अचला, ९. साधमती, १०. धर्ममेध।[१]

इन भूमिकाओं में बोधि-चित्त का उत्पाद समग्र प्राणियों के प्रति करुणा का संचार, मैत्री, दान, शास्त्रज्ञान, सहिष्णुता, कायिक, मानसिक, वाचिक पाप-वर्जन, काम-वासना एवं देह-तृष्णा का क्षय, जगत् से वैराग्य, मुक्ति की दिशा में उन्मुखता, शून्यत्व की उपलब्धि का प्रयत्न, सर्वज्ञत्व, धर्मोपदेश, तत्त्व-विवेचन, समाधिमूलक आनंद इत्यादि विषयों का समावेश है।

विकास की दृष्टि से जो क्रम इन भूमिकाओं में दिखलाया गया है, जैन गुणस्थानों के विकास-क्रम के साथ तुलना करें तो बोधि— सम्यक् ज्ञान, व्रत या शील का आचरण, सांसारिक सुखों में अरुचि, तत्त्व ज्ञान, संसार की आसक्ति, एषणा और वासनाओं से छूटने का विधि-क्रम, जो इनमें दृष्टिगोचर होता है, वह जैन दृष्टिकोण के साथ किन्हीं अपेक्षाओं से तुलनीय है।

सार-संक्षेप

राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि भाव और इनके आधार पर आविर्भूयमान मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों के निरोध और निवर्तन का जो मार्ग गुणस्थानों में प्रतिपादित किया गया है, शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुशीलन-परिशीलन पर आधारित है।

विकास की दिशा में बढ़ती हुई वैचारिक धाराओं का किस प्रकार संयमन किया जा सकता है, कर्म-प्रवाहमूलक आस्रवों का किस प्रकार संवरण हो सकता है, संगृहीत— संचित कर्म-समुदाय का किस प्रकार निर्जरण, क्षरण— नाश हो सकता है, इनके भिन्न-भिन्न स्थितिमूलक स्तर किस प्रकार बढ़ते हैं, घटते हैं, संयमित किये जा सकते हैं— इत्यादि विषयों का गुणस्थानों के सन्दर्भ में जो विवेचन हुआ है, वह तत्त्वाभ्यास तथा क्रियाभ्यास दोनों की दृष्टियों से बड़ा उपयोगी है।

गुणस्थानों के अंतर्गत सद्बोध-व्रत, तपश्चरण-योग, ध्यान आदि सभी का समावेश हो जाता है। इन पर यथाविधि अग्रसर होने वाले साधक निश्चय ही सिद्धत्व-भाव स्वायत्त कर अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनंद स्वरूप हो जाते हैं।

गुणस्थानमूलक सोपान-क्रम की तरह योग-विधि से भी सिद्धत्व तक पहुँचने का मार्ग जैन मनीषियों ने निर्देशित किया है।

१. बौद्ध दर्शन मीमांसा, परिच्छेद-११, पृष्ठ : १४०-१४२.

साधना के क्षेत्र में योग, भारतीय वाङ्मय का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द है। महर्षि पतंजलि द्वारा की गई व्याख्यानुसार चैतसिक वृत्तियों का निरोध कर आत्मा को उत्तरोत्तर अष्टांग योग-मार्ग के माध्यम से परमात्म-अवस्था तक पहुँचाना इसका चरम अभिप्रेत है। यह योग-मार्ग भारत के विभिन्न आध्यात्मिक आम्नायों द्वारा अपने-अपने मौलिक सिद्धांतों के अनुरूप परिगृहित हुआ है।

जैन मनीषियों का सदा से असांप्रदायिक और असंकीर्ण दृष्टिकोण रहा है। आचार्य हरिभद्र सूरि आदि जैन विद्वानों ने जैन तत्त्वों के आधार पर जैन-योग के रूप में एक साधना-पथ प्रशस्त किया, जिसका अवलंबन कर साधक क्रमशः बहिरात्म-भाव का परित्याग कर अंतरात्म-भाव स्वायत्त कर लेता है। वस्तुतः परमात्म-भाव या सिद्धत्व-प्राप्ति का यह मार्ग बड़ा आकर्षक और उपयोगी है। षष्ठ-अध्याय में इसी विषय का सम्यक्, सविमर्श निरूपण किया जाएगा।

षष्ठ अध्याय

जैन-योग पद्धति द्वारा सिद्धत्व की साधना

साधना के क्षेत्र में योग का स्थान

भारतीय दर्शनों में जीवन के अंतिम लक्ष्य के रूप में दो प्रकार की चिंतन-धाराएँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार दु:खों से छूटना ही परम लक्ष्य है। वैसा होने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। दूसरी विचार-धारा के अनुसार दु:ख-निवृत्ति के साथ-साथ परम आनंद या शाश्वत सुख की प्राप्ति का भी विधान है।

बौद्ध दर्शन प्रायश: पहली विचार-धारा में आता है, जहाँ दु:खों का मिट जाना ही निर्वाण है। वहाँ उदाहरण देकर बताया है कि जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसे सभी प्रकार से जब दु:ख शांत हो जाते हैं, निर्वाण की स्थिति अधिगत हो जाती है। यही शून्यत्व है। शब्दों द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता, वह अव्यक्तव्य है।

सांख्य दर्शन का लक्ष्य भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक – इन तीन प्रकार के दु:खों से छूटना है। वेदांत दर्शन तथा जैन दर्शन दु:ख-मुक्ति के साथ-साथ परमानंद या शाश्वत सुख को स्वीकार करते हैं। दु:खों का छूटना तो केवल निषेध-पक्ष है। परमानंद की प्राप्ति विधि-पक्ष है। दोनों दृष्टियों से जहाँ सफलता होती है, वहाँ उस दर्शन की परिपूर्णता– परिसंपन्नता कही जाती है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है। उसका अभिप्राय यह है कि उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ आवृत्त है। उनमें ज्ञान, दर्शन, पराक्रम, आनंद मुख्य हैं। जब तक वे आवरण हटते नहीं, मिटते नहीं तब तक जीव संसार में भटकता है। जब वह संवर द्वारा, आस्रव–निरोध और तप द्वारा संचित कर्मों का निर्जरण या नाश कर देता है, तब उसका आवृत स्वभाव उद्घाटित या उद्भासित होता है। यह संवर और निर्जरा का मार्ग ही जैन साधना का मूल है।

जैन दर्शन में योग शब्द प्राचीन काल से ही प्रवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। यह आस्रव के भेदों में से एक है। बंधन का हेतु है। कर्मों से मुक्त होने के लिए योग से भी छूटना आवश्यक है। इसलिए विकास की अंतिम दशा अयोगावस्था कहलाती है। जैन दृष्टि से योग शब्द की यह एक व्याख्या है।

योग शब्द का एक दूसरा बहुत प्रसिद्ध अर्थ है, जो आत्म-साधना का सूचक है। महर्षि पतंजलि

ने योग-सूत्र में इसका उपयोग किया है। उनके अनुसार– 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः–'[1] बाह्य विषयों में, सांसारकि पदार्थों में जाती हुई चित्तवृत्तियों को रोकना, नियंत्रित करना, वश में करना योग है।

यह योग शब्द भारत की प्राय: सभी साधना पद्धतियों में व्याप्त होता गया। भारत में लगभग छठी शताब्दी से साधना में एक ऐसा मोड़ आया, विभिन्न परंपराओं के साधक अपने-अपने सिद्धान्तानुसार योग की पद्धति से अभ्यास में संलग्न होने लगे।

आचार्य हरिभद्र सूरि जैन जगत् के महान् विद्वान् थे[2]। उन्होंने इस ओर विशेष रूप से चिंतन किया। वे वैदिक (ब्राह्मण) और श्रमण– इन दोनों परंपराओं के पंडित थे। जैन दीक्षा स्वीकार करने से पूर्व वे चितौड़ के राजपुरोहित थे। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। याकिनी महत्तरा नामक एक जैन साध्वी से वे प्रभावित हुए तथा जैन धर्म की ओर उनके मन में इतना आकर्षण उत्पन्न हुआ कि उन्होंने जैन दीक्षा स्वीकार कर ली।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने जैन साधना-पद्धति को अक्षुण्ण रखते हुए योग के सांचे में ढ़ालने का विद्वत्तापूर्ण प्रयत्न किया। उन्होंने इस पर अपना मौलिक चिंतन दिया। इस प्रकार जैन साधना के क्षेत्र में जैन योग का प्रसार हुआ।

योगमूलक जैन साहित्य

आचार्य हरिभद्र ने जैन योग पर 'योगदृष्टि समुच्चय' और 'योगबिंदु' नामक दो ग्रंथ संस्कृत में तथा 'योगशतक' और 'योगविंशिका' नामक दो ग्रंथ प्राकृत में लिखे। इन चार ग्रंथों में जैन योग पर विभिन्न अपेक्षाओं से विचार-मंथन किया गया है। आचार्य हरिभद्र का समय ७००-७७० ई. तक माना जाता है। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् बारहवी-तेरहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचंद्र हुए , जो अपने युग के महान् विद्वान् थे। उन्होंने व्याकरण, कोष, काव्य, न्याय आदि विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे। वे 'कलिकालसर्वज्ञ' के विरुद से विभूषित थे।

गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह तथा उसके बाद कुमारपाल द्वारा वे बहुत सम्मानित थे। उनकी प्रेरणा से कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। कुमारपाल के निवेदन पर उन्होंने 'अध्यात्म-उपनिषद्' या 'योगशास्त्र' की रचना की। इसमें भी जैन साधना का योग के रूप में प्रतिपादन है।

आचार्य हेमचंद्र के समय के आस-पास दिगंबर जैन-परंपरा में भी एक महान् विद्वान्, योग

---

१. योग सूत्र, प्रथमपाद, सूत्र-२.
२. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृष्ठ : ५१३-५२६.

निष्णात आचार्य हुए, जिन्होंने 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रंथ की रचना की। वह भी जैन योग पर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। और भी अनेक विद्वानों ने इस विषय में रचनाएं कीं, जिनमें उपाध्याय यशोविजय का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस अध्याय में जैन योग की पद्धति से सिद्धत्त्व की साधना का विवेचन किया जाएगा।

योग का आरंभ : पूर्व-सेवा

आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा उल्लिखित जैन योग के रूप में जो साधना पद्धति प्रचलित है, वह न केवल सैद्धांतिक या वैचारिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु व्यावहारिक या क्रियात्मक दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है।

उन्होंने योगबिंदु में 'पूर्व-सेवा' के नाम से योगाभ्यास में रत होने के लिए उद्यत साधक को कर्तव्य-बोध दिया है। पूर्व-सेवा का तात्पर्य उन कार्यों का अभ्यास या आचरण है, जिन्हें एक योग साधक को साधना में जाने से पूर्व प्राप्त कर लेना चाहिए , उनका अभ्यास कर लेना चाहिए। वैसा करने पर वह योग-साधना के अनुरूप पृष्ठभूमि प्राप्त करता है।

पूर्व–सेवा का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं– गुरुजनों तथा देवों का पूजन, उत्तम आचार का सेवन, तपश्चरण एवं मुक्ति से अद्वेष, मोक्ष का अविरोध– मोक्ष को बुरा न बताना, उस ओर अरूचि न रखना– सदा रूचिशील रहना, इन्हें शास्त्र-वेत्ताओं ने पूर्व-सेवा कहा है।

गुरुजन-सेवा

माता-पिता तथा कलाचार्य– विद्याओं का शिक्षक, इनके माता-पिता आदि पारिवारिकजन, वृद्ध-पुरुष तथा धर्मोपदेष्टा– धर्म का उपदेश देने वाले सत्पुरुष गुरुजन में सम्मिलित हैं।

इन पूज्य गुरुजनों को प्रातः, मध्याह्न तथा सायं काल प्रणाम करना, यदि समक्ष उपस्थित होने का अवसर प्राप्त न हो तो मन में उनका आदर तथा श्रद्धा के साथ स्मरण करना, उन्हें मानसिक प्रणाम करना, यदि वे अपनी ओर आते हों तो उठकर उनके सामने जाना, उनके सानिध्य में चुपचाप बैठना, अनुचित स्थान में उनका नामोच्चारण नहीं करना, कहीं भी उनकी निंदा न सुनना, यथाशक्ति उनकी सेवा करना, परलोक के लिए उत्तम फलप्रद धर्म-क्रिया के निष्पादन में उन्हें सदा सहयोग करना, उन्हें जो इष्ट न हो, वैसे कार्यों का परित्याग करना, उन्हें जो इष्ट हो, वैसे कार्यों का अनुपालन करना– औचित्य-पूर्वक इन दोनों बातों का निर्वाह करना, जिससे उनकी धर्माराधना आदि में कोई असुविधा या बाधा न हो, उनके आसन आदि उपयोग में न लेना– ये कार्य गुरुजन की सेवा के अन्तर्गत हैं।[1]

१. जैन योग ग्रंथ चतुष्टय : योगबिंदु, श्लोक-१०९-११३.

दानशीलता

आचार्य हरिभद्र ने इस विषय में आगे और कहा–

अपने पोष्य-वर्ग– अपने द्वारा पोषित किये जाने योग्य, अपने ऊपर आश्रित जनों के लिए कोई असुविधा उत्पन्न न करते हुए , अपने हित में बाधा न लाते हुए दीन आदि वर्ग को औचित्यपूर्वक दान देना चाहिए। व्रतों का पालन करने वाले, साधु के वेश में विद्यमान सदा अपने सिद्धांत के अनुसार चलने वाले व्यक्ति दान के धर्मानुगत पात्र हैं, क्योंकि वे अपने लिए भोजन नहीं पकाते।

जो कार्य करने में असमर्थ हों, नेत्र-हीन हों, दु:खी हों, विशेषत: व्याधि-पीड़ित हों, निर्धन हों, जिनके आजीविका का कोई साधन न हों, ऐसे व्यक्ति भी दान के अधिकारी हैं। उपयुक्त दान वह है, जो देने वाले और लेने वाले– दोनों के लिये उपकारक है। रूग्ण को अपथ्य दिये जाने जैसा दान नहीं होना चाहिए। जैसे रुग्ण को अपथ्य देने से उसका अहित होता है, उसी प्रकार ऐसा दान नहीं देना चाहिए , जो गृहीत के लिए अहितकर हो।

दान, शील, तप और भावना– धर्म के इन चार पदों में दान पहला है। वह दारिद्र्य– क्लेश का नाश करता है, लोकप्रियता प्रदान करता है, यश की वृद्धि करता है।[1]

आचार्य हरिभद्र सूरि ने यहाँ दान के संबंध में जो विवेचन किया है, उसकी गहराई में जाएं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ वे एक ओर बहुत बड़े विद्वान् एवं तत्त्वज्ञ थे, वहीं अत्यंत व्यावहारिक भी थे। उन्होंने पूर्व-सेवा के रूप में जिन कर्तव्यों का बोध कराया है, वे विशेषरूप से योगाभ्यास में उद्यत गृहस्थ साधकों के लिए हैं।

आचार्य हरिभद्र ने जो जैन योग का मार्ग आविष्कृत किया, वह साधु और गृहस्थ सबके लिए है। साधु तो नियम-बद्ध जीवन जीते हैं। इसलिए उनकी ओर से प्रमाद, असावधानी आदि होने की आशंका बहुत कम रहती है, किंतु गृहस्थों से असावधानी होना बहुत कुछ आशंकित है। इसलिए उन्होंने विशेष रूप से यह उल्लेख किया कि जो जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य– सिद्धत्व प्राप्त करने हेतु योग-मार्ग स्वीकार करना चाहते हैं, उनके लौकिक जीवन में किसी प्रकार का विसंवाद नहीं होना चाहिए। इसलिए उन्होंने दान के संबंध में यह सूचित किया है कि अपने आश्रित जनों, पारिवारिक-जनों तथा सेवकों को कष्ट न हो, यह ध्यान रहे, ऐसे पुण्य-लोभी, भावुक दानी भी होते हैं, जिनके आश्रित जन कष्ट पाते रहते हैं और वे दूसरों को दान देते रहते हैं।

---

१. जैन योग ग्रंथ चतुष्टय : योगबिंदु, श्लोक-१२१-१२५.

सदाचार

व्यक्ति का अपना गृहस्थ-जीवन बहुत संतुलित, सुव्यवस्थित होना चाहिए। इस हेतु ग्रन्थकार ने आगे सदाचार की व्याख्या करते हुए बतलाया है–

लोक-निंदा से भय, जो व्यक्ति सहायता के पात्र हैं, उनको सहयोग करने में उत्साह, जिन्होंने अपना उपकार किया हो उनके प्रति कृतज्ञ-भाव, बुद्धिमत्तापूर्ण शिष्ट व्यवहार, सर्वत्र निंदा का परित्याग, सत्पुरूषों के गुणों का संस्तवन, संकट या विपत्ति आने पर अदीनता, अत्यंत सहिष्णुता, वैभव और संपत्ति में विनम्रता, संभाषण में मितभाषिता एवं अविसंवादिता– अपने कथन को अपनी ही बात से न काटना, गृहीत प्रतिज्ञाओं का परिपालन, कुल-क्रम से आते हुए धर्म-कृत्यों का अनुसरण, अनुचित व्यय का परित्याग, अयोग्य कार्यों में धन-व्यय न करना, प्रमुखत:– पहले करने योग्य कार्य में अनिवार्य रूप से तत्परता, आलस्य का वर्जन, लोकाभिमत आचार का अनुसरण, उचित बात का सर्वत्र परिपालन तथा निन्दित कार्यों में प्राण जाने पर भी अप्रवृत्ति– प्रवृत्त न होना– ये सब सदाचार में समाविष्ट हैं।[1]

मोक्ष में अद्वेष

मोक्ष में अद्वेष की जो बात पूर्व-सेवा में कही गई है, उसका स्पष्टीकरण करते हुए ग्रंथकार लिखते हैं– जो मनुष्य महामोह से अभिभूत होते हैं, उनमें मोक्ष के प्रति द्वेष होता है, वे मोक्ष की निन्दा करते हैं, तथा बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ते हैं।

जो भव्य पुरुष मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं करते, वे धन्य हैं। मोह, भव का– जन्म-मरण रूप संसार का बीज है। उसका जो परित्याग कर देते हैं, वे कल्याण के भागी हैं। सद्-ज्ञान, सद्-दर्शन, सत्-चारित्र मुक्ति के उपाय कहे गए हैं। ये आत्मा के गुण हैं। भव्य-जन इनके नाश हेतु प्रवृत्त नहीं होते। वे ऐसे कार्य नहीं करते, जिनसे रत्नत्रय दूषित हो।

जैसे स्वाराधना– आत्मा की या ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना का सर्वश्रेष्ठ फल मोक्ष बतलाया गया है, उसी प्रकार उनकी विराधना का फल अत्यंत अनर्थ उत्पन्न करने वाला है। बहुत ऊँचे स्थान पर चढ़कर वहाँ से गिरना, जहरीले अन्न को खाकर तृप्ति मानना– जैसे अनर्थकर है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का नाश आत्मा के लिए बहुत अकल्याणकर है।

शस्त्र, अग्नि तथा साँप को यदि विधिवत् न रखा जाए तो वे कष्टकारक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार श्रमण-जीवन का, साधुत्व का, पूरी तरह निर्वाह न हो तो शास्त्रों में उसे अशोभनीय या क्लेशकर कहा

---

१. योगबिंदु, श्लोक : १२६-१३०.

है। अंत:करण की शुद्धता के बिना जो श्रमण-धर्म का पालन किया जाता है, वह नव ग्रैवेयक तक तो पहुँचा देता है, किंतु प्रशंसनीय नहीं है। वह तो अन्याय से अर्जित किए गए धन के समान है, जिसका परिणाम दु:खप्रद होता है। इस कारण मोक्ष के प्रति द्वेष का अभाव आत्महित में सहायक होता है। उससे आत्मा का श्रेयस् सिद्ध होता है। इस प्रकार जिनका मोक्ष-मार्ग में द्वेष नहीं होता, जो गुरुजन, अरिहंत देव आदि की आराधना करते हैं, वे अपने जीवन में उत्तम, श्रेयस्कर कार्य कर पाते हैं। उनके अतिरिक्त वे लोग, जिनमें बड़े दोष परिव्याप्त हैं, श्रेयस्कर मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।[1] मोक्ष के प्रति अद्वेष रखना अत्यंत आवश्यक है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार लिखते हैं– गुरुजन आदि की पूजा में इतना लाभ नहीं है, जितना अत्यंत अनर्थकारी सांसारिक प्रपंच से छुड़ाने वाले मोक्ष के प्रति अद्वेष भाव में है।[2]

विशेष

योग-साधक के लिए सबसे पहली बात यह है कि वह मोक्ष में सच्ची निष्ठा रखे। "मोक्ष का अस्तित्व है, वह साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वह शाश्वत सुखमय है"– ऐसा मन में विश्वास होना चाहिए। 'पूर्व-सेवा' में सबसे अधिक महत्त्व इसी बात का है। गुरुजन आदि की सेवा का उतना महत्त्व नहीं है। वह एक शिष्टाचार या शिष्ट व्यवहार है, किंतु मोक्ष का विषय सत्यनिष्ठा, सम्यक्-बोधि या विश्वास के साथ जुड़ा हुआ है।

असदनुष्ठान-वर्जन

भावाभिष्वंग– संसार में अत्यधिक आसक्ति से, अनाभोग योग से– कर्म निर्जरण के भाव के बिना, मन के उपयोग के बिना कर्म का होते रहना सदनुष्ठान नहीं है, असदनुष्ठान है। इस लोक में तथा परलोक में फल मिले, ऐसी अपेक्षा या इच्छा रख कर कर्म करना 'भावाभिष्वंग' कहा जाता है। जहाँ क्रिया में उचित अध्यवसाय या मन का योग न हो, वह अनाभोग कहा जाता है।

अत्यधिक संसारासक्ति से युक्त अनुष्ठान अंतिम पुद्गल-परावर्त से पहले के पुद्गल-परावर्तों में होते हैं। अंतिम पुद्गल-परावर्त में सहज रूप में कर्म-मल का अल्पत्व होता है। अत: वहाँ अत्यधिक संसारासक्ति से युक्त अनुष्ठान नहीं होता।[3]

समीक्षा

यहाँ जैन दर्शन की दृष्टि से एक सूक्ष्म तात्त्विक तथ्य है। संसार में जितने पुद्गल हैं, कोई जीव

१. योगबिंदु, श्लोक-१३९, १४६.
२. योग बिंदु, श्लोक-१४९.
३. योगबिंदु, श्लोक-१५२,

उन सबका भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न मंत्र रूप से संस्पर्श करता है, उनको काम में लेता है, उसे एक पुद्गल परावर्त कहते हैं। ऐसे अनेकानेक पुद्गल-परावर्त करते-करते जीव अंतिम पुद्गल-परावर्त में पहुंचता है। उसे अंतिम इसलिए कहा जाता है कि उस पुद्गल-परावर्त के बाद, उसे फिर और पुद्गल-परावर्त नहीं करना होता।

आचार्य हरिभद्र सूरि यहाँ यह बतलाते है कि अंतिम पुद्गल-परावर्त से पहले के पुद्गल-परावर्तों में जीव में अत्यधिक संसारासक्ति रहती है। उसका अनुष्ठान असद्-अनुष्ठान है। अंतिम पुद्गल-परावर्त में ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहाँ पहुँचते-पहुँचते उसके कर्म-मल में अल्पत्व आ जाता है। कर्म हल्के पड़ जाते हैं। उसका व्यक्तित्त्व सदाचारोन्मुख बन जाता है। सत् के प्रति उसमें एक उत्सुकता जागरित होती है। तदनुसार वह वैसे कार्यों में, जो पूर्व-सेवा के अन्तर्गत व्याख्यात हुए हैं, सहजतया अभिरूचिशील बनता है, उस ओर समुद्यत होता है। रुचि और उद्यम का जहाँ समन्वय होता है, वहाँ व्यक्ति अपनी क्रिया में, चर्या में उत्तरोत्तर सफल होता जाता है।

अनुष्ठान के भेद

कर्ता के भेद से एक ही अनुष्ठान भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे एक ही भोज्य पदार्थ रुग्ण– अस्वस्थ तथा स्वस्थ व्यक्ति द्वारा सेवन किया जाए तो उस पदार्थ की फल निष्पत्ति एक जैसी नहीं होती। पुनश्च, कोई पौष्टिक पदार्थ स्वस्थ पुरुष के लिए हितप्रद होगा तथा अस्वस्थ के लिए हानिप्रद होगा। पदार्थ तो एक ही है, किंतु उनका सेवन करने वाले भिन्न-भिन्न स्थिति के हैं।

गुरु, देव आदि की सेवा, व्रत, प्रत्याख्यान, सदाचार-पालन आदि अनुष्ठान अपेक्षा भेद से योग में पाँच प्रकार के बतलाए गए हैं

१. विष, २. गर, ३. अननुष्ठान, ४. तद्हेतु एवं ५. अमृत।

१. विष-अनुष्ठान

जिस अनुष्ठान या योगाभ्यास के साथ लब्धि– योग-विभूति या चामत्कारिक शक्ति पाने का लक्ष्य रहता है, उसे विष-अनुष्ठान कहा जाता है, क्योंकि वह चित्त की सात्त्विकता या पवित्रता को नष्ट कर देता है। वह योग जैसे महान् कार्य को छोटे से प्रयोजन के साथ जोड़ कर तुच्छ बना देता है। अर्थात् साधक में लघुत्व– हलकापन ला देता है।

२. गर-अनुष्ठान

जिस अनुष्ठान के साथ दिव्य भोगों की, स्वर्ग-सुखों की अभिलाषा, आकांक्षा बनी रहती है, ज्ञानी

जन उसे गर-अनुष्ठान कहते हैं। गर वह विष होता है, जो धीरे-धीरे असर करता है। गर-अनुष्ठान भोगमय वासना के कारण भवांतर में आत्मा के लिए दु:ख एवं पतन का हेतु बनता है।

३. अननुष्ठान

जिसका मन संप्रमुग्ध होता है, अत्यधिक मोह के कारण पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का निश्चय कर पाने में अक्षम होता है, ऐसे व्यक्ति द्वारा उपयोग के बिना केवल देखा-देखी जो अनुष्ठान किया जाता है, वह अननुष्ठान कहा जाता है।

अननुष्ठान कहे जाने का तात्पर्य यह है कि वह अनुष्ठान होते हुए भी न होने के समान है, निरर्थक है।

४. तद्हेतु-अनुष्ठान

जहाँ साधक के मन में व्रतादि उत्तम कार्यों के प्रति राग या अनुरक्तता बनी रहती है, अर्थात् रागादि से प्रेरित होकर जहाँ साधक सद्-अनुष्ठान में लगता है, वह तद्हेतु-अनुष्ठान है। वह योग का उत्तम हेतु है, क्योंकि उसमें शुभ-भाव विद्यमान रहते हैं।

५. अमृत-अनुष्ठान

जिस अनुष्ठान के प्रति साधक के मन में आत्मभाव, संवेग, भववैराग्य तथा मोक्षोन्मुखता जुड़ी रहती है, जो जिनेश्वर देव द्वारा प्रतिपादित हैं, अंतिम मुनि-पुंगव उसे अमृत-अनुष्ठान कहते हैं।

जब जीव अंतिम पुद्गल-परावर्त में होता है, तब गुरु, अरिहंत, देव आदि की सेवा प्रभृति जो अनुष्ठान किए जाते हैं, वे उन अनुष्ठानों से भिन्न होते हैं, जो अंतिम पुद्गल-परावर्त से पहले के पुद्गल- परावर्तों में किए जाते हैं।

दोनों अनुष्ठानों में कर्ता का भेद है। चरम पुद्गल-परावर्त से पहले के पुद्गल-परावर्तो में कर्ता अत्यंत संसारासक्त होता है, किंतु अंतिम पुद्गल-परावर्त में कर्ता संसार में रहता हुआ भी धर्म की ओर उन्मुख होता है। दोनों में यह भेद है।

जो साधक अंतिम पुद्गल-परावर्त में स्थित होता है, वह योग की आराधना में अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण उन व्यक्तियों से भिन्न होता है, जो अंतिम पुद्गल-परावर्त से पूर्व के पुद्गल-परावर्तों में होते हैं। इस पर सम्यक् चिंतन करें।[१]

१. योगबिंदु, श्लोक-१५३-१६५.

विमर्श

'अनुष्ठीयते इति अनुष्ठानम्'– जो कार्य सावधानीपूर्वक निष्पादित होता है, उसे अनुष्ठान कहते हैं। वह दो प्रकार का है– सत् और असत्।

असदनुष्ठान पाप-पूर्ण होता है। वह दूषित, कलुषित कार्यों के साथ जुड़ा होता है। सदनुष्ठान पुण्यात्मक होता है। भावना की दृष्टि से वह अनेक प्रकार का होता है। भावना कर्ता पर टिकी रहती है। कर्ता अपनी भूमिका में अवस्थित होता है। भूमिका का तात्पर्य स्थिति है।

जैन सिद्धांत की दृष्टि से उसे दो भागों में विभक्त किया गया है। एक स्थिति वह है, जहाँ मनुष्य घोर आसक्ति और मोह में फँसा होता है। चरम पुद्गल परावर्त के पूर्व वही स्थिति रहती है। वहाँ किए जाने वाले अनुष्ठान पर उसका प्रभाव रहता है।

जैसा विवेचन हुआ है, चरम पुद्गल-परावर्त की स्थिति किससे उज्ज्वल होती है, क्योंकि कर्मों का कालुष्य वहाँ अपेक्षाकृत अल्प हो जाता है। उस चरम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान साधक की भी भावना के उच्चत्व की तरतमता के आधार पर अनेक कोटियाँ होती हैं। योगाभ्यास और ध्यान के पथ पर अग्रसर होने वाला साधक जब पूर्व-सेवा में वर्णित विशेषताओं को अपना लेता है, तब वह साधना में उत्तरोत्तर सफल हो जाता है।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि योगाभ्यासी के जीवन में गुरु और अरिहंत-सेवा, मोक्ष में विश्वास, अभिरुचि, असद्-अनुष्ठान का त्याग, सद्-अनुष्ठान का स्वीकार आदि फलित होने चाहिएं। यह योगाभ्यास की मूल पृष्ठभूमि है। जिस भवन की पृष्ठभूमि या नींव सुदृढ़ और मजबूत होती है, वह भवन चिरस्थायी होता है। अत एव आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगाभ्यासी के लिए पूर्व-सेवा में निष्णात होना आवश्यक माना है।

आज भारतवर्ष में तथा अन्यत्र योग का अनेक रूपों में प्रचार-प्रसार है। अनेक केंद्र संचालित हैं, जहाँ ध्यानादि का शिक्षण दिया जाता है। यह आत्म-जागरण की दृष्टि से एक शुभ लक्षण है, किंतु योगाभ्यास पूर्व तदनुरूप व्यक्तित्व-निर्माण का प्रयास विशेष परिलक्षित नहीं होता।

योग केवल आसन, प्राणायम तक ही सीमित नहीं है। उसका मुख्य लक्ष्य ऐसी मानसिकता की संरचना है, जिसमें तुच्छ स्वार्थ, राग-द्वेष एवं ईर्ष्यामूलक दृष्टियाँ मिट जाएं। इनके मिटे बिना मन ध्यान के लिये वांछित भूमिका नहीं पा सकता। वहाँ ध्यान केवल यांत्रिक हो जाता है। कुछ समय के लिये अभ्यासार्थी नेत्र मूंद लेता है, किन्तु मन में एकाग्रता नहीं आ पाती। जिस परमतत्व का वह ध्यान करना चाहता है, वह कहीं का कहीं छूट जाता है। ध्यान में क्षण-क्षण नए-नए लौकिक प्रतीक

उपस्थित होने लगते हैं। अत एव सत्यनिष्ठा, तितिक्षा, विनय, शिष्टता, आत्मानुशासन, निस्पृहता, उदारता आदि गुणों का संचय कर ऐसे निर्मल व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिए, जिससे ये बाधाएं उपस्थित न हों, इस ओर आचार्य हरिभद्र सूरि ने चित्त-वृत्ति-निरोधमूलक उपक्रमों द्वारा योग– जो 'मानसिक, वाचिक, कायिक वृत्तियों से सर्वथा अतीत होकर अयोगावस्था पाना है', के सन्दर्भ में अनेक रूपों में अपना मौलिक चिन्तन दिया है।

योग के भेद

योग को स्वायत्त करने के लिए साधक को एक व्यवस्थित क्रम अपनाना होता है। तदनुरूप मनोभूमि तैयार करनी होती है। चिन्तन और मनन द्वारा उसे परिपुष्ट और प्रथित करना होता है। वैसा होने पर अन्तःस्फूर्ति जागरित होती है। उसके परिणामस्वरूप योगोन्मुख पुरुषार्थ या उद्यम अभ्युदित होता है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसी भाव से योगदृष्टि समुच्चय में इच्छा-योग, शास्त्र-योग और सामर्थ्य-योग के रूप में– योग के तीन भेद किए हैं, जो योगेच्छा से प्रारंभ होकर योग-सिद्धि तक पहुँचने का एक पथ-प्रशस्त करते हैं।

१. इच्छा-योग

जो पुरुष धर्म की, आत्मोत्थान की इच्छा रखता है, जिसने शास्त्रीय सिद्धातों को सुना है, ऐसे ज्ञानयुक्त पुरुष का प्रमाद के कारण विकल- अपूर्ण धर्म-योग, इच्छा-योग कहा जाता है।[१]

अनुचिंतन

किसी भी कार्य में पहली भूमिका इच्छा की होती है। सबसे पहले मन में इच्छा जन्म लेती है। साधना में भी यही स्थिति है। साधक के मन में आता है कि मैं धर्म को प्राप्त करूँ, जिसके द्वारा मेरे जीवन का साध्य सफल हो। ऐसी बात किसी के मन में तब आती है, जब उसने शास्त्रों को सुना हो। गुरु जन, साधु जन से श्रवण करके ही वह धर्म की महत्ता जान सकता है। वह समझता है कि धर्म के बिना जीवन कदापि सार्थक नहीं है। इस संबंध में एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है–

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

अर्थात् भोजन, निद्रा, भय, भोग– ये मनुष्यों में और पशुओं में एक समान हैं। मनुष्य में धर्म की विशेषता है। जिनमें धर्म नहीं है, वे पशु तुल्य हैं।

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-३.

जब धर्म के प्रति इच्छा उत्पन्न होती है, तब साधक उस ओर प्रयत्नशील होता है। वह प्रयत्नशीलता धर्म की दिशा में साधक का एक उद्यम या योग है, किंतु इस भूमिका में इच्छा तो निरंतर रहती ही है, पर प्रमाद नहीं मिटता। जिस प्रकार की जागरूकता या अप्रमत्तता आनी चाहिए, वह आ नहीं पाती, इसलिए वह धर्मोन्मुखयोग विकल– अपरिपूर्ण या असंपूर्ण होता है।

किसी भी कार्य के होने में इच्छा की प्रबलता एक हेतु है, किंतु इच्छा के साथ-साथ वैसी ही प्रबल सावधानी जब तक नहीं आती, तब तक इच्छा तो बहुत रहती है, पर कार्य की दिशा में अपेक्षित गति नहीं होती, शिथिलता बनी रहती है, किंतु मानस में निरंतर यह आकांक्षा रहती है कि योग-साधना में आगे बढ़ा जाए। इच्छा की निरंतरता– सततता के कारण ही इसे 'इच्छा-योग' के नाम से अभिहित किया गया है।

२. शास्त्र-योग

तीव्र इच्छा के परिणाम-स्वरूप यथाशक्ति, असावधानी तथा प्रमत्तता दूर होती है। श्रद्धा दृढ़ता प्राप्त करती है। बोध– ज्ञान तीव्र होता है। साधक शास्त्रों का अध्ययन करता है। उनमें बताए गए मार्गानुसार वह योग-मार्ग की आराधना करता है। उसका इस प्रकार का अविकल– संपूर्ण योग 'शास्त्र योग' कहलाता है।[१]

विशेष

इस श्लोक में साधना की अनेक भूमिकाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। इच्छा जब निरंतर बनी रहती है, कभी मिटती नहीं तब स्वत: अंतरात्मा में पराक्रम उद्भासित होता है। पुरुषार्थ या प्रयत्न जागरित होता है, जिससे प्रमाद, असावधानी दूर होने लगती है। अवसाद मिटने लगता है। यह आत्म-विकास की उत्तम स्थिति है। जब प्रमाद मिटने लगता है तो श्रद्धा या विश्वास को बल मिलता है। शास्त्राध्ययन से धर्म-योग या धर्म-साधना का मार्ग अवगत होता है। उस पर चलने का साधक प्रयत्न करता है। उसके ज्ञान में भी उत्कृष्टता उत्पन्न होती है। शास्त्रों में जैसा कहा गया है, वह उसका पूर्णत: निर्वाह करने में उद्यत रहता है। वहाँ मुख्य आधार शास्त्र है। उनका अवलंबन लिए साधक चलता है।

योग के पहले भेद में जहाँ इच्छा की मुख्यता है, वहाँ दूसरे भेद में शास्त्रों के अनुसार इच्छा की पूर्ति होती है।

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-४.

३. सामर्थ्य-योग

शास्त्रों में जिसके उपाय प्रतिपादित हैं, किंतु शक्ति के उद्रेक– आत्मशक्ति की जागृति (जागर्ति) या प्रबलता के कारण जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रांत– अतीत है, अर्थात् वैशिष्ट्य-युक्त है, उस प्रकार का उत्तमयोग 'सामर्थ्य-योग' कहा जाता है। योगी-जन सिद्धि– चरम सफलता रूप पद को प्राप्त करने के जो हेतु हैं, उनका रहस्य, उनके कारणों का तात्त्विक विश्लेषण केवल शास्त्रों के माध्यम से ही पूरी तरह जान नहीं पाते। शास्त्र द्वारा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान आदि प्राप्त हो जाए तो प्रत्यक्ष इंद्रिय निरपेक्ष ज्ञान का उद्भव होता है। उससे सर्वज्ञता प्राप्त होती है। वैसा होने पर सिद्धि, परम सफलता, मुक्तता, सिद्धत्व प्राप्त होता है– ऐसा कहा जाता है, पर कहने मात्र से ऐसा सिद्ध नहीं होता।

ऐसा होने का प्रातिभ ज्ञान– प्रतिभा या असामान्य आत्म-ज्योति से उत्पन्न ज्ञान, आत्मानुभूति या स्व-संवेदन के अद्भुत प्रकाश या असाधारण तत्त्व-चिंतन की दीप्ति से युक्त 'सामर्थ्य-योग' ही सर्वज्ञत्व का हेतु है। उसकी विशेषता या सूक्ष्मता को शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता।[1]

समीक्षण

इच्छा-योग और शास्त्र-योग के बाद सामर्थ्य-योग की जो चर्चा आई है, वह बहुत सूक्ष्म और गंभीर है। 'समर्थस्य भाव: सामर्थ्यम्' के अनुसार समर्थ या सक्षम का भाव सामर्थ्य कहा जाता है। यह विपुल शक्ति का द्योतक है। सामर्थ्य तब प्राप्त होता है, जब आध्यात्मिक शक्ति का प्रस्फुटन होता है। वह साधक की स्वानुभूतिपरक दशा है। आत्मा का यह आंतरिक जागरण है। ऐसा अनुभव सहज ही प्रगट होता है, जो शास्त्रों में अप्राप्त है। शास्त्र तो बाह्य साधन हैं। उनकी अपनी परिधि सीमा है। जब आत्मानुभूति का स्रोत प्रवहणशील हो जाता है, तब साधक को विलक्षण अनुभूतियाँ होती हैं।

सिद्धत्व या मुक्तावस्था सर्वोच्च पद है। उसे प्राप्त करने के कारणों का विश्लेषण केवल शास्त्रों द्वारा संभव नहीं है। वह 'सामर्थ्य-योग' से ही संभव है। अर्थात् आत्मा की सहज अनुभूतियों के माध्यम से उन हेतुओं को जाना जा सकता है, जो हेतु सिद्धत्व प्राप्त कराते हैं।

साधारणत: शास्त्रों में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को अपनाकर क्रमश: तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान तक आरोहण का क्रम बतलाया गया है, किंतु जब तक आत्मा में वैसी शक्ति प्रस्फुटित नहीं होती, आत्मावलोकन एवं आत्म-परिणमन द्वारा विलक्षण अनुभूति के रूप में आगे बढ़ने का संबल प्राप्त नहीं होता, तब तक मोक्ष रूप अंतिम मंजिल तक पहुँचने की यात्रा साफल्य नहीं पाती। वह तभी सफल होती है, जब सामर्थ्य-योग प्राप्त होता है।

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-५-८.

सामर्थ्य-योग के भेद

सामर्थ्य योग के 'धर्म-सन्यास' और 'योग-सन्यास' नामक दो भेद हैं। क्षायोपशमिक या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली स्थितियाँ धर्म हैं तथा शरीर आदि का कर्म, योग है।

प्रथम भेद– धर्म-सन्यास द्वितीय अपूर्वकरण में क्षपक-श्रेणी के आरोहण में सिद्ध होता है, जो कर्मों के क्षय के माध्यम से गतिशील होती है।

द्वितीय भेद– योग सन्यास 'आयोज्यकरण' के पश्चात् सिद्ध होता है।[1]

समीक्षा

गुणस्थानमूलक आरोहण क्रम से ऊर्ध्वगमन करता हुआ साधक द्वितीय अपूर्वकरण में क्षपक-श्रेणी स्वीकार करता है, जो कर्मों के क्षायिक भाव से उद्भूत होती है।

द्वितीय अपूर्वकरण का एक विशेष आशय है। जैन शास्त्रों में अपूर्वकरण के दो भेद माने गए हैं। अपूर्वकरण आत्मा के उस विशिष्ट उत्साहपूर्ण अध्यवसाय का सूचक है, जैसा पहले कभी नहीं हुआ।

जीव अनंत काल से संसार में जन्म-मरण के चक्र में भटकता आ रहा है। शास्त्रों में पहाड़ से निकल कर बहती हुई नदी में लुढ़कते हुए पत्थर की उपमा उसे दी गई है। वह पत्थर लुढ़कता-लुढ़कता गोल आकार पा लेता है। कोई वैसा करता या बनाता नहीं। वैसे ही भटकते-भटकते जीव द्वारा सहज रूप में एक ऐसा आंतरिक अध्यवसाय सध जाता है, जिससे उसकी मिथ्यात्व की ग्रंथि खुल जाती है। उसे सम्यक्त्व-बोधि की ज्योति की एक झलक प्राप्त होती है। जीव का वह सहज रूप में हुआ आंतरिक अध्यवसाय प्रथम अपूर्वकरण कहा जाता है। अर्थात् पहले-पहल उसके द्वारा यह अध्यवसाय हुआ है। उसके पूर्व वैसा कभी नहीं हुआ।

दूसरा अपूर्वकरण आत्मा के तीव्रतम अध्यवसाय के परिणामस्वरूप क्षपक श्रेणी में चढ़ने के समय होता है। यह दूसरी बार का अत्यंत प्रबल अध्यवसाय है।

क्षपक श्रेणी में चढ़ जाने के बाद साधक का फिर पतन नहीं होता। उत्तरोत्तर वह ऊर्ध्वगमन करता जाता है। क्षपक-श्रेणी के समकक्ष उपशम श्रेणी चलती है। वहाँ जीव कर्मों का उपशम करके चढ़ता है। वहाँ अपूर्वकरण नहीं होता।

उपशम में कर्म सर्वथा नहीं होते, इसलिए उस श्रेणी द्वारा ऊपर चढ़ता हुआ साधक पतित हो

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-९, १०.

जाता है, फिर वह आत्म-पराक्रम द्वारा ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है। जब तक वह क्षपक श्रेणी प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक उसका चढ़ने-गिरने का क्रम चालू रहता है। जब क्षपक-श्रेणी प्राप्त हो जाती है, तभी वह आगे बढ़ता है।

क्षपक श्रेणी प्राप्त करने के लिए आत्मा को बड़ा बल लगाना पड़ता है, आत्मा को उज्ज्वल, उज्ज्वलतर बनाना होता है। वह धर्म-सन्यास योग है।

योग-सन्यास तेरहवें गुणस्थान में सिद्ध होता है।

केवली वेदनीय आदि कर्मों की आयुष्य कर्म की तुलना में अधिकता देखकर उनका सामंजस्य करने हेतु कर्मों की उदीरणा करते हैं, जिससे समुद्घात द्वारा वे क्षीण किये जा सकें, उस उदीरणा को आयोज्यकरण कहा जाता है। उससे योग-सन्यास सिद्ध होता है।

तेरहवें गुणस्थान में वीतराग-भाव, सर्वज्ञ-भाव प्राप्त हो जाता हैं, किंतु जब तक मानसिक, वाचिक, कायिक योगों का– प्रवृत्तियों का त्याग नहीं होता, तब तक सिद्धत्व, मुक्तत्व प्राप्त नहीं होता। योग उसमें बाधक है। अत एव कर्मों को क्षय करने के लिए समस्त लोक में आत्म-प्रदेशों को फैलाने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। जैसे गीले वस्त्र सिमटे हुए हों तो उन्हें सूखने में बहुत समय लगता है, परन्तु फैला देने पर शीघ्र सूख जाते हैं। समुद्घात को इसी प्रकार समझना चाहिए।

आत्म प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट परमाणु भी आकाश में फैल जाते हैं। अत: उनका क्षय अपेक्षाकृत स्वल्प-काल में हो जाता है। इस प्रकार वेदनीय आदि कर्मों के साथ उनका सामंजस्य हो जाता है। सयोगावस्था मिट जाती है तथा अयोगावस्था प्राप्त हो जाती है। यह योग-सन्यास का स्वरूप है। सन्यास का अर्थ त्याग है। वहाँ योग छूट जाते हैं।

योगों की अयोगावस्था

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग की बहुत ही सूक्ष्म परिभाषा करते हुए कहा है कि योगों का मन, वचन एवं देह से संबद्ध कर्मों का अयोग– असंबंध या रहितता परम उत्कृष्ट योग है, क्योंकि वह आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है। वह सर्व सन्यास– सर्वत्याग-स्वरूप है। वहाँ आत्म-भाव के अतिरिक्त और समस्त भाव छूट जाते हैं।[1]

अनुचिन्तन

प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने योगों के अयोग द्वारा उत्तम योगावस्था प्राप्त होने का उल्लेख किया

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-११.

है, वह बहुत ही सूक्ष्म और मार्मिक है। पहला 'योग' शब्द मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म के लिए है।[1]

उसके बाद आया हुआ योग शब्द उन योगों से रहित होने के अर्थ में है। यहाँ योग शब्द संबंध या जुड़ाव का सूचक है। अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों के साथ संबंध न रखना अयोग है। यह आत्मा की बहुत ऊँची अवस्था है। यह तब सिद्ध होती है, जब समस्त घाति-अघाति कर्मों का नाश हो जाता है। यह योग या साधना की उत्कृष्टतम स्थिति है।

ऐसा होने पर फिर कुछ करना बाकी नहीं रह जाता। लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। मोक्ष या सिद्धत्व ही जीव का परम लक्ष्य है। उसका प्राप्त हो जाना योग की परम सिद्धि है।

दृष्टि और उसके भेद

जीवन में 'दृष्टि' या 'दर्शन' का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये दोनों शब्द संस्कृत में 'दृश्' धातु से बने हैं। दृश् धातु प्रेक्षण के अर्थ में है। प्रेक्षण शब्द के प्रारंभ में 'प्र' उपसर्ग लगा हुआ है। 'प्रकर्षेण ईक्षणम् प्रेक्षणम्'– प्रकृष्ट या उत्कृष्ट रूप में देखना प्रेक्षण है। देखते तो सभी हैं, किंतु देखने वालों में योग्यता की दृष्टि से भेद होता है। कुछ लोग बहुत ही स्थूल दृष्टि से देखते हैं। उनका देखना गहरा नहीं होता। वे पदार्थ के केवल बाहरी रूप को देखते हैं, किंतु जिनकी दृष्टि तीक्ष्ण या पैनी होती है, वे वस्तु के स्वरूप का सूक्ष्म-दर्शन करते हैं। प्रेक्षण वैसे ही सूक्ष्म-दृष्टि का सूचक है।

मनुष्य की दृष्टि जैसी होगी, उसी के अनुरूप भाव होंगे। जैसे मार्ग में पड़ी हुई स्वर्ण-राशि पर एक द्रव्य-लोभी की दृष्टि पड़ती है तो वह उसे अपने अधिकार में ले लेने को तत्पर होता है। एक त्यागी साधक की दृष्टि उस पर विशेष रूप से जाती ही नहीं। उस ओर वह उपेक्षित रहता है। एक संतोषी सद् गृहस्थ उसे देखता है, तब उसके मन में आता है, बेचारे किसी मनुष्य का स्वर्ण गिर पड़ा, यदि उसे पहुँचाया जा सके तो कितना अच्छा हो।

एक ही पदार्थ पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। विकार-युक्त दृष्टि अशुभ या पाप-पूर्ण कार्यों में जाती है। निर्विकार दृष्टि शुभात्मक या पुण्यात्मक कार्यों में जाती है। वही जब और निर्मलता पा लेती है, तब वह शुभ को भी पार कर जाती है और शुद्धत्व की भूमिका पा लेती है।

पतन और उत्थान दृष्टि की निकृष्टता और उत्कृष्टता पर टिके हुए हैं। यही कारण है कि आचार्य

---

१. तत्त्वार्थ-सूत्र, अध्ययन-६, सूत्र-१.

हरिभद्र सूरि ने दृष्टि की उज्ज्वलता के आधार पर योग-साधना का एक विशिष्ट पथ प्रकाशित किया। ग्रंथकार ने दृष्टि के दो भेद बताए हैं। 'ओघ-दृष्टि' और 'योग-दृष्टि'।

ओघ-दृष्टि

ओघ का अर्थ प्रवाह है। जिस प्रकार प्रवाह में कोई वस्तु बहती रहती है, उसी प्रकार जो मनुष्य लोक-प्रवाह में बहते रहते हैं, धर्म या आध्यात्मिकता की ओर जिनका जरा भी झुकाव नहीं होता, केवल भौतिक जीवन ही उनका साध्य होता है, उनकी दृष्टि 'ओघ-दृष्टि' कही जाती है।

'ओघ-दृष्टि' का विश्लेषण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि वह अनेक प्रकार की होती है। एक रात ऐसी है, जब आकाश में बादल छाए हुए हैं। दूसरी रात ऐसी है जिसमें आकाश बादलों से रहित हैं। एक दिन ऐसा है जहाँ आकाश में बादल हैं। दूसरा दिन ऐसा है जहाँ आकाश में बादल नहीं हैं। इनमें वस्तु को देखने में तरतमता रहती है। जहाँ बादल होंगे, वहाँ वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देगी। जब बादल नहीं होंगे, तब वस्तु पहले की अपेक्षा स्पष्ट दिखाई देगी।

विषय को और स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि दर्शक के भेद से वस्तु के दृष्टिगोचर होने में भिन्नता रहती है। ग्रह-पीड़ित दर्शक, बाधा-रहित स्वस्थ दर्शक, बाल दर्शक, वयस्क दर्शक, नेत्र-रोग से ग्रस्त दर्शक, नेत्र-रोग रहित दर्शक इत्यादि के देखने में तरतमता, न्यूनाधिकता रहती है। विशदता, अविशदता, स्पष्टता, अस्पष्टता रहती है। इसी प्रकार ओघ-दृष्टि युक्त व्यक्तियों में भी तरतमता की दृष्टि से भिन्नता रहती है। यह मिथ्या-दृष्टि पर आश्रित है।[1]

पर्य्यवेक्षण

ग्रंथकार ने यहाँ समस्त लोगों को ध्यान रखकर विवेचन किया है, जो लोक-प्रवाह में बहते हैं। कर्म का दर्शन बहुत गहरा है। कर्मों के भेद, प्रकृति, उद्वर्तन, अपवर्तन, निकाचन, निधत्ति आदि की दृष्टि से शास्त्रों में बड़ा विशद विवेचन हुआ है।

जैन दर्शन में विविध अपेक्षाओं से जितना विशद, विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन हुआ है, अन्यत्र वैसा दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन साहित्य के अन्तर्गत षट्खंडागम, धवला एवं कर्म-ग्रंथों में कर्मों का जो विश्लेषण हुआ है, वह वास्तव में आश्चर्यजनक है।

कर्मों के प्रभाव से या उदय से प्राणियों की अनेक स्थितियाँ बनती हैं। सूक्ष्मता से देखें तो उसके अनेकानेक भेद होते हैं। इसी अपेक्षा से आचार्य हरिभद्र सूरि ने ओघ-दृष्टि की तरतमता की ओर संकेत

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१४.

किया है। ओघ-दृष्टि का विश्लेषण करने के पश्चात् उन्होंने योग-दृष्टि का वर्णन किया है।

योग-दृष्टि

जो पुरुष सत्य का साक्षात्कार करने की दिशा में उद्यत होता है, उसकी बोध-ज्योति विशदता या स्वच्छता के विकास की दृष्टि से आठ प्रकार की होती है। उदाहरणों द्वारा उसे इस प्रकार समझा जा सकता है– तृणों की अग्नि, गोमय– कंडों की अग्नि, काष्ठ की अग्नि का प्रकाश, दीपक की ज्योति, रत्नों की ज्योति, तारों का प्रकाश, सूर्य की रश्मियों तथा चंद्र की किरणों की आभा जैसे भिन्न-भिन्न होती है, वे क्रमश: उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होती हैं, उसी प्रकार आठ प्रकार की योग-दृष्टियाँ उद्योत की दृष्टि से उत्तरोत्तर उत्तम होती हैं।[1]

यहाँ उद्योत की आभा के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के सन्दर्भ में चन्द्र का स्थान अन्तिम इसलिए माना गया है कि उसका प्रकाश सौम्यता, ह्रद्यता, शीतलता आदि की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

आठ योग-दृष्टियाँ निम्नांकित हैं–

१. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कांता, ७. प्रभा तथा ८. परा।[2]

इन आठ योग-दृष्टियों का जो सत्पुरुष अभ्यास करते हैं, यम, नियमादि योग के आठ अंग क्रमश: सिद्ध हो जाते हैं, खेद, उद्वेग आदि दोषों का परिहार हो जाता है तथा अद्वेष, जिज्ञासा आदि गुण प्राप्त हो जाते हैं।[3]

समीक्षा

ग्रंथकार ने यहाँ पातंजल-योग आदि की ओर संकेत करते हुए बताया है कि साधकों के लिए ये दृष्टियाँ उनके चिंतन को परिष्कृत करने में सहायक होगीं। इन दृष्टियों की आराधना से वे अभ्यासी जो पावन साध्य सिद्ध करना चाहते हैं, वह सिद्ध होगा, ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि ये दृष्टियाँ एक संप्रदाय के साथ बंधी हुई नहीं हैं।

एक जैनाचार्य ने इनका आविष्करण किया है, इसलिए ये जैनों की हैं, जैन परंपरा तक सीमित हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। सूर्य की रश्मियाँ तो सभी को आलोक प्रदान करती हैं। वहाँ स्व-पर का भेद नहीं होता। उसी प्रकार बोध-ज्योति से समन्वित ये दृष्टियाँ सबके लिए लाभप्रद हैं।

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१५.
२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१३.
३. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१६.

वे आगे लिखते हैं कि सत् श्रद्धा या सम्यक् आस्था से संगत बोध या ज्ञान को दृष्टि कहा जाता है। वैसा होने पर असत् प्रवृत्ति का व्याघात, अवरोध होता है तथा सत् प्रवृत्ति में कदम आगे बढ़ते हैं।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आच्छन्न करने वाले आवरणों के अपगत होते जाने की तरतमता की अपेक्षा से साधारणतया दृष्टि के आठ भेद माने गए हैं, किंतु सूक्ष्मता से देखने पर उसके अनेक भेद हो सकते हैं।[1]

अनुचिन्तन

जैसा पहले कहा गया है, कर्मावरणों की मंदता, तीव्रता, अधिकता, न्यूनता, सघनता, लघुता, तरतमता आदि की अपेक्षा से दृष्टि के इतने भेद हो सकते हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि परिणामों की धारा क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। उनमें कभी निम्न, कभी उच्च, कभी अधम, कभी उत्तम स्थितियाँ आती रहती हैं। कर्मों के आवरण तदनुसार आछन्न होते रहते हैं। निम्न परिणामों से कर्मों की आछन्नता तथा पवित्र परिणामों से कर्मों की उपशान्तता या क्षीणता होती रहती है।

वह उपशान्तता या क्षीणता परिणामों के आधार पर अनेकानेक रूपों में होती रहती है, ग्रंथकार ने उनको आठ भागों में विभक्त कर आठ दृष्टियों की परिकल्पना की है।

सापाय-निरुपाय

मित्रा, तारा, बला एवं दीप्रा– ये प्रथम चार दृष्टियाँ सापाय कही जाती हैं। अपाय का अर्थ विघ्न या बाधा है अर्थात् ये लक्ष्य से दूर ले जाती हैं। इन दृष्टियों में प्रतिपात– पतन संभावित है। अर्थात् साधक उन्हें प्राप्त तो कर लेता है, किन्तु अजागरूकता या असावधानी के कारण वह गिर भी सकता है। निश्चिन्त रूप में गिरे ही, ऐसी स्थिति नहीं हैं, किंतु गिरने की आशंका बनी रहती है।

इसी तरह स्थिरा, कांता, प्रभा तथा परा– आगे की ये चार दृष्टियाँ निरपाय– अपायरहित, विघ्न-रहित हैं। उन्हें प्राप्त करने के बाद प्रतिपात या पतन की आशंका नहीं रहती। प्रतिपात-रहित इन दृष्टियों के प्राप्त हो जाने पर योगी सिद्धत्व प्रतिरूप अपने लक्ष्य की दिशा में निरंतर गतिशील रहता है।

जिस प्रकार यात्रा पर गतिशील पथिक दिन में चलता है। कुछ स्थानों पर रुक कर विश्राम करता

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१७, १८.

है। यहाँ जिस प्रकार उसकी यात्रा किसी अपेक्षा से आंशिक रूप में बाधित होती है, उसी प्रकार मोक्ष की दिशा में योगी को अपने संचित कर्मों में से, जिन कर्मों का क्षय अवशिष्ट रहता है, उनका भोग पूरा कर लेने हेतु बीच में देव-जन्म आदि में से गुजरना होता है। यद्यपि यह उसके परम लक्ष्य की ओर गति में एक विघ्न है, किंतु यह निश्चित है कि उस साधक की यात्रा उस कर्म-भोग के बाद अपने लक्ष्य की ओर फिर आगे बढ़ती है तथा सिद्धत्व, मुक्तत्व रूप लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।[1]

विमर्श

ग्रंथकार के अनुसार इन आठ योग-दृष्टियों की आराधना एक ऐसी यात्रा है, जो संसार से मोक्ष की ओर जाती है। यात्रा में अनेक विघ्न होते हैं। पथिक थक जाता है। कभी-कभी निरुत्साह एवं बलहीन हो जाता है, किंतु फिर वह आत्मबल का सहारा लेता हुआ आगे बढ़ता है, पहले की चार दृष्टियों में ऐसी ही स्थिति रहती है। बाधाएं आती हैं। साधक फिर उत्साहित होता है। आत्मबल का सहारा लिये हुए इन चारों दृष्टियों को लांघ जाता है और पाँचवीं स्थिरा दृष्टि को प्राप्त कर लेता है। फिर वह गिरता नहीं। इस दृष्टि का स्थिरा नाम इसी सत्य का सूचक है। उसकी गति, सिद्ध-मार्ग की ओर बढ़ती रहती है।

यात्रा करने वाला दिन में चलता है, रात में विश्राम करता है। यद्यपि यह विश्राम यात्रा में रुकावट तो है, किंतु इससे यात्रा का क्रम टूटता नहीं है। इसी प्रकार साधक की यात्रा तो चलती है, किंतु पूर्व-संचित कर्मों में जिस कर्म का भोग शेष रह जाता है, उसे पूर्ण करने हेतु उसका देव-योनि आदि में जन्म होता है। संचित कर्मों के विषयात्मक भोग को पूर्ण कर फिर वह मानव रूप में जन्म लेता है। साधना-पथ का अवलंबन कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर अपना लक्ष्य पूरा करता है।

एक यात्री जब यात्रा पर जाता है तो साथ में पाथेय लेता है, खाद्य आदि सामग्री लेता है, जो यात्रा में उसके उपयोग में आती है। इसी प्रकार आठ दृष्टियों के माध्यम से साधना की यात्रा पर यह सब पाथेय के तुल्य है, जो उसे आगे बढ़ने में बल देता है, परिश्रांत नहीं होने देता। अब आगे आठ दृष्टियों का विवेचन किया जा रहा है।

१. मित्रादृष्टि

समस्त जगत् के प्रति मैत्री-भाव के कारण यह मित्रादृष्टि कही गई है। इसके प्राप्त हो जाने पर दर्शन-- सत् श्रद्धामूलक बोध होता तो है, किंतु वह मंद होता है। साधक इस दृष्टि में योग के प्रथम भेद यम को, जो इच्छा आदि रूप में विभाजित है, प्राप्त कर लेता है। देव-कार्य, गुरु-कार्य तथा

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१९, २०.

धर्म-कार्य में उसे खेद तथा परिश्रांति का अनुभव नहीं होता। वह अखिन्न होता हुआ यह सब करता है। उसका खेद नामक आशय-दोष मिट जाता है, जो देव-कार्य आदि नहीं करते, उनके प्रति उसके मन में द्वेष-भाव नहीं होता।[1]

समीक्षा

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– इन पाँच यमों का प्रतिपादन किया है।[2]

आचार्य हरिभद्र ने प्रत्येक यम के इच्छा-यम, प्रवृत्ति-यम, स्थिर-यम और सिद्धि-यम के रूप में चार भेद बतलाए हैं। जब साधक यमों को स्वीकार करने में उद्यत होता है तो पहले उसके मन में उन्हें अपनाने की इच्छा उत्पन्न होती है। वह सोचता है कि मैं अहिंसा आदि यमों का पालन करूँ। साधक की इस मानसिकता को 'इच्छा-यम' कहा जाता है।

जब वह स्थिरता पूर्वक, अनवरत, अखंडित रूप में यमों का पालन करता है, उसे 'स्थिर-यम' कहा जाता है। जब वह उन्हें सिद्ध कर लेता है, परिपूर्णतया प्राप्त कर लेता हैं, उसे 'सिद्धि-यम' कहा जाता है।

प्रत्येक यम के ये चार भेद होते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– इन पाँचों यमों के कुल बीस भेद होते हैं। मित्रादृष्टि में ये सिद्ध हो जाते हैं।

योगबीज

आचार्य हरिभद्र तत्पश्चात् प्रतिपादन करते हैं कि मित्रादृष्टि में विद्यमान साधक योग बीजों को स्वीकार करता है, जो मोक्ष प्राप्ति के अमोघ– कभी निष्फल नहीं होने वाले हेतु हैं अर्थात् योगबीज ऐसे कारण हैं, जिनसे साधक निश्चय ही मोक्ष तक पहुँचता है।

जिनेश्वरों या अरिहंतों के प्रति चित्त में उत्तम भाव रखना, उन्हें नमस्कार करना तथा मानसिक, वाचिक एवं कायिक शुद्धिपूर्वक विशेष रूप से उनके प्रति प्रणमनशील, भक्तिशील रहना, उत्तम योगबीज हैं। भव्यता परिपाक के परिणामस्वरूप, आत्मा की योग्यता के परिस्फुटन से चरम पुद्गलावर्त के समय में ही कुशल चित्त आदि योगबीज संशुद्ध होते हैं।[3]

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२१.
२. योग-सूत्र, साधनपाद, सूत्र-३०.
३. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२२-२४.

पर्य्यवलोकन

जैसा यथाप्रसंग निरूपित किया गया है, किसी जीव द्वारा विश्व के समस्त पुद्गलों का एक बार किसी न किसी रूप में ग्रहण और विसर्जन एक 'पुद्गल-परावर्त' कहा जाता है। यह क्रम अनादिकाल से चलता आ रहा है। यों सामान्यतः जीव इस प्रकार अनंत पुद्गल-परावर्तों में से गुजरता रहा है। यही दीर्घ संसार की शृंखला का चक्र है। इस चक्र में भ्रमण करते हुए जीवों में कई भव्य या योग्य जीव भी होते हैं, जिनका कषाय मंद होता जाता है। मोहात्मक कर्म-प्रकृति की शक्ति घटती जाती है। जीव का शुद्ध स्वरूप यत्किंचित् होता जाता है। ऐसी स्थिति आने पर जीव की संसार में भ्रमण करने की स्थिति सीमित हो जाती है।

जब संसार के समस्त पुद्गलों को केवल एक बार किसी न किसी रूप में प्रयुक्त करने मात्र की अवधि अवशिष्ट रह जाती है, उसे 'चरम पुद्गलावर्त' या 'चरमावर्त' कहा जाता है। अर्थात् योगबीज संशुद्ध होने की इस प्रसंग में जो चर्चा आई है, उसका अभिप्राय यह है कि साधक तब अत्यंत उपादेय-ग्रहण करने योग्य पदार्थों को ग्रहण करने में निपुण बुद्धि द्वारा आहार आदि संज्ञाओं का निरोध कर देता है तथा फल की कामना को त्याग देता है। यहाँ संज्ञा शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में है। छोटे-बड़े जीवों में व्यक्त-अव्यक्त रूप में जो सहज प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं, उन्हें संज्ञाएँ कहा जाता है। जैन शास्त्रों में निम्नांकित दश संज्ञाएं मानी गई हैं-

१. आहार-संज्ञा, २. भय-संज्ञा, ३. मैथुन-संज्ञा, ४. परिग्रह-संज्ञा, ५. क्रोध-संज्ञा, ६. मान-संज्ञा, ७. माया-संज्ञा, ८. लोभ-संज्ञा, ९. ओघ-संज्ञा तथा १०. लोक-संज्ञा।

प्रत्येक प्राणी में किसी न किसी रूप में ये भाव रहते हैं। आहार, भय आदि सब में होता हैं, किन्तु बाह्य दृष्ट्या उनकी प्रतीति नहीं होती। जैसे एकेंद्रिय जीव, प्राणवध से बहुत भयभीत होते हैं, किंतु अपने भय को व्यक्त करने का उन्हें इंद्रियात्मक साधन प्राप्त नहीं है, इसलिए वे उन्हें प्रगट करने में समर्थ नहीं होते हैं।

साधक जब इन संज्ञाओं से ऊँचा उठ जाता है और अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ फलासक्ति से रहित हो जाता है, तब उसके मन में ऐसी पवित्रता व्याप्त होती है कि वह अरिहंतों के प्रति अपने चित्त में शुद्ध, उत्तम भाव रखता है, उनके प्रति उसके मन में श्रद्धा उदित होती है।

भावयोगियों का महत्त्व

आचार्य हरिभद्र इस संबंध में और स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं-

जिनकी आत्मा योग भावापन्न होती है, अध्यात्म-योग में परिणत होती है, ऐसे आचार्यों,

भावयोगियों और सत्पुरुषों की शुद्ध चित्त और भावपूर्वक विधिवत् सेवा करना भी योग-बीजों में सम्मिलित है।[1]

वास्तव में उन महान् आचार्यों का भी बड़ा महत्त्व है, जो भाव-योगी होते हैं तथा जिनका चित्त अध्यात्म-योग की साधना में लगा रहता है, वे भी जिनेश्वर देव के एक प्रकार से प्रतिनिधि ही होते हैं। योगाभ्यासी ऐसे महापुरूषों की शुद्ध मन, भावना और विधिपूर्वक सेवा करें, यह वांछित है। उनके पवित्र योगनिष्ठ जीवन से उसे प्रेरणा मिलती है। उनकी शिक्षाओं से उसे अपनी साधना में आगे बढ़ने का संबल प्राप्त होता है।

स्वभावत: भव-संसार के प्रति उद्वेग, वैराग्य, सत्पात्र को निर्दोष आहारादि पदार्थों का सम्यक् दान तथा सिद्धांतों या शास्त्रों का लेखन, शास्त्रों का आदर, योग्य पात्र को शास्त्र-दान, शास्त्र-श्रवण, वाचन, सम्मान, आत्मार्थी जिज्ञासु जनों में शास्त्रों का प्रसार, स्वाध्याय, चिंतन, मनन आदि भी योग-बीज में सम्मिलित हैं।[2]

विमर्श

ग्रंथकार ने योगभावात्मक निष्पत्ति के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की ओर साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उनमें पहली बात भवोद्वेग या संसार से वैराग्य है। जब तक मनुष्य को संसार में सुखानुभूति होती है, तब तक उसका चित्त योग में नहीं जाता। इसलिए मन में वैराग्य-भाव उत्पन्न हो, यह वांछनीय है। सांसारिक द्रव्यों के प्रति मोह मिटे, उसके लिए उदारतापूर्वक दान-वृत्ति अपनाना आवश्यक है। अत: योग्य पात्रों को दान देना चाहिए।

इनके पश्चात् ग्रंथकार ने शास्त्र-लेखन की बात कही है। साधक को शास्त्रों के लेखन का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि लेखन में ध्यान एकाग्र होता है। जिस विषय का कोई लेखन करता है, वह विषय सरलता से उसकी समझ में आता है।

लेखन के साथ-साथ लिखित शास्त्र का सम्मान करना चाहिए। सत्पात्रों को शास्त्र-ज्ञान देना चाहिए। विशिष्ट ज्ञानी जनों से शास्त्रों का श्रवण करना चाहिए। स्वयं भी उनका वाचन, पठन, मनन, चिंतन, पर्य्यालोचन करना चाहिए। उन्हें जन-जन तक प्रसारित करना चाहिए। इससे ज्ञान की प्रभावना होती है। सद् ज्ञान का व्यापक रूप में प्रसार होता है, जिससे जिज्ञासु एवं मुमुक्षु जन लाभान्वित होते हैं।

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२६.
२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२७, २८.

बीज-श्रुति का फल

योग-बीजों का श्रवण करने पर जो भावों में उल्लास तथा श्रद्धा में उत्कर्ष उत्पन्न होता है, उससे तद् विषयक मान्यता स्थिरता प्राप्त करती है, उसका भी योग-बीजों में समावेश है। योग-बीजों के प्रति मन में जितना शुद्ध, उन्नत, उपादेय भाव जागरित होता है, वह भी योग-बीजों में ही परिगणित किया गया है। जिन साधकों का भाव-मल या भावात्मक मालिन्य अत्यंत क्षीण हो जाता है, उनमें योग-बीज उत्पन्न होते हैं। जिनकी आंतरिक चेतना अजागरित– सुषुप्त होती है, उनमें योग-बीज निष्पन्न नहीं होते।[1]

भाव-मल का क्षय और उसके लक्षण

जीव जब अंतिम पुद्गल-परावर्त में होता है, तब उसका भाव-मल क्षीण होता है। वैसा होने पर उसमें कुछ विशेष लक्षण प्रगट होते हैं। वैसे व्यक्तियों में दु:खित प्राणियों के प्रति अत्यंत करुणा, गुणाधिक पुरुषों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या या मत्सर का अभाव तथा सभी प्राणियों के प्रति जहाँ-जैसा व्यवहार करना समुचित हो, वहाँ-वैसा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। ऐसे व्यक्ति में भद्रता और सौम्यता का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके 'अवंचकोदय' निष्पन्न हो जाता है, जिसके कारण उसको जीवन में शुद्ध, शुभ निमित्तों का संयोग प्राप्त होता रहता है।

अवंचक के तीन भेद

शास्त्रों में तीन प्रकार के अवंचक बताए गए हैं, जो योगावंचक, क्रियावंचक तथा फलावंचक कहे जाते हैं।

अवंचक का प्रयोग यहाँ एक विशेष अर्थ में हैं। जो वंचना या प्रवंचना न करे अर्थात् काम करने में कभी न चूके, विपरीत न जाए , बाण की तरह सीधा अपने निशाने तक, लक्ष्य तक पहुँचे, उसे अवंचक कहा जाता है।

सच्चे गुरुजनों का योग प्राप्त होना, उनका सानिध्य या सत्संग मिलना योगावंचक है। अर्थात् यह ऐसा योग अथवा सुयोग है, जिसका फल निश्चय ही उत्तम होता है। यह ऐसा योग नहीं है, जो वंचना करे या व्यर्थ जाए।

गुरुजनों को वंदन करना, प्रणमन करना, उनकी सेवा करना, सत्कार, सन्मान करना आदि उत्तम क्रियाएँ क्रियावंचक के अंतर्गत आती हैं।

---

१. योगदृष्टि सुमुच्चय, श्लोक-२९,३०.

इस प्रकार की उत्तम क्रियाएँ या कार्यों का फल अमोघ होता है, निश्चित रूप से उत्तम होता है। यह फलावंचक का रूप है।[1]

यथाप्रवृत्तिकरण एवं अपूर्वकरण

त्रिविध अवंचकोदय के फलित होने पर व्यक्ति में आन्तरिक मल की अल्पता आती है, और वह अंतिम यथाप्रवृत्तिकरण की स्थिति पाता है, जो ग्रन्थि-भेद के लगभग सन्निकट होती है। अंतिम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद निश्चित रूप से अपूर्वकरण की स्थिति प्राप्त होती है। यह अपूर्वकरण इसलिए है कि आंतरिक शुद्धता की दृष्टि से यह अपने आप में सर्वथा नवीनतम रूप में होता है, क्योंकि वैसी आंतरिक शुद्धि उसे पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुई। अपूर्व शब्द इसी भाव का द्योतक है।

मित्रादृष्टि में आत्म-गुणों में एक संस्फूर्ति की दशा उत्पन्न होती है। अंतर विकास की दिशा में यह पहला उद्वेलन है। यद्यपि वहाँ प्रथम गुणस्थान की स्थिति होती है, दृष्टि सम्यक् नहीं हो पाती, किंतु आत्म-जागरण की यात्रा का यहाँ से शुभारंभ होता है।[2]

२. तारादृष्टि

मित्रा आदि दृष्टियाँ क्रमशः बोध-ज्योति की उत्तरोत्तर स्पष्ट होती हुई स्थितियों के साथ जुड़ी हुई हैं। मित्रादृष्टि में बोध-ज्योति के उद्भास का शुभारंभ होता है। तारादृष्टि में बोध-ज्योति मित्रादृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होती है।

योग का दूसरा अंग नियम इस दृष्टि में फलित होता है। जो प्रवृत्तियाँ आत्मा के लिए हितप्रद हैं, उनमें अनुद्वेग होता है, अर्थात् उद्वेग का अभाव रहता है। उद्वेग का तात्पर्य उद्विग्नता या आकुलता है। मन में जब तक आकुलता बनी रहती है, अंतर-बोधात्मक संस्फुरण अभिव्यक्त नहीं होता।

इस दृष्टि में अंतर-बोध के प्रति उत्साह-भाव समुत्थित होता है और तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा प्रादुर्भूत होती है।[3]

समीक्षा

पातंजल योग सूत्र में वर्णित योग के आठ अंगों में पहले अंग यम के पश्चात् नियम आता है। यम, संयम का बोधक है। 'नीयते अनेन इति नियमः'– के अनुसार जिसके द्वारा ले जाया जाय, सही

१. योगदृष्टि सुमुच्चय, श्लोक-३१-३४.
२. योगदृष्टि सुमुच्चय, श्लोक ३८-४०.
३. योगदृष्टि सुमुच्चय, श्लोक-४१.

मार्ग पर आगे बढ़ाया जाय, उसे नियम कहा जाता है। नियम एक ऐसी जीवन-सरणि प्रदान करते हैं, जिसका अवलंबन कर व्यक्ति विकास के पथ पर सुगमतापूर्वक अग्रसर हो सकता है।

महर्षि पतंजलि ने शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान को नियम कहा है। ये पाँच ऐसे विधान हैं, जिनको अपनाने से एक योगी या अध्यात्म-साधक, यम या संयम की दिशा में निर्बाध रूप में अग्रसर हो सकता है।

शौच का अर्थ बाह्य और आभ्यंतर पवित्रता है। कर्तव्य-कर्म का पालन करते हुए उसका जो कुछ परिणाम हो, उससे परितृप्त रहना संतोष है। संतोष का साधक के जीवन में बड़ा महत्त्व है। मनुस्मृति में कहा है– सुख का इच्छुक संतोष का अवलंबन लेकर अपने आपको संयम में अनुरक्त रखे, क्योंकि संतोष सुख का मूल है और उसका विपर्यय– असंतोष दुःख का मूल है।[1]

आत्मा को पवित्र बनाने के साधन– आत्म-पवित्रता के उपक्रम तप में आते हैं। सत् शास्त्रों का अध्ययन तथा स्वानुभव में संलग्नता स्वाध्याय है। परमात्मा का प्रणिधान या शरणगति, ईश्वरप्रणिधान है।

ये नियम जो पतंजलि ने बताए हैं, अपने आप में व्यापकता लिए हुए हैं। किसी भी धार्मिक आम्नाय में आस्थाशील व्यक्ति के लिए इनमें कोई बाधा नहीं है।

मनुष्य में बड़ी दुर्बलताएँ हैं। सांसारिक आसक्ति, ममता, मोह आदि ऐसे अनेक हेतु हैं, जो संयम और नियम के पथ पर आगे बढ़ने में उसके लिए बाधाएँ उत्पन्न करते रहते हैं। संयम-नियम की बातें करना बहुत सरल है, किंतु उन्हें जीवन में क्रियान्वित कर पाना बहुत दुष्कर है। इनके क्रियान्वयन हेतु महर्षि पतंजलि ने एक मार्ग दिखया है। उन्होंने लिखा है– जब यम, नियम के पालन में वितर्क पैदा हो अर्थात् उनमें बाधा पहुँचाने वाले हिंसा, लोभ आदि भाव पैदा हों तो उनके प्रतिपक्षी भावों का बार-बार चिंतन करना चाहिए।[2]

उन्होंने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए बतलाया है–

नियमों एवं नियमों के विरोधी हिंसा आदि वितर्क भाव कृत, कारित एवं अनुमोदित– तीन प्रकार के होते हैं। लोभ, क्रोध और मोह उन वितर्क भावों के उत्पन्न होने के हेतु हैं। मृदु, मध्य एवं अधिमात्र– छोटे, मध्यम और बड़े, ये तीन प्रकार के होते हैं। अर्थात् लोभ, मोह और क्रोध तरतमता की दृष्टि से ये तीन रूप लिए रहते हैं। इनका फल अनंत काल तक दुःख और अज्ञान है।

---

१. मनुस्मृति, अध्ययन-४, श्लोक-१२.
२. योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र-३३.

इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना का बार-बार चिंतन करने से यम और नियमों के पालन में आने वाली बाधाएँ मिट जाती हैं।

आचार्य हरिभद्र बतलाते हैं कि दूसरी तारादृष्टि के प्राप्त हो जाने पर साधक के मन में योग-कथा में– योग-विषयक चर्चा-परिचर्चा में अछिन्न– विच्छेद रहित, अखंडित, अबाधित, प्रीति– अभिरूचि उत्पन्न होती है, जो शुद्ध-योग की साधना में संलग्न हैं, ऐसे सत्पुरुषों का वह नियम-पूर्वक बहुमान, सन्मान करता है। इसके साथ-साथ वह उनकी यथाशक्ति सेवा करता है। ऐसा करने से वह निश्चय ही अपनी योग-साधना में विकास करता है। इससे उसे योगनिष्ठ महापुरुषों का अनुग्रह प्राप्त होता है।

सत्पुरुषों की सेवा से और भी अनेक लाभ होते हैं। सेवाशील पुरुष की श्रद्धा विकसित होती है, आत्महित समुदित होता है। साधना में आने वाले तुच्छ उपद्रव, विघ्न दूर हो जाते हैं तथा शिष्टजन उसे मान देते हैं।

तारादृष्टि में अवस्थित साधक को भव-भय नहीं रहता, अर्थात् वह जन्म-मरण या आवागमन के भय से रहित होता है। वह कृत्य-हानि से विमुक्त होता है, जहाँ जैसा करना समुचित है, वहाँ वैसा करने में चूकता नहीं। अनजाने में भी वह अनुचित कार्यों से अपने को बचाए रखता है।

जो पुरुष उत्तम गुण-युक्त हैं, उनके कार्य उच्च हैं, साधक उनके प्रति उल्लासपूर्ण जिज्ञासा-भाव लिए रहता है, उनसे सीखने का मन में उत्साह रखता है। वह अपने आप में विद्यमान न्यूनताओं के लिए मन में संत्रास का अनुभव करता है। वैसे पुरुष का यह चिंतन रहता है कि यह समग्र संसार दु:खरूप है। उसका किस प्रकार उच्छेद या विनाश किया जा सके ? उसके मन में यह भाव रहता है कि सत्पुरुषों की सत्प्रवृत्तियों का उसे कैसे ज्ञान हो ? अर्थात् वह सत्प्रवृत्तियों को ज्ञात और आत्मसात् करना चाहता है।

उसका चिंतनक्रम और आगे बढ़ता है। वह सोचता है, मुझमें विशेष बुद्धि नहीं हैं, मेरा शास्त्रीय अध्ययन भी बहुत कम है, इसलिए मेरे लिए और सभी साधकों के लिए सत्पुरुष ही प्रमाण हैं, आधारभूत हैं।[1]

विशेष

तारादृष्टि प्राप्त होने पर एक विशेष बात यह फलित होती है, साधक यह मानने लगता है कि उसे उन महापुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए, जिन्होंने साधना के क्षेत्र में विकास किया है,

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-४२-४८.

क्योंकि ज्ञान का मार्ग बड़ा दुरूह है, कठिन है। कहा है--

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।[1]

संतों ने इसी बात को 'ज्ञान को पंथ, कृपाण की धारा'-- इन शब्दों में कहा है। अर्थात् यह मार्ग तलवार की तीक्ष्ण धार के समान है। जैसे उस पर चल पाना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर हो पाना बड़ा मुश्किल है--

अनेकशास्त्रं बहु वेदितव्यमल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं, हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।।

अर्थात् शास्त्र अनंत हैं। विद्याएँ बहुत हैं। जीवन का समय बड़ा स्वल्प है। उसमें अनेक विघ्न आते रहते हैं। इसलिए जैसे हंस पानी में से दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सारभूत तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिए।[2]

यह केवल सत्पुरुषों के सानिध्य से ही सिद्ध होता है। वे महान् ज्ञानी होते हैं। उनके प्रति जो श्रद्धाशील एवं सेवाशील होते हैं, वे तत्त्व ज्ञान रूपी अमृत को प्राप्त कर सकते हैं।

यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में सत्संगति को बड़ा महत्त्व दिया गया है। सत्संगति से यह सब बड़ी सुगमता के साथ प्राप्त हो जाता है, जिसे स्वयं अपने उद्यम से प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। सत्संगति की महत्ता के विषय में निम्नांकित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है--

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम्।।

संतों की संगति से बुद्धि की जड़ता का नाश होता है, सद्बुद्धि उत्पन्न होती है। वाणी में सत्य का सिंचन होता है। संप्रतिष्ठा होती है। उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। पाप का अपाकरण या नाश होता है। चित्त में प्रसन्नता का उद्भव होता है। दिगदिगंत में कीर्ति व्याप्त होती है। कहो ! सत्संगति से क्या नहीं होता ? अर्थात् सत्संगति से वह सब प्राप्त होता है, जिससे जीवन का कल्याण सधता है।[3]

आद्य शंकराचार्य ने 'मोहमुद्गर' नामक पुस्तक में सत्संगति के सम्बंध में लिखा है--

१. कठोपनिषद्-१, ३, १४.
२. सुभाषितरत्नभाण्डागारम् : १७३, ८७८.
३. सुभषितरत्नभाण्डागारम् ८७, २९.

नलिनीदलगतजलमतितरलं, तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ।
क्षणमिह सज्जसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका ।।

कमलिनी के पत्र पर पड़े हुए जल के समान यह जीवन अत्यंत चंचल– क्षणभंगुर है। इस जीवन में संसार-सागर को पार करने के लिए क्षण भर की सत्संगति भी नौका के तुल्य अनन्य अवलम्बन है।[1]

तारादृष्टि में इसी तथ्य पर विशेष बल दिया गया है और कहा गया है कि साधक को सरलभाव से यह सोचते हुए कि "मैं तुच्छ हूँ, अल्पज्ञ हूँ, महापुरुष ही मेरे पथदर्शक हैं, मुझे उनकी शरण लेनी चाहिए , जिससे मैं अपने साधना-पथ पर अग्रसर होने में क्रमशः सफल होता जाऊँ," सत्संगति करनी चाहिए।

३. बलादृष्टि

बलादृष्टि में दर्शन– सद्बोध की दिशा दृढ़ता प्राप्त करती है। परम तत्त्व में शुश्रूषा, तत्त्व-श्रवण की उत्कंठा उत्पन्न होती है। योग-साधना में अक्षेप होता है। क्षेप नामक चित्त-दोष का नाश होता है। क्षेप का अभिप्राय योगाभ्यास में विघ्न होना है, जो इस दृष्टि में अपगत, विनष्ट हो जाता है। यह तीसरी दृष्टि है। इसमें योग का तीसरा अंग आसन सध जाता है।

आसन-स्थान

आसन शब्द साधना-क्षेत्र में बहुत प्रचलित है। जैन परंपरा में आसन की जगह स्थान का प्रयोग हुआ है। ओघनिर्युक्ति भाष्य[2] में आसन या स्थान के तीन भेद बतलाए गए हैं– १. ऊर्ध्व-स्थान २. निषीदन-स्थान तथा ३. शयन-स्थान।

स्थान का अर्थ स्थिति, गति की निवृत्ति या स्थिर होना है। आसन का शाब्दिक अर्थ बैठना है, किंतु वास्तविकता यह है कि सब आसन बैठकर नहीं किए जा सकते। कुछ आसन खड़े रहने, कुछ बैठने और कुछ सोने की स्थिति में होते हैं। इस दृष्टि से आसन की अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ सूचक प्रतीत होता है।

स्थान के भेद

ओघनिर्युक्ति-भाष्य में प्रतिपादित स्थान के भेदों की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है–

---

१. मोहमुद्गर, श्लोक-५.
२. ओघनिर्युक्ति-भाष्य, गाथा-१५२.

१. ऊर्ध्व स्थान

खड़े होकर किए जाने वाले आसन ऊर्ध्व-स्थान कहलाते हैं। उनके साधारण, सविचार, सन्निरूद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद, तथा गृद्धोड्डीन– ये सात भेद हैं।

२. निषीदन-स्थान

बैठ कर किए जाने वाले स्थान या आसन निषीदन-स्थान कहे जाते हैं। निषद्या, वीरासन, पद्मासन, उत्कटिकासन, गोदोहासन, मकरमुखासन तथा कुकुट्टासन इनके अन्तर्गत हैं।

३. शयन-स्थान

शयन या लेट कर किए जाने वाले आसन शयन-स्थान कहलाते हैं। शवासन आदि इसके अन्तर्गत हैं।

योगशास्त्र में आसनों का निरूपण

आचार्य हेमचंद्र ने ध्यान के विवेचन के संदर्भ में आसनों की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि ध्यान हेतु आसन साधने के लिये योगी ऐसे स्थानों में जाए, जो उत्तम हों, जहाँ तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, सर्वज्ञ की प्राप्ति और निर्वाण हुआ हो। यदि वहाँ जाना संभव न हो तो किसी विविक्त– स्त्री, पशु एवं नपुंसक-विवर्जित, पर्वत की गुफा आदि एकांत स्थान का आश्रय ले। उन्होंने पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन एवं कायोत्सर्गासन आदि का वर्णन किया है।

उन्होंने, ध्यान में किस आसन को स्वीकार किया जाए, इस पर लिखा है कि जिस-जिस आसन का प्रयोग करने से मन में स्थिरता आए, उसी का ध्यान के साधन के रूप में उपयोग करना चाहिए। अर्थात् ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है कि अमुक आसन में स्थित होकर ही ध्यान किया जाए।[१]

उन्होंने आसन में किस प्रकार बैठा जाए, दैहिक स्थिति कैसी हो ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं।

उनके अनुसार ध्यान का अभ्यास करने वाला साधक ऐसे आसन से बैठे, जिसमें कठिनाई न हो। लम्बे समय तक बैठने पर भी मन विचलित न हो। आसन-स्थित योगी के दोनों ओष्ठ परस्पर मिले हुए हों। दोनों नेत्र नासिका के अग्र भाग पर अवस्थित हों। दाँत इस प्रकार रहें कि ऊपर के दाँत नीचे के दाँतों का स्पर्श न करें। मुख-मुद्रा प्रसन्नतामयी हो। मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर हो। मन में प्रमाद, आलस्य या असावधानता न हो। मेरुदंड सीधा हो, सुव्यवस्थित स्थिति में विद्यमान हो।[२]

१. योगशास्त्र, प्रकाश-४, श्लोक-१२४-१३३. २. योगशास्त्र, प्रकाश-४, श्लोक १३५, १३६.

योगसूत्र में आसन : परिभाषा एवं सिद्धि

महर्षि पतंजली ने योगसूत्र में आसन की परिभाषा करते हुए लिखा है– 'स्थिरसुखमासनम्'– स्थिरता, निश्चलता और सुखपूर्वक बैठना आसन है। पतंजलि ने यहाँ इस बात का विशेष रूप से संकेत किया है कि योगी को आसन लगाने या बैठने में पैर आदि शारीरिक अंगों को कष्ट न हो, अधिक खिंचाव न हो, इसका ध्यान रहे और साथ ही साथ चंचलता न रहे। बैठने में स्थिरता बनी रहे।[1]

उन्होंने आसन-सिद्धि का वर्णन करते हुए लिखा है– प्रयत्न की शिथिलता से और अनंत में– परमात्म-भाव में मन लगाने से आसन सिद्ध होता है।[2]

शरीर को सीधा, स्थिर करके, सुखपूर्वक बैठ जाने के पश्चात् शरीर से संबंधित सब प्रकार की चेष्टाओं का त्याग करना प्रयत्न-शिथिलता है। अर्थात् देह के अंगोपांगों का संचालन-परिचालन नहीं करना चाहिए। ज्ञात, अज्ञात रूप में न वैसा प्रयत्न ही किया जाना चाहिए।

दूसरे शब्दों में ऐसी दैहिक स्थिति स्वीकार करनी चाहिए, जिसमें सहजतया स्थिरता हो। जरा भी चंचलता, चपलता न रहे। वैसा होना प्रयत्न-शैथिल्य है, क्योंकि वहाँ प्रयत्नशीलता शिथिल हो जाती है, मिट जाती है। आसन-सिद्धि में यह एक हेतु है। दूसरा हेतु अनंत-समापत्ति है। अनंत के अनेक अर्थ होते हैं। एक अर्थ परमात्म-तत्त्व है। इसलिए अनंत-समापत्ति का अभिप्राय साधारणतया परमात्मा में चित्त लगाना है।

योग-सूत्र के टीकाकार भोजराज ने अनंत का अर्थ आकाश किया है तथा समापत्ति का अर्थ चित्त का तद्रूप होना बतलाया है। आठ अंगों में समाधि अंतिम अंग है। उसी के लिए आसन आदि अंगों के अनुष्ठान का विधान है। अतः आसन को समाधि का बहिरंग साधन स्वीकार किया गया है। समापत्ति का अर्थ समाधि है अर्थात् परमात्मभाव में समाधिनिष्ठ होने का प्रयत्न करना भी आसन-सिद्धि का उपाय है।

महर्षि पतंजलि ने आगे लिखा है– जब आसन की सिद्धि हो जाती है तो द्वन्द्वों का अभिघात नहीं होता।[3]

सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्व कहे जाते हैं, क्योंकि ये शरीर को पीड़ित करते हैं। आसन सिद्ध हो जाने से योगी पर सर्दी, गर्मी, हवा, तूफान आदि का प्रभाव नहीं पड़ता। उसका शरीर उन सबको बिना किसी प्रकार का कष्ट अनुभव किए सहने में सक्षम हो जाता है। अत एव वे द्वन्द्व– विघ्न चित्त को चंचल बनाकर बाधित नहीं कर सकते।

---

१. योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र-४६.
२. योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र-४८.
३. योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र-४८.

गीता में आसनों की चर्चा

श्रीमद्भगवद्गीता में आसन लगाने के संबंध में चर्चा करते हुए लिखा है–

शुचि प्रदेश में, शुद्धभूमि में वस्त्र, अजिन, (मृगछाला) कुश आदि बिछा कर ऐसे स्थान पर साधक आसन लगाए, जो न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो। आसन पर स्थित होकर वह चित्त एवं इंद्रियों की क्रियाओं को वश में करता हुआ एकाग्र भाव से अंत:करण की शुद्धि हेतु योगाभ्यास करे, ध्यान करे। शरीर, मस्तक और ग्रीवा को सीधे, स्थिर और अचल रखे। नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को लगाए रहे। अन्य दिशाओं की ओर न देखे।[२]

हठयोग में आसनों का विस्तार

हठयोग और राजयोग के रूप में योग के दो भेद हैं। हठयोग का संबंध मुख्यत: देह-शुद्धि के साथ है। आसन, धौति, नेति, बंध, मुद्रा आदि के रूप में उसका बहुत विस्तार हुआ।

हठयोग का पहला अंग आसन है। वहाँ चौरासी आसन माने गए हैं, जिनकी उत्तरोत्तर संख्याएं बढ़ती गई। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार चौरासी आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन मुख्य हैं। उनमें भी योगाभ्यासियों के लिए सिद्धासन को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसे वज्रासन, मुक्तासन एवं गुप्तासन भी कहा जाता है। ध्यान-योग की साधना में यह बहुत उपयोगी है।[३]

नाथ-परंपरा के महान् संत श्री गोरखनाथ की परंपरा में हठयोग का विशेष रूप से विकास हुआ। वहाँ आसन आदि देह-शुद्धि के उपक्रमों पर इतना अधिक जोर दिया गया कि योग के अन्य अंग गौण हो गए।

महर्षि पतंजलि ने और गीताकार ने जैसा ऊपर उल्लेख हुआ है, इस बात पर कोई जोर नहीं दिया कि अमुक आसन से ही ध्यान किया जाय। उन्होंने यही कहा कि सुविधापूर्वक सुखासन से योगाभ्यास किया जा सकता है।

अनुचिन्तन

हठयोगियों ने आसन को अत्यधिक महत्त्व दिया। उन्होंने चौरासी आसनों की कल्पना की। उनका अभ्यास किया, प्रचार किया। आगे चलकर ये चौरासी आसन चौरासी लाख की संख्या तक पहुँच गए। चौरासी लाख प्रकार की जीवयोनियाँ मानी जाती हैं। उन सबके बैठने या स्थित होने को आधार मानकर आसनों का यह विस्तार प्रतिपादित हुआ। यह एक अतिरेकपूर्ण स्थिति बनी, जो व्यावहारिकता

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-६, श्लोक-११-१३. २. हठयोगप्रदीपिका, श्लोक-३३, ३४, ३७, ४०.

की सीमा से असंपृक्त थी। वहाँ धारणा, ध्यान एवं समाधिमूलक चिंतनात्मक उत्कृष्ट अवस्थाएं गौण होने लगीं, जो योग के वास्तविक लक्ष्य के साथ जुड़ी थीं। 'राजयोग' चिंतन प्रधान माना गया है। वहाँ चित्त की शुद्धि या परिष्कृति पर विशेष बल दिया गया है। इसका 'राजयोग' नाम पड़ने के अनेक कारण हैं। कहा जाता है, यह योग के क्षेत्र में राजा की तरह सर्वोत्कृष्ट है, अत: 'राजयोग' के नाम से अभिहित हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि योग की इस धारा में राजन्य-वर्ग और क्षत्रिय विशेष रूप से आए। मिथिला नरेश जनक आदि इसके उदाहरण हैं। जनक राजा होते हुए भी योगी माने जाते थे। वे विदेह के नाम से प्रसिद्ध थे। विदेह अर्थात् देहावस्था से वे अतीत थे। इतने आत्मलीन थे, जिससे दैहिक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का उन्हे भान तक नहीं था।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है, जैन परंपरा मे सभी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न थे। तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होते हैं, ऐसी मान्यता है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचारणीय है।

प्राचीन भारत में प्राय: क्षत्रिय ही शासक या राजा थे। राजाओं को भौतिक समृद्धि, सत्ता अधिकार सभी प्राप्त थे, जिनका लौकिक जीवन में महत्त्व है। जब आध्यात्मिक दृष्टि से उनमें अंतश्चेतना जागरित होती, वे अध्यात्म की गरिमा समझ लेते, संपत्ति-राज्य आदि का परित्याग कर देते, सर्वस्व त्यागी साधक का जीवन अपना लेते।

ज्ञानपूर्वक, समझपूर्वक वैभव का त्याग कर देने के बाद उनका मन उसमें कभी नहीं जाता था, क्योंकि उसके स्वाद का वे खूब अनुभव कर चुके थे। वे पुरुष भी, जिन्होंने सांसारिक भोगों को नहीं देखा हो, नहीं चखा हो, त्याग के मार्ग पर आते हैं, किंतु जब भोगमय सुखों का उद्दाम प्रसंग बनता है, उनका गिरना आशंकित रहता है, क्योंकि वे भुक्त-भोगी नहीं होते। उनमें तृष्णा बनी रहती है।

क्षत्रिय कुलोत्पन्न या राजकुलोत्पन्न पुरुषों में ऐसा होना बहुत कम संभावित है, क्योंकि जीवन का भोग पक्ष वे पहले ही भलीभाँति देख चुके हैं। अत एव वे अध्यात्म-योग में सफल होते हैं।

जैन परंपरा की तरह वैदिक परंपरा में भी क्षत्रिय-कुलोत्पन्न राजा, जो भी योग में आए, उन्होंने बड़ी सफल साधना की। संभव है, राजाओं द्वारा सेवित होने के कारण धारणा-ध्यान-समाधिमूलक आत्मचिंतनमय योग 'राजयोग' के नाम से विश्रुत हुआ। वे राजा राजर्षि कहलाए।

गीता में राजयोग का निरूपण

योगिराज श्री कृष्ण ने अर्जुन को संबोधित कर राजयोग की परंपरा का विवेचन करते हुए कहा- मैंने यह अव्यय, अविनश्वर या शाश्वत योग सूर्य को बतलाया। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा तथा

मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु को बताया। इस प्रकार परंपरागत इस योग को राजर्षि प्राप्त करते रहे, इसकी साधना करते रहे। तदनंतर यह योग बहुत समय से इस पृथ्वी लोक में प्राय: लुप्त हो गया। हे अर्जुन ! मैंने पुन: तुम्हें यह बतलाया है।[1]

गीता के प्रस्तुत प्रसंग से यह सूचित है कि राजयोग की परंपरा राजर्षियों, राजाओं या क्षत्रियों में विशेष रूप से प्रसृत रही है।

विमर्श

बलादृष्टिगत आसन के संदर्भ में जो योग की चर्चा की गई है, उसका अभिप्राय यह है कि भारत में योग के क्षेत्र में साधकों ने अनेक प्रकार के प्रयोग किए। उसके एक-एक अंग पर बहुत ही व्यापक चिंतन हुआ। उसके अनुरूप अभ्यास भी गतिशील बना। उस गतिशीलता में यदि सर्वत्र समन्वय अनुस्यूत रहे तो कोई कठिनाई उत्पन्न न हो, पर जब किसी एक का अतिरेक हो जाता है, तो सामंजस्य मिट जाता है।

हठयोग की परंपरा में कुछ ऐसा ही घटित हुआ। चौरासी हजार तथा चौरासी लाख आसनों की सिद्धि कोई कर पाए ऐसा बहुत कम संभव है। यदि कोई प्रयत्न भी करे तो उसमें सारा जीवन लग सकता है।

बलादृष्टि की विशेषताएं

बलादृष्टि में साधक के जीवन में स्थिरता का समीचीन रूप में समावेश होने लगता है। साधक के जाने, आने, हिलने, चलने आदि में त्वरा– उतावलापन या तेजी नहीं रहती। वह प्रत्येक कार्य स्थिरता पूर्वक करता है। उसके कार्यों में मानसिक सावधानता बनी रहती है।

साधक में शुश्रूषा (श्रोतुमिच्छा) का भाव उदित होता है। वह तत्त्व-श्रवण में सदा उत्सुकता लिए रहता है। सत्पुरुष ऐसा मानते है कि शुश्रूषा भूमि के भीतर प्रवाहित होने वाले स्रोत या जलनालिका के समान है। जैसे जलनालिका न हो तो कुआ व्यर्थ है। वैसे ही शुश्रूषा के बिना तत्त्व ज्ञान नहीं होता।

शुश्रूषु– सुनने की इच्छा वाले व्यक्ति को यदि तत्त्व सुनने का योग न मिले तो भी श्रवणोत्कंठा के रूप में शुभ-भाव की प्रवृत्ति के कारण कर्म-क्षय होता है, जिसके फलस्वरूप बोध प्राप्ति होती है।

बलादृष्टि के प्राप्त हो जाने पर योगाभ्यासी साधक के चिंतन, मनन और ध्यान आदि में, शुभ-

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-४, श्लोक-१-३.

योगमूलक प्रवृत्तियों में विक्षेप, विघ्न या बाधा नहीं आती। उसे शुभोपक्रमों में कुशलता प्राप्त होती है।[1]

एक और विशेषता उसमें आ जाती है कि वह अध्यात्म-साधना में उपकारक या सहायक साधनों में इच्छा का प्रतिबंध नहीं करता। अथवा वह साधना को ही सब कुछ नहीं मान लेता। आत्म-सिद्धि रूप साध्य को प्राप्त करने में उसका प्रयत्न होता है।

४. दीप्रादृष्टि

दीप्रादृष्टि प्राप्त हो जाने पर साधक के अंत:करण में सहजतया प्रशांत रस का ऐसा प्रवाह बहता है कि उसका चित्त योग से हटता ही नहीं। यहाँ तत्त्व-श्रवण सिद्ध होता है। अर्थात् तत्त्व सुनने के और समझने के प्रसंग उपलब्ध होते रहते हैं। न केवल बाह्य रूप में वरन् अंत:करण द्वारा तत्त्व-श्रवण की स्थिति उत्पन्न होती है, किंतु सूक्ष्म बोध प्राप्त करना फिर भी बाकी रहता है। यहाँ योग का चौथा अंग प्राणायाम सिद्ध हो जाता है।[2]

प्राणायाम का स्वरूप

प्राण का अर्थ वायु है। देहगत वायु श्वास एवं उच्छ्वास के रूप में शरीर के भीतर आती-जाती है। उसको विशेष रूप से नियंत्रित करना प्राणायाम है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया-प्रक्रिया का जीवन के साथ गहरा संबंध है।

आचार्य हेमचंद्र ने प्राणायाम के संबंध में लिखा है कि मुख और नासिका के भीतर संचरण करने वाले वायु का निरोध करना प्राणायाम है।

कई आचार्यों ने ऐसा स्वीकार किया है कि यम, नियम और आसनों के अभ्यास के अनंतर ध्यान-सिद्धि के लिए प्राणायाम की विशेष उपयोगिता है। उसके बिना मन को और पवन को जीतना संभव नहीं होता।

जहाँ मन है, वहाँ पवन है और जहाँ पवन का अस्तित्व है, वहाँ मन का अस्तित्व है। इसलिए क्षीर और नीर की भाँति पवन और मन परस्पर मिले हुए हैं। उनमें से एक का नाश होने पर दूसरे का नाश हो जाता है। एक का वर्तन या प्रवृत्ति होने पर दूसरे की प्रवृत्ति हो जाती है। जब इन दोनों का नाश हो जाता है, तब इंद्रिय-व्यापार और बुद्धि-व्यापार का भी नाश हो जाता है तथा मोक्ष प्राप्त होता है।[3]

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-५१. २. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-५७. ३. योगशास्त्र, प्रकाश-५, श्लोक-१-३.

प्राणायाम के प्रकार

श्वास-प्रश्वास की गति का छेद या निरोध करना प्राणायाम का लक्षण है। रेचक, पूरक और कुंभक के रूप में उसके तीन भेद हैं। कतिपय आचार्यों का यह मंतव्य है कि रेचक, पूरक और कुंभक के साथ प्राणायाम के प्रत्याहार, शांत, उत्तर और अधर– ये चार भेद और हैं। इन सबको मिलाने से प्राणायाम के सात भेद होते हैं।[१]

रेचक, पूरक, कुंभक

अत्यधिक प्रयत्न के साथ नासिका, ब्रह्मरन्ध्र और मुख द्वारा उदरवर्ती वायु को बाहर निकालना 'रेचक' प्राणायाम कहा जाता है। वायु को बाहर से आकृष्ट कर अपानपर्यंत कोष्ठ में (उदर में) पूरित कर लेना 'पूरक' प्राणायाम है एवं नाभि-कमल में रोकना 'कुंभक' प्राणायाम है।[२]

योग-सूत्र में प्राणायाम

महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम की परिभाषा में लिखा है– प्राणवायु का देह में प्रविष्ट होना 'श्वास' है तथा उसका बाहर निष्कासित होना 'प्रश्वास' है। इन दोनों की गति का रुक जाना प्राणायाम का सामान्य लक्षण है। इसका सारांश यह है कि श्वास-प्रश्वास का नियमन ही प्राणायाम है।[३]

दीप्रादृष्टि की विशेषताएं

इस दृष्टि में विद्यमान साधक का मानसिक स्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह निश्चित रूप में धर्म को अपने प्राणों से भी बड़ा समझता है। वह धर्म के लिए प्राणों तक का त्याग कर सकता है। धर्म को ही वह परम मित्र मानता है। वह तत्त्व-श्रवण में तत्पर रहता है। जैसे खारे जल के परित्याग और मीठे जल के योग से बीज उगता है, उसी तरह साधक के मन में बोध-बीज अंकुरित हो जाता है। उसे सम्यक्-दृष्टि प्राप्त होती है।[४]

५. स्थिरादृष्टि

स्थिरादृष्टि प्राप्त होने पर दर्शन या श्रद्धा नित्य अप्रतिपाती हो जाती है। फिर वह मिटती नहीं। योग का पाँचवां अंग प्रत्याहार वहाँ सिद्ध होता है।[५]

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-५, श्लोक-४, ५.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-५, श्लोक-६, ७.
३. योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र-४९.
४. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-५८-६५.
५. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१५४

प्रत्याहार का लक्षण

इंद्रियों की बाह्य-वृत्ति को सब ओर से खींचकर, समेटकर मन में विलीन करने का अभ्यास प्रत्याहार है। जब अभ्सास-काल में साधक इंद्रिय-विषयों का परित्याग कर चित्त को अपने ध्येय में संलग्न करता है, उस समय इंद्रियों का विषयों की ओर न जाकर चित्त में स्थिर हो जाना, प्रत्याहार सिद्ध होने का लक्षण है।[१]

प्रत्याहार और प्रतिसंलीनता का समन्वय

प्रतिसंलीनता का अभिप्राय इंद्रियों और मन को उनके विषयों से आकृष्ट कर आत्मलीन करना है अर्थात् प्रत्याहार और प्रतिसंलीनता का आशय लगभग एक जैसा ही है। दोनों में ही इंद्रियों की स्वेच्छाचारिता को रोक कर नियंत्रित करना है। स्थिरादृष्टि में साधक की मन: स्थिति भोगों से त्याग की ओर उन्मुख होती है। उसे रत्न-ज्योति की उपमा दी गई है।

अन्तत: स्थिरादृष्टि में विद्यमान सम्यक्त्वी साधक की अज्ञानांधकारमयी ग्रंथि का विभेद हो जाता है।[२]

उसे घर, परिवार, वैभव आदि बाह्य भाव मृगतृष्णा की तरह या स्वप्न की तरह सर्वथा मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं। उसका चिंतन यहाँ तक आगे बढ़ जाता है कि धर्म के प्रासंगिक फलस्वरूप प्राप्त सुख को वह प्रणियों के लिए अनर्थजनक मानने लगता है, क्योंकि अग्नि यदि चंदन काष्ठ की भी हो तो भी वह जलती तो है ही।

भोगों को भोग लेने से इच्छा नष्ट हो जाएगी, यह सोचना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे कोई भारवाहक गट्ठर को अपने एक कंधे से हटाकर दूसरे कंधे पर रखे और सोचे, वह भारमुक्त हो गया है। स्थिरादृष्टि में स्थित साधक का चिंतन इस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर होता है।[३]

६. कांतादृष्टि

इस दृष्टि में विद्यमान योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसी विशेषता आ जाती है कि उसके सम्यक् दर्शन आदि उत्तमोत्तम गुण औरों को सहज ही प्रीतिजनक प्रतीत होते हैं। उसे देखकर दूसरों के मन में द्वेष-भाव उत्पन्न नहीं होता। प्रीति उमड़ती है। इस दृष्टि में साधक को योग का छठा अंग– धारणा सिद्ध हो जाता है।[४]

---

१. योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र-५४
२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१५५, १५६.
३. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१६०, १६१.
४. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१६२.

धारणा का लक्षण

महर्षि पतंजलि ने धारणा का लक्षण बताते हुए लिखा है कि नाभि-चक्र, हृदय-कमल आदि देह के आंतरिक स्थानों और आकाश, सूर्य, चंद्रमा आदि बाहर के पदार्थों में से किसी एक पर चित्त-वृत्ति को लगाना धारणा है।[1]

कांतादृष्टि की विशेषताएं

इस दृष्टि में विद्यमान योगी धर्म की महिमा को बहुमान देता है। सम्यक् आचार की विशुद्धि में जागरूक रहता है। उसका मन धर्म में एकाग्र या तन्मय होता है। आत्म-धर्म में उसकी भावना इतनी दृढ़ होती है कि उसका देह अन्यान्य कार्यों में संलग्न होने पर भी मन गुरुजन से सुने हुए, सीखे हुए आगम-ज्ञान में तल्लीन रहता है, दिव्य ज्ञानानुभूति से युक्त रहता है। आत्म-भाव की ओर आकृष्ट रहता है। अनासक्त-भाव से वह सांसारिक कार्य करता है। अत: सांसारिक भोग उसके भव-भ्रमण के हेतु नहीं बनते।[2]

अनासक्त कर्मयोग के साथ समन्वय

गीता में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का विशद विवेचन है। गीता के कर्मयोग का अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विवेचन किया है।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का 'कर्मयोग-शास्त्र' के नाम से मराठी में गीता का जो विश्लेषण प्राप्त है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आचार्य विनाबा भावे ने भी 'गीता-प्रवचन' के रूप में बहुत ही मार्मिक विवेचन किया है।

गीता में योगिराज श्री कृष्ण अर्जुन को संबोधित कर कहते है कि अर्जुन ! कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में नहीं। इसलिए कर्म करते समय तुम उसके फल के हेतु मत बनो। फल में आसक्ति मत रखो। आसक्ति का त्याग कर तथा सफलता और असफलता को एक समान समझते हुए जो कर्तव्य-बुद्धि से कर्म किया जाता है, वह 'समत्व-योग' कहलाता है।[3]

७. प्रभादृष्टि

प्रभादृष्टि में साधक ध्यान-प्रिय होता है। योग का सातवाँ अंग ध्यान इसमें सिद्ध हो जाता है। राग, द्वेष एवं मोह इन तीन दोषों से जनित भव रोग यहाँ बाधा नहीं देते। अर्थात् राग-द्वेष मोहात्मक

---

१. योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-२.
२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१६३, १६४.
३. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-२, श्लोक-४७.

प्रवृत्ति जो आध्यात्मिक स्वस्थता में बाधक होती है, वहाँ उत्पन्न नहीं होती। तत्त्व मीमांसा का भाव विशेष रूप से वृद्धि प्राप्त करता है। इस दृष्टि से विद्यमान साधक ध्यान-जनित आत्म-सुख का अनुभव करता है।

शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयों को वह जीत लेता है। साधक में प्रशांत-भाव की प्रधानता होती है।[1]

योगसूत्र में ध्यान

महर्षि पतंजलि ध्यान का लक्षण बताते हुए लिखते हैं– जहाँ चित्त को लगाया जाय, उसी में प्रत्ययैकतानता– वृत्ति का एक तार की तरह निरंतर चलते रहना ध्यान है। अर्थात् जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाए, उसी में उसे एकाग्र करना, केवल ध्येय मात्र की एक ही प्रकार की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके मध्य किसी भी प्रकार की अन्य प्रवृत्ति का न उठना ध्यान है।[2]

८. परादृष्टि

यह अंतिम दृष्टि है, जिसमें समाधिनिष्ठता प्राप्त होती है। यहाँ योग का आठवाँ अंग 'समाधि' सिद्ध हो जाती है। इस दृष्टि में शुद्ध आत्म-तत्त्व, आत्म-स्वरूप जिस प्रकार अनुभूति में आए, ऐसी प्रवृत्ति सहजतया गतिशील रहती है। इसमें चित्त उत्तीर्णाशय हो जाता है। अर्थात् प्रवृत्ति से ऊँचा उठ जाता है। चित्त में प्रवृत्ति करने की कोई वासना नहीं रहती।

वह 'निराचार' पद-युक्त होता है। अर्थात् वहाँ किसी आचार का प्रयोजन नहीं रहता। सहजता आ जाती है। वह अतिचारों से रहित होता है। अर्थात् वहाँ कोई दोष नहीं लगता। जैसे कोई व्यक्ति पहुँचने योग्य मंजिल पर जब पहुँच चुकता है तो उसे और आगे चलने की आवश्यक्त नहीं रहती, वैसी ही स्थिति यहाँ योगी की हो जाती है।[3]

योगसूत्र में समाधि

ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येय के आकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव हो जाता है, उसको ध्येय से भिन्न उपलब्धि– अनुभूति नहीं रहती, उस समय वह ध्यान, समाधि कहलाता है।[4]

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१७०, १७१.
२ योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-२.
३. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१७८, १७९.
४. योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-३.

धारणा, ध्यान और समाधि जब ये तीनों किसी एक ध्येय में होते हैं, तब उसे संयम कहा जाता है।[1]

परादृष्टि की विशेषताएं

यह दृष्टि आत्म-विकास की अंतिम पराकाष्ठा है। साधक शुभ-भाव से आगे बढ़ कर शुद्ध भावात्मक स्थिति में आ जाता है। वह चंद्रमा की तरह निर्मल हो जाता है।

विज्ञान– आत्मा का स्व-पर प्रकाशक विशिष्ट ज्ञान, चंद्र-ज्योत्स्ना के सदृश है तथा ज्ञानावरणादि कर्म मेघ के तुल्य हैं, जो शुद्ध आत्मा को आवृत्त करते हैं अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय– ये चार घाति कर्म आत्मा के मूल गुणों का घात या नाश करने वाले या उनको ढ़कने वाले बादलों के सदृश हैं। जब वे योग-साधना रूपी वायु से आहत होकर हट जाते हैं, तब साधक सर्वज्ञत्व पा लेता है।[2]

विशेष

अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, दुगुंछा, भय, राग, द्वेष, अविरति, काम-वासना, दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय एवं उपभोगांतराय– इन अठारह दोषों का क्षय हो जाना, सर्वज्ञत्व-प्राप्ति का हेतु है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि चार घाति कर्मों में एक अंतराय है। उसके क्षीण हो जाने पर अनंत दानलब्धि, अनंत लाभलब्धि, अनंत भोगलब्धि, अनंत उपभोगलब्धि तथा अनंत वीर्यलब्धि प्राप्त हो जाती है। इन लब्धियों की प्राप्ति आत्मा के क्षायिक भाव से होती है, औदायिक भाव से नहीं। शुद्धभाव युक्त आत्मा या परम पुरुष इन लब्धियों का भौतिक दृष्टि से प्रयोग नहीं करते। ये लब्धियाँ आत्म-स्वभाव से उत्पन्न हैं। इसलिए आत्मा के शुद्ध-स्वरूप में, परमानंद-भाव में, बहुमुखी आत्मपरिणमन रूप में इनका उपयोग है। ये सर्वथा आध्यात्मिक होती हैं।

परम निर्वाण : सिद्धत्व-प्राप्ति

उच्चतम अवस्था प्राप्त समस्त लब्धि-युक्त वीतराग प्रभु अपने शेष चार अघाति कर्मों के उदय के अनुसार इस भूमंडल पर विचरण करते हैं। जन-जन का परम कल्याण संपादित करते हैं। सांसारिक ताप से संतप्त लोगों को आध्यात्मिक शांति प्रदान करते हैं। प्राणी मात्र का महान् उपकार करते हैं।

अंत में वे योग की चरम पराकाष्ठा– शैलेशी-अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। मानसिक, वाचिक एवं

---

१. योगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र-४.

२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१८४, १८५.

कायिक प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा अयोगावस्था, जो योग की सर्वोत्तमदशा है, प्राप्त कर लेते हैं। भव-व्याधि का विनाशकर परम निर्वाण या सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं।[1]

मुक्त-तत्त्व-मीमांसा

जैसे इस जगत् में कोई पुरुष रोग-मुक्त होता है, छूट जाता है, वैसे ही कर्म-मुक्त-पुरुष है। वह अभावरूप नहीं है, सद्भावरूप है। वह व्याधि से मुक्त नहीं हुआ, ऐसा नहीं है। वह भवरूप व्याधि से मुक्त हुआ है। वह भवरूप व्याधि से युक्त नहीं था, ऐसा नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण प्राप्ति के पूर्व भव-व्याधि से युक्त था। यह संसार ही घोर एवं भयानक व्याधि है। वह जन्म-मरण के विकार से परिपूर्ण है। विविध प्रकार का मोह पैदा करती है। वह तीव्र राग, द्वेष आदि की वेदना या संक्लेश से युक्त है। वह व्याधि आत्मा की मुख्य व्याधि है, कोई काल्पनिक नहीं है। अनादिकाल से चले आते तरह-तरह के कर्मों के कारण वह उत्पन्न होती है। सभी प्राणियों को उसका अनुभव होता है।

उस भव-व्याधि से जो पुरुष मुक्त हो जाता है, उसके जन्म-मृत्यु आदि दोष मिट जाते हैं और सर्वथा दोष-रहित होकर वह पारमार्थिक सद्रूप मुख्य, प्रधान या परमोत्तम हो जाता है। भव-व्याधि, जो संसारावस्था में मुख्य थी, उसे मिटा देने के कारण परम पुरुष संपूर्ण-स्वत्व-प्राप्ति रूप मुख्यत्व पा लेता है। अपने स्वभाव के उपमर्द से अथवा विभाव, परभाव के आक्रमण से स्वभाव के आवृत होने के कारण संसार में रमण करती हुई आत्मा का जब योग-साधना द्वारा पुनः अपने स्वभाव से योग होता है तो विभाव का आवरण हट जाता है, उसका शुद्ध स्वरूप उद्भासित हो जाता है, उसे सर्वथा निर्दोष अवस्था प्राप्त हो जाती है।[2]

पर्य्यवगाहन

आचार्य हरिभद्र के अनुसार मित्रादृष्टि से आध्यात्मिक यात्रा का प्रारंभ होता है। योगाभ्यासी साधक एक यात्री है। मित्रादृष्टि में वह उत्थान या जागरण की पहली रश्मि का संस्पर्श करता है। तारादृष्टि में, बोधज्योति में कुछ विशदता आ जाती है। बलादृष्टि में साधक की शक्ति कुछ जोर पकड़ती है और वह विभाव या मिथ्याभाव से छूटने के लिए अपनी शक्ति लगता है। आगे दीप्रादृष्टि में उसकी शक्ति उद्दीप्त होती है, दुर्लभबोधि या सम्यक् बोधि उसे प्राप्त हो जाती है, जो एक ऐसा आध्यात्मिक दिव्यरत्न है, जिसके प्राप्त होने पर निःसंदेह भव-परंपरा टूटने लगती है।

आगे की चार दृष्टियाँ उत्तरोत्तर उसे आत्माभ्युदय से जोड़ती जाती है।

स्थिरा दृष्टि में वह योगी अपने संकल्प और कर्म में स्थिर हो जाता है। किसी भी बाधा के आने

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१८६.

२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१८७-१९१.

पर प्रकंपित और विचलित नहीं होता। ऐसा होने से उसके व्यक्तित्व में सौम्यता, कांतता एवं प्रियता का समावेश हो जाता है। सबके मन में उसके प्रति कांत या प्रियभाव समुदित होता है।

योगी का व्यक्तित्व उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रभा से विभासित होता जाता है। कर्मों के आवरण हटते जाते हैं। वह क्षपक-श्रेणी प्राप्त कर लेता है। लोभ, मोह आदि को क्षीण करता जाता है। आध्यात्मिक यात्रा की अंतिम मंजिल निकट आने लगती है। उसके साधना-प्रवण जीवन में एक दिव्यता आ जाती है।

परादृष्टि में साधक आध्यात्मिक विकास की पूर्णता प्राप्त कर लेता है। परभावों से विमुक्त हो जाता है। कर्मावरण से सर्वथा छूट जाता है। आत्म-स्वभाव की अखंड-ज्योति जगमगा उठती है। समस्त दु:ख मिट जाते हैं। परमानंद-अवस्था या ब्रह्मानंद-अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह जीवन की परमसिद्धि है, सर्वोत्तम सफलता है, मुक्तत्व है, सिद्धत्व है। वहाँ णमोक्कार मंत्र का 'णमो सिद्धाणं पद' सर्वथा क्रियान्वित हो जाता है।

आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा निरूपित, अंतत: सिद्धत्व प्राप्त कराने वाला यह साधना-मार्ग बड़ा वैज्ञानिक और विलक्षण है। यह सर्वथा मौलिक और नवीन है, साथ ही साथ श्रमण भगवान् महावीर द्वारा दिए गए सद्ज्ञान के सर्वथा अनुरूप है।

जिज्ञासुओं, अध्येताओं तथा अनुसंधाताओं का ध्यान इस ओर जाए , इस दिशा में वे और अधिक अध्ययन, अनुशीलन करें, अत एव एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में इसे समाविष्ट किया गया है।

जैसा ऊपर सूचित किया गया है, आचार्य हरिभद्र सूरि ने आध्यात्म-योग पर चार ग्रंथों की रचना की। इन चारों में ही उन्होंने आध्यात्मिक साधना की सुगम, हृद्य और आकर्षक पद्धतियों का विवेचन किया है।

यहाँ योगविंशिका में निरूपित पथ पर संक्षेप में प्रकाश डालना अपेक्षित है।

योगविंशिका में योग का विवेचन

योगविंशिका में प्राकृत की केवल बीस गाथाएं हैं, किंतु इस छोटे से कलेवर में रचनाकार ने जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं, वे बहुत ही प्रेरक हैं।

उन्होंने योग की परिभाषा करते हुए लिखा है–'मोक्खेण जोयणाओ जोगो' अर्थात् जो मोक्ष से जोड़ता है, वह योग है।

उनके कहने का अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक साधना का जो मार्ग साधक को मोक्षात्मक

अंतिम साध्य तक पहुँचाता है, वह योग है। योग की सार्थकता साधक को समस्त कर्मों से मुक्त कराने में, परमात्म-भाव प्राप्त कराने में है।

वे सभी प्रकार के विशुद्ध धर्म-व्यापार को, धार्मिक उपक्रमों या क्रिया-कलापों को योग कहते हैं। यहाँ उनका आशय स्थान, आसन आदि से संबद्ध साधना के अभ्यास-क्रम से है।[1]

योगविंशिका में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन तथा अनालंबन– योग के ये पाँच भेद बतलाए गए हैं। इनमें पूर्ववर्ती दो– 'स्थान' और 'ऊर्ण'– कर्मयोग कहलाते हैं तथा उत्तरवर्ती तीन 'अर्थ', 'आलंबन', 'अनालंबन'– ज्ञानयोग कहे जाते हैं।[2]

अलक्ष्य को साधन हेतु साधक लक्ष्य का अवलम्बन लेता है। वह सालम्बन-आलम्बन-युक्त ध्यान है। आलम्बन द्वारा ध्येय में उपयोग की एकता सिद्ध होती है।[3]

विमर्श

जैसा पहले वर्णित हुआ है, जैन योग विषयक ग्रंथों में स्थान शब्द आसन के अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ भी आचार्य हरिभद्र सूरि ने स्थान का प्रयोग उसी अर्थ में किया है। उदाहरणार्थ पद्मासन, सुखासन, पर्यंकासन, कायोत्सर्ग आदि स्थान में ही समाविष्ट होते हैं।

योगाभ्यास के परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक क्रिया के साथ जो सूत्रों का– संक्षिप्त शास्त्र-दर्शित शब्दों का उच्चारण किया जाता है, उसे 'ऊर्ण' कहा जाता है। ऊर्ण का अर्थ ऊन या ऊन का धागा है। जिस प्रकार वह बहुत सूक्ष्म या बारीक होता है, उसी प्रकार जहाँ बहुत थोड़ी या संक्षिप्त अक्षरावली होती है, वैसा शब्द समवाय-सूत्र या मंत्र होता है। ऐसे सूत्र या मंत्र का जिस योगाभ्यासगत क्रिया में उच्चारण किया जाता है, उसे 'ऊर्ण-योग कहा जाता है। जहाँ समवाय में स्थित अर्थ के अवबोध का प्रयत्न रहता है, अर्थात् योगाभ्यासगत क्रिया में जहाँ उच्चार्यमाण शब्दों के अर्थावबोध का उपक्रम विद्यमान रहता है, वह 'अर्थयोग' है।

ध्यान में जहाँ बाह्य प्रतीक आदि का आलंबन या आधार रहता है, वह 'आलंबन-योग' है। जहाँ मूर्त्त प्रतीकों का आलंबन नहीं लिया जाता, वह 'अनालंबन-योग' कहा जाता है। यह निर्विकल्पक होता है, चिन्मय मात्र और समाधि रूप होता है।

योगसिद्धि

ग्रंथकार बतलाते हैं कि नैश्चयिक दृष्टि से ऊपर वर्णित पाँच प्रकार का योग उन्हें सिद्ध होता है,

१. योगविंशिका, गाथा-१. २. योगविंशिका, गाथा-२. ३. कायोत्सर्ग ध्यान, पृष्ठ : ३८.

जो 'चारित्र-मोहनीय' कर्म के क्षयोपशम से, आंशिक रूप से या संपूर्ण रूप से चारित्र संपन्न होते हैं। जो वैसे नहीं होते, उनमें यह केवल बीज मात्र रहता है, सिद्ध नहीं होता। व्यावहारिक दृष्टि से कुछ विद्वानों ने बीज मात्र को योग कहा है।[1]

योगविंशिका में आगे इन पाँचों भेदों की इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिर और सिद्धि– ये चार कोटियाँ बतलाई गई हैं। पहली कोटि में, योग-साधना की उत्सुकता उत्पन्न होती है। दूसरी में, योगाभ्यासी साधना में प्रवृत्त होता है। तीसरी में, वह स्थिर बनता है तथा चौथी में, वह सिद्धि पा लेता है।

समीक्षा

योगविंशिका में सिद्धि या सिद्धत्व तक पहुँचने का जो मार्ग बतलाया गया है, उसमें आसन, जप और ध्यान का समावेश है। ध्यान की अंतिम कोटि वहाँ सिद्ध होती है, जहाँ वह आलंबन-शून्य बन जाता है। आत्मा ही ध्याता, ध्यान और ध्येयावस्था प्राप्त कर लेती है, जिसका अंतिम परिणाम अयोगावस्था, कर्मशून्यावस्था, शुद्धावस्था, परमावस्था या सिद्धावस्था है।

यह यात्रा-क्रम आसन से प्रारंभ होकर अनालंबन ध्यान में परिसमापन पाता है, जहाँ अध्यात्मयोगी का लक्ष्य सफल हो जाता है। वह सिद्धि या सिद्धत्व, सर्वलोक पूज्यत्व और नमस्करणीयत्व प्राप्त कर लेता है। 'णमो सिद्धाणं पद' वहाँ पर्य्यवसित हो जाता है।

योगियों के भेद

योगदृष्टि समुच्चय में आचार्य हरिभद्र सूरि ने संस्कार, अभ्यास, अभिसिद्धि या उपलब्धि आदि के आधार पर योगियों के भेद किए हैं, जो उनका अपना मौलिक चिंतन है। उन्होंने गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्र-योगी तथा निष्पन्न-योगी रूप में चार प्रकार के योगी बतलाए हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ के संबंध में कहा है कि मेरी इस रचना से उनमें से किसी का कोई उपकार सधे तो अच्छा हैं। मैंने अनेक योगशास्त्रों से सार ग्रहण कर, दृष्टियों के भेदों का विश्लेषण करते हुए, प्रस्तुत ग्रंथ को आत्मानुस्मृति, आत्मस्वरूप का साक्षात्कार, आत्म-प्रगति का अनुसरण, आत्मलक्ष्य की ओर जागरूकता तथा आत्मपराक्रम के सतत अभ्युदय के लिए इस ग्रंथ की रचना की है।

वे पुन: लिखते हैं– कुलयोगी एवं प्रवृत्तचक्र-योगी ही इस ग्रंथ के अधिकारी हैं। सभी योगी अधिकारी नहीं है, क्योंकि गोत्रयोगियों में वैसी योग्यता नहीं होती एवं निष्पन्न-योगी वैसी योगसिद्धि प्राप्त कर चुकते हैं, जो इस ग्रंथ के अध्ययन, अनुशीलन तथा तदनुरूप योगाभ्यास से फलित होती है। अत एव गोत्रयोगी और निष्पन्न-योगियों के लिए उसकी उपयोगिता नहीं है।[2]

१. योगविंशिका, गाथा-३.

२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२०७-२०९.

यहाँ चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया जा रहा है–

१. कुलयोगी

जो योगियों के कुल में उत्पन्न हुए हैं अर्थात् जन्म से ही जिन्हें योग सिद्ध है, जो प्रकृति से ही योगी धर्म का अनुसरण करते हैं, वे कुलयोगी कहे जाते हैं।

कुलयोगियों की विशेषता

कुलयोगी सर्वत्र अद्वेषी होते हैं। वे किसी के भी प्रति द्वेष, अशुभ-भावना, ईर्ष्या, नहीं रखते। गुरु, सच्चे देव, ब्राह्मण– ब्रह्मवेत्ता, ज्ञानी पुरुष उन्हें प्रिय लगते हैं। उनके प्रति कुलयोगी के मन में बड़ा आदर, श्रद्धा और प्रीति होती है। कुलयोगी स्वभाव से ही बड़े दयावान् और विनयवान् होते हैं। वे प्रबुद्ध, तत्त्व ज्ञानी और जितेंद्रिय होते हैं।[१]

२. गोत्रयोगी

जो आर्यक्षेत्र के भीतर भारतभूमि में जन्म लेते हैं, उन्हें भूमिभव्य कहा जाता है। वे ही गोत्रयोगी कहे जाते हैं, क्योंकि इस भूमि में योगाभ्यास के अनुरूप उत्तम स्थान, साधन, निमित्त तथा सामग्री सुलभतया प्राप्त होती है। साथ ही साथ यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भूमि की भव्यता से ही साधना संपन्न नहीं होती, किंतु वह तभी संपन्न होती है, जब साधक अपनी भव्यता, पात्रता और योग्यता के बल पर योगाभ्यास करता है।

विशेष

जो योगी योगाभ्यास करते-करते अपना आयुष्य पूर्ण कर जाते हैं अर्थात् इस जन्म में अपनी योग साधना पूरी नहीं कर पाते, वे आगे कुलयोगी के रूप में उत्पन्न होते हैं। पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण उन्हें जन्म के साथ ही योग प्राप्त होता है। उनकी प्रकृति, वृत्ति योग-साधना के अनुरूप होती है। वे आत्मप्रेरित होते हैं। स्व-प्रेरित होकर ही योग साधना में संलग्न हो जाते हैं।

कुलयोगी शब्द अपने आप में बड़ा महत्त्व लिए हुए है। 'कुल' शब्द प्रशस्तता का द्योतक है। जैसे कुलवधू, कुलपुत्र आदि शब्द वधू एवं पुत्र आदि की श्रेष्ठता या प्रशस्तता के अर्थ में हैं, उसी प्रकार कुलयोगी भी एक विशिष्ट प्रशस्ततापूर्ण अर्थ से युक्त है। जैसे कुलवधू उसे कहा जाता है, जो अपने पवित्र चारित्र, शालीनता, सदाचार, लज्जा एवं सौम्यतापूर्ण व्यवहार से कुल को अलंकृत करती है। कुलपुत्र वह होता है, जो अपने श्रेष्ठ, उदात्त व्यक्तित्व और कार्यकलाप से कुल को यशस्वी बनाता है।

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२११.

उसी प्रकार 'कुलयोगी' वह होता है, जो अपनी पावन, उत्तम, श्रेष्ठ योग-साधना द्वारा योगियों का गौरव स्थापित करता हुआ, अनुकरणीय तथा आदर्श जीवन की महत्ता प्रस्तुत करता है।

कुलयोगी शब्द आनुवांशिकता के साथ जुड़ा हुआ नहीं है, क्योंकि योगियों का कोई वैसा कुल नहीं है, जिसमें पिता योगी हो, पुत्र भी योगी हो और पौत्र भी योगी हो। 'कुलयोगी' शब्द साधनापरायण एवं योगनिष्ठ पुरुषों की परंपरा से सम्बद्ध है।

३. प्रवृत्तचक्र-योगी

एक कुंभकार घट का निर्माण करते समय चक्र के किसी एक भाग पर दंड सटाकर उसे घूमा देता है। सारा चक्र स्वयं घूमने लगता है। उसी प्रकार जिनका योग साधनामूलक चक्र उनके किसी अंग का संस्पर्श कर लेने या संप्रेरित कर लेने पर अपने आप प्रवृत्त हो जाता है, वे प्रवृत्तचक्र-योगी कहे जाते हैं।

प्रवृत्तचक्र-योगी इच्छा-यम एवं प्रवृत्ति-यम, इन दो को सिद्ध कर लेते हैं। स्थिर-यम एवं सिद्धि-यम- इन दो के सिद्ध करने की तीव्र उत्कंठा लिए हुए होते हैं। उस दिशा में अत्यंत प्रयत्नशील रहते हैं। वे शुश्रूषा आदि गुणों से युक्त होते हैं।[१]

विमर्श

यहाँ यम के भेदों की चर्चा आई है। यम अष्टांग-योग का पहला अंग है। इस संबंध में यथाप्रसंग अपेक्षित विवेचन किया जा चुका है। यम, संयम के अर्थ में है, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच भेदों में विभक्त है।

साधना के दो अंग है, ज्ञान और क्रिया। ज्ञान से तत्त्व का बोध होता है। क्रिया, ज्ञान को अभ्यास में परिणत करती है। जब अभ्यास करना होता है तो किसी भी तत्त्व को विशद रूप में स्वायत्त करना आवश्यक होता है। यही कारण है कि यमों का भी चार रूपों में विवेचन हुआ है।

अहिंसा आदि की व्याख्या करना उतना कठिन नहीं है, जितना उनको जीवन में स्वीकार करना है। अत एव प्रत्येक यम की चार कोटियों की कल्पना की गई है। सबसे पहले योगाभ्यास में पुरुष के मन में यह इच्छा जागरित होती है कि मैं यमों का पालन करूँ, इस प्रकार की मानसिकता को 'इच्छा-यम' कहा जाता है।

जब इच्छा मन में अनवरत व्याप्त रहती है तो वह प्रवृत्ति के रूप में परिणत होती है। साधक

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२१२.

अहिंसा आदि के अनुसरण में, अनुपालन में प्रवृत्त होता है। प्रवृत्त होने मात्र में ही सफलता नहीं है, क्योंकि साधना का पथ विघ्नरूपी कंटकों से आच्छन्न है। विघ्न, बाधाएँ आकर प्रवृत्ति को रोक भी सकती हैं। इसलिए उसकी अगली कोटि स्थिरता है।

सतत् अभ्यास से जब प्रवृत्ति या अहिंसा आदि यमों की परिपालना सुदृढ़ हो जाती है। तब विघ्नों के तूफान साधक को विचलित नहीं कर पाते। वह स्थिरतामयी दशा 'स्थिर-यम' के नाम से अभिहित की गई है। फिर यमों के प्रतिपालन में विचलन उत्पन्न नहीं होता। जब यमों की साधना या आराधना स्थिरतापूर्वक गतिशील रहती है तो उसमें सफलता– सिद्धि प्राप्त होती है। यमों का सम्यक्, यथावत् परिपालन सिद्ध हो जाता है।

प्रवृत्तचक्र-योगी 'इच्छा-यम' या 'प्रवृत्ति-यम' को सिद्ध कर लेते हैं, ऐसा कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि उनकी साधना की गति, इच्छा को प्रवृत्ति की ओर बढ़ाती है और उसे सिद्ध कर लेती है।

इन दो योगों के सिद्ध होने के साथ-साथ प्रवृत्तचक्र-योगी में आठ गुण और निष्पन्न होते हैं, जो इस प्रकार हैं–

१. शुश्रूष– 'प्रवृत्तचक्र-योगी' सत् तत्त्व सुनने की अभिलाषा या आकांक्षा रखता है।

२. श्रवण– अर्थ पर भलीभाँति मनन और निदिध्यासन करता हुआ, तत्त्व-श्रवण करता है।

३. श्रुत– सुने हुए तत्त्वों को वह स्वीकार करता है।

४. धारण– स्वीकार किए तत्त्वों की वह अवधारणा करता है। चित्त में उनके संस्कार सुदृढ़ करता है।

५. विज्ञान– अवधारणा करने पर उसको विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। प्राप्त बोध दृढ़ संस्कार के कारण प्रबल बन जाता है।

६. ईहा– चिंतन, विमर्श, तर्क, वितर्क, शंका-समाधान करता है।

७. अपोह– शंका का निवारण करता है। चिंतन-मंथन के अंतर्गत होने वाले बाधक अंश का निराकरण करता है।

८. तत्त्वाभिनिवेश– तत्त्व में निश्चयपूर्ण प्रवेश अथवा तत्त्व निर्धारणात्मक आंतरिक स्थिति प्राप्त करता है।

प्रवृत्तचक्र-योगी 'आद्यावंचक' या 'योगावंचक' प्राप्त कर लेते हैं। वैसा कर लेने का यह अमोघ

प्रभाव होता है कि उन्हें 'क्रियावंचक' या 'फलावंचक' प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार इन योगियों को तीनों अवंचक प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे योगी ही योग-साधना का प्रयोग करने के अधिकारी हैं।[1]

यहाँ तीन प्रकार के अवंचकों का वर्णन हुआ है। इनका विश्लेषण यथाप्रसंग पहले किया जा चुका है। यह स्मरणीय है कि योगावंचक का संबंध सत्पुरुषों के संयोग से है। सत्पुरुषों के सान्निध्य या साहचर्य से सत्क्रिया संपन्न होती है और उसका सत्फल प्राप्त होता है।

योगदृष्टि समुच्चय की उपयोगिता

आचार्य हरिभद्र सूरि अपने इस ग्रंथ के संबंध में सूचित करते हैं कि कुलयोगियों और प्रवृत्तचक्र-योगियों में, जो अति सामान्य बुद्धि के व्यक्ति हैं, मुझसे कम बुद्धिमान हैं, इस ग्रंथ के श्रवण से पक्षपात– इस ओर जो आकर्षण, शुभेच्छा आदि भाव जागरित होंगे, उनका यत्किंचित् उपकार होगा। वे गुणग्राही होते हैं, अतः सुन कर प्रसन्न होंगे, सत्-तत्त्व के ज्ञान में उनकी रुचि बढ़ेगी। श्रद्धा संस्फुरित होगी। योगाभ्यास का बोध होगा। उसमें समुद्यत होने की आकांक्षा जागरित होगी। योगबीज परिपुष्ट होंगे, जिससे योगसाधना के प्रकृष्ट, उत्तम अंकुर प्रस्फुटित होंगे। योग रूपी कल्पवृक्ष फलेगा-फूलेगा तथा मोक्षरूप, सिद्धत्वरूप दिव्य-अमृत-फल प्राप्त होगा।[2]

पर्य्यालोचन

आचार्य हरिभद्रसूरि अपने युग के प्रकांड विद्वान्, आगमवेत्ता, दर्शनिक और योगी थे। उन्होंने इस प्रसंग में अपने आपको मंद बुद्धि कहा है, यह उनकी सहज सरलता, विनम्रता और आत्मार्थिता का सूचक है। इससे यह स्पष्ट है कि वे महान् विद्वान् होने के साथ-साथ अध्यात्म-योग के प्रबुद्ध साधक भी थे।

एक शंका : एक समाधान

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि केवल तात्त्विक पक्षपात से क्या सधेगा? वह तो भावना मूलक होता है। धर्माराधना के लिए तो क्रिया की आवश्यकता है। इस शंका का समाधान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि तात्त्विक पक्षपात और भावशून्य क्रिया में वैसा ही अंतर है, जैसा सूर्य के प्रकाश और खद्योत की चमक में होता है। अर्थात् तात्त्विक पक्षपात सूर्य के प्रकाश के सदृश है तथा भावशून्य क्रिया खद्योत की चमक जैसी है।[3]

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२१३.
२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२२२.
३. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२२३.

सत्-तत्त्व में पक्षपात, रुचि, स्पृहा या उत्कण्ठा का बहुत बड़ा फल होता है, क्योंकि इनके कारण जीवन में सत्परायणता आती है। सत्परायणता से सच्चारित्र की उन्नति होती है तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

भावरहित या अज्ञानपूर्ण क्रिया दीर्घकाल तक की जाए तो भी उससे आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह क्रिया यथार्थ लक्ष्य की ओर नहीं जाती। सही मार्ग प्राप्त किए बिना यदि कोई अनंतकाल तक भी क्रियाशील, गतिशील रहे तो भी आत्मकल्याणमूलक लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। इसलिए यदि कोई ऐसा माने कि क्रिया करते-करते वह स्वयं ही परमश्रेयस् को प्राप्त करेगा तो यह सर्वथा असंभव है। सत्-तत्त्व में अभिरुचि तथा आस्था के बिना आत्मा का अभ्युदय संभव नहीं है।

सत्-तत्त्वाभिरुचि का वैशिष्ट्य

खद्योत का प्रकाश अत्यंत अल्प होता है, नश्वर होता है। सूर्य का आलोक विराट्, असीम और अविनश्वर होता है। सत्-तत्त्वाभिरुचि या तात्त्विक पक्षपात गुणवत्ता की दृष्टि से सूर्य के आलोक की तरह अत्यंत विशाल एवं सुस्थिर है। भावशून्य क्रिया खद्योत की चमक की ज्यों अस्थिर एवं नश्वर होती है।[1]

सहजाभिरुचि

ग्रंथकार अंत में लिखते हैं कि कुलयोगियों तथा प्रवृत्तचक्र-योगियों जैसे योग्य पुरुषों को इस शास्त्र के श्रवण का अनुरोध करना योग्य नहीं है, क्योंकि वे तो कल्याण-सत्त्व हैं, अवश्य ही कल्याण प्राप्त करने वाले हैं। वैसे योग्य पुरुषों में तो शुश्रूषा– श्रवणेच्छा आदि गुण स्वाभाविक ही होते हैं। वे श्रवण में तथा उससे प्राप्त होने वाले साधनात्मक परम मूल्यवान् रत्न में स्वयं ही अभिरुचिशील और प्राप्त करने में प्रयत्नशील होते हैं। अत: इस ग्रंथ के श्रवण में वे तो सहज ही प्रवृत्त होंगे।[2]

विमर्श

आचार्य हरिभद्र को ऐसा आत्मविश्वास था कि कुलयोगी और प्रवृत्तचक्र-योगी तो स्वयं ही उनके ग्रंथ का अध्ययन करेंगे। उन्हें ऐसा करने का अनुरोध करने की क्या आवश्यकता हैं ?

उपर्युक्त परंपरानुसार अध्यात्मयोगी साधना द्वारा अंत में परादृष्टि प्राप्त कर लेते हैं तथा समस्त बंधनों से, कर्मावरणों से रहित होकर अंतरात्मभाव से परमात्मभाव में पहुँच जाते हैं। परमसिद्धि का लाभ प्राप्त करते हैं। जगत् में वही सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, परमपद है। अत एव वह वंदनीय और नमस्करणीय है।

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२२४.

२. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-२२५.

णमोक्कार का 'णमो सिद्धाणं' पद इसी भाव का उज्जीवक है।

ध्यान का विश्लेषण

"ध्यान की परंपरा बहुत प्राचीन है। उसका आदि स्रोत खोजना बहुत कठिन है। यह प्राग्-ऐतिहासिक है।"[१] "वास्तव में ध्यान की साधना ही एक ऐसी साधना है, जिसके विषय में विवाद को कोई स्थान, अवकाश ही नहीं रहता है। हाँ, ध्यान की विधियों अथवा पद्धतियों के संबन्ध में अवश्य मतभेद रहे हैं। उन्हें रोका अथवा मिटाया भी नहीं जा सकता है। चूँकि हजारों, लाखों साधक जब ध्यान-साधना की प्रक्रियाओं से गुजरते हैं तो सबके अपने-अपने अनुभव होते हैं।"[२]

"आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से होवें तो ध्यान साधना का अर्थ पर में अटकती चित्तवृत्तियों को समेटकर स्व में स्थिर करने का सघन प्रयास करना है। स्व में रहना ही मुक्ति है, तथा बाह्य के पीछे दौड़ना ही संसार है।[३]

"स्वानुभूति की उपलब्धि का उपाय है– ध्यान। आत्मा और शरीर की भिन्नता के ज्ञान का उपाय है– कायोत्सर्ग। ममत्व, विषय और कषाय के बन्धन से मुक्त होने का उपाय भी है– ध्यान और कायोत्सर्ग का समन्वय।"[४]

"ध्यान करने वाली अन्तरात्मा ध्याता है, जिन्होंने अरिहंत सिद्ध का शुद्ध परमात्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है, जिनका ध्यान किया जाता है, वे ध्येय कहे जाते हैं। ध्याता और ध्येय को एक साथ जोड़ने वाली क्रिया ध्यान है। जिन साधकों के ये तीनों ऐक्य पा लेते हैं, उनके कोई दु:ख रहता ही नहीं।"[५]

"ध्यान से व्यक्ति विनम्र हो जाता है, ध्यान व्यक्ति को स्वकेन्द्रित मन-मानस से विमुक्त करता है। वह अन्य व्यक्तियों के हित के बारे में भी सोचने लगता है। उसमें स्वार्थ, अभिमान व दीनता का धीरे-धीरे अभाव होता जाता है और मैत्री, स्वाभिमान और विनम्रता झलकने लगते हैं। ध्यान की नियमित साधना, चिन्तन और व्यवहार की दूरी सदा के लिए समाप्त कर देती है।"[६]

योगशास्त्र में ध्यान

आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र के सातवें अध्याय में ध्यान का विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि जो ध्यान-साधना करने की इच्छा रखता हो वैसे साधक को तीन बातें जानना आवश्यक है–

१. भेद में छिपा अभेद, अध्याय-१३, पृष्ठ : १५.
२. समीक्षण ध्यान एक मनोविज्ञान, पृष्ठ : १, २.
३. साधनानु हृदय, पृष्ठ : ११९.
४. अस्तित्व का मूल्यांकन, पृष्ठ : ३४३.
५. ज्ञानसार, पृष्ठ : २१८.
६. ध्यान : एक दिव्य साधना, पृष्ठ : १४.

१. ध्याता– ध्यान करने वाले की योग्यता किस प्रकार की हो ?

२. ध्येय– जिसका ध्यान किया जाय, वह कैसा हो ?

३. ध्यान की कारण सामग्री कैसी हो ? क्योंकि सामग्री के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं होता।[१]

ध्याता की योग्यता

जो प्राण-नाश होने का प्रसंग आ जाए तो भी संयम-निष्ठा का परित्याग नहीं करता, जगत् के समस्त प्राणियों को अपने सदृश समझता है, अपने लक्ष्य से, ध्येय से हटता नहीं, शैत्य, ऊष्मा तथा वायु आदि से खिन्न, दुखित नहीं होता, रागादि दोषों से जो अभिभूत नहीं होता क्रोध आदि कषायों से विरत होता है, कर्मों में लिप्त नहीं होता, भोग-वासना से जिसके मन में वैराग्य होता है, जो अपनी देह पर भी मूर्च्छा या ममत्व नहीं रखता, अनुकूल, प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समभाव रखता है, प्राणी-मात्र के कल्याण की वांछा रखता है, सबके प्रति करुणाशील होता है, सांसारिक भोगों से विमुख रहता है, विघ्न और उपसर्ग आने पर जो सुमेरू की तरह अड़िग रहता है, वैसा प्रबुद्ध साधक ध्याता होता है।[२]

ध्येय का स्वरूप

आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र में ध्यान के आलंबनमूलक ध्येय के आधार पर इसे चार प्रकार का बताया है। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत।

१. पिंडस्थ ध्यान एवं धारणाएँ

जहाँ किसी पिंड या मूर्त्त प्रतीक को आधार मानकर, ध्यान किया जाता है, वह पिंडस्थ ध्यान कहा जाता है। इस ध्यान को प्राप्त करने की मानसिकता अर्जित करने के लिए आचार्य हेमचंद्र ने धारणाओं के रूप में एक विशिष्ट मार्ग प्रशस्त किया। धारणा का अर्थ मन में धारित, भावित या अनुचिंतित करना है।

१. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. मारुती, ४. वारुणी, ५. तत्त्वभू– पिंडस्थ ध्यान की ये पाँच धारणाएँ हैं।[३]

क्रमशः पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल तथा देहगत धातुओं से रहित आत्मा उनके आधार या अवलंबन

१. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-१.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-२-७.
३. (क) योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-९.
(ख) ध्यान जागरण, पृष्ठ : ७०.
(ग) जैन धर्म में तप, पृष्ठ : ४३२-४३५.

हैं। योगशास्त्र में इन धारणाओं का बहुत स्पष्ट और सुंदर विवेचन किया गया है, जिसे यहाँ संक्षेप में उपस्थित किया जा रहा है।

१. पार्थिवी धारणा

जिस पृथ्वी पर प्राणी रहते है, जैन परिभाषा में उसे तिर्यक्-लोक या मध्यलोक कहा जाता है। साधक मन में ऐसी भावना या विचारणा करे कि इस मध्यलोक के बराबर लंबा चौड़ा क्षीरसागर लहरा रहा है। उस क्षीरसागर में जंबूद्वीप के सदृश एक कमल है, जो एक लक्ष योजन परिमाण का है। उस कमल के एक हजार पंखुड़ियाँ हैं। उसके बीच में किंजल्क– केसर है। उसके भीतर से समुत्थित एक लाख योजन मेरू पर्वत-प्रमाण कर्णिका है, जो स्वर्ण जैसी पीली प्रभा से देदीप्यमान है।

उस कर्णिका के ऊपर श्वेत वर्ण-युक्त एक सिंहासन है। साधक आगे अपनी भावना को इस प्रकार बढ़ाए कि उस सिंहासन पर आसीन होकर मैं अपने कर्मों का समूल उच्छेदन करने हेतु उद्यत हूँ। यह पार्थिवी धारणा है। इस धारणा या भावना के सहारे साधक अपने आप में कर्म-जंजाल को ध्वस्त करने का एक विशेष उत्साह प्राप्त करता है, क्योंकि उत्साह ही तो उद्यम का मूल है।[१]

२. आग्नेयी धारणा

अग्नि पाँच तत्त्वों में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। ज्वलन, पाचन आदि उसके कार्य हैं। साधक ऐसी भावना परिकल्पित करे कि उसकी नाभि के भीतर एक कमल है, उसके सोलह पंखुड़ियाँ है। वह उस कमल की कर्णिका पर 'अर्हं' महामंत्र को स्थापित करे। उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर क्रमशः सोलह स्वर– अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः – अंकित हैं, ऐसी कल्पना करे।

ऐसा करने के अनंतर वह पुनः यह भावना करे कि उसके हृदय में एक कमल है। उसके आठ पंखुड़ियाँ हैं। उन आठों में से प्रत्येक पंखुड़ी पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अंतराय– इन आठ कर्मों की स्थापना या परिकल्पना करे, फिर ऐसी धारणा करे कि उस कमल का मुख नीचे की ओर है। आगे चिंतन करे कि रेफ-बिंदु और कला से युक्त 'अर्हं' महामंत्र के 'र्हं' से मंद-मंद धुएँ की शिखा निकल रही है। उसमें से अग्नि की चिनगारियाँ निकल रहीं हैं। वे अनेक ज्वालाओं में अग्नि की लपटों में परिवर्तित हो रही हैं।

उन ज्वालाओं से पूर्वोक्त हृदय-स्थित आठ पंखुड़ियों वाला कमल दग्ध हो रहा है। महामंत्र 'अर्हं' के ध्यान से उत्पन्न अग्नि की ज्वालाएं उस कमल को जला रही हैं, ऐसा चिंतन करे। साथ ही साथ शरीर से बाहर तीन कोनों से युक्त स्वस्तिक सहित अग्नि-बीज-स्वरूप रेफ समन्वित, जाज्वल्यमान

१. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-१०-१२.

अग्निपुर– अग्निरूप नगर का चिंतन करना चाहिए। तत्पश्चात् अपने चिंतन को इस रूप में अग्रसर करे कि शरीर के भीतर 'अर्हं' महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न ज्वाला से तथा शरीर के बहिर्वर्ती अग्निरूप नगर की ज्वाला से अष्ट कर्माकित कमल को और देह को जलाकर अग्नि भस्म के रूप में परिणत होकर शान्त हो गई है।[1]

३. वायवी धारणा

आग्नेयी धारणा के पश्चात् योगी यह कल्पना करे कि ऐसा प्रचंड वायु चल रहा है, जो तीनों लोक में परिव्याप्त है, जिससे पर्वत विचलित हो रहे हैं। समुद्र क्षुब्ध हो रहा है। फिर अपनी भावना के अनुचिंतन को आगे बढ़ाए कि जो आग्नेयी धारणा में शरीर और कर्म की राख हुई थी, वह वायु से बिखर रही है। दृढ़ता से इसका चिंतन करे। यह वायवी धारणा है।[2]

४. वारुणी धारणा

योगी ऐसा चिंतन करे कि आकाश में ऐसे बादल छाए हैं, जो अमृत के समान वर्षा कर रहे हैं। फिर वह अर्ध चंद्रमा के आकार से युक्त 'वँ' का चिंतन करे, जो वरुण-बीज माना गया है। ऐसा सोचे, इस वरुण बीज से उत्पन्न हो रहे, निकल रहे अमृतोपम जल से गगन-मंडल भर गया है। भूमि से आकाश तक जल ही जल परिव्याप्त है।

पहले वायवी धारणा के अंतर्गत जैसा बतलाया गया है, देह और कर्म के जलने के बाद बनी हुई भस्म प्रचण्ड वायु द्वारा विकीर्ण कर दी गई है, जो एक ही स्थान पर पूंजीभूत थी। इन जलधाराओं से वह भस्म धुलकर साफ हो रही है और बही जा रही है। यह वारुणी धारणा है।[3]

विशेष

आग्नेयी से वारुणी धारणा तक कर्म-नाश का जो क्रम ग्रंथकार ने प्रतिपादित किया है, वह बहुत ही युक्तिसंगत और उद्‌बोधक है। कर्म रूप इंधन को उत्कृष्ट भाव रूप तपश्चरण ने जला तो डाला, फिर भी कुछ मलिनता बची रह जाती है, जिसे भस्म या राख के रूप में अभिहित किया गया है। रास्ते से निकले हुए साँप की लकीर की तरह चिह्नांकन अवशेष रहता है अर्थात् संस्कार रूप में कुछ मालिन्य बचा रहता है। वायु द्वारा उसे बिखेर दिए जाने पर उस भस्म का पुंजत्व तो मिट जाता है, किन्तु कण-कण के रूप में दिशा-मंडल में वह व्याप्त रहती है। जल धारा द्वारा प्रक्षालित होने पर निर्मल, समुज्ज्वल आत्मस्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता।

१. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक १३-१७.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-१९,२०.
३. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-२१,२२.

५. तत्त्वभू धारणा

यह धारणा रस, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्र रूप सात धातुओं से रहित, दैहिक उपादानों से सर्वथा विवर्जित पूनम के चाँद के समान विमल, उज्ज्वल कांति-युक्त, सर्वज्ञवत् विशुद्ध आत्म-स्वरूप के चिंतन पर अवलंबित है।

साधक यों भावानुभावित हो कि शरीर के भीतर एक सिंहासन विद्यमान है। समग्र अतिशयों से विलक्षण, विशेषताओं से अलंकृत, समस्त कर्म-विध्वंसक, उत्तम महिमा-मंडित अमूर्त्त आत्मा स्थित है।

यह भावना आत्मरूप परमतत्व पर टिकी हुई है। इसलिए इसे 'तत्वाद् भवति' के अनुसार 'तत्त्व-भू' के नाम से अभिहित किया है।[1]

इन धारणाओं का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य हेमचंद्र ने इनका फल बताते हुए लौकिक संकटों के टल जाने की बात कही है।[2]

अनुचिन्तन

आचार्य ने जो ऐसा प्रतिपादित किया है, उसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि इन धारणाओं के अभ्यास से कष्ट आदि निवृत्त होते हैं। ये तो उनके औपचारिक फल हैं। वास्तव में तो इन भावनाओं का फल ध्यान-सिद्धि है, जिसकी परिणति समाधि में होती है।

पदस्थ-ध्यान

पवित्र मंत्राक्षर आदि पदों का अवलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ-ध्यान कहा जाता है। योगशास्त्र में उसकी कई विधाओं का वर्णन है। यहाँ उदाहरण के रूप में एक को उपस्थित किया जाता है।

साधक को चाहिए कि वह अपने नाभि-कंद पर सोलह पत्रों वाले कमल की कल्पना करे। प्रत्येक पत्र पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः— इन सोलह स्वरों को अंकित करे और यह कल्पना करे कि उनकी यह पंक्ति भ्रमण कर रही है।

हृदय में चौबीस पत्रों वाले, कर्णिका-युक्त कमल की कल्पना करे। उस पर क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ., च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ़, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म— इनमें से क से भ तक के चौबीस व्यंजनों को कमल के चौबीस पत्रों पर और म को कर्णिका पर स्थापित कर चिंतन करे।

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-२३-२५.

२. योगशास्त्र, प्रकाश-७, श्लोक-२६-२८.

तीसरे आठ पत्र-युक्त कमल की मुख में कल्पना करे। उसके प्रत्यक पत्र पर क्रमशः य, र, ल, व, श, ष, स, ह– इन आठ व्यंजनों का चिंतन करे।

यह मातृका-ध्यान कहा जाता है। इसे करने से साधक श्रुत ज्ञान का पारगामी होता है। ये वर्ण अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है। जो ध्याता विधिपूर्वक इनका ध्यान करता है, उसके स्वल्पकाल में ही अतीत, वर्तमान, भविष्य तथा जीवन-मृत्यु आदि से संबंधित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[1]

इसके पश्चात् ग्रंथकार ने प्रणव, पंच परमेष्ठि मंत्र, पंच परमेष्ठि विद्या, पंच दशाक्षरी विद्या, सर्वज्ञाभ मंत्र, सप्तवर्ण मंत्र, हींकार-विद्या, क्ष्वीं-विद्या, शशिकला इत्यादि के ध्यान का विवेचन किया है।

३. रूपस्थ-ध्यान

रूप या आकृति के आधार पर जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं। राग, द्वेष तथा मोह आदि आत्मविकारों से वर्जित, शांतिमय, कांतिमय, मनोरम– मन को प्रिय लगने वाले, समस्त उत्तम लक्षणों से शोभित, अन्य मतावलंबी जिसे नहीं जानते, ऐसी योग मुद्रा से अलंकृत, नेत्रों से अमन्द आनंद का विलक्षण निर्मल स्रोत प्रवाहित करने वाले जिनेश्वर देव के दिव्य एवं भव्य रूप का शुद्ध चित्त से ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है।[2]

रूपस्थ ध्यान का परिणाम

जो योगी ध्यान का अभ्यास करने से तन्मयता प्राप्त कर लेता है, वह अपने आपको स्पष्टतया सर्वज्ञ के रूप में अवलोकित करने लगता है। उसका तात्पर्य यह है कि जब तक ध्याता का मन वीतराग भाव में परिणमन करता है, तब तक वह वीतराग भाव का ही अनुभव करता है।

उसकी चिंतन-धारा इस प्रकार गतिशील रहती है– 'जो सर्वज्ञ परमात्मा हैं, वास्तव में मैं नहीं हूँ', जिस योगी को इस प्रकार तन्मय हो जाने के कारण एकरूपता प्राप्त हो जाती है, वह योगी सर्वज्ञवत् माना जाता है।

जो योगी वीतराग प्रभु का ध्यान करता है, वह कर्मों और वासनाओं से छूट जाता है। इसके प्रतिकूल जो सराग का ध्यान करता है, वह स्वयं रागयुक्त बनकर काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि आत्मा को क्षुब्ध करने वाले विक्षोभों से युक्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि ध्यान का आलंबन जिस प्रकार का होता है, ध्याता के ध्यान की परिणति उसी रूप में होती है।[3]

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-८, श्लोक-१-५.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-९, श्लोक-८-१०.
३. योगशास्त्र, प्रकाश-९, श्लोक-११-१३.

४. रूपातीत-ध्यान

अमूर्त्त– आकार रहित, चिदानंदमय, चैतन्य-स्वरूप, निरंजन– कर्म आदि के आवरणों से रहित, रूपवर्जित सिद्ध परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान कहा जाता है।

जो योगी निराकार, निष्कर्म सिद्ध परमात्मा का ध्यान करता है, वह ग्राह्य,-ग्राहक-भाव अथवा ध्येय और ध्याता के भाव से– विकल्प से रहित होकर तन्मयता– सिद्ध-स्वरूपमयता या सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है।

जब ध्याता ग्राह्य-ग्राहक-भाव से अतीत होकर सिद्ध भगवान् के साथ तन्मय हो जाता है, तब कोई भी आलंबन बाकी नहीं रहता। वह सिद्ध परमात्मा में इस प्रकार लीन हो जाता है कि ध्याता और ध्यान– दोनों विकल्प विलुप्त हो जाते हैं और ध्येय या सिद्ध स्वरूप के साथ उसकी एकरूपता घटित हो जाती है।

आत्मा अभिन्न होकर, एकरूप होकर परमात्म-स्वरूप में लीन हो जाती है। ध्याता और ध्येय का इस प्रकार एकरूपता पाना समरसी भाव कहलाता है।[१]

मनोनुशासनम् में आचार्य तुलसी ने इन चारों ध्यानों का संक्षेप में विवेचन किया है। यहाँ स्थूल और सूक्ष्म शरीर की संवेदनाओं की क्रियाओं तथा मानसिक वृत्तियों की ओर जो संकेत करता है, वह साधक के लिए वास्तव में प्रेरणाप्रद है।[२]

विमर्श

रूपातीत ध्यान, ध्यान-साधना का परकाष्ठामय रूप है। जब ध्यान-योगी तन्मयतापूर्वक सिद्ध भगवान् के स्वरूप का चिंतन करता है और जब वह चिंतन परिपक्व हो जाता है, तब ध्याता, ध्येय और ध्यान का विकल्प और भेद मिट जाता है। इन तीनों में एक अविच्छन्न सातत्यपूर्ण एकरूपता की अनुभूति होने लगती है। वह आत्मा के सच्चे आध्यात्मिक आनंद एवं समरसी भाव की स्थिति है।

ध्यान का क्रम

साधक को पहले आलंबन सहित पिंडस्थ, पदस्थ आदि लक्ष्य-युक्त ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। पहले स्थूल ध्येयों का चिंतन करना चाहिए, फिर क्रमशः सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर ध्येयों का चिंतन

---

१. (क) योगशास्त्र, प्रकाश-१०, श्लोक-१-४.
(ख) पंचपरमेष्ठि मंत्रराज ध्यानमाला तथा अध्यात्मसार माला, पृष्ठ : २१७.
२. मनोनुशासनम्, पृष्ठ : १०८.

करना चाहिए। इस प्रकार सालंबन ध्यान से निरालंबन ध्यान में जाना चाहिए। ऐसा करने वाला साधक तत्त्वविद् हो जाता है।

जो योगी पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत– इन चार प्रकार के ध्यान रूप अमृत में निमग्न हो जाता है, वह जगत् के तत्त्वों का साक्षात्कार कर आत्म-विशुद्धि प्राप्त कर लेता है। आत्मा को सर्वथा शुद्ध बना लेता है।[1]

मनोजय के संदर्भ में अनुभूतिमूलक निरूपण

आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र के बारहवें प्रकाश के प्रारंभ में लिखा है–

मैंने शास्त्र रूपी समुद्र से और सद्गुरु के मुख से जो जाना, उसका यहाँ तक– ग्यारहवें प्रकाश तक सम्यक् विवेचन किया है। अब मैं अपनी अनुभूति के आधार पर सिद्ध– निर्मल या शुद्ध तत्त्व पर प्रकाश डालूंगा।[2]

इस सूचना के पश्चात् वे मन के भेदों का वर्णन करते हैं, क्योंकि योग का मुख्य आधार, केंद्र मन है। मन की अवस्थाओं को जानना और उन्हें उच्च, ऊर्ध्व स्थिति में पहुँचाना योगी के लिए आवश्यक है। अन्यथा योग सध नहीं पाता।

आचार्य हेमचंद्र ने अपने अनुभव के आधार पर मन के चार भेद बताए हैं। विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन। उन्होंने कहा है कि जो मनोजय की दिशा में उद्यत हैं, उन्हें इन भेदों को समझना बहुत लाभप्रद है।

विक्षिप्त एवं यातायात मन

विक्षिप्त का अर्थ विचलित, अस्थिर या चंचल है। जो मन चंचलता-युक्त रहता है, भ्रमण करता रहता है, वह विक्षिप्त कहा जाता है।

यातायात का अर्थ जाना और आना है। जो मन कभी बाहर जाता है तो कभी अंतश्चित होता है, वह यातायात कहा जाता है। वह कुछ आनंदमयता लिए रहता है।

जो योगाभ्यास के प्रारंभिक साधक हैं, उनमें चित्त की ये दोनों स्थितियाँ विद्यमान रहती हैं। सबसे पहली अवस्था में चित्त चंचल रहता है। इससे अचंचल या स्थिर बनाने का अभ्यास करते रहने से धीरे-धीरे चंचलता के साथ कुछ-कुछ स्थिरता, अचलता आने लगती है। मन के ये दोनों भेद चैतसिक विकल्पों के साथ बाहरी पदार्थों को भी ग्रहण करते रहते हैं।

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-१०, श्लोक-५,६.

२. योगशास्त्र, प्रकाश-१२, श्लोक-१.

श्लिष्ट तथा सुलीन मन

योगाभ्यासी यातायात मन को सतत् अभ्यास द्वारा स्थिर बना लेता है। इसके होने से वह आनंदमय हो जाता है, तब उसकी श्लिष्ट-संज्ञा होती है।

श्लिष्ट-चित्त में क्रमशः स्थिरता बढ़ती जाती है। वह अत्यंत स्थिर हो जाता है। अत्यधिक स्थिरता के परिणामस्वरूप उसमें परमानंद उद्योतित होता है। वह परमानंदमय बन जाता है तथा सुलीन संज्ञा पा लेता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि जैसे-जैसे क्रमशः स्थिरता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आनंद की धारा वृद्धिंगत होती जाती है। अत्यंत स्थिरता परमानंद के रूप में प्रस्फुटित होती है।

अंत में ग्रंथकार लिखते हैं–

योगभ्यासी साधक को क्रमशः अपना अभ्यास बढ़ाना चाहिए। विक्षिप्त से यातायात में पहुँचना चाहिए। यातायात से श्लिष्ट तथा तदनंतर उसी क्रम से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। वैसे अभ्यास करते रहने से निरालंबन-ध्यान सिद्ध हो जाता है, जहाँ बाह्य आलंबन की आवश्यकता नहीं रहती।

निरालंबन ध्यान से समरसता प्राप्त होती है, परमानंद की अनुभूति होती है।[2]

ध्यान द्वारा ध्येय तत्त्व सिद्ध होता है। ध्येय तत्त्व सालम्बन (आलंबन सहित) एवं निरालंबन (आलंबन रहित) रूप से दो प्रकार का है।

पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ सालम्बन ध्यान में तथा रूपातीत निरालम्बन ध्यान में परिगृहीत हैं।[3]

विशेष

आचार्य हेमचंद्र बहुत बड़े दार्शनिक और लेखक होने के साथ-साथ योग के उत्कृष्ट साधक भी थे, जो उनके स्वानुभूतिमूलक विचारों से प्रगट होता है।

योगाभ्यास का आधार मन है। मन की अवस्थाओं को भलीभाँति समझे बिना, मानसिक दृष्टि से उच्च भूमिका में पहुँचे बिना योग-साधना संभव नहीं है।

ये मन के उपर्युक्त भेद इसी के उद्‌बोधक हैं।

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-१२, श्लोक-१-४.
२. योगशात्र, प्रकाश-१२, श्लोक-५.
३. योग प्रयोग अयोग, पृष्ठ : २२५.

शुक्ल-ध्यान : उत्कर्ष : भेद

जैन शास्त्रों में ध्यान के चार भेद हैं– आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्त्त एवं रौद्र त्याज्य हैं, वे अशुभ और संसार-वर्धक हैं। जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते, जो राग, द्वेष और मोह से पीड़ित होते हैं, उन जीवों की ध्यानगत स्वच्छन्द प्रवृत्ति अप्रशस्त है।[1] धर्म और शुक्ल ग्राह्य हैं। धर्म-ध्यान स्वर्ग का कारण है, मोक्ष की ओर साधक को अग्रसर करता है। शुक्ल-ध्यान[2] मोक्ष का अद्वितीय हेतु है।

"शुक्ल-ध्यान, ध्यान की सर्वोच्च निर्मल दशा है। जो चिन्तन आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर करता है और आत्मा को शुद्ध व पवित्र बनाता है, वह शुक्ल-ध्यान है। शुक्ल-ध्यान सीधे सिद्ध गति में ले जाता है।"[3]

शुक्ल-ध्यान वज्रऋषभनाराच संहनन-युक्त तथा पूर्वश्रुत के धारक मुनि ही करने में सक्षम होते हैं। अल्प सामर्थ्य वाले मनुष्य को यह संभव नहीं है।[4]

शास्त्रों में शुक्ल-ध्यान के चार भेद हुए हैं–

१. पृथक्त्व-श्रुत-सविचार　　२. एकत्व-श्रुत-अविचार

३. सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति　　४. समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाति।[5]

१. पृथक्त्व-श्रुत-सविचार

परमाणु आदि किसी एक द्रव्य में उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य आदि पर्यायों का द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों के अनुसार पूर्वगत श्रुत के आधार पर चिंतन करना, ध्यान करना पृथक्त्व-श्रुत-सविचार कहा जाता है।

ध्याता इस ध्यान में कभी अर्थ का चिंतन करते-करते शब्द का चिंतन करने लगता है। कभी शब्द का चिंतन करते-करते अर्थ का चिंतन करने लगता है।

इसी प्रकार मन के योग से काय के योग में या वचन के योग में, काय के योग से मन के योग में या वचन के योग में एवं वचन के योग से मन के योग में या काय के योगों में संक्रमण करता रहता है। यद्यपि संक्रमण तो भिन्न रूप में होता है, किंतु ध्येय पदार्थ एक ही होता है।[6]

---

१. जैन ज्ञानकोश भाग-१, पृष्ठ : १३०.
२. जैन ज्ञान कोश, भाग-४, पृष्ठ : २६०.
३. अभिधानराजेन्द्रकोश में, जैनदर्शन वाटिका, पृष्ठ : २२६.
४. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-१,२.
५. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-५.
६. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-६.

२. एकत्व-श्रुत-अविचार

इसमें श्रुत के अनुसार अर्थ, शब्द आदि पर संक्रमण नहीं किया जाता, एक ही पर्याय विषयक ध्यान किया जाता है। इसलिए इसे एकत्व-श्रुत-अविचार कहा जाता है।[1]

अनुचिन्तन

शास्त्रीय मान्यता यह है कि प्रथम और द्वितीय शुक्ल-ध्यान साधारणतया उन मुनियों को होता है, जो पूर्वधर होते हैं, किंतु कभी-कभी पूर्वज्ञान के अभाव में अन्य ज्ञान के आधार से भी हो सकता है।

पहले में शब्द, अर्थ एवं योगों का उलट फेर या परिवर्तन होता रहता है, स्थिरता नहीं रहती, पर दूसरे में वैसा परिवर्तन नहीं होता, विशिष्ट रूप में स्थिरता आ जाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रथम भेद में एक द्रव्य के भिन्न-भिन्न पर्यायों पर चिंतन होता है, किंतु दूसरे भेद में भिन्न-भिन्न पर्यायों पर चिंतन नहीं होता, एक ही पर्याय पर चिंतन होता है।

३. सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति

जब मुक्ति-गमन का समय समीप आ जाता है, सर्वज्ञ प्रभु तब मन-योग का, वचन-योग का तथा स्थूल-काय-योग का अवरोध कर लेते हैं। मात्र श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही अवशिष्ट रहती है। उसमें जो ध्यान सधता है, उसे सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति ध्यान कहा जाता है।[2]

४. समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाति

जिस समय सर्वज्ञ प्रभु को शैल या पर्वत की तरह परिणामों की निश्चलता प्राप्त होती है, जिसे शास्त्रों में शैलेशीकरण कहा जाता है, तब जो सिद्ध होता है, उसे समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाति कहा जाता है।[3]

केवली के साथ ध्यान का संबंध

मन की स्थिरता या एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है, किंतु तृतीय एवं चतुर्थ शुक्ल-ध्यान के अवसर पर मन विद्यमान नहीं होता, ऐसी स्थिति में ध्याता को ध्यान कैसे सध सकता है?

इसका समाधान यह है कि मन तो नहीं होता, किंतु शरीर तो होता है। जिस प्रकार मन एक

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-७.
२. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-८.

योग है, काय भी एक योग है। तब जो काय या शरीर की स्थिरता सिद्ध होती है, उसे स्थिरता के आधार पर ध्यान मानना संगत है। अत एव जिस प्रकार छद्मस्थ (असर्वज्ञ) के मन की स्थिरता को ध्यान कहा जाता है, उसी प्रकार केवली (सर्वज्ञ) की कायिक स्थिरता– निश्चलता को भी ध्यान[1] कहा जाता है।

अयोगी के साथ ध्यान का संबंध

जब साधक चतुर्दश गुणस्थान में पहुँचता है, तब आत्मा के मानसिक, वाचिक एवं कायिक योग निरुद्ध हो जाते हैं। अयोगावस्था में विद्यमान केवली में योग का अस्तित्व नहीं रहता। इसी कारण उन्हें अयोगी कहा जाता है। फिर भी वहाँ ध्यान का होना कहा गया है। इसका कारण यह है कि जैसे घड़े बनाने वाले कुंभकार का चक्र, जो पहले घुमाया हुआ हो, फिर न घुमाने पर भी पहले के अभ्यास के कारण घूमता रहता है, उसी तरह मन, वचन, काय के योगों के न होने पर भी पहले के अभ्यास के कारण अयोगी में भी ध्यान होना माना जाता है।

अयोगावस्था में भी केवली में उपयोगात्मक भाव-मन का अस्तित्व रहता हैं। अत एव उनमें भाव-मन के कारण ध्यान होना स्वीकार किया जाता है।

जैसे किसी को पुत्र नहीं है, किंतु पुत्र द्वारा करने योग्य कार्य कोई दूसरा व्यक्ति करता है तो लोग उसे पुत्र कहते हैं, क्योंकि वहाँ वह कार्य हो रहा है, जो पुत्र करता है। उसी तरह ध्यान का कार्य 'कर्मों की निर्जरा' वहाँ विद्यमान है। अत: निर्जरा रूप कार्य का कारण रूप ध्यान वहाँ माना जाता है।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। ध्यान शब्द ध्येय-धातु से बना है। इसका एक अर्थ चिंतन करना या ध्यान करना है। उसका दूसरा अर्थ निरोध करना भी है और योग-रहित होना भी इसका अर्थ है। अत: योग रहितता के अनुसार अयोगी केवली में भी ध्यान होना स्वीकार किया गया है।

जिनेश्वर देव ने अयोगी केवली अवस्था में भी ध्यान सधना प्रतिपादित किया है। अत एव वहाँ ध्यान का अस्तित्व संगत है।[2]

शुक्ल-ध्यान की फल-निष्पत्ति

उपर्युक्त ध्यान विषयक विवेचन के परिप्रेक्ष्य में यह ज्ञातव्य है कि जब ध्यान रूप अत्यंत उज्ज्वल, प्रबल अग्नि प्रज्वलित होती है, तो यतीन्द्र– योगी शिरोमणी के समस्त घाति कर्म क्षण भर में विलीन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उनके एकत्व-वितर्क शुक्ल-ध्यान के परिणाम-स्वरूप ज्ञानावरण,

१. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-११.

२. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-१२.

दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय– ये चारों कर्म अंतर्मुहूर्त्त के स्वल्पकाल में ही सर्वथा क्षीण हो जाते हैं।

इसके परिणाम-स्वरूप योगी को, साधकवर्य को केवल ज्ञान, केवल दर्शन, जिन्हें प्राप्त कर लेना बड़ा कठिन है, प्राप्त हो जाते हैं। उस ज्ञान, दर्शन द्वारा वे समस्त लोक एवं आलोक को ज्ञात और आलोकित कर लेते हैं। भूमंडल पर जीवों को उद्‌बोधन करते हुए पर्यटन करते हैं।[1]

केवली की उत्तर क्रिया और समुद्‌घात

केवल ज्ञान और केवल दर्शन से युक्त योगी के जब मनुष्य-भव संबंधी आयुष्य अंतर्मुहूर्त्त-प्रमाण बाकी रहता है, तब सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्ल-ध्यान होता है, जिसका पहले परिचय दिया गया है।

यदि उनके आयुष्य-कर्म की तुलना में नाम कर्म, गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है तो वे उनका सामंजस्य करने के लिए समुद्‌घात करते हैं।[2]

विशेष

समुद्‌घात जैन शास्त्रों का एक पारिभाषिक शब्द है, जो सम्+उत्+घात– इन तीन शब्दों से मिलकर बनता है। सम् का अर्थ सम्यक् या अच्छी तरह से है। उत् का अर्थ उत्कृष्टता या प्रबलता से है। घात का अर्थ कर्मों को ध्वस्त करना है। जहाँ इस रूप में कर्मों का क्षय किया जाता है, उसे समुद्‌घात कहते हैं। समुद्‌घात द्वारा नाम कर्म, गोत्र कर्म तथा वेदनीय कर्म की स्थिति का और उनके रस विपाक का नाश हो जाता है। उसके परिणाम-स्वरूप उन कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म के सदृश हो जाती है।

समुद्‌घात का विधि-क्रम

केवली भगवान् पहले समय में अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर, फैलाकर ऊपर एवं नीचे लोकांत तक दंड के आकार में बना लेते हैं या दंड की तरह फैला लेते हैं। वे दूसरे समय में पूर्व तथा पश्चिम दिशा में लोकांतपर्यंत अपने आत्म-प्रदेशों का कपाट– किवाड़ की तरह विस्तार करते हैं। तीसरे समय में दक्षिण और उत्तर दिशा में अपने आत्म-प्रदेशों को मंथान की तरह विस्तीर्ण कर देते हैं तथा चौथे समय में, वे समस्त लोक के बीच के अंतरों को आत्म-प्रदेशों से भर देते हैं। इस प्रकार

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-२१-२४.
(ख) ज्ञानार्णव, सर्ग-४२, श्लोक-४३-४७.

२. (क) योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-४९, ५०.

सारा लोक उनके आत्म-प्रदेशों से परिव्याप्त हो जाता हैं। फिर वे नाम आदि कर्मों को आयुष्य कर्म के समान बनाकर उलटे क्रम से अपने आत्म-प्रदेशों का संहरण करते हैं। पाँचवें समय में वे लोक के बीच के अंतरों में फैले हुए आत्म-प्रदेशों को खींचते हैं। छठे समय में दक्षिण एवं उत्तर दिशाओं में विस्तीर्ण आत्म-प्रदेशों को संहृत करते हैं। सातवें समय में पूर्व एवं पश्चिम दिशाओं में फैले हुए अपने आत्म-प्रदेशों को वापस खींचते हैं। आठवें समय में समस्त आत्मप्रदेशों को पहले की तरह स्व-शरीर-व्यापी बना लेते हैं। इस प्रकार समुद्घात की क्रिया या विधि निष्पन्न होती है।[1]

अनुचिन्तन

समुद्घात की प्रक्रिया जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के प्रदेशों में संकुचित होने और विस्तीर्ण होने की विलक्षण क्षमता है। जैसा अवकाश प्राप्त होता है, तदनुरूप आत्म-प्रदेश संकुचित हो जाते हैं या विस्तीर्ण हो जाते हैं। उदाहरणार्थ एक हाथी के अगले जन्म में चींटी के रूप में उत्पन्न होने का आयुष्य बंधा हो तो जो आत्म-प्रदेश हाथी की देह में सर्वत्र व्याप्त थे, वे सारे चींटी की देह में संकुचित होकर व्याप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार एक कीटाणु के यदि वृषभ या मेष का आयुष्य बंधा हो तो उसके आत्म प्रदेश– जो उसकी देह में संकुचित या संकीर्ण रूप में व्याप्त थे, वे वृषभ या मेष की देह में विस्तार के साथ फैल जाते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आत्म-प्रदेश अमूर्त्त होते हैं।

योगों का सर्वथा निरोध

समुद्घात करने के पश्चात् आध्यात्मिक श्री, विभूति या वैभव से संपन्न तथा अचिंत्य– जिसके संबंध में सोचा तक नहीं जा सकता, ऐसे अपरिमित वीर्य– आत्मपराक्रम से युक्त योगी बादर काय-योग का अवलंबन कर बादर वचन-योग और बादर मनोयोग का शीघ्रता से निरोध करते हैं।

पुनः सूक्ष्म काय-योग में स्थित होकर बादर काय-योग को रोकते हैं, क्योंकि बादर काय-योग को रोके बिना सूक्ष्म काय-योग का निरोध करना संभव नहीं होता।

तत्पश्चात् सूक्ष्म काय-योग का अवलंबन कर सूक्ष्म मनो-योग और सूक्ष्म वचन-योग का निरोध करता है। पुनश्च सूक्ष्म काय-योग द्वारा सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्ल-ध्यान सिद्ध होता है।

तदनन्तर अयोगी– योग रहित केवली प्रभु समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाति नामक चतुर्थ शुक्ल-

१. (क) योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-५१, ५२. (ख) त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृष्ठ : १०५-१०८.

ध्यान को प्राप्त होते हैं, जिसके अंत में बाकी रहे चारों अघाति कर्म क्षीण हो जाते हैं, निर्वाण– मुक्ति या सिद्धत्व प्राप्त हो जाता है।[1]

समीक्षा

जैसा यथाप्रसंग संकेत किया गया है– आध्यात्मिक यात्रा का अंतिम लक्ष्य सिद्धावस्था है। उसे प्राप्त करने के शास्त्रों में साधनामूलक अनेक विधिक्रम व्याख्यात हुए हैं। मूल बात यह है कि आत्मा का परमज्ञानमय, आनंदमय, शांतिमय, ज्योतिर्मय स्वरूप कार्मिक आवरणों से आछन्न है। वह आछन्नता ही संसार का हेतु है। जब तक यह आछन्नता संपूर्ण रूप में विनाश नहीं पाती, क्षीण नहीं होती, तब तक आत्मा संसार के बंधनों में परिबद्ध रहती है। उन बंधनों को तोड़ना ही आत्मा का अंतिम साध्य है। उन्हें कोई और नहीं तोड़ सकता, स्वयं आत्मा को ही उन्हें तोड़ना होगा, उनका नाश करना होगा।

ये कर्मरूपी शुत्रु बड़े प्रबल हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय उन्हें बल प्रदान करते हैं। उनके साथ जूझने के लिए बहुत बड़ी आत्मशक्ति की, आंतरिक बल की आवश्यकता है। उस शक्ति को उद्दीप्त करना, बल को जागरित करना साधक का कर्तव्य है।

योग इसे प्राप्त करने का मार्ग है। जैसा चर्चित हुआ है, महान् जैन आचार्यों ने जैन साधना पद्धति को जैन योग के रूप में प्रस्तुत किया।

बात एक ही है। आत्मा के बंधन को तोड़ना है, किंतु जिनकी रुचि योग में होती है, उन्हें योग का मार्ग प्रिय होता है। योग में ध्यान का महत्त्व है।

जैन योग पर लिखने वाले आचार्यों ने पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत[2] आदि के रूप में ध्यान का विशद विवेचन किया, उनके अभ्यास का धारणाओं आदि के माध्यम से मार्ग प्रशस्त किया। ध्यान, मनोजय आदि से संबद्ध अपने अनुभूत तथ्यों का भी उल्लेख किया। उनके संदर्भ में भी इस अध्याय में विश्लेषण-समीक्षण किया गया है।

ध्यानमूलक साधना पथ पर आगे बढ़ता-बढ़ता साधक जब शुक्ल-ध्यान में अग्रसर होता है, तब वह क्रमशः समस्त बाह्य भावों को छोड़ता जाता है, समस्त दुःखों, बंधनों तथा विघ्नों से रहित हो जाता है।[3]

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश-११, श्लोक-५३-५६.१. २. ज्ञानार्णव, सर्ग-३७, श्लोक-१.
३. (क) सर्वार्थ सिद्धि-९.२८.४४५.११. (ख) धवला-१३.५, ४, २६.७७.९. (ग) द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ : ५६.
(घ) नियमसार, तात्पर्या वृत्ति-१२३. (ङ) प्रवचनसार, तात्पर्या वृत्ति ८, १२.

'शुचं क्लमयति– अपनयतीति शुक्लम्'– के अनुसार जो दुःख या शोक को समाप्त कर देता है, वह शुक्ल है। शुक्ल की यह व्युत्पत्ति यहाँ सार्थकता पा लेती है। साधक शुद्ध परमात्म-भाव में संप्रतिष्ठ हो जाता है। साधना परिपूर्ण हो जाती है। साधक सिद्धत्व से विभूषित हो जाता है। फिर किसी भी प्रकार का कोई दुःख अवशिष्ट नहीं रह जाता।

ध्यान-बिन्दु-उपनिषद् में सुषुम्ना-पथवर्ती कमलों पर ध्यान करने का निरूपण हुआ है। नाभि, हृदय, ललाट आदि पर विविध कमलों की कल्पना की गई है। उनके आधार पर ध्यान करने का विशेष क्रम वर्णित हुआ है, जो मननीय है, जैन आचार्यों द्वारा प्ररूपित पिण्डस्थ ध्यान की आग्नेयीय आदि धारणाओं के साथ तुलनीय है।[१]

सार-संक्षेप

जैन मनीषियों का चिंतन बड़ा उर्वर और विशिष्ट रहा है। उन्होंने जैन तत्त्वों और साधना की पद्धतियों को अनेक रूपों में व्याख्यात करने का सत्प्रयास किया है, जिससे भिन्न-भिन्न रुचि के साधक अपनी-अपनी भावनानुसार साधना का मार्ग अपना सकें।

एक समय था जब भारत में पातंजल योग की पद्धति के अनुरूप, अपने-अपने सिद्धान्तानुसार विभिन्न धार्मिक परंपराओं में साधना-क्रम गतिशील हुए। पातंजल– योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि के रूप में आठ अंगों के माध्यम से चित्त-वृत्तियों के निरोध तथा परिष्कार का मार्गदर्शन देता है।

चित्त-वृत्तियों का विशुद्धीकरण साधना में, योगाभ्यास में बहुत आवश्यक है। ध्यान का तो साधना में अत्यंत महत्त्व है ही, यम– जो व्रतों के समकक्ष हैं, नियम– जो उनके सहायक और परिपोषक हैं, साधना में आवश्यक माने गए हैं।

योगाभ्यास में संप्रविष्ट होने की भूमिका स्वायत्त करने के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने जीवन में अहिंसा, सत्य, संतोष, ब्रह्मचर्य तथा निर्लोभ-वृत्ति को स्वीकार करे। वह विधिवत् बैठना-उठना सीखे, श्वास-प्रश्वास का नियमन करना जाने, इंद्रियों की योगोन्मुख चंचल वृत्तियों को भोगों से प्रत्याहृत कर आत्मोन्मुखी बनाए।

जैन आगमों में इन सबके मूल बीज प्राप्त हैं। जैन जगत् के महान् मनीषी, सुप्रसिद्ध ग्रंथकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने जैन योगमूलक एक विशिष्ट पद्धति की प्रतिष्ठापना की। इस दृष्टि से निरूपित आठ योगदृष्टियाँ योग के क्षेत्र में उनकी महान् देन है।

---

१. ध्यान-बिंदु-उपनिषद्, श्लोक-१२-१४ : कल्याण (मासिक, उपनिषद्-अंक) पृष्ठ : ६६६, ६६७.

तत्पश्चात् आचार्य हेमचंद्र और आचार्य शुभचंद्र आदि मनीषियों ने जैन योग का विकास किया।

प्रस्तुत अध्याय में आठ योगदृष्टियों को केन्द्र में रखते हुए जैन योग के स्वरूप का विवेचन किया गया है। धारणा, ध्यान, तथा समाधि आदि का भी समीक्षात्मक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है।

धर्म-ध्यान द्वारा आत्मोपासना के पथ पर अग्रसर होते हुए, शुक्ल-ध्यान में संप्रवेश इत्यादि का यहाँ प्रतिपादन किया गया है। साधना का अंतिम लक्ष्य सिद्धत्व का साक्षात्कार है। योगदृष्टियों के अन्तर्गत यह अन्तिम परादृष्टि में सिद्ध होता है। सामाधि एवं शुक्ल-ध्यान जब उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचते हैं, तब समस्त कार्मिक आवरण ध्वस्त हो जाते हैं, सिद्धत्व अधिगत हो जाता है, जो प्रस्तुत शोध-ग्रंथ का विवेच्य विषय है।

भारतीय संस्कृति में वैदिक एवं जैन परंपरा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समग्र दु:खों का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक विनाश परमशांति, परमानंद एवं परमसुख इनका लक्ष्य है। वैसी दशा की उपपत्ति क्रमश: ब्रह्मसाक्षात्कार या सिद्ध-पद प्राप्ति द्वारा अभिहित होती है। जिस प्रकार जैन वाङ्मय में सिद्ध-पद का अनेक अपेक्षाओं से विस्तृत विवेचन हुआ है, वैदिक साहित्य में भी विविध रूप में ब्रह्म का विवेचन हुआ है। सिद्धत्व की भाँति परब्रह्मत्व साधक का सर्वोपरि लक्ष्य है। इन दोनों के विवेचन में विविध दृष्टिकोणों को लेते हुए सादृश्य एवं सामीप्य दृष्टिगोचर होता है, किंतु तात्त्विक दृष्टि से कुछ ऐसी विसदृशता भी परिलक्षित होती है, जिसका सूक्ष्म अध्ययन परम आवश्यक है।

'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध:'– के अनुसार इस विषय के सूक्ष्म अध्ययन एवं अनुशीलन से तात्त्विक बोध के रूप में साधक को एक अन्त:स्फूर्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा वह अपने मंतव्यानुरूप गंतव्य-पथ पर अग्रसर होता हुआ प्राप्य को प्राप्त कर लेता है और साध्य को सिद्ध कर लेता है। सप्तम अध्याय में इसी विषय पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से वर्णन किया जाएगा। प्रासंगिक रूप में अन्य परंपराओं के विचार बिन्दु भी सविमर्श उपस्थापित किए जाएंगे।

सप्तम अध्याय

सिद्धत्वोपलब्धि, ब्रह्मसाक्षात्कार एवं परिनिर्वाण

जीवन का चरम साध्य

पूर्ववर्ती अध्यायों में सिद्ध-पद का जैनागमों, प्राकृत एवं संस्कृत-ग्रंथों आदि के आधार पर बहुमुखी विश्लेषण किया गया है। सिद्धों के स्वरूप, अवस्थान, वैशिष्ट्य आदि की विस्तार से चर्चा की गई है। सिद्धत्व जीवन का परमलक्ष्य है। साधक की साधना उसकी स्वायत्तता में पर्यवसान पाती है।

अन्यान्य धार्मिक परंपराएँ भी उसी प्रकार एक परम साध्य को लक्षित कर अग्रसर होती हैं। इस संदर्भ में भारतीय धर्मों में सूक्ष्म चिंतन हुआ है। जिस प्रकार जैन धर्म में सिद्धत्व का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है, वैदिक वाङ्मय में भी ब्रह्म पर विशद विवेचन हुआ है। उसका साक्षात्कार जीवन की साधना का अन्तिम फल है। जिस प्रकार सिद्धत्व प्राप्त कर लेने पर भव-चक्र– जन्म, मरण मिट जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेने पर संसार में आवागमन समाप्त हो जाता है। वह परमशांतिमय, परमानंदमय स्थिति है। वह आनंद पदार्थेतर– निरपेक्ष सहजानंद होता है। वहाँ समस्त दुःख निवृत्त हो जाते हैं।

बौद्ध-दर्शन में उसे निर्वाण कहा है। इतना अंतर है कि अधिकांशतः बौद्ध दुःख-निवृत्ति में ही लक्ष्य की परिपूर्णता मानते हैं। बौद्ध दर्शन में स्वीकृत महाशून्य, जो शब्दों द्वारा व्याख्यात नहीं किया जा सकता, एक ऐसी स्थिति है, जो सुख-दुःखात्मकता से अतीत है, क्योंकि सुख का अस्तित्व मान लेने पर शून्यत्व की सिद्धि नहीं होती।

उत्तरवर्ती साधनामूलक विधाओं में भी परम तत्त्व का निरूपण प्राप्त होता है। निर्गुणमार्गी संत-परंपरा में कबीर, नानकदेव, दादूदयाल, दरियाव साहब आदि संतों ने उस संबंध में विशेष रूप से लिखा है, जो उनकी वाणियों में प्राप्त है।

बाह्योपचार तथा कर्मकाण्ड को साधना में अनपेक्षित मानते हुए उन्होंने सत्-तत्त्व के अनुसंधान और अनुभवन पर विशेष बल दिया।

आनन्दघनजी आदि जैन संतों ने भी अर्हत्-भक्ति को कुछ उसी प्रकार की विधा में शब्द-बद्ध किया है।

सिद्धत्व के तात्त्विक विवेचन से प्रारंभ कर विशेषतः इस अध्याय में ब्रह्म-तत्त्व तथा अन्यान्य परंपराओं में स्वीकृत परम तत्त्व का संक्षेप में परिचय कराते हुए सिद्धत्व के साथ उनका समीक्षण किया जाएगा।

शुद्धोपयोग से सिद्धत्व

आचार्य कुंदकुंद ने प्रवचनसार में शुद्धोपयोग का बहुत ही मार्मिक विश्लेषण किया है। शुद्धोपयोग सिद्धत्व प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होने का अनन्य साधन है। उन्होंने लिखा है–

धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो वह मोक्ष-सुख को प्राप्त करती है। यदि वह शुभोपयोग युक्त हो तो स्वर्ग के सुख को प्राप्त करती है, जो बंध रूप है।

अशुभ के उदय से आत्मा निम्नकोटि के मानव, तिर्यंच और नैरयिक होकर सहस्रों दुःखों से पीड़ित होकर संसार में भ्रमण करती है, भटकती है।

शुद्धोपयोग से युक्त आत्माओं का, केवली और सिद्धों का सुख अतिशय– आत्म-समुत्थ या आत्मोत्पन्न होता है। जिसने अपने शुद्ध आत्मादि पदार्थों को सम्यक् जान लिया है, जो संयम और तप से युक्त है, राग से रहित है, सुख और दुःख में समान है, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी या शुद्धोपयोगवर्ती कहा गया है।

जो उपयोग-विशुद्ध या शुद्धोपयोग युक्त है, वह आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय और मोहरूप कर्म-रज से रहित हो जाती है।

वह अपने स्वभाव को प्राप्त कर सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेती है और तीनों लोकों के अधिपतियों से पूजित होती हुई स्वयंभू– परमशुद्धावस्था प्राप्त कर लेती है। ऐसा श्री जिनेश्वर देव ने प्रतिपादित किया है।

उस शुद्ध स्वभाव को प्राप्त आत्मा का विनाश-रहित उत्पाद है और उत्पाद-रहित विनाश है। उसमें स्थिति, उत्पाद और विनाश का समवाय– एकत्व विद्यमान है। अर्थात् 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं सत्'– यह सिद्धांत शुद्ध-भाव को प्राप्त आत्मा में सहज रूप में घटित होता है।[1]

जिस आत्मा के घाति कर्म प्रक्षीण हो चुके हैं, जो इंद्रियातीत है, अनंतवीर्य, अनंत उत्तम बल या शक्ति-युक्त है तथा केवल ज्ञान या केवल दर्शन से युक्त है, ऐसी शुद्ध आत्मा ज्ञान और सुख रूप में परिणमन करती है।

केवल ज्ञानी के देहगत– शरीर विषयक सुख एवं दुःख नहीं है, क्योंकि उनमें अतीन्द्रियत्व उत्पन्न है। वास्तव में ज्ञान रूप में परिणमित होते हुए केवली भगवान् के पर्याय प्रत्यक्ष तथा साक्षात् हैं। वे उन्हें अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा रूप क्रियाओं द्वारा नहीं जानते हैं। जो सदैव इंद्रियातीत हैं, जो समस्त आत्म-प्रदशों द्वारा सर्व इन्द्रिय-गुणों से युक्त हैं अर्थात् जिनके आत्म-प्रदेश इंद्रियों का काम

१. प्रवचनसार, गाथा-११-१७, पृष्ठ : १७-१९.

करते हैं, जो स्वयमेव ज्ञानरूप हैं, उन सर्वज्ञ प्रभु के लिए कुछ भी परोक्ष नहीं है।

आत्मा ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है। लोक और अलोक ज्ञेय हैं। इसलिए ज्ञान सर्वगत या सर्वव्यापी है।[1]

साधु आगम रूप चक्षुष्मान् हैं अर्थात् आगम ही उनके नेत्र हैं। सब प्राणी इंद्रिय चक्षुष्मान् हैं अर्थात् वे इंद्रियों द्वारा जानते हैं, देखते हैं। देव अवधि चक्षुष्मान् हैं, वे अवधिज्ञान द्वारा देखते हैं तथा सिद्ध सर्वत्: चक्षुष्मान् हैं, सब ओर से, सर्वात्म प्रदेशों से देखते हैं।[2]

अज्ञानी जो कर्म सैकडों, हजारों, लाखों और करोड़ों भवों में खपाता है, मन, वचन एवं काय गुप्त– मानसिक, वाचिक एवं कायिक दृष्टि से संपूर्णत: संयम के परिपालक ज्ञानी, उच्छ्वास मात्र में– श्वास लेने में जितना समय लगता है, उतने में उन्हें खपा देता है।

जिसके देह आदि के प्रति परमाणु मात्र भी मूर्च्छा– आसक्ति होती है, वह चाहे समस्त आगमों का धारक हो, ज्ञानी हो, फिर भी वह सिद्धत्व, मुक्तत्व प्राप्त नहीं करता।[3]

समीक्षा

आचार्य कुंदकुंद आध्यात्म के महान् व्याख्याता थे। उन्होंने अशुभ, शुभ और शुद्धोपयोग का बड़ा ही अंत:स्पर्शी वर्णन किया है। अशुभ पापमय है और शुभ पुण्यमय है। अशुभ का फल नरक, तिर्यंच आदि कष्टपूर्ण गतियाँ है। शुभ या पुण्य का फल सुख-समृद्धिमय मानव-गति तथा देव-गति है। देव-गति में भौतिक सुखों की पराकाष्ठा है, किंतु वह भी बंधनात्मक है।

व्यक्ति जितना भौतिक सुखों को भोगता जाता है, नए कर्म बांधता जाता है। उनमें उसकी जिस परिमाण या मात्रा में मूर्च्छा– आसक्ति होती है, उसी रूप में कर्मों का बंध होता जाता है, इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से अशुभ की तरह शुभ भी बंधनमय है। शुद्धोपयोग अबन्धावस्था है। आचार्य कुंदकुंद ने उसकी चर्चा करते हुए बड़े ही सुंदर रूप में उसे व्याख्यात किया है कि जब आत्मा शुद्धोपयोग की दिशा में प्रवृत्त रहती है, तब वह विभावों या परभावों से हटती जाती है तथा अपने स्वभाव की ओर बढ़ती जाती है।

आत्मा की परम शुद्धावस्था मुक्तता का पर्याय है। बद्धता अशुद्धावस्था है। अशुद्धावस्था कर्मों के आवरणों से आत्मा की आच्छन्नता है, तब आत्मा के स्वाभाविक गुण उसी प्रकार ढक जाते हैं, जिस प्रकार बादलों के आने पर सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता। ज्यों ही बादल दूर हो जाते हैं, वैसे ही

---

१. प्रवचनसार, गाथा-१८-२३.
२. प्रवचनसार, गाथा-२३४.
३. प्रवचन, सार-गाथा-२३८, २३९.

सूर्य अपने स्वाभाविक रूप में उद्योतित होने लगता है, चमकने लगता है।

यहाँ वास्तविकता यह है कि सूर्य का प्रकाश तो अपने आप में ज्योतिर्मय होता है, किंतु मेघावरणों से वह ज्योतिर्मयता अदृश्य रहती है। आत्मा के साथ भी ऐसी ही स्थिति है। उसका अपना स्वरूप मूलत: जैसा है, वैसा ही रहता है, किंतु कर्म-संश्लेष के कारण उसकी अभिव्यक्ति और प्रसृति आवृत्त हो जाती है।

आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिंतन, ध्यान और उसमें परिणमन आत्मा को शुद्धत्व की दिशा में अग्रसर करता है। यह मोक्ष को पाने का, बद्ध आत्मा के मुक्त होने का– सिद्ध होने का– अपने परम लक्ष्य में सफल या कृतकृत्य होने का एकमात्र मार्ग है। यह पुण्य, पुण्यावस्था से अतीत है, क्योंकि ये दोनों ही अवस्थाएँ, बद्धावस्थाएँ हैं। कोई किसी को लोहे की शृंखला से बांध ले तो उसकी स्वतंत्रता मिट जाती है और कोई उसे सोने की शृंखला से बद्ध कर ले तो भी उसकी स्वतंत्रता तो अपगत होती ही है।

इस तत्त्व को स्वायत्त करना अध्यात्म-दर्शन है। यह केवल शब्दों के कथन मात्र से अधिगत नहीं होता। इसके लिए आत्मिक भावों में परिष्कार लाना आवश्यक है। आत्म-परिष्कार ही शुद्धोपयोग है। उसी से आत्म-विशुद्धि निष्पन्न होती है। वह निष्पन्नता जब पूर्णता पा लेती है तो साधक का लक्ष्य सिद्ध हो जाता है। वह बंधनों से छूट जाता है। वही उसका सिद्धत्व है, सिद्धावस्था है।

शुद्धात्मा की अबद्धावस्था

जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने के कारण विभिन्न रंगों में परिणत नहीं होती, किंतु अन्य लाल आदि रंगों के पदार्थों के संपर्क के कारण लाल आदि रंगों में दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए ज्ञानी अर्थात् शुद्ध आत्मा अपने शुद्धत्व के कारण रागादि के रूप में स्वयं परिणत नहीं होती, किंतु रागादि दोषों से संबद्ध होने के कारण वह वैसी प्रतीत होती है।

ज्ञानी राग-द्वेष और मोह या कषाय-भाव को स्वयं अपनी आत्मा में नहीं आने देता, इसलिए वह वास्तव में उन भावों का कर्ता– करने वाला नहीं होता।[1]

समीक्षा

शुद्ध भावापन्न आत्मा राग-द्वेषादि का कर्ता नहीं होती, क्योंकि राग-द्वेषादि भावों का संबंध अशुद्ध भावों से है। अशुद्ध आत्मा की दो कोटियाँ है– १. शुभात्मक, २. अशुभात्मक।

---

१. समयसार, गाथा-२७८-२८०, पृष्ठ : ४११-४१४.

राग भी दो प्रकार का है– प्रशस्त एवं अप्रशस्त। अप्रशस्त राग से अशुभ का बंध होता है और प्रशस्त राग से शुभ का बंध होता है। शुद्ध आत्मा दोनों ही प्रकार के राग नहीं करती। इसलिए शुद्धावस्था राग-द्वेषादि भावों से अतीत होती है। जब तक राग-द्वेष के भाव चलते रहते हैं, तब तक परमात्म-भाव समुदित नहीं होता।

परमात्मभाव का अविर्भाव या उद्घाटन जब होता है तो आत्मा के साथ वीतराग विशेषण जुड़ जाता है–

वीतो नष्टो रागो यस्य स वीतरागः।

अर्थात् जिसका राग-भाव सर्वथा क्षय पा लेता है, निर्मूल हो जाता है, वही वीतराग कहलाता है। वीतरागता आत्मा की शुद्धावस्था है, जिसके त्रयोदश और चतुर्दश दो गुणस्थान हैं।

त्रयोदश गुणस्थानवर्ती महापुरुष योग की परिभाषा में जीवन्मुक्त कहे जा सकते हैं। यद्यपि जैन दर्शन की भाषा में वे सर्वथा मुक्त तो नहीं कहे जा सकते, किंतु वे मुक्तत्व के समीप कहे जा सकते हैं। अर्थात् उनका अगला चरण मुक्तत्व में होता है। इसलिए आत्मा को जो राग-द्वेषादि का कर्ता कहा जाता है, वह व्यवहार-नय है। निश्चय-नय शुद्ध आत्मा को राग, द्वेष आदि विभावों का कर्ता नहीं मानता।

ज्ञानावरणादि का अभाव : सिद्धत्व का सद्भाव

ज्ञानावरणादि भाव जीव के साथ अनुबद्ध हैं, उनका क्षय कर जीव अभूतपूर्व सिद्ध हो जाता है। अर्थात् कर्मबद्ध जीव जो अब तक कर्मों से बंधा हुआ चला आ रहा था, वह सिद्ध हो जाता है। यह सिद्ध का पूर्व भाव अभूतपूर्व है– जो पहले कभी नहीं हुआ, क्योंकि पहले यदि वैसा हो जाता तो फिर पुनः कर्मों से बंधने की स्थिति भी नहीं आती।

दार्शनिक दृष्टि से यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सिद्धत्व की प्राप्ति असत् का उत्पाद नहीं है, क्योंकि सिद्धत्व के रूप में कोई नया पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ। सिद्धत्व जो आत्मा का विशुद्ध रूप है, वह पहले भी था, किंतु ज्ञानावरणादि भावों ने उसको आवृत्त कर रखा था। ज्यों ही उन भावों का क्षय कर दिया गया, सिद्धत्व अभिव्यक्त हो गया। इस प्रकार सिद्धत्व के भाव को असत् नहीं कहा जा सकता।[1]

समीक्षा

दार्शनिक क्षेत्र में सत्कार्यवाद का सिद्धांत बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार कार्य का कारण में सत् या अस्तित्व माना जाता है। अर्थात् कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है, वह कोई नई उत्पत्ति नहीं

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा-२०, पृष्ठ : ८१.

है। कारण में जो मूलत: विद्यमान होता है, वही कार्य में प्रगट होता है। इसलिए वह उत्पाद नहीं है, प्राकट्य है।

यही बात सिद्धत्व के संबंध में लागू होती है। आत्मा में से सिद्धत्व नाम का कोई नया पदार्थ या तत्त्व आविर्भूत नहीं होता। सिद्धत्व आत्मा के शुद्धत्व का पर्याय है। मूल स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा सर्वथा शुद्ध-बुद्ध है। इस प्रकार आत्मा में शुद्धत्व या सिद्धत्व मूल स्वभाव के रूप में विद्यमान है।

संवर और निर्जरामूलक साधनामय कारणों द्वारा ज्ञानावरणादि का क्षय हो जाने पर सिद्धत्व प्रगट हो जाता है। इसलिए वहाँ असत् की उत्पत्ति नहीं है। वस्तुत: सत् की अभिव्यक्ति है।

गीता में भी यह विषय चर्चित हुआ है। कहा गया है–

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:।।

असत् का कभी भाव नहीं होता, अर्थात् जिसका कोई अस्तित्व नहीं है, अथवा जो विद्यमान नहीं है, उसका भाव या उत्पत्ति नहीं होती। जो सत् है, जिसका अस्तित्व है, उसका अभाव नहीं होता। इन दोनों तत्त्वों को ज्ञानी पुरुषों ने देखा है, समझा है।[1]

जैसे अग्नि में ऊष्णत्व सत् है, अर्थात् ऊष्णता का अस्तित्व है। जब तक अग्नि रहेगी, तब तक ऊष्णता रहेगी। उसका अभाव नहीं होगा।

अग्नि में शीतलता का अभाव है, जब तक अग्नि का अस्तित्व रहेगा, तब तक उसमें शीतत्त्व का सद् भाव नहीं होगा। इसी तत्त्व का– सत्कार्यवाद का सांख्य की कारिकाओं में भी विवेचन हुआ है।[2]

सिद्ध का निरुपाधि ज्ञान, दर्शन और सुख

चैतन्यशील आत्मा जब सर्वज्ञ और सर्वलोकदर्शी हो जाती है, तब वह स्वयं अपने अमूर्त्त– निराकार, अव्याबाध– निराबाध या बाधा रहित, अनंत– अंतरहित सुख को प्राप्त कर लेती है।[3]

इस संसार में सब जीव अनंत अगुरु-लघु गुणों में परिणत हैं। वे असंख्यात प्रदेश-युक्त हैं। कई, कथंचित् समग्र लोक में प्राप्त या व्याप्त हैं। कई अव्याप्त हैं। बहुत से जीव अर्थात् अनंत जीव मिथ्या दर्शन, कषाय एवं योग सहित संसारी हैं और अनंत जीव मिथ्यादर्शन, कषाय-योग-रहित सिद्ध हैं।[4]

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-२, श्लोक-१६.
२. सांख्यकारिका, श्लोक-९.
३. पंचास्तिकाय, गाथा-२९, पृष्ठ : ५९.
४. पंचास्तिकाय, गाथा-३१-३२, पृष्ठ : ६२.

विशेष

ज्ञान, दर्शन और सुख आत्मा का स्वभाव है। संसारावस्था में वह अनादि कर्मों के क्लेश से युक्त होती है। जब क्रमशः कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त करती है, अपने स्वरूप का दर्शन करती है, तब उसे किंचित् सुख की अनुभूति होती है, किंतु वह सुख व्याबाध– बाधा तथा अंत से युक्त होता है, मिट सकता है, परंतु जब वही आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाती है, तब उसे अनंत– निर्बाध और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति होती है।

इस संसार में संख्यात्मक दृष्टि से अनंत जीव हैं। अनंत की अनंत कोटियाँ होती हैं। संसार के अनंत जीवों में ऐसे अनंत जीव हैं, जो कर्मबद्धता के कारण संसार में भ्रमण कर रहे हैं।

संसार के जीवों में अनंत ऐसे जीव हैं, जो सिद्धत्व प्राप्त कर चुके हैं। अनंत का विशेष विवेचन यथाप्रसंग किया जा चुका है।

शुद्ध भाव की आराधना

शुद्ध जीव का चतुर्गति-भव-संभ्रमण नहीं होता है। अर्थात् निश्चय-नय की दृष्टि से जीव मनुष्य, देव, नरक, तिर्यंच चार गतियों के भवों में परिभ्रमण नहीं करता। उसके जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नहीं हैं।

शुद्ध जीव के द्रव्य-कर्म तथा भाव-कर्म का स्वीकार न होने से नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व एवं देवत्वमूलक चार गतियों का परिभ्रमण नहीं है। नित्य शुद्ध, चिदानंदरूप, कारण परमात्म-स्वरूप जीव के द्रव्य-कर्म तथा भाव-कर्म के ग्रहण के योग्य विभाव, परिणति का अभाव है, इसलिए उसके जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रुग्णता और शोक नहीं होता।

कुल का तात्पर्य पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय आदि जीवों के विभिन्न कुल हैं। वे सब मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ होते हैं।

शुद्ध जीव के ये नहीं होते। उसी प्रकार योनियाँ, जीव-स्थान तथा गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद आदि मार्गणा स्थान शुद्ध जीव के नहीं हैं।

आत्मा निर्दंड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कलंक, निरालंब, निःराग, निर्दोष, निर्मूढ़ और निर्भय है।

मनं-दड, वचन-दंड और काय-दंड के योग्य द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म का अभाव होने से आत्मा निर्दंड या दंड रहित है।

निश्चय नयानुसार परम पदार्थ के अतिरिक्त आत्मा में अन्य सभी पदार्थों का अभाव है। इसलिए वह निर्द्वन्द्व– द्वन्द्व-रहित है।

प्रशस्त या शुभ, अप्रशस्त या अशुभ, राग, द्वेष, मोह का अभाव होने से आत्मा निर्मम– ममत्व रहित है।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस् एवं कार्मण नामक पाँच प्रकार के शरीर का अभाव होने से आत्मा निष्कलंक या शरीर-रहित है।

परमात्मा के परद्रव्य का आलंबन नहीं है, इसलिए वह निरालंब है। मिथ्यात्व, वेद, राग आदि परिग्रहों का अभाव होने से आत्मा निःराग– राग रहित है।

सहजावस्था या सहज ज्ञान द्वारा पवित्र होने के कारण वह निर्दोष है। सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज परम वीतराग सुख आदि के आधरभूत निज परम तत्त्व को जानने में सक्षम होने से आत्मा निर्मूढ़– मूढ़ता रहित है।

समस्त पाप रूप दुर्धर्ष– शत्रुओं की सेना जिस में प्रवेश नहीं कर सकती, ऐसे अपने शुद्ध अंतः तत्त्व रूप महान् दुर्ग में निवास करने से वह निर्मल है।

वह निर्ग्रंथ, निःराग, निःशल्य, सकल दोष निर्मुक्त, निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान तथा निर्मद है।

शुद्ध जीवास्तिकाय बाहरी और भीतरी परिग्रह का परित्याग होने से निर्ग्रंथ– ग्रंथि रहित या गांठ रहित है, समस्त मोहात्मक, रागात्मक, द्वेषात्मक वृत्तियों के नितांत अभाव के कारण निःराग है।

निदान, माया और मिथ्यात्व रूप शल्यों के अभाव के कारण निःशल्य है।

द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म तथा नो-कर्म का अभाव होने के कारण वह सर्व दोष विवर्जित है।

निज परम तत्त्व की भी वांछा न होने से निष्काम है।

प्रशस्त, अप्रशस्त, समस्त पर द्रव्य परिणति का अभाव होने के कारण वह निष्क्रोध है।

परम समरस-भाव होने के कारण वह निर्मान– मान-रहित है।

निःशेष रूप से– संपूर्णतः अंतर्मुख होने के कारण वह निर्मद– मद रहित है। विशुद्ध, सहज सिद्ध, नित्य-निरावरण, शुद्ध-आत्म-स्वरूप उपादेय है।[१]

---

१. नियमसार, गाथा-४२-४४, पृष्ठ : ३६-४५.

समीक्षा

अशुभोपयोग और शुभोपयोग कर्मावरणजनक हैं। इन द्वारा अशुभ-पापात्मक, शुभ-पुण्यात्मक कर्म पुद्गुल आकृष्ट होते हैं और वे आत्म-स्वरूप का आच्छादन करते हैं। यह आच्छादन शरीर, इंद्रिय, रूप, संहनन, संस्थान आदि अनेक विधाओं में प्रतिफलित होता है।

शुद्धोपयोग आवरण-शून्य अवस्था है, क्योंकि वहाँ आस्रवगत योग प्रशस्ताप्रशस्त रूप में प्रवृत्त नहीं होता। प्रशस्त एवं अप्रशस्त का कषायों की मंदता और तीव्रता से संबंध है। शुद्धोपयोग में ये दोनों ही स्थितियाँ नहीं होतीं। वहाँ द्वन्द्वादि की विद्यमानता नहीं होती। शुद्धात्मा ही सिद्धात्मा है।[1]

सिद्धों का वैशिष्ट्य

निरवशेष रूप से अंतर्मुखाकार, सर्वथा अंतर्मुख, स्वरूप-युक्त, स्वात्माश्रित, परम शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों का क्षय होने पर सिद्ध भगवान् के केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल वीर्य, केवल सुख, अमूर्त्तत्त्व, अस्तित्त्व तथा सप्रदेशत्व आदि स्वाभाविक गुण होते हैं।

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है, ऐसा शास्त्रों में उपदिष्ट किया गया है।

कर्मों से विमुक्त आत्मा लोकाग्र-पर्यंत जाती है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जीव और पुद्गलों का गमन होता है। धर्मास्तिकाय के अभाव में सिद्ध लोकाग्र-भाग के आगे नहीं जाते, क्योंकि लोकाग्र-भाग के आगे अलोकाकाश है। उसमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नहीं हैं, जो क्रमशः गति एवं स्थिति के निरपेक्ष हेतु हैं।[2]

निष्कर्ष

सिद्ध भगवान् के या शुद्ध आत्मा के गुणों को ढकने वाले आठ प्रकार के कर्म जब साधना और तप द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं, तब उनका विशुद्ध स्वरूप केवल ज्ञान आदि के रूप में व्यक्त होता है। यह कोई अभिनव उत्पत्ति नहीं है। आवरण के पृथक् होने से स्वाभाविक गुणों की अभिव्यक्ति है।

ऐसा होने पर जीव सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है। वह निर्वाण या परम शांतावस्था है, इसलिए कहा जाता है कि निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है।

जब एकात्म्य या तादात्म्य हो जाता है तो दोनों एक बन जाते हैं। इसलिए यहाँ निर्वाण या सिद्धि तथा सिद्ध के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. नियमसार, गाथा-४२-४४, पृष्ठ : ३६-४५.
२. नियमसार, गाथा-१८२-१८४, पृष्ठ : ३६३-३६६.

समस्त कर्मों के ध्वस्त होने पर सिद्धों की ऊर्ध्वगति होती है। उनको किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, वैसा होने पर वे लोकाग्र तक जाकर रुक क्यों जाते हैं ? यह प्रश्न उपस्थित होता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से इसका यह समाधान है कि जहाँ लोक की सीमाएं समाप्त होती हैं, वहाँ से आगे अलोक है। अलोक में आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय नहीं हैं। ये जहाँ नहीं हैं, वहाँ गति, स्थिति नहीं होती। इसलिए सिद्ध भगवान्, लोकाग्र के आगे गमन नहीं करते, वहीं शाश्वत रूप में समवस्थित रहते हैं।

सिद्ध एवं ब्रह्म : तुलना-समीक्षा

जैन श्रुत-परंपरा की अनादिता

जैन धर्म में श्रुत की परंपरा को अनादि माना जाता है। आगम उसके परिचायक हैं, जो तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित या उपदिष्ट किए जाते हैं। भगवान् महावीर इस युग के अंतिम तीर्थंकर थे। उन्होंने जो धर्म-देशना दी, वह अनादि परंपरा से चले आते हुए श्रुत या ज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है। उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर अपने-अपने युग में जो धर्म-देशना देते रहे, वह उसी ज्ञान से संबद्ध थी, जो सदा से चला आ रहा है।

तीर्थंकरों द्वारा दी गई देशना को आगम इसलिए कहा जाता है कि वह शाश्वत काल से आया हुआ ज्ञान का दिव्य स्रोत है। आगमों पर प्रथम अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

जिस प्रकार आगम जैन धर्म के मूल हैं, उसी प्रकार वैदिक धर्म का मूल आधार वेद हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों की रचना की, उनकी प्रामाणिकता वेदमूलक है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि वे शास्त्र वैदिक सिद्धांतों के प्रतिकूल निरूपण करते हों तो वे प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते।

वेदों की अपौरुषेयता

औपनिषदिक वाङ्मय में ब्रह्म या परब्रह्म का परम तत्त्व या परम साध्य के रूप में विवेचन हुआ है। उपनिषद वेदों के ज्ञान-काण्ड के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका आधार वेद हैं। अत: यहाँ वेदों की चर्चा के साथ परब्रह्म का विश्लेषण किया जाएगा।

वैदिक धर्म के अनुसार वेद किसी पुरुष की रचना नहीं हैं। इसलिए वे अपौरुषेय कहे जाते हैं। वैदिक परंपरानुगत विभिन्न दार्शनिकों ने वेदों की अपौरुषेयता की विशद व्याख्या की है। मीमांसा, वेदांत, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक ये छ: दर्शन वैदिक परंपरानुगत हैं।

मीमांसा दर्शन में वेद की अपौरुषेयता के संबंध में चर्चा करते हुए कहा है कि वेद स्वयं प्रमाण हैं, नित्य हैं। उन्हें प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। नित्य और शाश्वत होने के कारण न इनकी उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है। इसलिए वेद न तो किसी व्यक्ति द्वारा रचित हैं और न ही ईश्वर द्वारा रचित हैं।

मीमांसा दर्शन ईश्वर जैसी किसी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं करता, जो इस जगत् की रचना, पालन और संहार करती हो, वह वेद और जगत् को नित्य मानता है। अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए मीमांसकों ने शब्द, अर्थ और शब्दार्थ के संबंध को नित्य स्वीकार किया। उन्होंने बतलाया कि वेदों की नित्यता का प्रमाण 'शब्दनित्यत्ववाद' पर आधारित है। जिसके अनुसार शब्द को नित्य, सर्वगत और निरवयव स्वीकार किया गया है। अर्थात् शब्द उत्पन्न नहीं होता। वह दो या अधिक वर्णों का समूह होता है। उच्चरित वर्ण उसकी ध्वनि से भिन्न है और लिखित वर्ण उसके रूप से भिन्न है– क्योंकि वस्तुत: वर्ण नित्य और अपरिणामी है, किंतु उसकी उच्चरित ध्वनि या लिखित रूप अनित्य तथा परिणमनशील है।

यदि एक ही वर्ण का दस व्यक्ति दस ध्वनियों से उच्चारण करें या दस प्रकार से लिखें तो वे उस वर्ण के प्रकार नहीं बन सकते। वे तो उसकी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा की गई अभिव्यक्तियाँ हैं। अत: शब्द नित्य है। शब्द का अर्थ भी, जो नित्य-सामान्य होता है, नित्य है तथा शब्द और अर्थ का संबंध भी नित्य है, जो न ईश्वरीय संकेत से आता है और न रूढ़िगत वृद्ध-व्यवहार से ही विदित होता है।

इस प्रकार वेद नित्य और मूलभूत शब्दों के भंडार हैं। लिखित और उच्चरित वेद तो मूल वेद के, जो अनादि हैं, प्रकाशन मात्र हैं।

इस संदर्भ में एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि वेद शब्द नित्यत्व के आधार पर नित्य है। इस सिद्धांत की अतिव्याप्ति साहित्य के ग्रंथों में भी हो सकती है।

इसका समाधान करते हुए मीमांसक कहते हैं कि साहित्यिक ग्रंथों में वर्णों की अभिव्यक्ति तो हुई, परंतु शब्दों के प्रयोग का क्रम या अनुपूर्वी रचयिता, लेखक या वक्ता पर निर्भर है। इसलिए ये पौरुषेय हैं। पौरुषेय होने से इनमें संशय, विपर्यय आदि दोषों की संभावना है। वेदों के अपौरुषेय होने के कारण उनमें शब्द-क्रम और अनुपूर्वी नियत है तथा संशय, विपर्यय आदि की जरा भी संभावना नहीं है।

इस प्रकार वेद किसी कर्ता या रचयिता द्वारा निर्मित नहीं हैं। उनमें कहीं भी किसी कर्ता का नाम नहीं दीखता। कहीं-कहीं ऋषियों के नाम प्राप्त होते हैं। वहाँ उल्लेख है– 'ऋषयो मंत्र द्रष्टार:।' अर्थात् ऋषि मंत्रों के द्रष्टा हैं, स्रष्टा नहीं हैं।

वेदों के अपौरुषेयवाद पर विविध रूपों में जो चर्चाएँ हुई हैं, उसका यह एक उदाहरण है। इसका निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार जैन आगमगत ज्ञान आदि है, उसी प्रकार वेद भी अनादि हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद– ये चार वेद हैं। वेदों के मुख्य रूप में कर्मकांड और ज्ञानकांड दो भेद हैं।

कर्मकांड में यज्ञ-याग आदि का विस्तृत वर्णन है। उससे संबंधित भिन्न-भिन्न वेदों के भिन्न-भिन्न ब्राह्मण ग्रंथ हैं, जिनमें यज्ञों के विधि-विधानों का विवेचन है।

उपनिषद् वेदों के ज्ञानकांड हैं। इनमें आत्मा-परमात्मा, जीव, ब्रह्म आदि तत्त्वों का बड़ा ही सुंदर विवेचन हुआ है।

यहाँ उपनिष्द् एवं तत्संबंधी ग्रंथों में वर्णित ब्रह्म तत्त्व का समीक्षात्मक विश्लेषण किया जा रहा है।

ब्रह्म का स्वरूप

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'– ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्त है।[1] ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है–

"वे एक ही परमदेव, परमेश्वर समस्त प्राणियों की हृदय रूप गुहा में छिपे हुए हैं। वे सर्वव्यापी हैं। समस्त प्राणियों के अंतर्यामी हैं। वे ही सब के कर्मों के अधिष्ठाता, कर्मानुसार फल देने वाले और समस्त प्राणियों के निवास स्थान– आश्रय हैं तथा वे ही सब के साक्षी– शुभाशुभ कर्म को देखने वाले, परम चेतनस्वरूप एवं सब को चेतना प्रदान करने वाले, सर्वथा विशुद्ध, सर्वथा निर्लेप तथा प्रकृति के गुणों से अतीत हैं।"[2]

स्वप्रकाश, परमानंद-स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के समीप यह सूर्य प्रकाशित नहीं होता। विद्युत्, चंद्र, एवं तारागण भी वहाँ नहीं चमकते। फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है ? इस जगत् में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, वे सब परमेश्वर की प्रकाश-शक्ति के अंश को पाकर ही प्रकाशित हैं।

अमृत-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही आगे, पीछे, दाएँ, बाएँ, बाहर, भीतर, ऊपर, नीचे, सर्वत्र फैले हुए हैं। इस विश्व ब्रह्मांड के रूप में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष प्रस्तुत हैं।[3]

सर्ग– सृष्टि के आदि में परब्रह्म परमात्मा ने यह विचार किया कि मैं नाना रूप में उत्पन्न होकर

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली-१, अनुवाक-१, ईशादि नौ उपनिषद् : पृष्ठ : ३६१.
२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय-६, श्लोक-११, ईशादि नौ उपनिषद् : पृष्ठ : ५०८.
३. मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक-१, खंड-२, श्लोक-१०, ११

बहुत हो जाऊँ। यह विचार कर उन्होंने तप किया अर्थात् जीवों के कर्मानुसार सृष्टि उत्पन्न करने के लिए संकल्प किया। संकल्प करके, यह जो कुछ भी देखने-सुनने में आता है, उस जड़-चेतनमय समस्त जगत् की रचना की।[१]

विज्ञान ब्रह्म है। विज्ञान से ही ये भूत– प्राणी उत्पन्न होकर विज्ञान से ही जीते हैं। अंत में यहाँ से प्रयाण कर विज्ञान में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।[२]

ब्रह्म– परमेश्वर अचल, शाश्वत, एक स्वरूप, मन से भी अधिक तीव्र गति-युक्त ज्ञानस्वरूप है। उनको देव भी नहीं पा सके, नहीं जान सके। वे अन्य धावनशील– दौड़ने वाले को स्वयं स्थित रहते हुए भी अतिक्रांत कर जाते हैं। उनकी सत्ता या शक्ति से वायु आदि देव कार्यशील होते हैं। जल, वर्षा आदि संपादित करने में समर्थ होते हैं। वे चलते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, पर वे नहीं चलते। वे दूर से भी दूर हैं, वे अत्यंत समीप हैं, वे समस्त जगत् के भीतर परिपूर्ण हैं और वे इस समस्त जगत् के बाहर भी हैं।[३]

"जो परमेश्वर या परब्रह्म को सर्वथा जानता है, वह उनको प्राप्त हो जाता है। वे शुभाशुभ कर्म-जनित सूक्ष्म देह तथा पाँचभौतिक अस्थि, शिरादि-युक्त स्थूल देह से रहित हैं, छिद्र रहित, दोष रहित हैं, दिव्य, शुद्ध सच्चिदानंदमय हैं, सर्वद्रष्टा हैं, सबके ज्ञाता हैं, सर्वाधिपति हैं, कर्म परवश नहीं हैं, स्वेच्छाश्रित हैं। सर्वकाल से सब प्राणियों के लिए उनके कर्मानुसार समस्त पदार्थों या वस्तुओं की यथायोग्य रचना करते हैं और विभाग करते हैं।"[४]

मन सहित वाणी ब्रह्मानंद को न पाकर, न जानकर, जहाँ से लौट आती है, उस आनंद को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कभी किसी से भयभीत नहीं होता, वह सर्वथा निर्भय हो जाता है। अर्थात् ब्रह्मानंद न वाणी का विषय है और न मन का विषय है, वह अव्याख्येय है।[५]

केनोपनिषद् का प्रसंग है– शिष्य गुरु से पूछता है किसके द्वारा सत्तात्मक स्फूर्ति पाकर, संचालित होकर यह मन, यह अंत:करण अपने-अपने विषयों में पहुँचता है, समाविष्ट होता है ? किसके द्वारा नियुक्त होकर सर्वश्रेष्ठ प्राणवायु चलता है ? किसके द्वारा क्रियाशील हुई यह वाणी बोलती है ? वह कौन प्रसिद्ध देव है, जो चक्षुइंद्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय आदि को नियुक्त करता है, अपने-अपने विषयों के अनुभव में लगाता है।

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली-२, अनुवाक-६ : ईशादि नौ उपनिषद्, पृष्ठ : ३७८.
२. तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली-३, अनुवाक-५ : ईशादि नौ उपनिषद् पृष्ठ : ४०२.
३. ईशावास्योपनिषद्, श्लोक-४, ५, पृष्ठ : ४, ५.
४. ईशावास्योपनिषद्, श्लोक-८, पृष्ठ : ८.
५. तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली-२, अनुवाक-९ : ईशादि नौ उपनिष्द्, पृष्ठ : ३९४.

गुरु इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं– जो श्रोत्र का– कर्ण का भी श्रोत्र है, मन का भी मन है, वाणी की भी वाणी है, प्राण का भी प्राण है, नेत्रों का भी नेत्र है, जिसकी शक्ति को पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं और हो रहे हैं तथा जो सबको जानता है, वह परब्रह्म परमेश्वर है। उसे जानकर ज्ञानी जन जीवन्मुक्त होकर, इस लोक से प्रयाण कर अपना अमृत स्वरूप पा लेते हैं। विदेह-मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मृत्यु से सदा के लिए छूट जाते हैं।

उस ब्रह्म तक न तो चक्षुइंद्रिय आदि सब ज्ञानेंद्रियाँ पहुँच सकती हैं, न वागिन्द्रिय– वाणी ही पहुँच सकती है और न कर्मेन्द्रियाँ ही पहुँच पाती हैं तथा न मन– अंत: करण ही वहाँ तक पहुँच पाता है, जिससे ब्रह्म के स्वरूप को बतलाया जा सके। इस तत्त्व को न तो हम अपनी बुद्धि द्वारा जानते हैं और न दूसरों से सुनकर ही जानते हैं, क्योंकि वह जाने हुए पदार्थों से अन्यत्र या भिन्न है।

मन और इंद्रियों द्वारा नहीं जाने हुए, जानने में न आने वाले पदार्थों से भी वह ऊपर है। अपने पूर्वाचार्यों के मुख से हम यह श्रवण करते आए हैं, जिन्होंने हमें उस ब्रह्मतत्त्व को भलीभांति समझाया है, जिसको वाणी के द्वारा अभ्युदित नहीं किया गया, बतलाया नहीं गया, जिससे वाणी अभ्युदित होती है, अभ्युदय या प्राकट्य की क्षमता पाती है। अर्थात् जिसकी शक्ति से वक्ता बोलने में, व्यक्त करने में समर्थ होता है, उसको ही तुम ब्रह्म जानो।

वाणी के द्वारा बताए जा सकने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। जिसको मन या अंत:करण के द्वारा नहीं समझा जा सकता, किंतु मन जिसके द्वारा समझा जा सकता है, उसको तुम ब्रह्म जानो। जिसको मन और बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है, ऐसे जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। जिसे कोई चक्षु द्वारा नहीं देख सकता, अपितु चक्षु जिस के द्वारा अपने विषयों को देखते हैं, उसको ही तुम ब्रह्म जानो।

चक्षु के द्वारा देखे जाने वाले जिस दृश्य वर्ग की लोग उपासना करते है, वह ब्रह्म नहीं है। जिसको कोई भी श्रोत्र या कान द्वारा नहीं सुन सकता, अपितु जिसके द्वारा श्रोत्र सुनने में समर्थ होता है, उसको तुम ब्रह्म जानो।

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सुने जाने वाले, ज्ञात होने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। जो प्राण के द्वारा प्राणित– चेष्टा-युक्त नहीं होता, जिससे प्राण, प्राणित– चेष्टा-युक्त होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। प्राणों की शक्ति से प्राणित– चेष्टा-युक्त दृष्टिगोचर होने वाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।[१]

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष संज्ञक चार पुरुषार्थों में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। "मोक्ष प्राप्त पुरुष फिर

१. केनोपनिषद्, खंड-१, श्लोक-१-८, पृष्ठ : २३-२९.

नहीं लौटता, जन्म मरण में नहीं आता" इत्यादि श्रुति से उसका नित्यत्व सिद्ध होता है। "उसके कर्मचित– कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त लोक क्षीण हो जाते हैं, उसी प्रकार पुण्यों से प्राप्त लोक भी क्षीण हो जाते है"– इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों का अनित्यत्व सिद्ध होता है।[1]

भृगु नामक ऋषि थे, जो वरुण के पुत्र थे। उनके मन में परमात्मा को जानने और प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। तब वे अपने पिता वरुण के पास गए। अपने पिता से यह प्रार्थना की "भगवन् ! मैं ब्रह्म को जानना चाहता हूँ।" वरुण ने उससे कहा– "अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी– सभी ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार हैं।" साथ ही यह भी कहा– "ये प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके बल पर जीते हैं– जीवनोपयोग क्रिया करने में समर्थ होते हैं और अन्ततः उसी में अभिसन्निविष्ट– विलीन हो जाते हैं, उसकी विजिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है।"[2]

जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी, ऊपर से सूखी हुई नदी के भीतरी स्रोतों में जल तथा अरणियों में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार परमात्मा हमारी आत्मा में छिपे हैं। जिस प्रकार अपने-अपने स्थान में छिपे हुए तैलादि तद्विषयक उपायों से प्राप्त किए जा सकते हैं, उसी प्रकार कोई साधक विषयों से विरक्त होकर सदाचार, सत्य-भाषण, तथा संयम-रूप तपस्या द्वारा साधना करता हुआ उनका निरंतर ध्यान करता है, वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है।[3]

श्रीमद्भागवत में उल्लेख हुआ है–

जो इस संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही है, किन्तु स्वयं कारण-रहित है, जो जागर्ति एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में उनके साक्षी के रूप में विद्यमान रहता है और उनके अतिरिक्त समाधि में भी जो ज्यों का त्यों एकरस रहता है, जिसकी सत्ता से ही सत्तावान् होकर शरीर, इंद्रिय और अन्तःकरण अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं, वही परम तत्त्व, परब्रह्म है। जैसे चिनगारियाँ न तो अग्नि को प्रकाशित कर सकती हैं, न जला सकती हैं, वैसे ही परमतत्त्व में न तो मन की गति है और न वाणी की ही। नेत्र उसे देख नहीं सकते, बुद्धि सोच नहीं सकती, प्राण और इंद्रियाँ उसके पास तक नहीं जा सकते। 'नेति-नेति' इत्यादि श्रुतियों के शब्द भी 'वह यह है' उस रूप में उसका वर्णन नहीं कर सकते वरन् उसका बोध कराने वाले जितने भी साधन हैं, उनका निषेध करते हैं। परमतत्त्व का अस्तित्त्व होने पर ही निषेध की सिद्धि होती है।

---

१. वेदांत परिभाषा, सूत्र-१, २, पृष्ठ : २,३.
२. तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली-३, अनुवाक-१ : ईशादि नौ उपनिषद, पृष्ठ : ३९६.
३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय-१, श्लोक-१५ : ईशादि नौ उपानिषद, पृष्ठ : ४३९.

वह शुद्धात्मस्वरूप ब्रह्म न तो कभी जन्म लेता है और न मरता ही है। वह न बढ़ता है और न घटता ही है। जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं, वह सब में है। देश, काल और वस्तु से अपरिछिन्न है, अविनाशी है। न वह उपलब्धि करने वाला है और न उपलब्धि का विषय ही है। केवल उपलब्धि-स्वरूप– ज्ञानस्वरूप है। जैसे प्राण तो एक ही रहता है, किन्तु स्थान-भेद से उसके अनेक नाम हो जाते हैं, वैसे ही सत्-ज्ञान एक होने पर भी इंद्रियों के कारण वह अनेक रूपों में विकल्पित होता है।[१]

आद्य शंकराचार्य ने परब्रह्म के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहा है– परब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञानघन, निरंजन, निर्मल, शांत, आदि-अंत रहित, अक्रिय– क्रिया-शून्य तथा सदैव आनंद-रस स्वरूप है। वह समस्त माया-जनित भेदों से विवर्जित है। नित्य सुख-स्वरूप, निष्कल, अप्रमेय– प्रमाण का अविषय है। वह अरूप, अव्यक्त, अनाशय, अनाम एवं अव्यय, अक्षय तेज है, जो स्वयं ही प्रकाशित होता है। ज्ञानी जन इस परमतत्त्व को ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय रूप त्रिपुटी से रहित, अनंत, निर्विकल्प, केवल, अखंड और चिन्मात्र– चैतन्य भाव मात्र परमतत्त्व के रूप में जानते हैं।[२]

ब्रह्म नित्य सुखमय, स्वप्रकाश, व्यापक, नामरूप का अधिष्ठान, बुद्धि द्वारा अबोध्य, बुद्धि का प्रकाशक, निर्मल तथा अपार है। 'विचार सागरः' में इस संबंध में विस्तार से वर्णन किया गया है।[३]

समीक्षा

ब्रह्म सर्वथा परिपूर्ण और शुद्ध है। वह अपरिवर्तनशील है। उसके स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वह सभी सांसारिक पदार्थों से विलक्षण है, असीम और अपार है। वह दुःखों से सर्वथा विमुक्त और परमानंद स्वरूप है।

पिछले पृष्ठों में सिद्ध के स्वरूप का विस्तार से विवेचन हुआ है। सिद्ध शाश्वत, चिन्मय, परम आनंदमय, परमशुद्ध तत्त्व है, अलौकिक है। जिस प्रकार ब्रह्म को शब्दों द्वारा अव्याख्येय कहा गया है, वही बात सिद्धों पर घटित होती है। शब्दों द्वारा उनके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता।

शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से ब्रह्म और सिद्ध में अंतर प्रतीत नहीं होता। आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है–

सदा शिवः परं ब्रह्म, सिद्धात्मा तथतेति च।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः।।

---

१. एकादश स्कंध, अध्याय-१, श्लोक-३५, ३६, ३८. २. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-२३९-२४१, पृष्ठ : ८२, ८३.
३. विचार सागरः, पृष्ठ : १-४.

सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा एवं तथता– तथागत आदि शब्दों द्वारा एक ही परमतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है। शब्द-भेद होने पर भी अर्थ की दृष्टि से वह एक ही है।[१]

यहाँ यह विचारणीय है– ब्रह्म को वायु, जल आदि प्राकृतिक तत्त्वों तथा जगत् के प्राणियों के क्रिया-कलाप के साथ जो जोड़ा जाता है, ब्रह्म की शक्तिमूलक प्रेरणा से वे सब कार्यशील होते हैं, ऐसा जो माना जाता है, इस सम्बंध में जैन दर्शन का अभिमत भिन्न है।

सिद्ध कृतकार्य होते हैं। बहिर्जगत् में जो घटित होता है, उसके साथ उनके कर्तृत्त्व या प्रेरकत्व का संबंध नहीं होता। वे सर्वथा कर्म-मुक्त हैं।

सिद्ध इच्छा, अभिलाषा या कामना से विमुक्त हैं। संसार में जो कुछ हो रहा है, उसमें वे न किसी प्रकार से बाधक बनते हैं और न सहायक ही। वे अपने सहज, चिन्मय, आनंदमय स्वरूप में अवस्थित होते हैं।

प्रेरणा, संरचना, आदि किसी भी कर्म के मूल में कुछ न कुछ आभीप्सा का भाव जुड़ा रहता है। व्यक्ति तदनुरूप तत्तत्संबद्ध इंद्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करता है। इसलिए वही क्रियाओं का कर्त्ता या स्रष्टा है। परमेश्वर तो केवल तटस्थ-भाव से द्रष्टा है।

सिद्ध या परब्रह्म जागतिक, दैहिक कर्मों से अतीत हैं। नितांत आध्यात्मिक हैं। सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही शरीरों से रहित हैं। अशरीरी हैं। यहाँ तक दोनों की भूमिका में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता, किंतु वैदिक-वाङ्मय में परब्रह्म का सांसारिक पदार्थों के साथ जो कर्तृत्व अभिहित गया है, जैन दर्शन में वैसा नहीं है।

उपनिषदों में कहा गया है कि प्राणियों के कर्मों के अनुसार परमेश्वर उनके लिए समग्र पदार्थों की सृष्टि करते हैं, व्यवस्था करते हैं। जैन दर्शन कर्मवादी है। उसके अनुसार एक व्यक्ति शुभ या अशुभ, पुण्य या पाप जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उन्हीं कर्मों के उदयानुरूप उसे प्राप्त हो जाता है। फल देने के लिये किसी अन्य माध्यम को वहाँ अपेक्षित नहीं माना गया है। जब कर्मों का अपना भिन्न-भिन्न प्रकार का स्वभाव-प्रभाव है, तब तदनुरूप फलप्राप्ति में निरपेक्ष रूप में वे ही कारण होते हैं।

लीलाकैवल्य का स्पष्टीकरण

परमात्मा द्वारा सृष्टि रचना किए जाने का विषय ब्रह्मसूत्र में तथा उस पर आद्य शंकराचार्य रचित 'शारीरक भाष्य' में व्याख्यात हुआ है।

---

१. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक-१३० : जैनयोग ग्रंथ चतुष्टय, पृष्ठ : ४०.

वहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि परमात्मा को तो कोई प्रयोजन नहीं है, फिर वे सृष्टि-रचना क्यों करते हैं ?

सूत्र एवं भाष्य में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है– संसार में कोई भी बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला चेतन पुरुष किसी भी अनुपयोगी प्रवृत्ति में जरा भी संलग्न होता हुआ दिखाई नहीं देता, फिर चैतन्य स्वरूप परमात्मा बिना प्रयोजन के ही उस जगत् की रचना क्यों करते हैं ?

इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि परमात्मा द्वारा सृष्टि की रचना तो केवल लीलामात्र है। लोक में जैसे कोई राजा या उसका अमात्य, जो आप्तकाम हैं– जिनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हैं, किसी प्रयोजन के बिना ही केवल लीला रूप क्रीड़ा-विहार आदि में प्रवृत्त होते हैं तथा जैसे उच्छ्वास-प्रश्वास स्वभाव से ही आते-जाते हैं, वहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर की भी प्रवृत्ति लीलारूप, स्वभाव मात्र है। ईश्वर का उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रयोजन न न्यायानुमोदित है, न वेदानुमोदित है। स्वभाव के साथ प्रयोजन को नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि जगत् सृष्टि रूप कार्य हमको बहुत बड़ा प्रतीत होता है, परंतु परमेश्वर के लिए वह लीला मात्र है, क्योंकि वे अपरिमित शक्तिशाली हैं।

लीलाकैवल्य को एक और उदाहरण से व्याख्यात किया जाता है– जैसे एक अबोध बालक लीला या क्रीड़ा हेतु गीली मिट्टी के घरौंदे बनाता है तथा कुछ ही देर में उन्हें तोड़ डालता है। वह यह सब क्रीड़ा या खेल के लिए करता है। न तो उसे घरौंदें बनाने में सुख या उल्लास होता है और न तोड़ डालने में मानसिक पीड़ा ही होती है, क्योंकि बालक अबोध होने के साथ-साथ निर्विकार भी है, आसक्ति-रहित भी। इसी प्रकार सृष्टि-रचना में ब्रह्म की कोई अभिलाषा, आसक्ति या उद्देश्य नहीं होता। सर्वथा अनासक्त होने से वैसा करने में कोई दोष नहीं आता। ये उदाहरण सृष्टि-रचना में लीलाकैवल्य के सिद्धान्त के साथ सर्वथा घटित नहीं होते, क्योंकि ये अपूर्ण हैं। परमात्मा सर्वथा परिपूर्ण है। केवल बाह्य दृष्टि से समझाने हेतु उनका उपयोग किया गया है।

यद्यपि प्रयोजन से सर्वथा अस्पृष्ट या अतीत रहते हुए जो कार्य होता है, वह साधारणत: होने वाले कार्यों से सर्वथा भिन्न है। वह विकार-युक्त या लेप-युक्त नहीं माना जाता, पर आखिर कार्य तो है ही। कार्य के साथ प्रयोजनशून्यता के बावजूद कारणता का संबंध अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ जैन सिद्धान्त का ऐसा अभिमत है कि सिद्धत्व प्राप्त करने के अनंतर फिर किसी भी अपेक्षा से, किसी भी प्रकार के लोक-विषयक कर्म के साथ उनका जरा भी कारणमूलक संबंध नहीं रहता। इसलिए सिद्ध कृतकृत्य कहे जाते हैं। कृतकृत्यता सर्वथा अकर्मावस्था है। भावात्मक एवं क्रियात्मक दोनों ही अवस्थाओं से यह अतीत है। परम सिद्धावस्था के साथ यह सर्वथा संगत भी है। जैन सिद्धांतानुसार सृष्टि-क्रम अनादि-अनंत है। अत: अनादि-अनंत के साथ कर्तृत्व का संबंध घटित नहीं होता।

स्वरूपावबोध : ब्रह्मसाक्षात्कार

उपनिषद् आदि ग्रंथों में ब्रह्मसाक्षात्कार के सन्दर्भ में ज्ञान की अनन्य हेतुमत्ता का दिग्दर्शन कराते हुए विविध प्रकार से वर्णन किया गया है। कहा गया है– ब्रह्मवित्– जो ब्रह्म को जानता है, वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[1]

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

परात्पर परब्रह्म को तत्त्वत: जान लेने पर हृदय की ग्रंथि– गांठ भिन्न हो जाती है, खुल जाती है। समग्र संशय छिन्न हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं तथा समस्त शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं।[2]

परब्रह्म या परमेश्वर न तो उनको प्राप्त होते हैं जो शास्त्रों को पढ-सुनकर बड़ी सुंदर भाषा में बोल सकते हैं, परमात्मस्वरूप को तरह-तरह से वर्णन कर सकते हैं, न उन मेधावी मनुष्यों को ही मिलते हैं, जो बुद्धि द्वारा, तर्क द्वारा विवेचन करके उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं, न उन्हें मिलते है, जिन्होंने शास्त्रों का अत्यधिक अध्ययन किया है।

वे तो उसी को प्राप्त होते हैं, जिनमें उनके लिए उत्कट इच्छा होती है। जो उनके बिना रह ही नहीं सकते। जो अपनी बुद्धि या शास्त्र-ज्ञान का भरोसा न कर केवल परमेश्वर की कृपा की ही प्रतीक्षा करते रहते है।[3]

जीवन्मुक्ति : विदेहमुक्ति

शुक्लयजुर्वेदीय मुक्तिकोपनिषद् के दूसरे अध्याय में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का वर्णन हुआ है। वहाँ यह कहा गया है कि जीव को "मैं भोगता हूँ, कर्ता हूँ, सुखी हूँ, दु:खी हूँ"– इत्यादि जो ज्ञान होता है, वह चित्त का धर्म है। यह ज्ञान क्लेश-रूप है, इसलिए बंधन का हेतु है। इस प्रकार के ज्ञान को रोकना ही जीवन्मुक्ति है। उदाहरणार्थ एक घट को लें। घट के भीतर जो रिक्त स्थान है, वह घटाकाश है। घट से आवृत्त होने के कारण वह आकाश से पृथक् प्रतीत होता है।

घट रूप उपाधि से मुक्त हो जाने पर अर्थात् घट रूप उपाधि के नष्ट होने पर घटाकाश जिस प्रकार मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्ध रूप उपाधि के नष्ट होने पर विदेह-मुक्त हो जाता है।

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली-१, अनुवाक-१ : ईशादि नौ उपनिषद्, पृष्ठ : ३६०.
२. मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक-२ : ईशादि नौ उपनिषद् : पृष्ठ : २४.
३. कठोपनिषद् अध्याय-१, वल्ली-२, श्लोक-२३, पृष्ठ : ९५,९६.

कर्तृत्त्व तथा भोक्तृत्व आदि दुःखों की निवृत्ति द्वारा शाश्वत आनंद की प्राप्ति होती है। वह प्राप्ति पुरुष के या जीव के प्रयत्न या पुरुषार्थ से सिद्ध होती है।

प्रयत्न पूर्वक वेदांत के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से उत्पन्न समाधि से सारी वासनाओं के नाश होने पर जीवन्मुक्ति की सिद्धि होती है। पुरुषार्थ या प्रयत्न दो प्रकार का होता है। शास्त्र-प्रतिकूल और शास्त्र-अनुकूल। शास्त्र-प्रतिकूल पुरुषार्थ अनर्थजनक है तथा शास्त्रानुकूल पुरुषार्थ परमार्थ का साधन है।

लोकवासना, शास्त्रवासना तथा देहवासना के कारण प्राणी को यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। वासना-क्षय, विज्ञान और मनोनाश– इन तीनों का एक साथ चिरकाल तक अभ्यास करने से इनका फल प्राप्त होता है। यदि इन तीनों का एक साथ अभ्यास नहीं किया जाय तो सैंकड़ों वर्ष व्यतीत होने पर भी कैवल्य-पद की प्राप्ति नहीं होती।

यदि इनका पृथक्-पृथक् चिरकाल तक भी अत्यधिक अभ्यास किया जाय तो जिस प्रकार खंड-खंड करके जपे मंत्र सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार उनसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यदि इन तीनों का लंबे समय तक अभ्यास किया जाय तो हृदय की दृढ़ ग्रंथियाँ निःसंदेह उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे कमल-नाल को तोड़ने पर उसके रेशे– तंतु टूट जाते हैं। जिस मिथ्या संसार-वासना का सैकड़ों जन्मों से अभ्यास चला आ रहा है, वह दीर्घकाल पर्यंत साधना किए बिना कदापि क्षीण नहीं होती।

वासना से युक्त मन को ज्ञानी पुरुषों ने बद्ध बतलाया है तथा जो मन वासना से भलीभाँति छूट जाता है, वह मुक्त कहलाता है। सम्यक् रूप में विचार करने से और सत्य के अभ्यास से वासनाओं का नाश हो जाता है। वासनाओं के नष्ट होने पर चित्त उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार तेल के समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है। जिसके मन से वासनाएँ दूर हो जाती हैं, उसे न तो कर्मों के त्याग से प्रयोजन है और न ही कर्मों के अनुष्ठान से। सारी वासनाओं का परित्याग कर मन मौन धारण कर लेता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई परमपद नहीं है।

चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं। प्राणस्पंदन– प्राणों की गति तथा वासना। इन दोनों में से एक के भी क्षीण होने पर दोनों नष्ट हो जाते हैं। अनासक्त होकर व्यवहार करने से, संसार का चिंतन त्याग देने से, शरीर की नश्वरता का दर्शन या अनुभवन करते रहने से वासना उत्पन्न नहीं होती।

वासना का भलीभाँति त्याग हो जाने पर चित्त, अचित्तता प्राप्त कर लेता है। अर्थात् उसकी वासनात्मक प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। वासना के नष्ट हो जाने पर मन मनन करना त्याग देता है, मन के निराकृत होने पर विवेक की उत्पत्ति होती है, जो परम शांतिप्रद है।

चित्तनाश दो प्रकार का होता है– स्वरूप मूलक एवं अरूप मूलक। जीवन्मुक्त का चित्तनाश

स्वरूपमूलक है तथा विदेहमुक्त का अरूपमूलक अर्थात् जीवन्मुक्त का चित्त स्वरूप से तो रहता है, किंतु वह अचित्त बना रहता है। विदेहमुक्त उसको स्वरूपत: भावनाओं के साथ जोड़ देता है। फिर चित्त वासना और भावना का भी मन एवं बुद्धि के साथ परित्याग कर अंतत: परमात्म-भाव में पूर्णत: समाहित हो जाता है, जो शब्द, रूप, रस, वर्ण तथा गंध रहित है, जो कभी विकार को प्राप्त नहीं होता, जिसका न कोई नाम है, न कोई गोत्र है, जो साक्षी स्वरूप है, आकाश की तरह अनंत है, जिसे एक बार जान लेने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

वह अजन्मा, अद्वितीय, निर्लेप, सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ है, अविनाशी ब्रह्म है, द्रष्टा है, शुद्ध स्वरूप है, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, सर्वत्र परिव्याप्त है, अजर, अमर, स्वयं प्रकाश, अव्यय एवं स्वयंभू है।

इस प्रकार चिंतन करते-करते जब कालवश देहपात होगा, तब वायु के स्पंदन के समान जीवन्मुक्त पद का भी परित्याग हो जाएगा तथा निर्वाण– मुक्ति की अवस्था प्राप्त होगी।[1]

मनोलय– ब्रह्मप्राप्ति

मन के दो प्रकार हैं– शुद्धमन तथा अशुद्धमन। जिसमें कामनाओं के, वैषयिक अभीप्साओं के संकल्प उत्थित होते रहते हैं, वह अशुद्ध मन है। मनुष्य का मन ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि विषयों के संकल्प से शून्य होने पर मन का लय हो जाता है। इसीलिए मुमुक्षु साधक अपने मन को विषयों से सदा पृथक् रखे। जब मन से विषयासक्ति निकल जाती है और वह हृदय में स्थित हो जाता है, तब उन्मनीभाव को प्राप्त करता है। संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है, वही परम-पद है।

मन को तब तक रोकने का प्रयत्न करना चाहिए, जब तक वह हृदय में विलीन न हो जाय। मन का हृदय में लय हो जाना ही ज्ञान और मोक्ष है। वैसा होने पर न तो कोई चिंतनीय रह जाता है और न अचिंतनीय ही। जब इन दोनों में से किसी के भी प्रति मन का पक्षपात और आग्रह न रहे, उस समय वह साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

स्वर तथा प्रणव के साथ परमात्मा की एकता करें और फिर प्रणव के अतिरिक्त परमतत्व की भावना या चिंतन करें। प्रणवातीत उस भावना द्वारा भाव स्वरूप परमात्मा की उपलब्धि होती है। अभाव की नहीं। अर्थात् उसके बिना समाधि शून्य रूप होती है। वही कलाओं से रहित, अवयव-विहीन विकल्प-शून्य तथा निरंजन– मायात्मक मन से रहित ब्रह्म है। "वह ब्रह्म मैं हूँ"– यह जानकर साधक निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है। विकल्प-शून्य, अनंत हेतु, दृष्टांत-रहित, अप्रमेय, अनादि, परम कल्याणमय ब्रह्म को जानकर विद्वान् पुरुष अवश्य ही ब्रह्म रूप हो जाता है।[2]

---

१. मुक्तिकोपनिषद्, शुक्लयजुर्वेदीय, अध्याय-२, श्लोक-२-१०, २१-२६, ७१-७६ :कल्याण (उपनिषद् अंक), पृष्ठ : ६२६-६२९.
२. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, कृष्णयजुर्वेदीय, श्लोक-१-९, कल्याण (उपनिषद्-अंक), पृष्ठ : ६६४.

परमपद के सोपान

१. प्रणव

अनेक योजन तक फैले हुए पर्वत के समान अत्यधिक विपुल पाप-राशि हो तो वह ध्यान-योग द्वारा नष्ट हो जाती है। वह और किसी साधन से नष्ट नहीं होती। बीज कारणभूत अक्षर– आकार से परे बिंदु है और बिंदु से भी परे नाद है। इससे सुंदर शब्द का उच्चारण होता है। शक्तिमूलक प्रणव नाद से भी परे स्थित है तथा आकार से लेकर शक्ति-पर्यंत प्रणवरूप अक्षर के क्षीण होने पर जो शब्दहीन स्थिति होती है, वह परमपद है। उसे शांत कहा जाता है, जो अनाहत, बिना आघात के उत्पन्न, ध्यान में श्रूयमान, मेघ-गर्जन के समान प्राकृतिक आदि शब्द हैं, उसका भी परम कारण शक्ति है। उसके भी परम कारण– सच्चिदानंद-स्वरूप शांत-पद को जो योगी प्राप्त कर लेता है, उसके समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं।

बाल के अग्र भाग को पचास हजार भागों में विभक्त किया जाए, पुनश्च उनपचास हजार में से एक भाग के सहस्र भाग किए जाएं, उस भाग का भी जो अर्ध भाग है, उसके सदृश सूक्ष्मातिसूक्ष्म वह निरंजन विशुद्ध ब्रह्म है। इसका तात्पर्य यह है कि वह अत्यंत सूक्ष्म, अव्यक्त परम तत्त्व है।

जैसे पुष्प में गंध, दूध में घृत, तिल में तेल, पत्थर में सोना अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, वैसे ही आत्मा समस्त प्राणियों में विद्यमान है। निश्चयात्मिका बुद्धि से युक्त, अज्ञान रहित ब्रह्मवेत्ता मणियों की माला में सूत्र की तरह अव्यक्त आत्मा को व्याप्त जान कर उसके ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहते हैं।[1]

२. स्वरूपज्ञान

ब्रह्म त्रिताप विवर्जित, छः कोषों के धातु से शून्य, षट् उर्मियों से रहित, पंच कोशातीत, षट् भाव विकारों से विरहित– सबसे विलक्षण है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक– ये तीन ताप हैं, जो कर्ता-कर्म-कार्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, भोक्ता-भोग-भोग्य, इस प्रकार प्रत्येक तीन प्रकार के हैं। चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, नाड़ी, मज्जा– ये छः कोश या धातुएं हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य– ये छः शत्रु वर्ग हैं।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय– ये पाँच कोश हैं। प्रियता, उत्पत्ति, वृद्धि, परिवर्तन, ह्रास, नाश– ये छः भाव विकार हैं। क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु– ये छः उर्मियाँ

---

१. ध्यानबिन्दूपनिषद्, कृष्णयजुर्वेदीय, श्लोक-१-७, कल्याण (उपनिषद्-अंक), पृष्ठ : ६६६.

हैं। कुल, गोत्र, जाति, वर्ग, आश्रय, रूप– छः भ्रम हैं। इन सबके योग से परम पुरुष ही जीव होता है, दूसरा नहीं। जो इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है, वह अग्निपूत, वायुपूत और आदित्यपूत होता है। वह रोगविहीन, श्रीसंपन्न, समृद्ध हो जाता है, विद्वान् हो जाता है, महापापों से विमुक्त हो जाता है। पवित्र हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि से वह बाधित नहीं होता। संपूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। इसी जन्म में वह परम-पद प्राप्त करता है।[1]

३. स्वत्वानुभूति

अद्वैत वेदांत में सत्य स्वरूप के अवबोध के संदर्भ में एक दृष्टांत द्वारा समझाया गया है–

नीचानां वसतौ तदीयतनयैः सार्धं चिरं वर्धित-
स्तज्जातीयमवैति राजतनयः स्वात्मानमप्यञ्जसा।
संवादे महदादिभिः सह वसंस्तद्वद्भवेत्पूरुषः
स्वात्मानं सुखदुःखजालकलितं मिथ्यैव धिङ्मन्यते।।

दाता भोगकरः समग्रविभवोः यः शासिता दुष्कृतां,
राजा स त्वमसीति रक्षितृमुखाच्छ्रुत्वा यथावत्स तु।
राजीभूय जयार्थमेव यतते तद्वत्पुमान्बोधितः,
श्रुत्या तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव संपद्यते।।

एक राजपुत्र (शैशव से ही संयोगवश) नीच जनों की बस्ती में रहने लगा। उन्हीं के बच्चों के साथ बड़ा हुआ। राजपुत्र सहज ही अपने को उन्हीं की जाति का समझने लगा (जो सत्य नहीं था)। उसी प्रकार पुरुष (जीव) महत् आदि प्रकृति-जनित सांसारिक उपकरणों के बीच रहता हुआ, अपने को सुख-दुःख के जाल में फंसा हुआ, अधन्य मानता है, जो मिथ्या है।

"तुम तो वह राजा हो, जो दाता (बहुत कुछ देने में समर्थ), सुख-भोग का अधिकारी, अत्यंत वैभवशाली तथा दुष्टों का नियामक होता है।" जब वह राजपुत्र (वहाँ पहुँचे हुए) रक्षकों के मुख से यह सुनता है, अपने को राजा अनुभव करने लगता है, विजयार्थ यत्नशील होता है। उसी प्रकार पुरुष (आत्मा) जब 'तत्त्वमसि' (तत् त्वम् असि– तुम ब्रह्म हो) इस श्रुति (वेद) वाक्य द्वारा प्रतिबोधित होता है, तो वह अज्ञानमूलक असत् का परित्याग कर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।[2]

---

१. ऋग्वेदीय उपनिषद्, चतुर्थ-खंड, श्लोक-१ से १०, कल्याण (उपनिषद्-अंक) पृष्ठ : ६७७,६७८.
२. सर्वदर्शन संग्रह : शांकर दर्शन, पृष्ठ : ८८७.

४ वैराग्य, तत्त्वज्ञान एवं समाधि

शिष्य ने गुरु से पूछ– जीवों के अनादि संसार रूप भ्रम की निवृत्ति कैसे होती है ? मोक्ष-मार्ग का स्वरूप कैसा है ? मोक्ष का साधन क्या है ? उपाय क्या है ? सायुज्य-मुक्ति क्या है ? यह सब तत्वत: समझाएं।

गुरु ने बड़े आदर के साथ शिष्य की प्रशंसा करते हुए कहा, सावधान होकर सुनो– निंदनीय, अनंत जन्मों में पुन:-पुन: कृत– किये हुए, अत्यंत पुष्ट, अनेकविध, विचित्र, अनंत दुष्करों के समूहों के कारण जीव को शरीर एवं आत्मा के पृथक्त्व का बोध नहीं होता, इसी कारण देह ही आत्मा है, ऐसा अत्यंत दृढ़ भ्रम बना रहता है।

मैं अज्ञानी हूँ, अल्पज्ञ हूँ, जीव हूँ, अनंत दु:खों का निवास हूँ, अनादिकाल से जन्म-मरणात्मक संसार में पड़ा हूँ। इस प्रकार की भ्रांत वासना के कारण उसकी संसार में प्रवृत्ति होती है। उसके निवृत्ति का उपाय कदापि नहीं होता।

मिथ्यात्व-युक्त, स्वप्नसदृश विषय-भोगों का अनुभव कर अनेक प्रकार के असंख्य, अनंत, दुर्लभ मनोरथों की निरंतर आशा करता हुआ अतृप्त जीव सदा दौड़ता रहता है। अनेक प्रकार के विचित्र स्थूल-सूक्ष्म, उत्तम, अधम, अनंत शरीर धारण कर उन-उन शरीरों में प्राप्त होने योग्य विविध, विचित्र अनेक, शुभ-अशुभ प्रारब्ध कर्मों को भोग कर उन-उन कर्मों के फलात्मक विषयों में ही प्रवृत्ति होती है।

संसार से निवृत्ति के मार्ग में उनकी रुचि नहीं होती। अत: अनिष्ट ही उनको इष्ट की भाँति प्रतीत होता है। सांसारिक वासनामय, विपरीत भ्रम से इष्ट– मंगल स्वरूप मोक्ष-मार्ग उनको अनिष्ट की तरह जान पड़ता है। इसलिए सभी जीवों की इष्ट विषय में सुखात्मक बुद्धि होती है और उसके न प्राप्त होने से पर दु:खात्मक बुद्धि होती है। वास्तव में अबाधित– शाश्वत ब्रह्मसुख या ब्रह्मानंद के लिए तो उनमें रुचि, प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उनको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। मोक्ष और बंधन को वे नहीं जानते, क्योंकि उनमें अज्ञान की प्रबलता है। उनमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की भावना नहीं होती। उसका कारण यह है कि उनके अंत:करण में मलिनता है।

इससे छूटने का, संसार से पार होने का उपाय बतलाते हुए गुरु कहते हैं– अनेक जन्मों में किए हुए अत्यंत श्रेष्ठ पुण्यों के फल के उदित होने से सत्पुरुषों का संग प्राप्त होता है, जिससे शास्त्रों के सिद्धांतों का रहस्य समझ में आता है। विधि तथा निषेध का बोध होता है, तब सदाचार में प्रवृत्ति होती है। उसके परिणामस्वरूप संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। पापों का नाश हो जाने से अंत:करण अत्यंत निर्मल हो जाता है।

सद्गुरु की कृपा से श्रेय के मार्ग में आने वाले विघ्न एवं सभी बंधन नष्ट हो जाते हैं। सभी श्रेयस्कर, कल्याणकारी गुण स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। जैसे एक जन्मांध पुरुष को रूप का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार गुरु के उपदेश बिना करोड़ों कल्पों में भी तत्त्वज्ञान नहीं होता।

जब सद्गुरु की कृपा होती है, तब परमात्म तत्त्व की चर्चा, ध्यान आदि करने में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उससे हृदय में स्थित दुर्वासना ग्रंथि का नाश हो जाता है। हृदय में स्थित संपूर्ण कामनाएं नष्ट हो जाती हैं। उससे हृदय-कमल की कर्णिका में परमात्मा आविर्भूत हो जाते हैं।

विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य से बुद्धि में विज्ञान– तत्त्वज्ञान प्रगट होता है। अभ्यास द्वारा वह ज्ञान उत्तरोत्तर परिपक्व हो जाता है। परिपक्व विज्ञान से पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। सभी शुभाशुभ कर्म वासनाओं के साथ नष्ट हो जाते हैं, तब अत्यंत दृढ़ सात्त्विक भावना द्वारा अतिशय भक्ति होती है। अतिशय भक्ति से परमात्मावस्था प्रकाशित होती है। इस प्रकार निरंतर भक्ति-पूर्वक समाधि की परंपरा से समस्त अवस्थाओं में परमात्मस्वरूप की प्रतीति होती है। ऐसे महापुरुषों को परमात्मसाक्षात्कार भी होता है।

इस महापुरुष की जब त्याग की इच्छा होती है, तब भगवान् के पार्षद– दूत उसके निकट आते हैं। वह भगवान् का ध्यान करता हुआ कमल में स्थित परमात्म-तत्त्व का अपनी अंतरात्मा में चिंतन करता हुआ उनकी भलीभाँति भावपूजा करता है, फिर 'सोऽहं' का उच्चारण करता हुआ सभी इंद्रियों का संयम कर मन का भलीभाँति निरोध करता है। प्रणव का उच्चारण करता हुआ उसके अर्थ का अनुसंधान करता है। ऊर्ध्वगामी प्राणवायु के साथ धीरे-धीरे ब्रह्मरंध्र से बाहर चला जाता है।

दस इंद्रिय, मन और बुद्धि इन बारह के अंत में उनके आधार रूप में अवस्थित परमात्मा को, चेतन तत्त्व को समाहित कर मानसिक रूप में उसका आस्वाद करता है। इस प्रक्रिया द्वारा परमात्म-साक्षात्कार का उपक्रम करता है। उसमें सफलता प्राप्त कर वह ब्रह्मानंद का अनुभव करता है।[1]

५ निर्मल ज्ञान

जीवन ऊँची-ऊँची उछलती हुई लहरों की तरह चंचल है। यौवन की सुंदरता कुछ ही दिनों तक टिकने वाली है। अर्थ-संपत्ति, वैभव, मनोरथ, मन की कल्पना के समान अस्थिर हैं। अर्थात् मन में एक कल्पना उठती है और तत्काल नष्ट हो जाती है। उसी तरह धन, वैभव नष्ट हो जाते हैं। भोग-समुच्चय वर्षा ऋतु के मेघों के मध्य विद्युत की चमक की तरह नश्वर हैं। ललनाओं का प्रेम प्रदर्शन भी क्षणिक है। अत: संसार के भयरूपी समुद्र को पार करने के लिए ब्रह्म– परमात्मा में अपने चित्त को लवलीन करे।[2]

---

१. वाल्मीकि, रामायण, उत्तरकांड, अध्याय-५, श्लोक-३-७.

२. वैराग्यशतक, श्लोक-३६.

अनेक प्रकार के भोग क्षणभंगुर– नश्वर हैं। उनके कारण यह संसार भी वैसा ही है। इसलिए हे सांसारिक लोगों ! आप किस दुर्लभ वस्तु को पाने के लिए परिभ्रमण कर रहे हों। आप की ये चेष्टाएं निरर्थक हैं, इसलिए आशारूपी सैकड़ों बंधनों से अपने चित्त को मुक्त करो, निर्मल बनाओ। भोगों से हटकर उसको आत्म-मंदिर में, आत्म-साक्षात्कार में लगाओ।[1]

हे चित्त ! तूं बड़ा चंचल है। कभी पाताल में बहुत नीचे चला जाता है तो कभी आकाश में ऊँचा घूमता है, फिर आकाश को लांघकर दिशाओं के मंडल में चक्कर लगाता है। तूं आत्महित कर, आत्म श्रेयस्कर शुद्ध ब्रह्म का स्मरण क्यों नहीं करता ? जिससे तुम्हें सच्ची शांति का अनुभव हो।[2]

जिसके प्राप्त होने पर तीनों लोकों का आधिपत्य भी रसहीन हो जाता है, उसे पाकर फिर आसन, वस्त्र, सम्मान आदि प्राप्त करने में, उनका भोग करने में, रति– अनुराग मत करना। अध्यात्म ही एक नित्य एवं अनवरत प्राप्त होने वाला परम आनंद है, जिसका आस्वाद ले लेने पर तीनों लोकों के राज्य आदि विषय फीके लगने लगते हैं।

हे पृथ्वी माता ! हे पवन भैया, हे अग्नि मित्र, हे सुबंधु जल, हे आकाश भ्राता यह आपको मेरा अंतिम प्रणाम है। क्योंकि आप की संगति के कारण उत्पन्न पुण्य से प्राप्त विशद निर्मल ज्ञान द्वारा समस्त अज्ञान परंपरा का नाश करता हुआ, मैं परब्रह्म मे लीन हो रहा हूँ।

जिस नित्य– शाश्वत, परम कल्याणमय ब्रह्मानंद में निमग्न पुरुष, ब्रह्मा, इंद्र आदि देव-वृंद तृण के समान तुच्छ मानता है, जिसका आस्वाद प्राप्त होने पर तीनों लोकों का राज्य आदि संपत्तियाँ भी निरस प्रतीत होती हैं। हे साधो ! उसके अतिरिक्त अन्य क्षणभंगुर भोगों में तुम अनुरागी मत बनो।[3]

विवेक चूड़ामणि में ब्रह्म-ज्ञान का मार्ग-दर्शन

विवेक चूड़ामणि आद्य शंकराचार्य द्वारा रचित एक संक्षिप्त किंतु सारगर्भित ग्रंथ है। उसमें उन्होंने बड़े ही प्रेरक शब्दों में उल्लेख किया है– "चाहे कोई शास्त्रों की व्याख्या करे, देवताओं का यजन करे, नाना शुभ कर्म करे अथवा देवार्चन करे तथापि आत्मैक्य– ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध नहीं होता, तब तक सैंकड़ों ब्रह्मकल्पों के व्यतीत हो जाने पर भी मुक्ति, सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

श्रुति कहती है– धन से अमृतत्त्व की आशा नहीं की जा सकती। न कर्म में ही मुक्ति का हेतु है।

---

१. वैराग्यशतक, श्लोक-३९. २. वैराग्यशतक, श्लोक-७०. ३. वैराग्यशतक, श्लोक-४०.

वस्तुत: न कर्मकांड से न प्रजा– संतति से तथा न धन-संपत्ति से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। ऐसा होने की न कोई आशा है और न कोई संभावना है।

काम्य– कामनायुक्त या सकाम, श्रौत एवं स्मार्त– स्मृतियों में निरूपित कर्मों का परित्याग कर, सन्यास-आश्रम को स्वीकार कर महात्मा, महापुरुष मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। इसलिए विद्वान्– विवेकशील, ज्ञानी पुरुष समस्त बाह्य भोगों का, सुखों का, स्पृहा का, आकांक्षा का परित्याग कर महान् ज्ञानी– गुरु की शरण में जाए और उन द्वारा प्रदत्त उपदेश में चित्त को समाहित कर मुक्ति एवं सिद्धि की दिशा में प्रयत्नशील बने।

सम्यक्-दर्शन में निष्ठा-युक्त होता हुआ योगारूढ़– अध्यात्म-योग में सन्निविष्ठ बन कर साधक, संसार-सागर में डूबती हुई अपनी आत्मा का उद्धार करे।[1]

मुक्ति हेतु शिष्य की पृच्छा

शिष्य अपने महान् ज्ञानी गुरुवर्य से जिज्ञासा पूर्वक पूछता है– समस्त लोगों द्वारा पूजनीय, सबके हितकारक, कल्याणकारी गुरुदेव ! मैं आपको नमन करता हूँ। मैं संसार-सागर में डूब रहा हूँ। आप अपनी आर्जव-युक्त, अत्यंत कारुण्य रूपी अमृत से परिपूर्ण दृष्टि द्वारा मेरा उद्धार करें।

जिससे छूट पाना अत्यंत कठिन है, उस संसार रूपी दावानल से जलता हुआ तथा दुर्भाग्यरूपी प्रबल प्रभंजन तूफान से अत्यंत प्रकंपित एवं भयभ्रांत हुआ, मैं आपकी शरण में हूँ। मेरी आप रक्षा करें, क्योंकि इस समय मैं और किसी को शरण्य– शरण देने वाला नहीं देखता।[2]

गुरु द्वारा समाधान

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपाय: संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपाय:।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि।।

गुरु बड़े कृपापूर्ण शब्दों में उत्तर देते हुए कहते हैं– हे विद्वन् ! तुम डरो मत, तुम्हारे लिए मात्र अपाय– नाश या विघ्न ही नहीं है। संसार-सागर को पार करने का उपाय भी है। यति– सन्यासी या योगी जिस मार्ग द्वारा संसार-सागर को पार कर गए, वही मार्ग मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

श्रद्धा, भक्ति, ध्यान एवं योग, इनको श्रुति मुमुक्षु के लिए मुक्ति के साक्षात् हेतु बतलाती है। जो इनमें अवस्थित हो जाता है, उसका अविद्या कल्पित– अज्ञान-प्रसूत देह-बंधन छूट जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

---

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-६-८.

२. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-३७, ३८.

तुम परमात्मा हो, परमात्म-स्वरूप हो, सांसारिक रूप प्राप्त हुआ है। अज्ञान के कारण ही तुम्हें अनात्म-बंधन हुआ है। आत्मा और अनात्मा के विवेक से उत्पन्न हुई बोध रूपी अग्नि, अज्ञान रूप कारण से उत्पन्न संसार रूप कार्य को मूल सहित दग्ध कर डालेगी।[1]

पुनः प्रश्न

"स्वामिन् ! कृपया श्रवण कीजिए– मैं प्रश्न कर रहा हूँ, आप के मुख से मैं उसका उत्तर सुनकर कृतार्थ हो जाऊंगा।

बंधन क्या है ? यह कैसे हुआ ? उसकी स्थिति कैसी है ? इससे मोक्ष कैसे मिल सकता है ? अनात्म क्या है ? परमात्मा क्या है ? उनका विवेक– परमात्मा और अनात्मा का पार्थक्य-बोध कैसे होता है ? यह कृपया बतलाइए।"[2]

पुनः समाधान

शिष्य तुम धन्य हो, कृतकृत्य हो। तुमने अपने कुल को पवित्र किया, क्योंकि अविद्या रूपी बंधन से छूट कर ब्रह्मभाव को प्राप्त करना चाहते हो।

पिता के ऋण का मोचन करने वाले, चुकाने वाले तो पुत्र आदि भी होते हैं, किंतु संसार के बंधन से मोचन कराने वाला, अपने आप से भिन्न कराने वाला और कोई नहीं है।

जैसे मस्तक आदि पर रखे हुए बोझ को तो दूसरे ही दूर कर सकते हैं, किंतु क्षुधा और पिपासा आदि से जनित दुःख को तो अपने अतिरिक्त और कोई मिटा नहीं सकता। जिस प्रकार जो रोगी औषधि का और पथ्य का, समुचित आहार आदि का सेवन करता है, उसको आरोग्य रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है। किसी अन्य द्वारा किए हुए कार्यों से रोग-मुक्त नहीं हो सकता। विवेकी पुरुष को अपना वास्तविक स्वरूप अपने उद्‌बोध नेत्रों द्वारा ही जानना चाहिए।

जैसे चंद्रमाँ का स्वरूप अपने ही नेत्रों द्वारा देखा जाता है। क्या वह अपने लिये दूसरों के द्वारा देखा जा सकता है?

अविद्या, कामना अथवा कर्म आदि के पाश के बंधनों को सौ करोड़ कल्पों में भी अपने अतिरिक्त कौन विमोचित कर सकता हैं, कौन खोल सकता है?

---

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-४५, ४८, ४९.
२. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-५०, ५१.

मोक्ष न योग से, न सांख्य से, न कर्म से और न विद्या से ही सिद्ध हो सकता है। वह तो ब्रह्म एवं आत्मा की एकता के बोध से ही होता है और किसी प्रकार से नहीं होता।

जैसे वीणा का रूप-सौंदर्य तंत्री के सौष्ठव वादन से ही लोगों को रंजित करता है, उनके मनोरंजन का हेतु होता है। उससे कोई साम्राज्य की प्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार विद्वानों की वाग्वैखरी– वाणी की कुशलता, शब्दझरी– धारा-प्रवाह या भाषण-प्रवणता, शास्त्रों के विवेचन का नैपुण्य और वैदुष्य, भोग का– लोगों की श्रोत्रेंद्रिय को सुख देने का ही कारण हो सकता है, मोक्ष का नहीं।

यदि परम तत्त्व को नहीं जाना तो शास्त्रों का अध्ययन निष्फल– निष्प्रयोज्य है और यदि परम तत्त्व को जान लिया तो शास्त्राध्ययन निष्फल है।

शब्दों का जाल एक बहुत बड़े जंगल के समान है, जो चित्त को भ्रांत करता है, भटकाता है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक आत्मा के परमतत्व को ही जानना चाहिए। अज्ञानरूपी सर्प द्वारा दष्ट– डसे हुए व्यक्ति के लिए ब्रह्मज्ञान रूपी औषधि के बिना वेद, शास्त्र, मंत्र एवं औषधियों से कोई लाभ नहीं होता।[1]

अपरोक्षानुभूति से मुक्ति

औषधि-पान के बिना केवल औषधि शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार अपरोक्षानुभूति के बिना केवल ब्रह्म शब्द के उच्चारण मात्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दृश्य-प्रपंच– जगत् में दिखाई देने वाले बहुत प्रकार के कार्य-कलापों का विलय हुए बिना, उनमें आसक्ति मिटे बिना एवं आत्मतत्त्व को जाने बिना, केवल बाह्य शब्दों द्वारा, केवल उच्चारण करते रहने से मनुष्य को मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?

शत्रुओं का संहार किए बिना, समस्त भूमंडल की श्री लक्ष्मी को प्राप्त किए बिना, 'मैं राजा हूँ', ऐसा कहने मात्र से कोई राजा नहीं हो सकता। पृथ्वी में गुप्त धन को प्राप्त करने हेतु जैसे पहले किसी आप्त– विश्वास-योग्य पुरुष के कथन की और पृथ्वी के खनन की, भू पर स्थापित सेना आदि के उत्कर्षण की– वहाँ से हटाने की और फिर प्राप्त धन को स्वीकार करने की आवश्यकता होती है। केवल धन विषयक कोरी बातों से वह धन हस्तगत नहीं हो सकता। उसी प्रकार माया-प्रपंच से रहित विशुद्ध आत्म-तत्त्व भी ब्रह्मवेत्ता गुरु के उपदेश तथा तदनुसार उस पर मनन, ध्यान आदि से ही प्राप्त होता है। दूषित– निरर्थक वृत्तियों या बातों द्वारा वह प्राप्त नहीं होता।

अत: जिस प्रकार रोग की निवृत्ति के लिए ज्ञानी जनों के लिए प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार भव-बंधन की मुक्ति के लिए भी तुम्हें प्रयत्न करना चाहिए।[2]

---

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-५२-६३. २. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-६४-६८.

अज्ञान का नाश : परमात्मानुभूति

पुरुष का अनात्म वस्तु में– पर पदार्थों में अहम् बुद्धि का होना ही बंधन का हेतु है। वह जन्म-मरण रूप कष्टों को प्राप्त कराने वाले अज्ञान से प्राप्त होता है। इसके कारण यह जीव इस असत्– नश्वर देह को सत्य समझ कर, इसमें आत्म-बुद्धि मानने लगता है। रेशम के कीड़े के समान वह विषय रूपी कुंथुओं द्वारा अपना पोषण, संमार्जन और रक्षण करता रहता है।

मोहमूढ़ पुरुष को तमोगुण के कारण ही अन्य में 'अन्य-बुद्धि' होती है। अर्थात् जो जैसा नहीं है, वह वैसा मानता है। जिसमें विवेक नहीं होता, वह पुरुष रज्जु को सर्प मानने लगता है, उसको भिन्न-भिन्न प्रकार के अनर्थ आ घेरते हैं। वह असत् को सत् मानता है, यही बंधन है। अखंड, नित्य, अद्वितीय बोध सत्य से शुद्ध होते हुए अनंत वैभव-युक्त आत्म-तत्त्व को यह तमो-गुणमयी आवरण-शक्ति इसी प्रकार आवृत्त कर लेती है, जैसे राहु सूर्यमंडल को ढक लेता है।

दृश्यमान जगत् को अविनाशी, सत्य मानना अज्ञान है। उससे व्यक्ति सत् आत्मा को नहीं जान पाता, उसका व्यवहार विपरीत या उल्टा हो जाता है। अत्यंत निर्मल, तेजोमय, आत्म-तत्त्व के तिरोहित, अदृश्य या लुप्त हो जाने पर पुरुष अनात्म देह को ही मोहवश 'मैं हूँ' ऐसा मानने लगता है। तब रजोगुणमय विक्षेप नामक अत्यंत प्रबल शक्ति काम, क्रोधादि अपने बंधनकारक गुणों से उसको अत्यंत व्यथित, दुःखित करने लगती है। इसके फलस्वरूप यह कुत्सित मतियुक्त जीव भिन्न-भिन्न प्रकार की नीच गतियों में विषरूपी विषय से भरे हुए इस संसार रूपी सागर में डूबता-उतराता है।

मोह रूपी ग्राह के पंजों में पड़ने से उसका आत्मज्ञान नष्ट हो जाता है। वह बुद्धि के गुणों का अभिमानी होकर उसकी नाना अवस्थाओं का अभिनय करता हुआ भटकता है। जिस प्रकार सूर्य की प्रभा से संजनित (पैदा हुई) बादलों की पंक्ति सूर्य को ही आवृत्त कर स्वयं फैल जाती है, उसी प्रकार आत्मा से प्रकटित अहंकार आत्मा में ही स्वयं अवस्थित हो जाता है।[1]

आत्मज्ञान– मुक्ति का उपाय

जो असंग– आसक्ति रहित, निष्क्रिय– क्रिया-रहित, निराकार– आकृति रहित है, उसका, उस आत्मा का तदितर पदार्थों से उसी प्रकार कोई संबंध नहीं, जिस प्रकार आकाश का नीलेपन आदि से कोई संबंध नहीं होता। यह सब भ्रमजनित है। आनंद स्वरूप उस आत्मा में भ्रांति के ही कारण जीवनाभाव की प्राप्ति होती है। वह सत्य वास्तविक नहीं है। वह अवस्तु रूप है, जो मोह के दूर हो जाने पर स्वयं मिट जाती है।

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-१३९-१४४.

लोक में अविद्या का और उसके कार्य जीव-भाव का अनादित्व माना जाता है, किंतु जागरित हो जाने पर जैसे संपूर्ण स्वप्न-प्रपंच समूल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान के उदित हो जाने पर अविद्या-जनित जीव-भाव का नाश हो जाता है।[1]

ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रशस्त पथ

ब्रह्मसाक्षात्कार के पथ पर गतिशील साधक को क्रिया, चिंता और वासना का त्याग करना परम आवश्यक है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए विवेक चूडामणि के रचनाकार लिखते हैं कि अहंकार रूपी शत्रु का निग्रह कर, पुन: विषय-चिंतन द्वारा उसे उत्थित होने का अवसर कदापि नहीं देना चाहिए , क्योंकि जिस प्रकार सूखा हुआ जंबीर का वृक्ष जल द्वारा सिंचित किए जाने पर जीवित हो जाता है, उसी प्रकार विषय-चिंतन से अहंकार उद्दीप्त हो जाता है।

जो पुरुष देह में आत्म-बुद्धि रखता है वही कामी– कामना युक्त होता है। जो विलक्षण है– जो देह में आत्म-बुद्धि नहीं रखता, वह कामयिता– कामयुक्त कैसे हो सकता है?

भेद-प्रसक्ति के कारण विषय-चिंतन में संलग्न रहना भी संसार-बंधन का मुख्य कारण है।

कार्य के प्रवर्धन से– बढ़ने से उसके बीज की वृद्धि परिदृष्ट होती है तथा कार्य का नाश हो जाने से बीज भी नष्ट हो जाता है। इसलिए कार्य का निरोध– नाश कर देना चाहिए।

वासना की वृद्धि से काम की वृद्धि होती है तथा काम के बढ़ने से वासना और बढती है। इस प्रकार मनुष्य का संसार सर्वथा निवृत्त नहीं हो पाता, छूट नहीं पाता। अत: संसार के बंधन की विच्छित्ति के लिए– काटने के लिए यति को चाहिए कि वह इन दोनों का नाश करे।

चिंता और क्रिया इन दोनों से ही वासना की वृद्धि होती है। इन दोनों से प्रवर्धमान वासना आत्मा के लिए संसृति रूप बंधन उत्पन्न करती है। इन तीनों के क्षय का उपाय सदैव समस्त अवस्थाओं में सर्वदा, सर्वत्र, सब ओर, सबको ब्रह्म मात्र देखना है। इस सद्भाव ब्रह्मरूप वासना के दृढ़ हो जाने पर इन तीनों का क्षय हो जाता है।[2]

आत्मनिष्ठा एवं विमुक्ति

जो समस्त स्थावर और जंगम पदार्थों के भीतर और बाहर अपने को ज्ञान स्वरूप से उनका आधारभूत देखता है, समस्त उपाधियों का परित्याग कर अखंड एवं पूर्ण रूप से अवस्थित रहता है, वही मुक्त है। संसार बंधन से सर्वथा विमुक्त होने का हेतु सर्वोत्तम भाव है। उससे बढ़ कर और कोई

---

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-१९७, १९८, २००. २. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-३११, ३१७.

कारण नहीं है। निरंतर दृश्य के आग्रह में– आत्मनिष्ठा में स्थित रहने से दृश्य का अग्रहण हो जाता है, दृश्य बाधित हो जाता है और सर्वोत्तमभाव की प्राप्ति होती है।

जो व्यक्ति देहात्मा बुद्धि में स्थिर रहकर, शरीर को आत्मा मान कर बाह्य पदार्थों की मन में आसक्ति रखते हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए निरंतर उद्यत रहते हैं, उनको दृश्य की अप्रतीति कैसे हो सकती है? अत: शाश्वत आनंद के इच्छुक तत्त्ववेत्ता को चाहिए कि वह समस्त धर्म, कर्म एवं विषयों को त्याग कर निरंतर आत्मनिष्ठा में तत्पर बने। अपनी आत्मा में प्रतीयमान दृश्यरूप प्रपंच का प्रयत्नपूर्वक निरोध करे।[1]

समाधि द्वारा अद्वैत स्वरूपानुभूति

जब निर्विकल्प समाधि द्वारा अद्वैत आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, तब हृदय की अज्ञान रूप ग्रंथी का सर्वथा नाश हो जाता है।

अद्वितीय और निर्विशेष परमात्मा में बुद्धि के दोष के कारण 'त्वं' और 'अहं'– ऐसी कल्पना होती है। वह विकल्प समाधि में विघ्न रूप से स्फुरित होती है, किंतु तत्त्व का यथावत्– सही रूप में ग्रहण होने से वह सब लीन हो जाता।

योगी चैतसिक शांति, इंद्रिय-दमन, विषयों से उपरति– विरक्ति तथा शांति और समाधि का निरंतर अभ्यास करता हुआ, अपने आप में सर्वात्म-भाव का अनुभाव करता है। उसके द्वारा अविद्यारूप अंधकार से जनित समस्त विकल्पों को भलीभाँति दग्ध कर, ध्वस्त कर, निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनंदपूर्वक ब्रह्माकार-वृत्ति में विद्यमान रहता है।

जो पुरुष श्रोत्र आदि इंद्रिय वर्ग– समूह, चित्त एवं अहंकार इन बाह्य वस्तुओं को चिदात्मा में लीन कर समाधि में संस्थित होते हैं, वे ही संसार-बंधन से मुक्त हैं, जो केवल परोक्ष ब्रह्मज्ञान की कथा करते हैं, चर्चा करते रहते हैं, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते।

आत्मा में जो भेद प्रतीति होती है, वह उपाधि के भेद से ही होती है। जब उपाधि का लय हो जाता है तो आत्मा केवल स्वयं ही रह जाती है। अत: उपाधि का लय करने हेतु विचारशील पुरुष को सदा निर्विकल्प-समाधि में अवस्थित रहना चाहिए।एक निष्ठा से– एकाग्र चित्त द्वारा पुरुष निरंतर सत् स्वरूप ब्रह्म में संस्थित रहने से उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, जैसे भयपूर्वक भ्रमर का ध्यान करते-करते कीड़ा भ्रमरत्त्व– भ्रमरस्वरूप पा लेता है।

---

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-३३९-३४१.

परमात्म-तत्त्व अत्यंत सूक्ष्म है। उसे कोई भी पुरुष स्थूल दृष्टि से प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए सत्पुरुषों को चाहिए कि वे उसे समाधि द्वारा अत्यंत सूक्ष्म बुद्धि से जाने।

इस प्रकार अग्नि में पुटपाक-विधि द्वारा भलीभाँति जलाकर शुद्ध किया हुआ सुवर्ण समग्र मल का त्याग कर अपने आत्म-गुण को, स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मन ध्यान के द्वारा सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण रूप मल का परित्याग कर आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

जब निरंतर– अहर्निश अभ्यास से परिपक्व होकर मन ब्रह्म में लीन हो जाता है, उस समय अद्वितीय ब्रह्मानंद रस का जिससे अनुभाव होता है, वहाँ निर्विकल्प समाधि स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।

निर्विकल्प समाधि के सिद्ध हो जाने पर समस्त वासनात्मक ग्रंथियों का नाश हो जाता है। वैसा होने पर संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं और फिर भीतर-बाहर सर्वत्र, सर्वदा बिना किसी प्रयत्न के ही आत्म-स्वरूप स्फुरित होने लगता है।

श्रुति– वेदांत के श्रवण से उसका मनन शोभन– उत्तम है। मनन से निदिध्यासन– आत्मभावक चित्त में स्थिरीकरण लाख गुणा श्रेयस्कर है तथा निदिध्यासन से भी निर्विकल्प समाधि का अनंत गुणा महत्त्व है। उससे चित्त फिर आत्मस्वरूप से कभी विचलित नहीं होता।

निर्विकल्प समाधि द्वारा निश्चित रूप से ब्रह्म तत्त्व का स्फुट– विशद ज्ञान होता है और किसी भी प्रकार से वैसा ज्ञान उपलब्ध नहीं हो पाता, क्योंकि अन्य अवस्थाओं में चित्त-वृत्ति चंचलता रहित नहीं होती। उसमें अन्यान्य प्रत्यय– प्रतीतियाँ मिश्रित रहती हैं। अत: साधक अपनी इंद्रियों को संयत बनाकर शांत मन से निरंतर ब्रह्म में चित्त को स्थिर करे और सच्चिदानंदमय ब्रह्म स्वरूप के साथ अपना एक्य साधते हुए, अनादिकाल से चली आ रही अविद्या से उत्पन्न अज्ञान, अंधकार का ध्वंस करे।[1]

चित्त का चैतन्यस्वरूप में अवस्थापन

जो भी विकल्प उत्पन्न होता है, वह चित्तमूलक है। चित्त का अभाव सध जाने पर विकल्प का कहीं स्थान या अवसर नहीं रहता। अत: साधक अपने चित्त को चैतन्य स्वरूप परमात्मा में समाहित करे।

विद्वान्– आत्मज्ञानी नित्यबोध स्वरूप सर्वथा आनंदरूप निरुपम, नित्य, निश्चेष्ट, गगन के तुल्य, अवधि रहित, कला रहित, विकल्प रहित, पूर्ण ब्रह्म का समाधि अवस्था में अपने अंत:करण में साक्षात् अनुभव करता है।

---

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-३६४-३६७.

प्रकृति और विकृति से शून्य, समस्त लौकिक भावनाओं से अतीत समरस, असमान– असदृश प्रमाण की पहुँच से अतीत– दूरवर्ती, निगम-वचनों से सिद्ध नित्य अस्मद्-मूलक स्वरूप में विद्यमान पूर्ण-ब्रह्म की विद्वान्, आत्मवेत्ता समाधि अवस्था में अपने हृदय में अनुभूति करते हैं।

अजर– जरा-रहित, अमर– मृत्यु-रहित, अस्ताभास– आभास-रहित वस्तुस्वरूप, निश्चल जलराशि के तुल्य, आख्याविहीन– नाम रहित गुणात्मक विकार से शून्य शाश्वत, शांत अद्वितीय पूर्ण-ब्रह्म को आत्मज्ञानी समाधि अवस्था में अपने अंतस्थल में आकलित करते हैं।

समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त, सच्चिदानंद स्वरूप, अद्वितीय आत्मस्थ आत्मा का, परमात्मा का चिंतन करो। इससे पुनः भवचक्र में नहीं आओगे।[1]

अवधूत गीता में ब्रह्मानुभूति का विवेचन

वैदिक साहित्य में अवधूत गीता का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ऐसा माना जाता है कि यह अवधूत दत्तात्रेय द्वारा प्रणीत है।

अवधूत शब्द भारतीय साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। विशेषतः योग में इसका प्रयोग प्राप्त होता है।

दत्तात्रेय ब्रह्मा, विष्णु और शिव– इन तीनों के अंशावतार माने जाते हैं। श्रीमद्भागवत के तृतीय अध्याय में ऐसा उल्लेख हुआ है कि दत्तात्रेय छठे अवतार थे, जिन्होंने अत्रि ऋषि के घर अनसूया के गर्भ से पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए। उन्होंने अलर्क राजा और प्रह्लाद आदि को अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया। ऐसा माना जाता है कि वह उपदेश ही अवधूत गीता के नाम से प्रसिद्ध है।

अवधूत शब्द योग-वाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। यह 'अव' पूर्वक 'धू' धातु से बना है। जिसका अर्थ हिलाना, कंपाना या शुद्ध करना है। इसके अनुसार अवधूत वह होता है, जो कर्मों को, विकारो को, विभावों को अपने उग्र योग– तपश्चरण द्वारा कंपा देता है। उस संबंध में लिखा है–

यो विलंघ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान्।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते।।

जो पुरुष ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास रूप आश्रमों का तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र रूप वर्णों का विलंघन कर अपने आत्म स्वरूप में ही स्थित रहता है, वह अतिवर्णाश्रमी– वर्णाश्रमों से अतीत, उच्चावस्था-प्राप्त योगी होता है, और भी कहा है–

१. विवेक चूड़ामणि, श्लोक-४०८-४१३.

अक्षरत्वात् वरेण्यत्वात् धूत-संसार-बंधनात् ।
तत्त्वमस्यर्थसिद्धत्वादवधूतोऽभिधीयते ।।

जो अक्षरावस्था– अमरत्व प्राप्त कर लेता है, जो वरेण्य– उत्कृष्टतम स्थिति पा लेता है, जो 'तत्वमसि'– तुम वही हो, ब्रह्म ही हो, ऐसा साध लेता है, वह साधक अवधूत कहा जाता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अवधूत शब्द ऐसे महान् साधकों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो संसार से सर्वथा आनासक्त, तटस्थ, पृथक् रहते हुए अपने आत्मस्वरूप में रमणशील होते थे। श्रीमद्भागवत में ऋषभ का एक ऐसे ही महान् अवधूत के रूप में वर्णन आया है। उन्हें जगत् का जरा भी भान नहीं था। कोई कुछ भी कर जाता तो उन्हें पता नहीं चलता। वे परमात्म-भाव में लीन होकर जगत् के समग्र प्रपंचों से सर्वथा पृथक् हो गए थे। भागवत् का यह वर्णन वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के जीवन के साथ किसी अपेक्षा से संगति लिए हुए है।

भागवतकार ने जड़ भरत का भी एक महान् अवधूत के रूप में वर्णन किया है, जो लोगों द्वारा तरह तरह से उत्पीड़ित, लांछित और अपमानित किए जाने पर भी जरा भी प्रभावित नहीं होते थे। उन्हें यह भान तक न रहता कि कोई उनके साथ मनोज्ञ या अमनोज्ञ, प्रिय या अप्रिय तथा अनुकूल या प्रतिकूल व्यवहार कर रहा है।

इस वर्णन से यह प्रगट होता है कि ऐसे अत्यंत उच्च कोटि के परमात्मभावापन्न साधकों या योगियों की एक परंपरा थी, जो सांसारिकता से अत्यंत अलिप्त, असृष्ट और पृथक् थी। देह उनके लिए सर्वथा गौण था, एक मात्र आत्मपरिणमन में ही सदा संलग्न रहते थे।

अवधूत एवं धूत : विश्लेषण

जैन आगमों में धूत शब्द का प्रयोग हुआ है। आचारांग-सूत्र के छठे अध्ययन का नाम 'धूताध्ययन' है। उसके दूसरे उद्देशक में धूत के स्वरूप का विवेचन हुआ है। उसका निष्कर्ष यह है कि सर्व प्रकार की आसक्तियाँ, काम, राग, मोह, माया, मूर्च्छा आदि से ऊँचा उठा हुआ जो साधक परमोत्कृष्ट वैराग्यमय, त्यागमय जीवन का अनुसरण करता है, समस्त दुर्बलताओं से उन्मुक्त होकर वीतराग प्ररूपित पथ पर प्राणप्रण से अपने आपको लगाए रखता है, उसे धूत कहा जाता है।[2]

धूत का यह विश्लेषण उपर वर्णित अवधूत के विवेचन के साथ संगत प्रतीत होता है। दोनों ही स्थानों में हुए वर्णन का सारांश लगभग एक जैसा है। संभव है धूत शब्द, अवधूत से ही निष्पन्न हुआ

---

१. संस्कृत-हिंदी-कोश (वामन शिवराम आप्टे), पृष्ठ : १०९.
२. आचारांग-सूत्र, प्रथम-श्रुतस्कंध, अध्याय-६, उद्देशक-२, सूत्र-१८३-१८५, पृष्ठ : २०३-२०८.

है। भाषा शास्त्रीय दृष्टि से शब्द के संक्षिप्तिकरण की एक प्रक्रिया रही है, जिसके अनुसार किसी शब्द के कुछ अंश को हटा दिया जाता है। अवशिष्ट अंश ही शब्द के अर्थ को ज्ञापित करता है। जैसे ऋषभदेव से ऋषभ, पार्श्वनाथ से पार्श्व, महावीर से वीर, रामचंद्र से राम, कृष्णचंद्र से कृष्ण इत्यादि इसके अनेक उदाहरण हैं। तद्नुसार धूत शब्द का अर्थ वही माना जा सकता है, जो अवधूत का है। इस प्रकार यह शब्द ब्राह्मण-परंपरा और श्रमण-परंपरा– दोनों में ही किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा है।

निगुर्णाश्रयी ज्ञानमार्गी धारा के महान् संत कबीर ने अपनी वाणी में स्थान-स्थान पर 'अवधू' शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक में अवधूत शब्द का विवेचन करते हुए लिखा है– "भारतीय साहित्य में अवधू शब्द कई संप्रदायों के सिद्ध आचार्यों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। साधारणत: जागतिक द्वन्द्वों से अतीत, मानापमान विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है।"[1]

अवधूत-गीता में अवधूत के स्वरूप का जो वर्णन हुआ है, वह एक ऐसे ब्रह्मत्व या सिद्धत्व की दिशा में सर्वथा समुद्यत साधक का है, जिसके जीवन में लौकिकता का जरा भी संश्लेष नहीं होता। यहाँ साधक में परमात्मभाव या ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव करने की दिशा में अग्रसर होता जाता है।

परमात्मभावानुभूति

अवधूत गीता में उल्लेख हुआ है– एक अवधूत योगी यह चिंतन करता है कि जो सर्व स्वरूप, निष्फल– अव्यय-रहित, गगन की ज्यों निर्लेप, स्वभावत: निर्मल तथा शुद्ध देव हैं, नि:संदेह 'मैं वही हूँ।'

मैं अव्यय– व्यय या विनाश-रहित अथवा विकार-रहित, अंतरहित, शुद्ध विज्ञान स्वरूप हूँ। अत: किसी को, कोई, किसी प्रकार से सुख या दु:ख होता है, वह मैं नहीं जानता। मन से होने वाले शुभ अथवा अशुभ कर्म मेरे नहीं हैं एवं वाणी से होने वाले शुभ अथवा अशुभ कर्म मेरे नहीं हैं। अर्थात् किसी कर्म का मेरे साथ संबंध नहीं है, क्योंकि मैं ज्ञानामृत स्वरूप शुद्ध एवं अतींद्रिय हूँ।

ऐसा अनुभव होता है कि मन आकाश के समान आकार युक्त– विशाल है। वह सर्वतोमुख– सब ओर व्याप्त रहता है, समस्त जगत् रूप में प्रतीत होता है, किंतु यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो मन कोई वस्तु ही नहीं है।

अवधूत यह चिंतन करता है– मैं समस्त विश्व स्वरूप हूँ। आकाश से परे– अतीत हूँ, निरंतर हूँ। ऐसी स्थिति में अपने आपको प्रत्यक्ष या तिरोहित– परोक्ष कैसे समझूं।[2]

---

१. कबीर, पृष्ठ : ३९.

२. अवधूत गीता, श्लोक-६, १०, पृष्ठ : १४, १५.

आत्मकर्तव्य-बोध

दत्तात्रेय आत्मा को संबोधित कर कहते हैं– हे आत्मन् ! तुम एक हो। समत्व-युक्त हो। अतिशय-शुद्ध तथा निर्विकार हो, ऐसा क्यों नहीं समझते ? तुम सदा– अहर्निश उदित हो, अखंडित हो, यह कैसे नहीं मानते ?

तुम आत्मा को सर्वत्र निरंतर एक समझो। मैं ध्याता हूँ, अन्य ध्येय हैं, इस प्रकार अखंड को खंडित कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् आत्मा एक अखंड-तत्त्व है। इसलिए उसकी शुद्धावस्था में मैं ध्यान करता हूँ। दूसरा ध्येय है, ऐसा भेद वहाँ नहीं होता। ध्याता, ध्यान और ध्येय– तीनों मिलकर वहाँ एकरूप हो जाते हैं।

बाहर और भीतर सर्वत्र, सर्वदा तुम शिवकल्याणस्वरूप– मंगलस्वरूप हो, फिर पिशाच की तरह भ्रांत होकर इधर-उधर क्यों दौड़ते हो? संयोग तथा वियोग तुम्हारे लिए है ही नहीं। न तुम हो, न मैं हूँ, न जगत् है, वस्तुत: केवल आत्मा ही है।[1]

परमात्म-भाव– अदेहावस्था

घड़े के टूट जाने पर घटाकाश महा आकाश में लीन हो जाता है। उसी प्रकार देह के सर्वथा विसर्जित हो जाने पर योगी आत्मा के शुद्ध-स्वरूप में या परमात्म-भाव में लीन हो जाता है। अर्थात् वह जन्म-मरण से सदा के लिए छूट जाता है।

'अंते मति सा गति'– देह छोड़ने के समय या मृत्युकाल में जो मति, चिंतन या भावना होती है, वही उस जीव की गति होती है। यह जो कहा गया है, वह उनके संबंध में हैं, जो कर्म से जुड़े हुए हैं, किंतु जो ज्ञानियों के साथ जुड़े हुए हैं, उनके संबंध में यह लागू नहीं होता।

कर्म-युक्त जनों की जो गति होती है, उसे वाणी द्वारा कहा जा सकता। वह इंद्रिय विषय रूप है, किंतु ज्ञान-योग की आराधना करने वाले महानुभावों की गति संसार से रहित है। जन्म-मरण रूप आवागमन से विवर्जित होती है। इसलिए वह शब्दों द्वारा नहीं कही जा सकती।

योगियों का यह मार्ग कल्पित– कल्पना मात्र नहीं है। इसे समझकर जिनके विकल्पों का परिवर्जन हो गया उनको स्वयं ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

योगी चाहे तीर्थ स्थान में या किसी अंत्यज के घर में मरण को प्राप्त करे, किन्तु वह फिर कभी गर्भ में नहीं आता। वह तो ब्रह्म में लीन हो जाता है।

---

१. अवधूत गीता, श्लोक-११-१४, पृष्ठ : १५, १६.

जो पुरुष अपने सहज जन्म रहित, अचिंत्य-स्वरूप का दर्शन कर लेता है– साक्षात्कार कर लेता है तो फिर कभी भी दोषों से लिप्त नहीं होता।

आत्म-द्रष्टापुरुष नित्य, नैमित्तिक आदि कोई भी कर्म न करे तो भी वह बद्ध नहीं होता, क्योंकि वह संयमी और तपस्वी होता है।

अत एव एक साधक मन में यह भावना करता है– "मैं निरामय– दोष-रहित, निष्प्रतिम– प्रतिमा या उपमा-रहित, निराकृति– आकार-रहित, निराश्रय– आश्रय-रहित, शरीर-रहित, इच्छा-रहित, निर्द्वन्द्व– राग-द्वेष आदि द्वन्द्व-रहित, मोह-वर्जित, अलुप्त, अविनष्ट, शक्तिशाली, आत्मरूप परमेश्वर की शरण ग्रहण करता हूँ।"[1]

सांख्य दर्शन में समस्त दुःखों के नाश को मोक्ष कहा है। वहाँ आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन किया गया है। यद्यपि संसार में इनको मिटाने के उपाय दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु उनसे दुखों का ऐकांतिक और आत्यन्तिक विनाश नहीं होता। स्वर्ग प्राप्त होने पर भी वे दुःख सर्वथा नहीं मिटते, क्योंकि स्वर्ग भी शाश्वत नहीं है। आयुष्य समाप्त होने पर देवों को वापस मनुष्य-लोक में लौटना होता है। इसके अतिरिक्त देवों में भी छोटे-बड़े का, ऊँच-नीच का भेद होता है। देवत्व प्राप्ति के कारणभूत यज्ञ आदि में हिंसा होती है। इसलिए वे विशुद्ध नहीं कहे जा सकते।

वहाँ बतलाया गया है कि प्रकृति, उससे उत्पन्न होने वाले महत्– बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्राएं, ग्यारह इंद्रियाँ, पाँच महाभूत एवं पुरुष– आत्मा इन पच्चीस तत्वों के सम्यक् ज्ञान से मोक्ष होता है।[2]

इस संबंध में निम्नांकित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है–

पंचविंशति तत्त्वज्ञो, यत्र कुत्राश्रमे वसेत्।
शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः।।

अर्थात् जो पच्चीस तत्त्वों को जान लेता है, वह चाहे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास– चारों आश्रमों में से किसी भी आश्रम में रहे, चाहे वह जटा रखें, मस्तक को मुंडाए रखे या मस्तक पर शिखा रखे, वह निश्चित रूप में मुक्त हो जाता है।[3] यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि मोक्ष बाह्य परिवेश से नहीं सधता। वह तो तत्त्वों के यथार्थ-ज्ञान से होता है।

---

१. अवधूत-गीता, श्लोक-२५, ३१, पृष्ठ : ३७, ३९.
२. सांख्याकारिका, कारिका--१, २.
३. पातंजल योग, प्रदीप-पृष्ठ : १२३.

न्यायदर्शन में नि:श्रेयस् या मोक्ष, जहाँ दु:खों का अत्यंत उच्छेद हो जाता है, तत्त्व ज्ञान से प्राप्त होता है, ऐसा माना गया है। न्यायसूत्र में लिखा है–

"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान– इनके तत्त्वज्ञान से मोक्ष अधिगत– प्राप्त होता है।"[1]

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार, जिसे औलूक्य-दर्शन भी कहा जाता है– संसार में सभी बुद्धिमान व्यक्ति स्वभावत: दु:ख का नाश करना चाहते हैं, क्योंकि दु:ख प्रतिकूल वेदनीय है, उनकी प्रगति के विरुद्ध है। सभी उसका अपनी आत्मा में अनुभव करते हैं। वे दु:ख को मिटाने का उपाय जानना चाहते हैं। परमेश्वर का साक्षात्कार ही दु:खों के नाश का एक मात्र उपाय है।

परमेश्वर का साक्षात्कार श्रवण, मनन और भावना द्वारा होता है।[2]

शास्त्रदीपिका में उल्लेख हुआ है–

त्रेधा हि प्रपच: पुरुषं बध्नाति भोगायतनं शरीरम्, भोग-साधनानि इन्द्रियाणि, भोग्या: शब्दादयो विषया:।

भोग इति च सुख-दु:ख-विषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते। तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्ष:।

भोग का आयतन– आश्रय शरीर, भोग के साधन– इन्द्रिय तथा भोग योग्य शब्दादि विषय– यह तीन प्रकार का प्रपंच पुरुष को बन्धनगत करता है। इनसे पुरुष बंधा रहता है।

सुख तथा दु:ख का साक्षात् अनुभव भोग कहा जाता है। इस त्रिविध (तीन प्रकार के) प्रपंच का, बन्धन का आत्यन्तिक विलय– सर्वथा नाश, मोक्ष है।[3]

समीक्षा

सिद्ध एवं ब्रह्म के अनेक पक्षों पर पूर्व पृष्ठों में विस्तार से चर्चा की गई है। इन्हें जीवन के परम लक्ष्य के रूप में अभिहित किया गया है। उन्हें परमसाध्य भी कहा जा सकता है। उन्हें प्राप्त या

---

१. न्यायसूत्र, अध्याय-१, आह्निक-१, सूत्र-१.
२. सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ : ३९१-३९४.
३. भारतीय दर्शन के प्रमुखवाद, पृष्ठ : १७२.

साधित कर लेने से ही मानव जीवन सफल कहा जा सकता है, क्योंकि वह ऐसी परम शुद्धावस्था है, जो सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल आदि परिस्थितियों से अतीत है।

मनुष्य जो कुछ भी पाना चाहता है, उसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह सबसे पहले उस पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे। सिद्ध-पद प्राप्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार के संदर्भ में भी यह अपेक्षित है। जैन शास्त्रों, उपनिषदों एवं वेदांत के ग्रंथों में इस संबंध में विश्रुत चर्चाएँ हुई हैं।

वेदांत के क्षेत्र में ऐसा स्वीकार किया गया है कि मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना ज्ञान के बिना संभव नहीं है, क्योंकि मुक्ति या मोक्ष का अर्थ वहाँ संसार से छूटकर ब्रह्मसाक्षात्कार करना या ब्रह्मसारूप्य प्राप्त करना है। जीव अविद्या से अवच्छिन्न– युक्त है। अविद्या का अर्थ अज्ञान है। वैसा होने के कारण वह जो जैसा है, उसको वैसा न मान कर, उसके विपरीत मानता है, अर्थात् असत्य को सत्य मानता है। शरीर जो नश्वर है, उसी को स्थिर, शाश्वत मान कर उसमें आसक्त रहता है। वास्तव में ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है, वह मिथ्या है।

ब्रह्मसत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या– अवास्तविक है। जीव ब्रह्म ही है, कोई दूसरा नहीं है। इस तत्त्व को आत्मसात् कर लेने से अविद्या नष्ट हो जाती है, उसका स्थान विद्या ले लेती है। विद्या का अर्थ सत्यपरक या यथार्थ ज्ञान है। उपनिषद् में 'विद्ययामृतमश्नुते'– शब्दों द्वारा विद्या को अमृत की उपमा दी गई है, जो विद्या या सद् ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उपनिषद्कार के शब्दों में वह अमृत का आस्वादन करता है।[1]

उपनिषदों में जिसे ज्ञान कहा है, वह अनुभूति और श्रद्धा के साथ जुड़ा है। वह केवल बाहरी जानकारी तक ही सीमित नहीं है। उसका मनन, चिंतन और निदिध्यासन के साथ गहरा संबंध है। इन्हीं द्वारा परिष्कृत होकर वह अंतश्चेतना उत्पन्न करता है। इसीलिए कहा गया है–

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'– अर्थात् ऐसी बुद्धि, जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, तर्क द्वारा, शुष्क ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं होती।[2]

जब अविद्या, अज्ञान– मिथ्याज्ञान का नाश होता है, तब वह भय दूर हो जाता है, जो अज्ञान-जनित होता है। जैसे कोई व्यक्ति अंधेरे में चल रहा हो, रास्ते में एक मोटी रस्सी पड़ी हो, अंधेरे में सभी वस्तुएं काली दिखाई पड़ती हैं, उस पुरुष को रस्सी में सांप का भ्रम हो जाता है। इसलिए

---

१. ईशावास्योपनिषद्, मंत्र-११ : ईशादि नौ उपनिषद्, पृष्ठ : ११.
२. कठोपनिषद्, अध्याय-१, वल्ली-२, श्लोक-९, ईशादि नौ उपनिषद्, पृष्ठ : ८३.

वह वहीं रूक जाता है, अपने मार्ग पर आगे नहीं बढ़ पाता। कुछ समय बाद प्रकाश हो जाता है, तब उसे ज्ञात होता है कि जिसको वह सर्प समझ रहा था, वह वास्तव में सर्प नहीं है, रस्सी है। उसका संशय मिट जाता है। तज्जनित भय दूर हो जाता है और वह निर्भय होकर आगे बढ़ने लगता है। यथार्थ जानकारी या सही ज्ञान का यह फल होता है। इसी प्रकार जब आत्म-तत्त्व का, परमात्मभाव का व्यक्ति को बोध हो जाता है तो उसे ब्रह्मसाक्षात्कार का पथ प्राप्त हो जाता है। बोध की परिपूर्णता या समग्रता ब्रह्मसाक्षात्कार में परिणत हो जाती है। इसीलिए ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म हो जाता है, ऐसा कहा गया है।

सांख्य दर्शन और न्याय दर्शन में तत्त्व-ज्ञान द्वारा दुःख-निवृत्ति– मोक्ष प्राप्ति, वैशेषिक दर्शन में श्रवण, मनन एवं भावना द्वारा परमात्मसाक्षात्कार तथा मीमांसा दर्शन में प्रपंच-विलय द्वारा मोक्ष का जो विवेचन हुआ है, वह इसी दिशा की ओर इंगित करता है।

जब चिन्तन, मनन, निदिध्यासन और अन्तर्वीक्षण द्वारा तत्त्वावबोध हो जाता है, तब हेय, ज्ञेय और उपादेय के संबंध में वास्तविकता को व्यक्ति जान लेता है। वह हेय का परिहार और उपादेय का स्वीकार कर लेता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से सिद्धत्व प्राप्ति पर विचार करें तो वहाँ भी सम्यक् ज्ञान को उसका मुख्य हेतु बतलाया गया है। ज्ञान के साथ जो सम्यक् विशेषण लगा है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहा जाता है, जिसके साथ सत् श्रद्धान् जुड़ा रहता है। सत् श्रद्धान का अभिप्राय सत् तत्त्व में श्रद्धा या विश्वास है। तत्पूर्वक होने वाला ज्ञान वास्तव में तथ्यपूर्ण होता है। आत्मा के विकास में, उत्थान में उस ज्ञान की बड़ी उपयोगिता है।

जिस ज्ञान के साथ सत् श्रद्धान का अभाव होता है, उसे अज्ञान कहा जाता है। यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का न होना नहीं है। जानकारीमूलक ज्ञान तो वहाँ होता ही है, किंतु सत्य में श्रद्धा न होने के कारण या श्रद्धा की विपरीतता के कारण वह ज्ञान व्यक्ति को आत्मोन्नति के पथ पर नहीं ले जाता। वह पतन की ओर ले जाता है। वह कुत्सित होता है। कुत्सितता के कारण उसे अज्ञान कहा जाता है। मिथ्याज्ञान-मिथ्यात्व या मिथ्या-दृष्टि आदि नामों द्वारा अभिहित किया गया है। इसलिए साधनारत साधक को सबसे पहले मिथ्यात्व को मिटाना अत्यंत आवश्यक है। कहा गया है–

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।

इस संसार में मनुष्यत्व– मानवयोनि, श्रुति– सद्धर्म का श्रवण, श्रद्धा और संयम में पराक्रम– ये चार बातें दुर्लभ हैं।[1] सूत्रकार द्वारा बतलाई गई इन चार बातों में, जो तीसरा श्रद्धा शब्द आया है,

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-३, गाथा-१.

वह सत् श्रद्धान्, सत्यमूलक आस्था या सद् विश्वास का द्योतक है। इसके होने से ही संयम-साधना में सत्पुरुषार्थ जागरित होता है।

इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि सत् श्रद्धान से ही ज्ञान और चारित्र की सिद्धि होती है। जब तक अज्ञान, मिथ्यात्व विद्यमान रहता है, तब तक चारित्र की कितनी ही क्रिया करे, कितना ही तपश्चरण करे, साधना करे, उसका आत्मोत्थानमूलक फल नहीं होता।

जैन दर्शन में जिसे मिथ्याज्ञान कहा गया है, उसी को वेदांत दर्शन में अविद्या के रूप में व्याख्यात किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार जैन दर्शन में प्रयुक्त अज्ञान शब्द ज्ञान के अभाव का या न होने का द्योतक नहीं है वरन् विपरीत, हेय नितांत लौकिक ज्ञान का परिचायक है। उसी प्रकार वेदांत में अविद्या शब्द भी विद्या या ज्ञान के अभाव का परिचायक न होकर मात्र सांसारिक ज्ञान का संसूचक है, जो शुद्धात्मभाव या ब्रह्मसाक्षात्कार में जरा भी प्रयोजक या उपकारक नहीं है। कहा गया है–

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः, स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा, अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः।।

जो अविद्या के भीतर विद्यमान हैं, अपने आप को बुद्धिमान और विद्वान् मानते हैं, वे अज्ञानी या मूर्ख भिन्न-भिन्न योनियों में उसी प्रकार भटकते हैं, जिस प्रकार एक अन्धे पुरुष के द्वारा ले जाए जाने वाले अन्धे भटकते हैं।[१]

उपनिषद्कार ने अज्ञानी को यहाँ अंधे की उपमा दी है। अंधा नेत्रहीनता के कारण अपनी मंजिल पर सुखपूर्वक पहुँच सके, यह संभव नहीं होता। उसके पीछे चलने वाले अंधे भी उसी की ज्यों भटकते रहते हैं।

जैन दृष्टि से भी यदि चिंतन किया जाय तो ऐसा ही तथ्य उद्घाटित होता है कि सम्यक् ज्ञान के बिना, साधक अपने साध्य तक पहुँच नहीं सकता।

जैन दर्शन में इसका विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। वहाँ इस साधनामूलक प्रक्रिया को तीन भागों में बांटा है, जो सत् श्रद्धा, सत् ज्ञान और सत् क्रिया के रूप में विश्रुत हैं। वेदांत में विद्या के अंतर्गत इन तीनों का भावात्मक दृष्टि से समावेश किया गया है।

जीवात्मा और सिद्धात्मा में मूल या शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। जीवात्मा संसारावस्था में है, क्योंकि वह कर्मावरण-युक्त है। संसार बंधन-युक्त है। वह जन्म, मरण, रोग,

---

१. कठोपनिषद्, अध्याय-१, वल्ली-२, श्लोक-५ : ईशादि नौ उपनिषद्, पृष्ठ : ७९.

शोक, दु:ख, पीड़ा, चिंता आदि से भरा है। मुक्तावस्था नितांत चिन्मय, आनंदमय एवं शांतिमय है, शाश्वत है। प्रत्येक भव्य जीव वैसा बनने में समर्थ है, क्योंकि उसका शुद्धत्त्व ही सिद्ध स्वरूप है, जिसे पाने के लिए उसे अपने आंतरिक पराक्रम को जागरित कर श्रद्धा, ज्ञान और पुरुषार्थ के सहारे अग्रसर होना होता है। यदि अपनी इस आध्यात्मिक यात्रा में वह निरंतर गमनोद्यत रहता है तो अंतत: सफल हो जाता है। ब्रह्मसाक्षात्कार की दिशा भी तत्त्वत: इससे भिन्न नहीं है, जो विद्या के अवलंबन से प्रारंभ होती है। जब विद्या यथावत् रूप में आत्मा द्वारा स्वायत्त कर ली जाती है तब जीवन में सहज ही एक ऐसा आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है कि उसे सांसारिक सुख, भोग, वासनाएं निरर्थक प्रतीत होने लगती हैं। उसमें उनके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। क्रमश: वह ब्रह्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसारूप्य प्राप्त कर लेता है।

वेदांत दर्शन अद्वैतवादी है। वहाँ उसके अनुसार एक ही परमात्म-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व है। वह सर्वव्यापक है। जीव अविद्या से मुक्त होकर उसी में लीन हो जाते हैं। जैन दर्शन अनेकात्मवादी है। उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा का अपना पृथक् अस्तित्व है। सिद्धावस्था में स्वरूपत: ऐक्य होते हुए भी वहाँ पृथक्ता अबाधित रहती है। जैन दर्शन की अनेकात्मवाद के संबंध में सांख्य दर्शन के साथ संगति घटित होती है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण का स्वरूप

निर्वाण का अर्थ संपूर्ण दु:खों का निरोध है। शील, समाधि और प्रज्ञा की क्रमिक साधना द्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। निर्वाण में चित्त के समग्र मल दूर हो जाते हैं। चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर अपने प्रभास्वर स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। चित्त में कोई भी वृत्ति उठती नहीं। चित्त की समग्र वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। उसको सुख-दु:ख का वेदन नहीं होता, केवल शान्ति होती है। चित्त में बाह्य विषयों का कोई आकार उठता नहीं। उसमें शब्द-युक्त ज्ञानाकार भी नहीं होता। वह संस्कारों से भी मुक्त हो जाता है। उस प्रकार चित्त की निर्मलता और वृत्ति रहितता ही निर्वाण है। निर्वाण में केवल शांति है, यदि उसे सुख गिनना हो तो गिनो। ऐसा चित्त पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता। चित्त एक बार ऐसी अवस्था पा लेता है तो फिर उससे च्युत नहीं होता। उस अर्थ में निर्वाण को अच्युत और नित्य गिना जाता है। निर्वाण अमृत-पद है, वह अजर है, निष्प्रपंच है, शिव है, विशुद्ध है और त्राण है।[१]

बौद्ध-परंपरा के सुप्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष ने निर्वाण-विषय के विवेचन में संक्षेप में लिखा है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।

१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ : २७५.

तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।

जब दीपक निर्वृत्त हो जाता है– बुझ जाता है, तब न तो वह पृथ्वी पर जाता है, न अंतरिक्ष में, न किसी दिशा में और न किसी विदिशा में ही जाता है, किन्तु तेल का क्षय हो जाने से वह केवल शांति प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार कृतित्वशील पुरुष– साधक जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है, वह न पृथ्वी पर, न अंतरिक्ष में, न दिशा-विदिशा में ही जाता है, वह क्लेशों का क्षय हो जाने से केवल शांति प्राप्त करता है।[1]

बौद्ध धर्म में हीनयान और महायान– दो मुख्य संप्रदाय रहे हैं। निर्वाण के संबंध में दोनों की मान्यताएँ भिन्न हैं। निर्वाण भावरूप है अथवा अभावरूप इस विषय में बौद्ध दर्शन में पर्याप्त मीमांसा की गई है।

हीनयान के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के दु:खों से पीड़ित है–

१. दु:ख-दु:खता– भौतिक तथा मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाले क्लेश।

२. संस्कार-दु:खता– उत्पत्ति तथा विनाश-युक्त जागतिक वस्तुओं से उत्पन्न होने वाला क्लेश।

३. विपरिणाम-दु:खता– सुख के दु:ख रूप में परिणत होने के कारण उत्पन्न होने वाला क्लेश।

मनुष्य को इन क्लेशों से कभी छुटकारा नहीं मिलता, चाहे वह कामधातु, रूपधातु अथवा अरूप-धातु में ही जीवन क्यों न व्यतीत करता हो। इन दु:खों से छूटने का उपाय बतलाते हुए बुद्ध ने कहा कि आर्य सत्यों का अनुशीलन, अष्टांगिक मार्ग का पालन तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा का अस्वीकार, क्लेशों से मुक्त होने का मार्ग है। हीनयान के अनुसार आर्य सत्यों के ज्ञान से और सदाचार के अनुष्ठान से साधक क्लेशों से मुक्ति पा सकता है। हीनयान की यही निर्वाण की कल्पना है। उसके अनुसार निर्वाण, सत्य, नित्य, पवित्र तथा दु:खाभाव रूप है।

हीनयान द्वारा निर्वाण के लिए दिए गए इन चार विशेषणों में अंतिम विशेषण 'दुखाभावरूप' पर महायान की आपत्ति है। उसके अनुसार निर्वाण दु:खाभाव रूप नहीं है, प्रत्युत वह सुखरूप है।

हीनयान के अनुसार भिक्षु जब अर्हत् की दशा प्राप्त कर लेता है, तब वह निर्वाण पा लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है, जब भिक्षु जगत् के अनंत प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है तथा सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जागरित हो उठती है। वह अष्टांग मार्ग के सेवन से अपने दु:खों से मुक्ति पा लेता है। उसे

१. सौन्दरनंद, सर्ग-१६, श्लोक-२८, २९.

पंचस्कंध-जन्य दुःख कभी सताते नहीं। उसके लिए जगत् के दुःखों का पर्य्यवसान हो जाता है।

महायान का आदर्श इससे भिन्न है। उसका आदर्श बोधिसत्व है, जो जगत् के उपकार में संलग्न होता है। उसके लिए निर्वाण पूर्ण आनंद की अवस्था है।

हीनयान में जहाँ निर्वाण निषेध रूप में हैं, वहाँ महायान में निर्वाण सत्तारूप होता है।[1]

मिलिंदपण्हो (मिलिन्द-प्रश्न) में निर्वाण के संबंध में चर्चा आती है। महाराज मिलिन्द ने आचार्य नागसेन के समक्ष शंका उपस्थित करते हुए कहा कि निर्वाण में दुःख कुछ न कुछ अवश्य विद्यमान रहता है, क्योंकि निर्वाण की खोज करने वाले नाना प्रकार के संयमों से अपने शरीर, मन एवं इंद्रियों को तप्त किया करते हैं। संसार से संबंध तोड़ लेते हैं तथा इंद्रियों एवं मन की वासनाओं को मार डालते हैं, जिससे शरीर को और मन को कष्ट होता है। इस प्रकार निर्वाण दुःख से सना हुआ है।

नागसेन ने उसके उत्तर में कहा कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख ही सुख है। राज्य की प्राप्ति हो जाने पर क्लेश नहीं रहते। उसी प्रकार तपस्या, ममत्व-त्याग, इंद्रिय-जय, जप आदि निर्वाण के उपायों में क्लेश है, किंतु स्वंय निर्वाण में क्लेश कहाँ? वह तो महासमुद्र के समान अनंत है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों के ताप को शांत कर देता है। काम-तृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा की प्यास को बुझा देता है। वह आकाश के समान दस गुणों से युक्त होता है। न उत्पन्न होता है, न पुराना होता है, न मरता है और न आवागमन प्राप्त करता है। वह दुर्जेय, स्वच्छंद तथा अनंत है। सन्मार्ग पर चलकर संसार के सभी संस्कारों को अनित्य, दुःखमय तथा अनात्मरूप देखता हुआ कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है।[2]

जिस प्रकार अग्नि ईंधन के अभाव में बुझकर शांत हो जाती है, उसी प्रकार तृष्णा के इंधन के अभाव में रागों की अग्नि बुझकर शांत हो जाती है। इसी अर्थ में निर्वाण 'बुझना' है। इसमें तृष्णाओं का क्षय हो जाता है। निर्वाण-प्राप्त मनुष्य ने तृष्णाओं के सागर को पार कर लिया है। वह विचार में सभी विकल्पों के परे हो जाता है। उसके अनुभव का वाणी वर्णन नहीं कर सकती। बार-बार निर्वाण को संसार रूपी सागर में शरण-स्थान कहा गया है। वह अतुलनीय योग-क्षेम है।[3]

निर्वाण निषेधात्मक रूप से भव-तृष्णा का सभी रूपों में क्षय है। भव-तृष्णा के क्षय के

---

१. भारतीय दर्शन, पृष्ठ : १६०, १६१
२. भारतीय दर्शन, पृष्ठ : ५७०.
३. भारतीय दर्शनों में मोक्षचिंतन एक तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ : ७३.

णामस्वरूप जीवन-मरण के चक्र का अंत हो जाता है और सभी प्रकार के दु:खों का– बौद्ध-दर्शन शब्दावली में जरा-मरण का अंत हो जाता है, परंतु निर्वाण न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष के समान ल एक निषेधात्मक स्थिति ही नहीं है। भगवान् बुद्ध ने अनेक अवसरों पर इसे परम कल्याण और ा आनंद की स्थिति बतलाया है। परंतु निर्वाण इतना अगाध है कि हम बुद्धि की चारों कोटियों ा भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते और न ही उसे भाषा में व्यक्त कर सकते हैं।[1]

निर्वाण सकल दु:खों से मुक्त अवस्था का प्रतीक है। स्कन्धों के विनाश से उसकी प्राप्ति होती वह तृष्णा का पूर्ण विनाश, लौकिक वस्तुओं की इच्छाओं की शांति तथा अस्त कायों और क्तियों से पूर्ण मुक्ति का फल है। जो इच्छा, घृणा और मोह के विनाश से उद्‌भूत होता है। वह शांत, अनुद्‌भूत, सुख, नित्य और आसक्तिहीन अवस्था का सूचक है। निर्वाण की प्राप्ति के बाद भी शेष नहीं रहता। वह सर्वोच्च सत्य है, सर्वोच्च दर्शन है और सत्यपूर्ण अनुभव है। यह एक विशुद्ध अवस्था है, जहाँ चेतना यथार्थता के सन्मुख पहुँच जाती है।[2]

भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को संबोधित कर कहा– भिक्षुओं ! संसार अनादि है। अविद्या और ा से संचालित होकर प्राणी भटकते फिरते हैं। उनके आदि-अंत का पता नहीं चलता। भवचक्र ड़ा प्राणी अनादि काल से बार-बार जन्मता-मरता आया है। संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय योग और अप्रिय के संयोग के कारण रो-रो कर अपार आँसू बहाए हैं, दीर्घकाल तक दु:ख का, दु:ख का अनुभव किया है। अब तो सभी संस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति करो।[3]

धम्मपद में कहा है–

जिघच्छा परमा रोगा, संखारा परमा दुखा।
एवं ञत्वा यथाभूतं, निब्बाणं परमं सुखं।।

रोगों की जड़ है जिघृक्षा– ग्रहण करने की इच्छा, तृष्णा। सारे दु:खों का मूल है– संस्कार। इस को जानकर तृष्णा और संस्कार के नाश से ही मनुष्य निर्वाण पा सकता है।[4]

स चे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपसतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बाणं, सारम्भो तेन विज्जति।।

यदि तुम टूटे हुए काँसे की तरह अपने को नीरव, निश्चल या कर्महीन बना लो, तो तुमने निर्वाण

तीय दर्शनों में मोक्षचिंतन एक तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ : ७५.
तीय धर्मों में मुक्ति-विचार, पृष्ठ : १६१.
त्तनिकाय, १४. २.
मपद, पद-२०३.

पा लिया। कारण, कर्म
भी छूट गया।[1]

समीक्षा

तथागत बुद्ध एक
के बीच बड़े सुख से
बनते हैं, जिनसे वे व्य
संसार से विरक्त होक
पहुँचते है कि समस्त
निरोध किया जा सक

इन चारों को आ
उसका तत्त्व-ज्ञान प्रा
उत्तरोत्तर आगे बढ़ता
हैं, जहाँ दु:ख ऐकान्ति
हो जाता हैं। वह पर

बौद्ध दर्शन की
सकता। जैसा पहले
स्रोतापन्न, सकृदागामि
हैं।

हीनयान के पश्चा
में अनेक ग्रन्थों की र
इसी अध्याय में महारा

ऐसा प्रतीत होता
यह तो मात्र निषेध
व्याख्यात करना भी अ
उठता है। अत: ऐसा प्र
ने जो प्रयास किया, श

जैसा पूर्व पृष्ठों

१. धम्मपद, पद-१३४.

पा लिया। कारण, कर्मों का आरंभ अब तुममें रहा नहीं और उसके न रहने से जन्म-मरण का चक्कर भी छूट गया।[1]

समीक्षा

तथागत बुद्ध एक सुंदर सुकुमार राजपुत्र थे। पिता महाराज शुद्धोधन द्वारा की गई विपुल-व्यवस्था के बीच बड़े सुख से रहते थे, किन्तु जीवन मे रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु को देखने के दु:खद प्रसंग बनते हैं, जिनसे वे व्याकुल हो उठते हैं, उन दु:खों से सदा के लिए मुक्त होने की भावना के कारण संसार से विरक्त होकर वे निकल पड़ते हैं। दीर्घकालीन चिंतन, मनन, ध्यान द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि समस्त संसार दु:खमय है, प्रत्येक दु:ख का कोई न कोई कारण है, इस दु:ख का निरोध किया जा सकता है तथा निरोध करने का मार्ग है।

इन चारों को आर्य सत्य कहा जाता है। यही बौद्ध दर्शन के विकास का मूल बीज है। यहाँ से उसका तत्त्व-ज्ञान प्रारंभ होता हैं और अष्टांगिक मार्ग की आराधना द्वारा साधक साधना-पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ता हुआ दु:खों का सर्वथा, संपूर्ण रूप में नाश कर देता है। वह ऐसी स्थिति होती हैं, जहाँ दु:ख ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में उच्छिन्न– निर्मूल हो जाते हैं, उनका संर्म्पूणत: अभाव हो जाता हैं। वह परमशांतिमय अवस्था है।

बौद्ध दर्शन की दृष्टि से यह निर्वाण है। शब्दो द्वारा उसका प्रतिपादन निरूपण नहीं किया जा सकता। जैसा पहले उल्लेख हुआ है, हीनयान बौद्ध धर्म का सबसे प्राचीन संप्रदाय है, तदनुसार स्रोतापन्न, सकृदागामि एवं अनागामि के रूप में साधक की तीन भूमिकाएँ हैं, जो निर्वाण का माध्यम हैं।

हीनयान के पश्चात् बौद्ध धर्म का महायान के रूप में विकास हुआ। महायानी आचार्यों ने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की। महायान में दु:खाभाव के साथ-साथ सुख को भी जोड़ दिया गया। इसी अध्याय में महाराज मिलिंद और आचार्य नागसेन आदि के प्रसंगों में यह विषय चर्चित हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि निर्वाण में केवल दु:खाभाव मात्र से उन्हें परितोष नहीं हुआ हो, क्योंकि यह तो मात्र निषेध (Negative) पक्ष है। तत्त्व के सर्वांगीण विवेचन में विधि (Positive)) पक्ष को व्याख्यात करना भी अपेक्षित है, क्योंकि दु:ख का अभाव होने के पश्चात् आगे क्या होता है, यह प्रश्न उठता है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि इसके समाधान को ढूंढ़ने का महायानी आचार्यों तथा विद्वानों ने जो प्रयास किया, शायद उसी की फल-निष्पत्ति सुख के रूप में प्रस्फुटित हुई हो।

जैसा पूर्व पृष्ठों में यथाप्रसंग विवेचन हुआ है, वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन मोक्षावस्था को

---

१. धम्मपद, पद-१३४.

सर्वथा दु:ख-रहित और परम आनंदमय मानते हैं। संभव है, यह विचार भी बौद्ध विद्वानों द्वारा निर्वाण को सुखमय माने जाने में कुछ कारण बना हो। वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन में ब्रह्म और सिद्ध की व्याख्या में वाणी समर्थ नहीं मानी गई है। बौद्ध दर्शन में भी निर्वाण का स्वरूप शब्दों की परिधि में नहीं आता। वाणी और शब्द तो अपूर्ण हैं, ससीम हैं, वे पूर्ण और असीम को व्यक्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं।

निर्गुणमार्गी संत-परंपरा में परमात्मोपासना का मार्ग

आधुनिक भारतीय भाषाओं में व्यापक प्रसार की दृष्टि से हिंदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिंदी में शौर्य, ज्ञान, भक्ति, काव्य, शृंगार, रीति, अलंकार-शास्त्र एवं जन-जीवन के विविध आयामों पर विशाल साहित्य की रचना हुई। विद्वानों ने हिंदी साहित्य को आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल– इन चार भागों में विभक्त किया है। निर्गुण-भक्ति एवं सगुण-भक्ति के आधार पर भक्ति काल की दो शाखाएँ हैं।

निर्गुण-भक्ति-धारा में निराकार परमात्मा की उपासना को स्वीकार किया गया है। परमात्मा के विराट् स्वरूप का साधक को बोध हो, यह आवश्यक है। इसलिए इसे ज्ञानाश्रयी मार्ग कहा जाता है। इसमें दादू, रैदास, मलूकदास, धन्ना, पीपा आदि अनेक संत हुए हैं। कबीर का उनमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कबीर ने ज्ञान के साथ प्रेम-तत्त्व को विशेष रूप से जोड़ा। कबीर ने ज्ञानाश्रित वेदांत और भावाश्रित भक्ति का अद्‌भुत समन्वय किया। परमात्मा को उन्होंने पति के रूप में स्वीकार किया। जैसे एक पतिव्रता नारी अपने पति को ही अपना सर्वस्व मान कर उसी का ही ध्यान लगाए रहती है, उसी प्रकार साधक परमात्मा में लीन रहे, अपने आपको समर्पित कर दे, तभी वह उनको प्राप्त कर सकता है।

कबीर ने पति-पत्नी भावमूलक उपासना पर अनेक रूपों में बड़ा मार्मिक, अन्त:स्पर्शी विश्लेषण किया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं–

कबीर सुन्दरी यों कहै, सुन हो कंत सुजाण।
बेगि मिलौं तुम आइ करि, नहिंतर तजौं पराण।।

इस दोहे में कबीर जीवात्मा की परब्रह्म से मिलने की आतुरता का बड़े भावपूर्ण शब्दों में चित्रण करते हैं। जीवात्मा रूपी सुंदरी परब्रह्म रूप पति को संबोधित कर कह रही है– हे सुजान– चतुर स्वामी ! मेरी प्रार्थना सुनें। आप शीघ्र आकर मुझसे मिलें। अन्यथा में अपने प्राण त्याग दूंगी।[1]

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ : १७०.

यहाँ लौकिक प्रेम के रूपक का प्रयोग है। लौकिक नारी के लिए प्राण त्यागना अभिधेयार्थ है, किंतु जीवात्मा के प्रसंग में यह वियोग की असह्यता का द्योतक है।

परमात्मा रूपी प्रियतम से आत्मा रूपी प्रियतमा का वियोग हो गया है। अपने प्रियतम के विरह में आत्मा किस तरह पीड़ा का अनुभव करती है, कबीर ने इसका भाव-चित्र उपस्थित करते हुए लिखा हैं– चकवा और चकवी का विरह प्रसिद्ध है।

चकवा-चकवी का तो प्रातःकाल मिलन हो जाता है, किंतु राम का– परमात्मा का विरह ऐसा नहीं है। एक बार जो परमात्मा से बिछुड़ जाता है। वह न तो उनसे दिन में मिल सकता है, और न रात में ही मिल सकता है। उसको न दिन में, न रात में, न स्वप्न में, न धूप में तथा न छाया में ही सुख मिलता है।

विरहिणी (आत्मा) रास्ते में खड़ी हुई हर राहगीर से दौड़कर पूछती है– बतलाओ मेरा प्रियतम कहाँ हैं? वह मुझे आकर कब मिलेगा?[१]

कठोपनिषद् में भी एक स्थान पर इसी प्रकार का संकेत प्राप्त होता है, लिखा है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया वा बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।।

परबह्म परमात्मा को प्रवचन द्वारा उन के शास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, न बुद्धि और तर्क द्वारा ही उनका साक्षात्कार किया जा सकता है तथा न बहुत कुछ सुनते रहने से ही उन्हें पाया जा सकता है, वे उसी को प्राप्त होते हैं, जिसके लिए अपने स्वरूप को स्वयं उद्घाटित कर देते हैं।[२]

उपनिषद्कार का यहाँ यह अभिप्राय है कि जो परमात्मा में समर्पित हो जाता है, उसीको स्वयं ही परमात्मा प्राप्त हो जाते हैं।

यह श्लोक ज्ञान के साथ प्रेम को जोड़ने वाले संतों के लिए बड़ा प्रेरक सिद्ध हुआ।

सूफी-परंपरा

निर्गुणधारा में संत-परंपरा के साथ सूफियों की एक और विशेष परंपरा रही है। सूफी परंपरा में वे मुसलमान साधक और कवि समाविष्ट हैं, जिन्होंने प्रेम की तीव्रता के आधार पर परमात्म-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त किया।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ : १५१.
२. कठोपनिषद्, अध्याय-१, वल्ली-२, श्लोक-३ : इशादि नौ उपनिषद्, पृष्ठ : ९५, ९६.

सूफी-परंपरा का उद्‌भव इस्लामी देशों में हुआ और इसका विकास अधिकतर इस्लाम धर्म के अधिकाधिक अन्यत्र होते जाते प्रचार का अनुगम करता गया।[1]

भारत वर्ष मे जब मुसलमानों का राज्य था तब मुस्लिम देशों से वहाँ के लोगों का आवागमन होने लगा। प्रारंभ में ये सूफी साधक पंजाब और सिंध में आकर रहने लगे। धीर-धीरे ये सारे भारत में फैल गए। उस समय भारत में भक्ति-आंदोलन या भक्ति का वातावरण व्याप्त था। सूफियों की साधना अपनी कुछ विशेषताओं के साथ संतों के अनुकूल थी। इसलिए दोनों में ही परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान हुआ।

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका में सूफी साधकों की चर्चा की है, जिनके प्रति हिन्दू और मुसलमान दोनों का आदर था।[2]

सूफी संतों ने परमात्मा को प्रेम-पात्र के रूप में देखा।[3] इसका अभिप्राय यह है कि प्रेम की तीव्रतम उद्‌भावना हेतु उन्होंने परमात्मा को प्रेयसी के रूप में स्वीकार किया। जैसे एक प्रेमी अपनी प्रियतमा को पाने के लिए अत्यंत व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार साधक में जब परमात्मा को पाने के लिए व्यग्रता उत्पन्न होती है, तब वह उसं ओर अत्यधिक उन्मुख बनता है। जिस प्रकार अपनी प्रियतमा के विरह में प्रियतम तड़फता है, बेचैन रहता है, उसी प्रकार परमात्मा के विरह में जीव बेचैन रहता है। प्रेम में ऐसी असीम उत्कंठा जब उत्पन्न होती है, तब परमात्मा की प्राप्ति होती है।

सूफी संतो में मलिकमुहम्मद जायसी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने 'पद्‌मावत' नामक प्रबंध-काव्य लिखा,[4] जो अवधी भाषा में दोहा, चौपाई आदि की शैली में है। उसमें रूपकों के आधार पर आत्मा के परमात्म-विषयक प्रेम का अनेक रूपों में वर्णन किया है।

जैन साधना पद्धति में प्रेम का सामंजस्य

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा में असीम शक्ति है। कर्मों से आवृत होने के कारण आत्मा की वह शक्ति अव्यक्त है। पुरुषार्थ और अध्यवसाय द्वारा साधक कर्मों के आवरण को हटाकर उस शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है।

अरिहंत एवं सिद्ध किसी को कुछ देते नहीं, किंतु उनके स्मरण से, भक्ति से आत्मा में वैसा बनने की प्रेरणा जागरित होती है। इसलिए जैन साधना में भक्ति का विकास हुआ। भक्ति से आत्मा को परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि में बल प्राप्त होता है। जैन आचार्यों, संतों और भक्तों ने भक्तिमूलक अनेक ग्रथों की रचना की।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, पृष्ठ : १९७
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ : ५६.
३. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ : १८९.
४. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ : ३०८.

जिस प्रकार कबीर ने परमात्मा को पति के रूप में और आत्मा को पत्नी के रूप में स्वीकार कर साधना के साथ प्रेम-तत्त्व को जोड़ा, जैन कवियों और संतों की रचनाओं में भी हमें वैसा प्राप्त होता है। आचार्य वट्टकेर ने अपने 'मूलाचार' नामक ग्रंथ के प्रारंभ मे मंगलाचरण में जिनेश्वर देव को भक्तिरूपी वधू के भर्ता या पति के रूप में वर्णित किया है।[1]

उत्तरवर्ती जैन संतों ने लौकिक प्रेम को परम पवित्र आध्यात्मिक प्रेम का रूप देने का बहुत ही सुंदर प्रयास किया।

आध्यात्मिक प्रेममार्गी जैन संतों में योगिवर्य श्री आनन्दघनजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका समय १५९३-१६७४ ई. माना जाता है। जनश्रुति के अनुसार इनका आवास स्थान मेड़ता (राजस्थान) था। इन्होंने आध्यात्मिक भक्तिपूर्ण अनेक पदों रचना की। आनंदघन चौबीसी उनमें मुख्य है। इसमें वर्तमान अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के स्तवन में उन्होंने लिखा है–

भगवान् ऋषभदेव मेरे प्रियतम हैं। मेरी आत्मा और किसी को प्रियतम के रूप में नहीं चाहती, क्योंकि वे प्रसन्न होकर मुझे अपना लेंगे, तो फिर मेरा कभी भी त्याग नहीं करेंगे। अत एव हमारा यह संबंध सादि-अनंत के रूप में स्वीकृत है अर्थात् इसका आदि तो है, किंतु अंत नहीं होगा।

इसका तात्त्विक आशय यह है कि भगवान् ऋषभदेव से प्रेरणा प्राप्त कर मेरी आत्मा जब अपने शुद्ध-स्वरूप या परमात्मभाव को प्राप्त कर लेगी, तब उस स्थिति का कभी अंत नहीं होगा। वह अनंत-काल तक सदा शाश्वत बनी रहेगी।

उन्होंने आगे लिखा है, इस संसार में समस्त प्राणी प्रेम-संबंध करते चले आ रहे हैं, पर वास्तव में वह उपाधि-मूलक होने से लौकिक प्रेम है, लोकोत्तर नहीं है, क्योंकि लोकोत्तर प्रेम संबंध तो निरुपाधिक बताया गया है, जो मोह, क्षोभ आदि उपाधिमय परधर्म रूप धन के सर्वथा त्याग से ही होता है।

इस स्तवन के अंतिम पद में उन्होंने कहा है– भक्ति के अनेक प्रकार हैं, पर उन सब में निष्कपट पराभक्ति ही सर्वोत्कृष्ट है। शुद्ध चैतन्य-स्वरूप परमात्मा में सर्वथा अपने आपको समर्पित करने से ही परमात्म-पद का साक्षात्कार होता है।[2]

आनंदघनजी ने अन्य स्तवनों में भी परमात्मा के प्रति आत्मा के समर्पण और आध्यात्मिक प्रेम का जो रहस्यात्मक चित्रण किया है, वह मुमुक्षु साधकों के अंत:करण में परमात्म-भाव के प्रति उत्साह जगाता है।

---

१. मूलाचार, पृष्ठ : १.

२. आनंदघन चौबीसी, श्री ऋषभजिन स्तवन, पृष्ठ : १-५.

सार-संक्षेप

साधारण लोगों का चिंतन संसारोन्मुख होता है। यद्यपि सांसारिक पदार्थ नश्वर हैं, किंतु लोगों में ऐसा मोह व्याप्त रहता है कि उनके प्रति आसक्ति छूटती नहीं।

मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि मानव अपनी सहज वृत्तियों को कभी छोड़ नहीं पाता। उनको परिष्कृत और अन्य भाव में परिणत किया जा सकता है। यदि वासनागत अभीप्सा को वैराग्य और आत्मोपासना के साथ जोड़ दिया जाय तो वह परिष्कृत हो जाती है। उसका जो काम आदि के साथ लगाव था, वह अध्यात्म के साथ संयुक्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह वृत्ति पवित्र बन जाती है। मनोविज्ञान में इसे वृत्तियों का ऊर्ध्वीकरण (Sublimation) कहा जाता है।

संतों ने परमात्मा को जो पति के रूप में स्वीकार किया तथा सूफियों ने प्रेयसी के रूप में माना, उसके साथ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही भाव जुड़ा हुआ है।

सांसारिक विषयों में सबसे अधिक तीव्रता काम के साथ संबद्ध है। लौकिक प्रेम के रूपक के आधार पर परमात्मोपासना के निरूपण में वासनागत अभीप्सा का आध्यात्मिक रूप में पवित्रीकरण या ऊर्ध्वीकरण होता है, क्योंकि भौतिक रूप में वहाँ न कोई पति है, न कोई पत्नी है, न कोई प्रियतम है, न कोई प्रियतमा है। वहाँ वासना का लवलेश भी नहीं होता। वह तो विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति है। इस विधि से यदि साधक सिद्धत्व या परमात्म-भाव में जुड़ने का पुरुषार्थ करता है तो वह किसी अपेक्षा से साधना में सहायक ही सिद्ध होता है।



लोगों

उनको
और
साथ
ा बन

माना,

क के
ग या
म है,
ा है।
पेक्षा

उपसंहार, उपलब्धि, निष्कर्ष

मृगमरीचिका में विभ्रांत मानव

संसार में मानव को प्राणीवृंद में सर्वोत्तम माना गया है, क्योंकि वह अपनी मननशील, चिन्तनशील, सदसद् में भेद करने में सक्षम प्रज्ञा-समन्वित कृति के कारण चरित्र की उन ऊँचाइयों तक पहुँच सकता है, जो उसे मानव से देवत्व ही नहीं, परमात्मत्व तक पहुँचा देती है, किंतु आज उसकी मननशीलता और सदसद् विवेकिनी प्रज्ञा कुण्ठित प्रतीत होती है।

यद्यपि आज मानव व्यस्त तो बहुत है, उसे क्षण भर का रिक्त समय नहीं है, अहर्निश दौड़-धूप में वह लगा है, किंतु उस दौड़-धूप का लक्ष्य और सार क्या है ? वह उससे बेभान है। वह मृगमरीचिका जैसी भूल-भुलैया में विभ्रांत है। वस्तुत: जो नहीं है, उसे प्राप्त करने हेतु निरन्तर दौड़ता जा रहा है, किंतु अज्ञान के कारण समझ नहीं पाता कि ऐसा वह क्यों कर रहा है ? अपनी इस अविश्रांत व्यस्तता की कहाँ तक सार्थकता है, वह जान नहीं पाता। जीवन का यह क्रम अनवरत चलता रहता है। एक दिन आता है, जब मनुष्य सब कुछ छोड़कर इस संसार से प्रस्थान करने लगता है, तब संभवत: उसके मन में आता हो, उसने जो जीवन जीया, क्या सफल रहा ? वह अपने आपसे इसका संतोषजनक उत्तर नहीं प्राप्त कर पाता। मन में नैराश्य और असंतोष लिए चला जाता है। यह जीवन का कैसा दु:खद अंत है ? आज प्राय: ऐसी ही स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

साधना का निर्भ्रान्त पथ

भारतीय दर्शन अत्यंत सूक्ष्मदर्शी रहा है। जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करने में भारतीय मनीषियों ने जो उद्यम किया, वह सारस्वताराधना के इतिहास में अनुपम है। अंतर्वीक्षण की प्रेरणा देते हुए उन्होंने आध्यात्मिक आनंद की सर्वोत्कृष्टता स्थापित की। उसे जीवन का परम सत्य बतलाया। उसका संबल लिए जिज्ञासु, मुमुक्षु साधक को उत्तरोत्तर जीवन की लंबी यात्रा में गतिशील रहने की प्रेरणा दी। वह एक ऐसी यात्रा है, जिसका पथ बड़ा कंटकाकीर्ण है। अत एव साधक को अत्यधिक आत्मबल, साहस और धैर्य को संजोए रखने हेतु सावधान किया।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में उसी अन्तर्मुखी आध्यात्मिक यात्रा का विश्लेषण है, जिसका प्रारंभ सद् विश्वास और सद् ज्ञान से होता है तथा समापन जैन दर्शन की भाषा में 'सिद्धत्व' में होता है। जो महापुरुष सफलतापूर्वक उस यात्रा-पथ पर आगे बढ़ते हुए अंतिम मंजिल तक पहुँच जाते हैं, वे सफल हो जाते हैं, अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं, अपना साध्य साध लेते हैं, सिद्ध के रूप में परिणत हो जाते

हैं। वे निर्विकार, निर्मल, परमविशुद्ध चिन्मय एवं सुख अवस्था अधिगत कर लेते हैं तथा मुमुक्षुओं के लिए सर्वदा, सर्वथा प्रेरणा स्रोत होते हैं।

सिद्धों का परमोपकार

णमोक्कार मंत्र में पंच परमेष्ठी पदों के अंतर्गत परम प्राप्य, परम साध्य के रूप में सिद्ध भगवान् समवस्थित हैं। वे सर्वोपरि इसलिए हैं कि शुद्धात्मभाव के अतिरिक्त उनमें और कुछ भी नहीं है। वे परम सिद्धावस्था में विद्यमान हैं।

आत्मा की अशुद्धावस्था ही दुःखों का हेतु है। वही विविध कर्मावरणों के रूप में आत्मा की अमल, धवल शक्तियों को आवृत्त करती है। इन आवरण करने वाले कर्म-पुंजों को उच्छिन्न करना ही आत्मा का लक्ष्य है।

सिद्ध-पद के अतिरिक्त चारों पदों में कर्मों का यत्किंचित् संश्लेष रहता है। आचार्य, उपाध्याय और साधु साधना के यात्रा-क्रम के मध्यवर्ती विश्राम हैं।

कर्मों के उच्छेद की प्रक्रिया चलती रहती है। जब तक कर्मों का स्वल्पतम भी संश्लेष रहता है, तब तक परम शुद्धावस्था पाने में कुछ न्यूनता बनी रहती है। अरिहंत कर्मों के क्षय में रही हुई न्यूनता को शुद्ध ध्यान द्वारा अभाव में बदल देते हैं। उसके परिणामस्वरूप आत्मा अपने परमानंदमय, शक्तिमय, शान्तिमय स्वरूप में अधिष्ठित हो जाती है।

कर्मों के उदयवश वासना और लालसा के कारण मनुष्य का मन सांसारिक भोगों की ओर आकृष्ट रहता है। वह आकर्षण ऐसा है, जिसमें क्षणिक माधुर्य है, किंतु परिणाम में विपुल दुःखात्मकता है।

ज्यों ही एक भव्य पुरुष का ध्यान सिद्धत्व की ओर जाता है, त्यों ही उसके मन में एक भावोद्रेक होता है कि जिस मार्ग को अपनाने में वह सुख मान रहा है, वह तो उसकी भ्रांति है। सांसारिक भोगों के हेतुभूत जिस धन के मद पर मनुष्य फूला नहीं समाता, वह धन नश्वर है। जिस सम्मान, पद, प्रतिष्ठा और सत्ता को पाकर वह उन्मत्त रहता है, एक ऐसा समय आता है कि वह सब छूट जाते हैं और वह सड़क पर आ जाता है, जो उसके लिए अत्यन्त अपमानजनक है, तब ज्यों ही सिद्ध भगवान् की परमानंदमयी स्थिति का वह चिंतन करता है तो उसे आंतरिक प्रेरणा प्राप्त होती है कि मैं भी यह पद प्राप्त कर सकूं।

यद्यपि सिद्ध भगवान् अयोगी हैं। मानसिक, वाचिक, कायिक योगों से वे अतीत हैं। ये योग तो कर्म-रूप हैं, जिनका वे सर्वथा क्षय कर चुके हैं। इसलिए वे किसी को उपदेश नहीं देते। वे तो अपने परमानंदमय स्वरूप में स्थित रहते हैं, किंतु उनका वह अलौकिक, शाश्वत, प्रशांत, स्वरूप एक प्रेरणा-पुंज का काम करता है। यद्यपि वे कुछ नहीं बोलते, किंतु उनका परम पावन व्यक्तित्व एक अद्भुत,

अपौद्गलिक, आध्यात्मिक प्रेरणा रूप भाषा द्वारा जन-जन को उद्बोधित करता है। दूसरे शब्दों में जन-जन उनके स्वरूप पर चिंतन, अनुभवन कर अभिनव स्फूर्ति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार सिद्ध भगवान् आत्म-जागरण के निमित्त के रूप में संसार के लिए प्रेरणा स्रोत हैं, वे हमारे महान् उपकारी हैं। उन्हीं के आध्यात्मिक स्वरूप को समझकर हम अपने में सत्कर्म, चेतना की अनुभूति करते हैं, क्योंकि उनके स्वरूप में वह सब विद्यमान हैं, जिसके न होने से सांसारिक जन मौलिक उपलब्धियों और अभिसिद्धियों को प्राप्त करने के बावजूद अकिंचन एवं नगण्य बने रहते हैं।

मकड़ी के जाले की तरह सांसारिक प्रपंचों में उलझे हुए लोग सिद्ध भगवान् के स्वरूप में अनुप्राणित होकर अपने आप में एक ऐसी शक्ति का संचय करते हैं, जो उन्हें असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर प्रयाण करने का बल देती है। नि:संदेह सिद्ध भगवान् हमारे परमातिपरम उपकारी हैं। 'णमो सिद्धाणं' पद उनके प्रति हमारा नमन, प्रणमन है। यह हमें उन उपकारी जैसा महान् पद प्राप्त करने का संदेश देता है।

णमोक्कार महामंत्र के परिशीलन से वह अद्भुत प्रभावकता अर्जित करता है।

सिद्धों को नमन

सिद्ध स्वभावोत्प्रेरक के रूप में परमोपकारी होने के कारण नमनीय और वंदनीय हैं। वंदन और नमन से जीवन में विनय का संचार होता है। भावना में निर्मलता आती है। सद्गुण संचय की अंत:स्फूर्ति जागरित होती है।

'विणय मूलो धम्मो'– के अनुसार जैन धर्म में विनय को धर्म का मूल कहा गया है । जिस प्रकार मूल से पौधा अंकुरित होता है, बड़ा होता है, विशाल वृक्ष का रूप ले लेता है, उसी प्रकार विनय द्वारा धर्म- दान, शील, तप, भावना, संयम, करुणा, मैत्री, विश्व-वात्सल्य जैसे आत्म-श्रेयस्कर मधुर फलों से परिपूर्ण पादप जैसा विस्तार पा लेता है ।

सभी धर्मों में विनय का महत्त्व स्वीकार किया गया है। विनय की परिणति नमन या नमस्कार में होती है। सभी धर्मों के अपने-अपने नमस्कार-मंत्र हैं, जिनके अनुयायी उनका स्मरण, उच्चारण, जप आदि करते हैं। जैन धर्म में नमस्कार मंत्र को णमोक्कार मंत्र कहा जाता हैं। 'णमोक्कार' नमस्कार का प्राकृत रूप है। जैन धर्म के मौलिक ग्रंथ- आगम प्राकृत में हैं। नमस्कार महामंत्र में पाँच महान् आत्माएं नमनीय हैं, जो अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु के रूप में स्वीकृत हैं। इनका प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में विस्तार से विवेचन किया गया है। साधुत्व से प्रारंभ होकर सिद्धत्व के आदर्शों पर इन महापुरुषों की शृंखला टिकी हुई है। सिद्धत्व इस शृंखला या परंपरा का सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्तम रूप है। साधु, उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहंत- इन सबका अंतिम प्राप्य सिद्धत्व ही है।

उससे वरिष्ठ या श्रेष्ठ कोई नहीं है। उनके नमन की बहुत बड़ी फलवत्ता है।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ का मूल विषय 'णमो सिद्धाणं' पद से सम्बद्ध है। स्वरूप, वैशिष्ट्य, साधना-क्रम इत्यादि अनेक अपेक्षाओं से सिद्ध-पद पर इसमें समीक्षात्मक शैली में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

सार-संक्षेप

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ सात अध्यायों में विभक्त है। उनका सार संक्षेप इस प्रकार है–

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय में जैन धर्म, दर्शन और साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म काल की सीमा में आबद्ध नहीं है। वह अनादि है। विभिन्न युगों में तीर्थंकरों द्वारा उद्भासित होता रहा है। संयम, विरति, साधना, तपश्चरण, शील, सद्भावना आदि आचारमूलक सिद्धांत और अनेकांत दर्शन पर वह आधारित है । वर्तमान अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत हमें आगमों के रूप में प्राप्त हैं।

'सिद्ध-पद' जैन धर्म और दर्शन का वह परम तत्त्व है, जिस पर साधना के बहुमुखी आयाम आश्रित हैं। वही साधक का चरम साध्य है। आगमों और पश्चाद्वर्ती जैन साहित्य में विभिन्न प्रसंगों में जहाँ पंच परमेष्ठी पदों का विश्लेषण हुआ है, सिद्ध-पद की विविध दृष्टियों से व्याख्या की गई है। आगम आदि ग्रंथ जैन धर्म और दर्शन के मूल स्रोत हैं। जैन-परंपरा में अपने सिद्धांतों के अनुरूप साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। आगमों पर तथा अन्यान्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखीं, स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की। साहित्य-सर्जन का यह क्रम निरंतर गतिशील रहा। प्राकृत और संस्कृत में विपुल साहित्य रचा गया। लोकभाषाओं में भी रचनाओं का वह क्रम विकासशील रहा।

जैन आगम तथा तदुत्तरवर्ती साहित्य प्रस्तुत शोध-ग्रंथ हेतु परिगृहीत 'सिद्ध-पद' के विस्तृत विश्लेषण का मुख्य आधार है। सिद्ध-पद आधेय-स्वरूप है। आधेय को परिज्ञापित और व्याख्यात करने से पूर्व उसके आधार पर संक्षिप्त विवेचन, आधेय के स्पष्टीकरण और विशदीकरण में उपयोगी सिद्ध होगा, इसी दृष्टिकोण से प्रथम अध्याय में संक्षेप में आगमों पर, उनके व्याख्या साहित्य पर तथा तदितर साहित्य पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय में णमोक्कार मंत्र का, जिसके दूसरे पद में सिद्धों का स्थान है, विशेष रूप से वर्णन किया गया है। साथ ही साथ सिद्ध-पद के संदर्भ में मंत्राराधना का अनेक दृष्टियों से विस्तृत विवेचन है।

णमोक्कार मंत्र जैनों का संप्रदायातीत, सार्वभौम मंत्र है। मंत्र का सबसे बड़ा कार्य अनादिकालीन मूर्च्छा को तोड़ना है। णमोक्कार मूर्च्छा को भंग करता है, जिससे साधक अनासक्त बनता है।

णमोक्कार शक्ति-जागरण का महामंत्र है। वह सुषुप्त शक्तियों को जगाता है। उन्हें स्फूर्त करता है। इसमें अद्‌भुत प्रभाव है। यह अंतर्मुख होने की सूक्ष्म प्रक्रिया है। णमोक्कार मंत्र के जप से हम प्रकृति से जुड़ते हैं। हमारा दृष्टिकोण अति व्यापक बनता है।

णमोक्कार मंत्र के अंतस्तल में जाकर, चमत्कारों से हटकर, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि से चिंतन करना अपेक्षित है।

णमोक्कार मंत्र विघ्न विनाशक तो है ही, यह शांत, सुस्थिर तथा समृद्ध स्थिति की ओर ले जाता हुआ, आत्म-दर्शन के साथ जुड़ने की सफल प्रक्रिया प्रदान करता है।

णमोक्कार मंत्र का मूल लक्ष्य आत्मा के आवरणों, विकारों तथा प्रतिरोधों को दूर करना है। इस मंत्र में अपूर्व शक्ति है। बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति का पक्ष इस मंत्र के साथ मुख्य रूप से संलग्न है। इसके कण-कण में उत्थान का नव प्रभात है। मानव में आध्यात्मिक, मानसिक तथा कायिक सत्यों का जागरण इस महामंत्र से संभव है। यह एक ऐसी छैनी है, जो सम्यक्त्व के माध्यम से मिथ्यात्व को विच्छिन्न करती है।

णमोक्कार में व्यक्ति-शुद्धि की विलक्षण शक्ति है। वास्तव में यह जीवन-शोधन का अनन्य साधन है। यह व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से समाज के ऊर्ध्वीकरण का प्रमुख आधार है।

मानव के जीवन में नमस्कार का बहुत उच्च स्थान है। मनुष्य के हृदय की कोमलता, समरसता, भावुकता तथा गुण ग्राहकता का तभी पता लगता है, जब वह अपने से श्रेष्ठ एवं पवित्र महान् आत्मा को भक्ति-भाव से गद्-गद् होकर नमस्कार करता है। गुणों के समक्ष अपने अहंकार का त्याग कर गुणीजन के चरणों में अपने आपको सर्वतोभावेन अर्पित कर देता है।

णमोक्कार के पाँच पद हमारे लिए आलंबन हैं, आदर्श हैं। उन तक पहुँचना, अपनी आत्मा को उनके सदृश बनाना, विकसित करना हमारा आध्यात्मिक ध्येय है। नमस्कार, जिसमें विनय-भाव समाया हुआ है, लक्ष्य की पूर्ति में बहुत सहायक है।

कमलों के विकास में सूर्य निमित्त बनता है। कुमुदों के विकास में चंद्र निमित्त है, उसी प्रकार अरिहंत, सिद्ध संसारी आत्माओं के उत्थान में निमित्त बनते हैं। सत्पुरुषों का स्मरण करने से विचार पवित्र होते हैं। विचारों के पवित्र होने से असत् संकल्प नहीं होते। आत्मा में उत्साह, स्फूर्ति तथा शक्ति का संचार होता है, अपने स्वरूप का भान होता है। वैसा होने से कर्म-बंधन टूटने लगते हैं।

णमोक्कार सिद्ध-मंत्र है। सिद्ध मंत्र उसे कहा जाता है, जिसमें योग-सिद्ध महापुरुषों की शक्ति निहित हो और जो स्वयं शक्तिमान हो तथा साधना से फल देता हो।

चमत्कार हेतु णमोक्कार मंत्र का उपयोग करना उचित नहीं है, किन्तु यह भी सत्य है कि मंत्राराधना से, साधना से स्वयं चमत्कार हो जाते हैं। साधक को चमत्कारों में कदापि आसक्त नहीं होना चाहिए। नमस्कार मंत्र का जप आत्म-अभ्युदय, सहज आनंद की प्राप्ति, आत्मशक्ति के जागरण एवं आत्म-निर्मलता के लिए किया जाता है। आत्मबल के संचय के साथ-साथ विलक्षण और चामत्कारिक उपलब्धियाँ भी होती हैं, किन्तु सिद्धत्व पद का आराधक कभी चमत्कारों के आकर्षण में नहीं पड़ता। प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में णमोक्कार के यथार्थ प्रयोग की चर्चा की गई है। णमोक्कार का सर्वथा आत्मोत्कर्ष की दृष्टि से उपयोग करने वाला साधक अपनी साधना में उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है, जिसकी अंतिम प्राप्ति सिद्धावस्था है।

अन्य मंत्रों की तुलना में णमोक्कार मंत्र की एक अद्‌भुत विलक्षणता है। अन्य मंत्रों में इष्ट के साथ अनिष्ट का भय रहता है, लाभ के साथ हानि की आशंका जुड़ी रहती है। णमोक्कार मंत्र माता के दूध की तरह सौम्य, पौष्टिक एवं शक्तिप्रद है। इससे कभी भी किसी का अनिष्ट नहीं हो सकता। माता का दूध शिशु के शरीर की पुष्टि भी करता है, वृद्धि भी करता है, रक्षा भी करता है तथा विकास भी करता है। उसी प्रकार णमोक्कार मंत्र हमारी आत्मशक्ति की पुष्टि एवं वृद्धि करता है। बाह्य अशुभ शक्तियों से रक्षा करता है। वह सर्वतोमुखी उन्नति का हेतु है। उसके स्मरण से, चिंतन से, दुःख, अवसाद, चिंता, भय, रोग, शोक, संकट तथा आपत्तियाँ सभी इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे सूर्य के उदित होने से अंधकार नष्ट हो जाता है।

णमोक्कार मंत्र के एहिक, पारलौकिक या आध्यात्मिक प्रभाव का इस अध्याय में विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

संपूर्ण जैन समाज में णमोक्कार मंत्र की आराधना, जप, ध्यान और स्मरण की परंपरा प्रचलित है, किंतु इसकी साधना करने वाले कतिपय जन ऐसा कहते हुए मिलते है कि हमें इसके चमत्कार का कोई अनुभव नहीं होता।

चमत्कार के संबंध में प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में गंभीरता पूर्वक विचार किया गया है। लोगों का मन अधिकांशतः सांसारिक भावों में रमण करता है। उनको सांसारिक सुख, धन, वैभव– ये प्रिय लगते हैं। यदि णमोक्कार की आराधना से इनके प्रति मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाए तो यह एक आध्यात्मिक चमत्कार है, क्योंकि ऐसा होना कोई सामान्य बात नहीं है। सांसारिक एषणाओं को छोड़ना बहुत कठिन है।

लौकिक चमत्कार भी न हो, ऐसी बात नहीं है, किंतु आध्यात्मिक साधक को उनकी कामना नहीं करनी चाहिए।

मंत्र की आराधना, जप, स्मरण आदि के संदर्भ में साधक को भलीभाँति बोध होना चाहिए। जप के लिए समुचित, विघ्नशून्य स्थान, शांत वातावरण, शुद्ध उच्चारण, ध्यान के द्वारा उसका स्थिरीकरण इत्यादि का ज्ञान और विधिपूर्वक निरंतर अभ्यास करना आवश्यक है। इस अध्याय में मंत्राराधना के इन पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया है, जिससे जिज्ञासुओं को मंत्र-विषयक सूक्ष्म बोध होने के साथ-साथ क्रियात्मक रूप में भी उस दिशा में अधिकाधिक आगे बढ़ने का उत्साह और संबल प्राप्त हो। ऐसा होने से ही 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'– यह सूत्र सफल हो सकता है। यह साफल्य ही सिद्धत्व की उपलब्धि है।

यहाँ मंत्र और अंतश्चेतना, ध्वनितरंग, मंगल वाक्यों की महत्ता, मंत्राराधना के मार्ग, णमोक्कार की आराधना, स्वरूप, जप, सिद्धत्व-प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त कराने में णमोक्कार मंत्र की उपयोगिता इत्यादि मंत्र-विज्ञान संबंधी अनेक विषयों का निरूपण किया गया है।

नवतत्त्व, नयवाद, निक्षेपवाद, योग, ज्योतिष, राजनीति, प्रशासन-तंत्र, न्याय-तंत्र, अर्थशास्त्र, गणितशास्त्र, रंग-विज्ञान, ललित कलाएँ, काव्यशास्त्रगत नव रस इत्यादि अनेक प्राचीन, अर्वाचीन अपेक्षाओं से णमोक्कार मंत्र का इस अध्याय में विस्तार के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया गया है। ऐसा करने का यह लक्ष्य रहा कि विभिन्न क्षेत्रों में कार्यशील लोग अपनी-अपनी मनोभूमिकाओं के अनुसार इसे सरलता पूर्वक समझ सकें, अपना सकें। यह अनेक दृष्टिकोणों के साथ किया गया विवेचन णमोक्कार मंत्र की व्यापकता को सिद्ध करता है।

णमोक्कार मंत्र में जैन धर्म की प्राण प्रतिष्ठा है, जिसके सर्वोच्च शिखर पर सिद्ध परमात्मा सुशोभित हैं। णमोक्कार को जो भलीभाँति समझ लेता है, आत्मसात् कर लेता है, वह जैन धर्म को, आध्यात्मिक साधना-मार्ग को अधिगत कर लेता है। णमोक्कार मंत्र में साधना के, आत्मोपासना के बड़े मनोज्ञ सूत्र संग्रथित हैं। सिद्ध परमेश्वर के स्वरूप को आत्मसात् कराने में णमोक्कार मंत्र की बड़ी भूमिका है। यही कारण है कि इस शोध-ग्रंथ में णमोक्कार मंत्र के अनुशीलन, अनुसंधान में एक पूरा अध्याय उल्लिखित हुआ है।

तृतीय अध्याय

जैन आगमों में सिद्ध-पद का जो बहुमुखी विश्लेषण हुआ है, तीसरे अध्याय में सार रूप में उसे समीक्षात्मक दृष्टिकोण से उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। मुख्यतः आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, प्रश्नव्याकरण, औपपातिक, राजप्रश्नीय,

जीवाजीवाभिगम, सूर्यप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक एवं कल्पसूत्र इन सूत्रों के आधार पर सिद्धत्व से संबद्ध अनेक पक्षों को उपस्थित किया गया है। उनमें सिद्धों के स्वरूप, निर्वाण की महिमा, सिद्ध-पद की वर्गणा, सिद्ध-स्थान, भव्यसिद्धिक, अभव्यसिद्धिक, सिद्धों के एकरूपत्व, प्रदेशावगाहना, सिद्ध जीवों की वृद्धि-हानि, अवस्थिति, असंसार समापन्नकता, उपचय, संहनन, संस्थान, आवास, योगनिरोध, भेद, अनाहारकत्व आदि पर विवेचन किया गया है। साथ ही साथ सिद्धत्व की दिशा में उन्मुख साधक की भूमिका, सिद्धत्व प्राप्ति की सुलभता, दुर्लभता, संवर-आराधना द्वारा मुक्ति, सिद्धों की परमानंदावस्था इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों की भी चर्चा की गई है।

सिद्धों के संदर्भ में आगमों में जो विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, उसका नवनीत संक्षिप्त शब्दों में उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। विवेचन में समीक्षात्मक दृष्टि रखी गई है, इसलिए जहाँ-जहाँ अपेक्षित हुआ है, वहाँ जैनेतर विचार-धाराओं को तुलना के रूप में उपस्थित किया गया है। भगवान् महावीर और गौतम के वार्तालाप के प्रसंगों को भी उपस्थित किया गया है, जिनमें सिद्धत्व के संबंध में गौतम के प्रश्न और भगवान् महावीर द्वारा दिए गए समाधान हैं।

सिद्धत्व की गौरवमयी लंबी यात्रा तब अति स्वल्पकाल में सिद्ध हो जाती है, जब साधक के परिणामों में तीव्रतम वैराग्य, विशुद्ध आत्मभावोपपन्नता समुत्थित होती है। द्वारिका के राजकुमार गजसुकुमाल इसके उदाहरण हैं, जिन्होंने मुनि रूप में अत्यन्त घोर कष्ट को इतने समत्वपूर्ण, निर्मल परिणामों के साथ सहन किया, जिससे उनके शुद्धोपयोग की धारा इतनी पवित्र हो गई कि तत्काल मुक्त हो गए। अंतकृद्दशांग सूत्र में आए हुए इस प्रसंग को विशेष रूप से समुपस्थित किया गया है। एक दूसरा प्रसंग अर्जुनमाली का है, जो बौद्ध साहित्य में वर्णित अंगुलिमाल दस्यु की तरह घोर हिंसक था, किंतु उसके जीवन में एक ऐसा प्रसंग आता है कि वह भगवान् महावीर की शरण में आ जाता है, साधुत्व अंगीकार कर लेता है और इतना वैराग्यशील, सहनशील और तितिक्षा-परायण हो जाता है कि बहुत थोड़े समय में ही सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है।

इन उदाहरणों के उपस्थित किए जाने का यह अभिप्राय है कि सिद्धत्व की प्राप्ति आंतरिक पवित्रता, उज्ज्वलता और विशुद्धता पर आधारित है।

सिद्धत्व के संबंध में इस अध्याय में किया गया निरूपण सिद्धावस्था या मुक्ति के साथ संपृक्त प्रायः इन सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को विशद रूप में प्रगट करता है, जिनका ज्ञान एक मुमुक्षु के लिए निश्चय ही बहुत लाभप्रद है।

चतुर्थ अध्याय

आगमों के अतिरिक्त जैनाचार्यों एवं विद्वानों द्वारा प्राकृत तथा संस्कृत में लिखे गए ग्रंथों में णमोक्कार महामंत्र का जहाँ विवेचन हुआ है, वहाँ सिद्ध-पद पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

ये ग्रंथ दो प्रकार के हैं– कुछ तो टीका, वृत्ति एवं व्याख्या आदि के रूप में और कुछ स्वतंत्र रूप में लिखे गए हैं।

णमोक्कार मंत्र का, जैसा प्रस्तुत शोध-ग्रंथ में संकेत किया गया है, आगमों में सर्वप्रथम व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र में मंगलाचरण के रूप में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने अपनी टीका में णमोक्कार मंत्र का जहाँ विश्लेषण किया है, वहाँ उन्होंने सिद्ध-पद पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। सिद्ध-पद की व्युत्पत्ति, विवेचन करते हुए उसके अर्थों को विशेष रूप से व्याख्यात किया है। उस प्रसंग को इस अध्याय में निरूपित किया गया है, जिससे सिद्ध शब्द के साथ संबद्ध अर्थों के विषय में यथेष्ट अभिज्ञता प्राप्त हो सके।

अनेक विद्वानों ने सिद्ध शब्द के धातु निष्पन्न एवं अन्य अर्थों पर जो विचार किया है, उसका भी यहाँ उल्लेख किया गया है, जिससे यह प्रगट होता है कि विद्वानों का इस महत्त्वपूर्ण शब्द के विश्लेषण की ओर अत्यधिक आकर्षण रहा है। महानिशीथ-सूत्र में जो सिद्ध-पद का विश्लेषण हुआ है, वह भी जिज्ञासु अध्येताओं के लिए पठनीय है।

आगमोत्तर काल में अनेक आचार्यों एवं विद्वानों ने प्राकृत में रचनाएँ की हैं, व्याख्यामूलक रचनाओं के रूप में भाष्य तथा निर्युक्तियाँ लिखी गई हैं। आचार्य भद्रबाहु विरचित आवश्यक-निर्युक्ति, नमस्कार-निर्युक्ति में सिद्ध-पद, तपः सिद्ध, कर्म-क्षय सिद्ध एवं सिद्धभूमि के स्वरूप इत्यादि का वर्णन प्राप्त होता है, जो साहित्यिक दृष्टि से प्राचीन है। सार रूप में उसका यहाँ उल्लेख किया गया है। सुप्रसिद्ध दिगंबर आचार्य श्री देवसेन द्वारा रचित 'तत्त्वसार', सिद्धचन्द्र गणी कृत 'सप्तस्मरण', हर्षकीर्ति सूरि रचित 'णमोक्कार मंत्र-व्याख्या', तथा 'सिद्ध णमोक्कारावली' आदि ग्रंथों में सिद्धों के स्वरूप वैशिष्ट्य, सिद्धत्व-आराधना, आत्मा की भाव-सिद्धत्व-दशा, सिद्धों के गुण आदि का सारांश प्रस्तुत अध्याय में उपस्थित किया गया है।

इन प्राकृत रचनाकारों ने सिद्ध-पद के परिप्रेक्ष्य में जो विविध तथ्य उद्घाटित किए हैं, वे अध्येय हैं। प्राकृत ग्रंथकारों की गहन तात्त्विक विषयों को निरुपित करने में हार्दिक अभिरुचि रही, जो उन द्वारा किए गए विवेचनों से प्रकट होती है, सिद्धत्व-विषयक बोध-वर्धन में यह विवेचन वास्तव में उपयोगी है।

आगमोत्तरकाल में जैन आचार्यों और लेखकों द्वारा प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत में भी विपुल साहित्य रचा गया। उन्होंने अनेक स्थलों पर णमोक्कार मंत्र की अपनी शैली में व्याख्या की। उसके अन्तर्गत सिद्ध-पद का विशद विवेचन किया।

मोक्ष, मुक्ति आदि शब्द सिद्धत्व के पर्यायवाची हैं। संस्कृत लेखकों ने अपने ग्रंथों में मोक्ष का भी जो वर्णन किया है, उसे इस प्रसंग में गृहीत किया गया है।

यह विवेचन आचार्य उमास्वाति द्वारा 'तत्त्वार्थ-सूत्र' में की गई मोक्ष की व्याख्या से प्रारंभ होता है। तत्त्वार्थ-सूत्र के टीकाकार आचार्य अकलंक द्वारा रचित 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में इस संदर्भ में किए गए विश्लेषण की यहाँ विशेष रूप में चर्चा की गई है।

आचार्य उमास्वाति द्वारा अपने दूसरे ग्रंथ 'प्रशमरति प्रकरण' में किए गए सिद्ध-पद के निरूपण, रत्नत्रय द्वारा मोक्ष की सिद्धि आदि के आधार पर इस अध्याय में विचार किया गया है।

षट्खंडागम तथा उन पर आचार्य वीरसेन रचित धवला-टीका के भी उन प्रसंगों को प्रस्तुत किया गया है, जिनमें सिद्ध-नमन तथा सिद्ध-पद विश्लेषण आदि का उल्लेख है।

आचार्य पूज्यपादकृत 'सिद्ध-भक्त्यादि संग्रह', आचार्य हरिभद्र सूरि रचित 'योगदृष्टि समुच्चय','षोडषक प्रकरण', आचार्य देवसेनकृत 'तत्त्वसार', आचार्य नागसेन रचित 'तत्त्वानुशासन', आचार्य हेमचंद्र रचित 'सिद्धहेमशब्दानुशासन', 'योगशास्त्र', 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित', आचार्य शुभचंद्र रचित 'ज्ञानार्णव', श्री जयतिलक सूरि रचित 'हरिविक्रमचरित, श्री वर्धमान सूरि रचित 'आचार-दिनकर-संदर्भ', भट्टारक सकलकीर्ति रचित 'तत्त्वार्थ सार दीपक', मुनिसुंदर सूरि रचित 'अध्यात्मकल्पद्रुम', श्री रत्नचंद्रगणिकृत 'मातृका प्रकरण संदर्भ' आदि ग्रंथों एवं साराभाई नवाब द्वारा संग्रहीत 'महाप्रभाविक नवस्मरण' आदि अन्य रचनाओं में सिद्ध-पद के संबद्ध में विविध रूप में जो विवेचन हुआ है, उसका सार-संक्षेप विमर्श पूर्वक इस अध्याय में उपस्थित किया गया है।

जैन लेखकों द्वारा लोकभाषाओं में भी णमोक्कार मंत्र और तद्गत पंच परमेष्ठी पदों के अंतर्गत सिद्धों के स्वरूप, आदि के विषय पर प्रकाश डाला गया है। उनके विचारों को भी यथा प्रसंग उपस्थित करने का प्रस्तुत अध्याय में प्रयास रहा है।

पंचम अध्याय

साध्य, साधना और साधक का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। साधना द्वारा ही साधक साध्य को प्राप्त कर सकता है। साधना गंतव्य स्थान पर पहुँचाने का सही मार्ग है। सिद्धत्व साध्य है। मुमुक्षु, भव्य पुरुष साधक है। संवरमूलक आचार-पद्धति साधना है। वही सिद्ध रूप साध्य को आत्मसात् करने का सच्चा पथ है।

संयम का सम्बन्ध आत्म-नियमन से है। आत्म-नियमन से संवर और निर्जरा रूप मार्ग प्रादुर्भूत होते हैं। कर्म-प्रवाह के निरोध और संचित कर्मों के क्षरण या निर्जरण से उनका उच्छेद होता है। अंततः कर्मों का संपूर्णतः अभाव हो जाता है। कर्मों के आवरणों के हटते ही आत्मा का परम ज्योतिर्मय रूप आविर्भूत हो जाता है, जो मुक्ति या सिद्धि के रूप में अभिहित हुआ है।

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों के निग्रह, राग-द्वेष एवं संपराय के अपाकरण, कर्मबंधनों के

विनाश के आधार पर जो संयमानुप्राणित साधना-पथ ज्ञानियों ने निर्दिष्ट किए हैं, उनमें गुणस्थानमूलक पथ बहुत ही उपयोगी है। ये गुणस्थान सोपानों के तुल्य हैं। किसी भी प्रासाद की छत पर, उसके शिखर पर तभी चढ़ा जा सकता है, जब समीचीन रूप में सोपान या सीढियाँ बनी हों। सिद्ध-पद आध्यात्मिकता की एक विशाल अट्टालिका है। गुणस्थान उसके शिखर पर पहुँचने का आरोह क्रम है। इस साधना-पथ को गुणस्थान कहने का अभिप्राय यह है कि इसके द्वारा आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों को प्राप्त करने या प्रगट करने की दिशा में अग्रसर होती है। प्रबल प्रयत्न एवं अध्यवसाय के साथ वह क्रियाशील रहे तो उसकी सफलता में कोई संदेह नहीं रहता है।

गुणस्थानमूलक पद्धति, विकास का एक ऐसा मनोवैज्ञानिक क्रम है, जो साधक को विशेष रूप से आकृष्ट करता है। मिथ्यात्व से, जो जीवन का निकृष्टतम रूप है, निकल कर मुमुक्षु जीव अपने उन गुणों को प्राप्त करने हेतु समुद्यत होता है, जो विजातीय तत्त्वों द्वारा अभिभूत हैं। जब मिथ्या या विपरीत श्रद्धान का दुर्ग टूट जाता है, तब सद् ज्ञान और सत् क्रिया का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। प्रमाद, मोह, राग, द्वेष, आदि, जिन्होंने आत्म-गुणों को बंदी बना रखा था, विध्वस्त हो जाते हैं। जीव की ऊर्ध्वगामिता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और वह ऊँचा चढ़ता-चढ़ता अंतिम गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है, जहाँ आत्मा के समस्त गुण व्यक्त हो जाते हैं। उसे सिद्धत्व प्राप्त हो जाता है।

इस अध्याय में सिद्धत्व की साधना के सोपानों के रूप में गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। अन्य धार्मिक परंपराओं में आत्मा के विकास के क्रमों का जो वर्णन हुआ है, उसे भी तुलनात्मक दृष्टि से उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

योगवासिष्ठ नामक वेदांत विषयक सुप्रसिद्ध ग्रंथ में आत्मा के विकास की चौदह भूमियों का निरूपण हुआ है, जिनमें अज्ञान दु:ख और अध:पतन से निकलकर ज्ञान, आनंद और उत्थान की ओर जीव की प्रगति का उल्लेख है, जिसका समापन ब्रह्मसाक्षात्कार या परमात्म-प्राप्ति में होता है।

इन चौदह भूमियों में पहली सात अज्ञान भूमियाँ है, जो पतन के साथ संलग्न हैं। आगे की सात ज्ञान भूमियाँ हैं। उनमें जीव ज्ञान द्वारा सत्यावबोध के मार्ग पर अग्रसर होता है। १. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्थाभावनी तथा ७. तुर्यगा– ये सात ज्ञान भूमियाँ हैं, जो आत्मा को उत्तरोत्तर उत्थान की ओर ले जाती हैं।

पातंजल योगसूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास ने चित्त भूमियों के रूप में आत्मा के क्रमिक विकास का मार्ग बतलाया है।

पातंजल योग के अनुसार चित्त ही आत्मा के पतन और उत्थान का मुख्य हेतु है। १. क्षिप्त, २. मूढ, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र तथा ५. निरुद्ध ये चार चित्त-भूमियाँ हैं। इन भूमियों में इंद्रिय-विषयों

में विमूढ़ जीव के क्रमिक आध्यात्मिक विकास की रूप रेखा सन्निहित है। अंतिम निरुद्ध भूमि आत्मा की उत्कृष्टतम विकसित दशा है।

महर्षि व्यास ने विवेकख्याति द्वारा होने वाले निवृत्ति-क्रम या आत्मोत्थान-क्रम के रूप में आगे बढ़ने में प्रज्ञा के शुद्धिकरण का सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार किया है। उत्तरोत्तर शुद्धिमूलक विकास की ओर बढ़ती हुई प्रज्ञा के उन्होंने सात रूप व्याख्यात किए हैं।

योगवासिष्ठ में वर्णित भूमियों और पातंजल योग में व्याख्यात चित्तभूमियों और प्रज्ञाओं का विकास क्रम की दृष्टि से गुणस्थानों के साथ इस अध्याय में तुलना की गई है।

बौद्ध धर्म में भी विकास क्रम का विशेष मार्ग बतलाया गया है। उसकी हीनयान शाखा में १. श्रावकयान, २. प्रत्येकबुद्धयान, ३. बोधिसत्त्वयान के रूप में उनके तीन भेद बतलाए गए हैं।

महायान शाखा में विकास-क्रम की दृष्टि से– १. मुदिता, २. विमला, ३. प्रभाकरी, ४. अर्चिष्मती, ५. सुदुर्जया, ६. अभिमुक्ति, ७. दुरंगमा, ८. अचला, ९. साधमती, १०. धर्ममेघ के रूप में दस प्रकार की भूमिकाएँ स्वीकृत हैं।

बौद्ध धर्म में वर्णित विकास-क्रम की इन पद्धतियों की भी इस अध्याय में चर्चा की गई है। समीक्षात्मक दृष्टि से गुणस्थानों के साथ उन पर चिंतन किया गया है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण से चिंतन-मंथन पूर्वक गुणस्थानों की सिद्धत्व-प्राप्ति में सफल भूमिका का इस अध्याय में निरूपण हुआ है।

षष्ठ अध्याय

सिद्धत्व-प्राप्ति के साधना मार्गों में जैन योग पद्धति द्वारा एक साधक किस प्रकार अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकता है, यह इस अध्याय में प्रतिपादित किया गया है। जैन योग-पद्धति की भी चर्चा की गई है, जिसके आविर्भावक आचार्य हरिभद्र सूरि थे। उन्होंने जैन धर्म में स्वीकृत संयम, व्रत, शील तथा तपमूलक आचार-विधाओं को योग के ढांचे में ढाला। आगे चलकर आचार्य हेमचंद्र तथा शुभचंद्र आदि विद्वानों ने उसका विकास किया।

आचार्य हरिभद्र ने पातंजल योग के समकक्ष– १. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कांता, ७. प्रभा एवं ८. परा के रूप में आठ योग-दृष्टियों की परिकल्पना की। इच्छा-योग, शास्त्र-योग, सामर्थ्य-योग आदि के रूप में योगाभ्यास की दृष्टि से मौलिक चिंतन दिया। आचार्य हेमचंद्र और शुभचंद्र ने पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान के विवेचन के अंतर्गत पिंडस्थ ध्यान की १. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. वायवी, ४. वारूणी तथा ५. तत्त्वभू नामक पाँच धारणाओं का विवेचन किया, जो योगाभ्यासी साधकों के लिए वास्तव में बहुत उपयोगी है।

इस अध्याय में उनका सारांश प्रस्तुत करते हुए सिद्धत्व की साधना में उनकी उपयोगिता की चर्चा की गई है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्त-चक्र-योगी एवं निष्पन्नयोगी के रूप में योग-साधकों के चार भेद बतलाए, जिनके साथ योग-साधना के भिन्न-भिन्न आयाम जुड़े हुए हैं। उनके संबंध में भी इसी अध्याय में चर्चा करते हुए सिद्धत्व की दिशा में अग्रसर मुमुक्षुओं की गतिविधियों का विवेचन किया गया है।

आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा योगविंशिका में वर्णित १. स्थान-योग, २. ऊर्ण-योग, ३. अर्थ-योग, ४. आलंबन-योग तथा ५. अनालंबन-योग पर भी इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है। अनालंबन-योग, योग-साधना का सर्वोत्तम रूप है। उसे प्राप्त कर लेने का परिणाम सिद्धत्व के रूप में घटित होता है।

सिद्धत्व की साधना के अंतिम चरण अयोगावस्था तक पहुँचने में शुक्ल-ध्यान के १. पृथक्त्व-श्रुत-सविचार, २. एकत्व-श्रुत-अविचार, ३. सूक्ष्म-क्रिया अप्रतिपाति तथा ४. समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाति– ये भेद किस प्रकार सिद्ध होता है ? उस सम्बंध में भी विश्लेषण किया गया है।

योग-सूत्र में प्रतिपादित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि– इन आठ अंगों पर भी जैन योग के साथ समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि चित्त-शुद्धि या चित्त-निरोध की प्रक्रिया अध्यात्म योग के मार्ग से आगे बढ़ती हुई, अत्यन्त शुद्ध बनकर सिद्धत्व के ध्येय तक पहुँचा देती है।

सप्तम अध्याय

महान् अध्यात्म योगी आचार्य कुदकुंद ने सिद्धत्व प्राप्ति की दिशा में शुद्धोपयोग की बड़ी मार्मिक चर्चा की है। उन्होंने उसे सिद्धत्व-प्राप्ति का अनन्य साधन बतलाया है। उस प्रसंग को संक्षेप में इस अध्याय में व्याख्यात करते हुए निश्चय-नय की दृष्टि से विचार किया गया है। सिद्धों के निरुपाधिक ज्ञान, दर्शन तथा आध्यात्मिक वैशिष्ट्य, शुद्ध आत्मभाव-परमात्मभाव की आराधना आदि पर भी आचार्य कुंदकुंद के सारगर्भित विचारों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है, जो सूक्ष्म, तात्त्विक दृष्टिकोण युक्त हैं।

वैदिक धर्म की दृष्टि से भी परमात्म-पद या ब्रह्म पर विचार किया गया है। वैदिक धर्म के मूल आधार वेद हैं। जैन धर्म में जो आगमों का महत्त्व है, उसी प्रकार वैदिक धर्म में वेदों का महत्त्व है। वेदों को अपौरुषेय माना जाता है, अर्थात् वे किसी पुरुष या मानव द्वारा रचित नहीं हैं। मीमांसा दर्शन

में इस संबंध में विस्तार से विचार किया गया है। यह प्रसंग इस अध्याय में संक्षेप में वर्णित हुआ है।

उपनिषद् वेदों के ज्ञानकांड के अंतर्गत माने जाते हैं। उनमें जीव, परमात्मा, ब्रह्म आदि का विभिन्न स्थलों में विवेचन हुआ है। ब्रह्म के स्वरूप, बहिर्जगत् से ब्रह्म की अतीतता, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीयता, ब्रह्म-ज्ञान से ब्रह्म के साक्षात्कार आदि विषयों पर उपनिषदों में जो प्रतिपादन हुआ है, उन पर संक्षेप में इस अध्याय में विचार किया गया है।

श्रीमद्भागवत, अवधूत गीता एवं विवेक चूड़ामणि में ब्रह्म के विषय में विविध रूप में जो आख्यान हुआ है, उसका भी सार इस अध्याय में उपस्थित किया गया है।

ब्रह्म और सिद्ध के स्वरूप का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। वैदिक दर्शन और जैन दर्शन में सृष्टि-कर्तृत्व के विषय में सैद्धांतिक अंतर है। वैदिक दर्शन में परमात्मा को सृष्टि का रचयिता माना जाता है। जैन दर्शन में जगत् को अनादि, अनंत माना गया है। जो अनादि, अनंत होता है, उसका कोई स्रष्टा नहीं होता।

वैदिक ग्रंथों में परमेश्वर द्वारा सृष्टि रचना किए जाने को 'लीलाकैवल्य' के रूप में व्याख्यात किया गया है। उसका इस अध्याय में समीक्षात्मक दृष्टि से निरूपण किया गया है।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष या मुक्ति के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्ध विद्वानों ने निर्वाण की अनेक प्रकार से व्याख्या की है, जिसे यहाँ सार रूप में प्रज्ञप्त किया गया है।

जैन दर्शन और वेदांत दर्शन में सिद्धावस्था तथा परमात्मात्मावस्था को ऐकांतिक एवं आत्यंतिक रूप में दु:ख-विमुक्त और परमानंदमय माना गया है। बौद्ध-दर्शन में दु:ख-विमुक्ति का अधिक महत्त्व है। विशेषत: हीनयान में सर्व दु:खों से छूटने को ही परिनिवृत्त होना माना है। उत्तरवर्ती काल में महायान में दु:ख-विवर्जन के साथ-साथ सुख को भी निर्वाण में स्वीकार किया गया, इन सभी विषयों पर इस अध्याय में सविमर्श विचार किया गया है।

भारतीय साधना के क्षेत्र में एक ऐसा समय आता है, जब ज्ञान एवं वैराग्यमय परमात्मोपासना में प्रेम तत्त्व का विशेष रूप से संयोजन हुआ। पुरुष और स्त्री के बीच प्राप्य लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का दर्जा दिया गया। इसमें हिंदी साहित्य के भक्तिकाल की निर्गुणधारा में संतों और सूफियों की दो परंपराएँ प्राप्त होती हैं। संत-परंपरा में कबीर मुख्य थे। उन्होंने परमात्मा को पति और आराधक को पत्नी के रूप में व्याख्यात किया। सूफियों की उपासना-पद्धति संतों से कुछ भिन्न थी। उन्होंने परमात्मा का प्रेयसी और आराधक का प्रेमी के रूप में वर्णन किया। सूफियों में मलिकमुहम्मद जायसी मुख्य थे।

इस अध्याय में इन दोनों ही परंपराओं के विचारों को उपस्थित करते हुए जैन अध्यात्म योगी

श्री आनंदघनजी के उद्‌गारों का भी उल्लेख किया है, जिन्होंने सिद्ध परमात्मा का पति के रूप में वर्णन किया है। इससे पूर्ववर्ती संस्कृत के जैन ग्रंथों में भी कहीं-कहीं लेखकों ने सिद्ध और आराधक का इसी रूप में संकेत किया है।

इस विषय पर समीक्षात्मक दृष्टि से इस अध्याय में विवेचन किया गया है। अध्यात्म के साथ लौकिक प्रेम की किस प्रकार संगति हो सकती है, इस पर मनोवैज्ञानिक एवं तात्त्विक दृष्टि से विचार किया गया है।

प्रस्तुत विषय को शोध-हेतु स्वीकार करने में तत्त्वानुशीलन के अतिरिक्त एक और भी चिंतन रहा। आज संसार भौतिकवाद में डूबता जा रहा है। धार्मिक मूल्य मिटते जा रहे हैं। हिंसा का दानव संसार को निगल लेना चाहता है। नैतिकता, प्रामाणिकता, सदाचार, मैत्री, सहयोग, करुणा आदि उच्च मानवीय गुण आज नष्ट होते जा रहे हैं।

यह केवल व्यक्तिगत समस्या नहीं है। हर कहीं पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में यह व्याप्त है, यदि यही क्रम गतिशील रहा तो हमारी सहस्राब्दियों पुरानी आध्यात्मिक संस्कृति के विलुप्त हो जाने का भय है। हिंसा द्वारा हिंसा नहीं मिट सकती। शस्त्रों के बल पर शांति स्थापित नहीं की जा सकती। क्रिया की प्रतिक्रिया होती ही है। हिंसा से तो हिंसा को और अधिक बढ़ावा मिलता है, वैर-भाव पुष्ट होता है। भगवान् महावीर ने तो बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वैर से वैर कभी नहीं मिटता, उसके मिटने का मार्ग तो मित्र-भाव, सौहार्द, और समत्व है, जिनके साथ अहिंसा का आदर्श जुड़ा रहता है।

यह सत्य है कि संसार में सभी लोग शांति चाहते हैं, सुख चाहते हैं। तदर्थ सम्मेलन आयोजित करते हैं, विचार-मंथन करते हैं। निःशस्त्रीकरण और अनाक्रमणमूलक संधियों की चर्चाएँ होती हैं, निर्णय लिए जाते हैं, किंतु उनका कोई परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

विज्ञान आज अत्यंत विकासोन्मुख है, वर्षों में होने वाले कार्य क्षण भर में हो जाते हैं। आकाश में पक्षी की तरह मानव विहरण करने में सक्षम हो गया है, और भी अनेक प्रकार की चामत्कारिक उपलब्धियाँ उसने प्राप्त की हैं, किंतु यह सब होने पर भी वह अशांति की ओर बढ़ रहा है। वैज्ञानिक प्रतिभा का प्रयोग आज विनाशकारी शस्त्रास्त्रों और साधनों के निर्माण में हो रहा है, जो अत्यंत दुःखजनक है। जो शक्ति और धन लोगों के सुखप्रद साधनों के निर्माण में लगना चाहिए, वैसा बहुत कम हो रहा है। राष्ट्रों में अपने को अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रतिस्पर्धा चल रही है।

यह सब क्यों हैं ? इसका बस एक ही उत्तर है– विज्ञान को तो मानव ने अपनाया, किंतु धर्म को अपने जीवन में सर्वथा गौण बना दिया। विज्ञान और धर्म का जीवन में समन्वय होना चाहिए। विज्ञान जब धर्म के अहिंसा, सत्य, त्याग और अपरिग्रहमूलक सिद्धांतों से अनुशासित होता है, तब वह

मानव को विनाश की ओर नहीं ले जाता, निर्माण की ओर ले जाता है, वह उसे शांति की ओर अग्रसर करता है।

अज्ञान-ज्ञान-विज्ञान

अज्ञान अंधकार है। जब वह जीवन में व्याप्त होता है, तब मनुष्य की एक अंधे जैसी स्थिति हो जाती है। जिस प्रकार एक चक्षु विहीन पुरुष इधर-उधर भटकता रहता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीवन में सदा विभ्रांत बना रहता है। वह नहीं जान पाता कि अपने उत्थान के लिए किस पथ को अपनाए ? जो जीवन के यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें ज्ञान का अवलंबन लेना होगा। इसीलिए पाश्चात्य विचारकों ने **Knowledge is life**– ज्ञान जीवन है, स्पष्ट शब्दों में ऐसा कहा है।

जैन दर्शन में ज्ञान और अज्ञान का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। साधारणत: ज्ञान के अभाव को अज्ञान कहा जाता है, किंतु जैन दर्शन में इसके साथ-साथ अज्ञान की एक और व्याख्या भी दी गई है। वहाँ बतलाया गया है कि वह ज्ञान भी अज्ञान संज्ञक है, जो सत् श्रद्धान् या सम्यक्-दर्शन से रहित होता है। इसलिए जहाँ जैन दर्शन में मति ज्ञान तथा श्रुत ज्ञान आदि के रूप में ज्ञान के भेद कहे गए हैं, वहाँ मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान के नाम से अज्ञान के भी भेद बतलाए गए हैं। यदि अज्ञान का अर्थ ज्ञान का न होना ही होता तो उसके भेद कहाँ से होते ? किंतु यहाँ अभाव के स्थान पर कुत्सितता का सद्भाव है, अर्थात् जिस ज्ञान के साथ विपरीत श्रद्धा का, मिथ्यात्व का संयोग होता है, उस ज्ञान को अज्ञान कहा गया है।

एक प्रश्न उपस्थित होता है– इस प्रकार के ज्ञान को दूषित या अनुपयोगी कह दिया जाता, अज्ञान क्यों कह दिया गया ? इसका समाधान यह है कि सत्य एवं तथ्य के प्रति निष्ठा विहीन ज्ञान का उपयोग न उपयोक्ता या प्रयोक्ता के लिए ही श्रेयस्कर होता है और न वह मानवता के लिए ही लाभप्रद होता है। आज यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। भौतिक विज्ञान आज उन्नति की दिशा में बढ़ता जा रहा है, किंतु यह स्पष्ट है, जैसा यहाँ भी सूचित किया गया, उसका द्रुत-गति से विनाशकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण में अधिकाधिक उपयोग हो रहा है। विभिन्न राष्ट्रों के यहाँ घातक शस्त्रों के भंडार भरे हैं, फिर भी वे आगे और शस्त्रास्त्रों के निर्माण से हाथ नहीं खींचते, यह बहुत बड़ी विडम्बना है।

जिस ज्ञान से आत्मा का कल्याण न सधे, कर्म-बंध होते जाएं, उस ज्ञान की जीवन के लिए तत्त्वत: कोई उपयोगिता नहीं होती, इसलिए वह एक प्रकार से अज्ञान ही है। यद्यपि किसी पदार्थ को जानने की उसमें अयोग्यता नहीं होती, जैसे एक मति ज्ञानी किसी वस्तु को, विषय को जानता है, उसी प्रकार मति अज्ञानी भी उसे जानता है, किंतु दोनों के दृष्टिकोण में अंतर रहता है। मति ज्ञानी की दृष्टि आत्मोन्मुखी होती है तथा मति अज्ञानी की दृष्टि परोन्मुखी होती है। आत्मोन्मुखता श्रेयस् के साथ संयुक्त होती है और परोन्मुखता आत्मा के लिए अकल्याणकारिणी होती है। मानव को वह पापपूर्ण

कृत्यों में लगाती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में 'अहिंसा विन्नाणं'– अहिंसा ही विज्ञान है– ऐसा कहा। विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान या सूक्ष्म ज्ञान है। वह सूक्ष्म ज्ञान जब आत्म-स्वभाव की दिशा में प्रवृत्त हो तब वह आध्यात्मिक दृष्टि से विज्ञान कहा जा सकता है।

उत्तरोत्तर उन्नति करते भौतिक विज्ञान के साथ यदि आध्यात्मिक विज्ञान संलग्न रहता तो संसार में कुछ और ही वातावरण होता। विज्ञान अपने आप में बुरा नहीं है, किंतु उसके प्रयोग का जब अवसर आता है, तब उसकी उपादेयता, अनुपादेयता का पता चलता है। इसलिए अध्यात्म-तत्त्व को समझना और जीवन में उतारना अत्यंत आवश्यक है। इस शोध-ग्रंथ के लिखे जाने में यह भी एक भाव रहा है कि भौतिक विज्ञान के साथ आध्यात्मिक विज्ञान को भी लोग समझें, जिससे उस विनाशलीला से वे बच सकें, जिसके कारण आज मानवता भयभ्रांत एवं सन्त्रस्त है।

भगवान् महावीर ने ऐसे धर्म का संदेश दिया, जो किसी जाति, वर्ग, वर्ण एवं संप्रदाय के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। उसका प्राणी मात्र के साथ संबंध है। वह सर्वथा सार्वजनीन है। अहिंसा या करुणा का भगवान् महावीर द्वारा दिए गए धर्म-संदेश में सबसे अधिक महत्त्व है।

'सव्वेसिं जिवियं पियं'– सबको अपना जीवन प्रिय है। किसी से उसके जीने का अधिकार जो भी छीनता है, वह अपराधी और पापी है। अहिंसा से समत्व फलित होता है, अत: वह सर्वग्राह्य है। उसी प्रकार संतोष, सत्य, शील, अपरिग्रह आदि भी सभी के लिए कल्याणकारी हैं।

भगवान् महावीर ने चिंतन के क्षेत्र में ऐकांतिक आग्रह को कदापि स्थान नहीं दिया। उन्होंने अनेकांतवाद को प्रतिष्ठित किया, जिसके अनुसार एक वस्तु को अनेक अपेक्षाओं से देखने का मार्ग प्राप्त होता है। उसके फलस्वरूप अनेक विचार धाराओं का समन्वय हो जाता है। संघर्ष, क्लेश और कदाग्रह मिट जाते हैं।

भगवान् महावीर के दर्शन का अंतिम लक्ष्य परम शांतावस्था है, वही जीवन की सच्ची सफलता है। साधना पुरुषार्थ या आत्म-पराक्रम की सिद्धि है, वैसी सिद्धि जो प्राप्त कर लेता है, वही सिद्ध कहा जाता है। सिद्धत्व प्राप्ति का संबंध किसी व्यक्ति-विशेष, देश-विशेष और जाति-विशेष के साथ नहीं है। हर किसी देश, जाति और वर्ग का भव्य व्यक्ति, यदि वह तदनुरूप अध्यवसाय करता है, साधनारत रहता है तो सिद्धत्व प्राप्त कर सकता है।

सिद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग के साथ अहिंसा आदि के शाश्वत सिद्धांत जुड़े हुए हैं। यह जीवन का सबसे महान् लक्ष्य है, क्योंकि वहाँ पहुँचने के पश्चात् वे सब न्यूनताएं मिट जाती हैं, जो मानव के जीवन में अनेक चिंताओं, विषमताओं, पीड़ाओं के रूप में उत्पन्न होती हैं। लक्ष्य की मूल्यवत्ता, उपादेयता जब जीवन में व्याप्त हो जाती है, तो वैसा व्यक्ति सहज रूप में हिंसा, निर्दयता, शत्रुता, असहिष्णुता, वासना, लोभ आदि कलुषित भावों से अपने को दूर कर, विश्व-वात्सल्य, एकता, मैत्री

और सहृदयता अपना लेता है। लोक-जीवन में ऐसे उदात्त एवं पवित्र भाव का समुदय प्रस्तुत शोध-कार्य का अभिप्रेत है, जिससे आज की अशांत मानवता शांति की ओर बढ़ सके, मानव जीवन की सार्थकता फलित हो सके। यदि इस प्रकार का भाव जन-जन में व्याप्त हो जाए तो जो कार्य आज वैज्ञानिक शस्त्र नहीं कर पा रहे हैं, वह इससे सिद्ध हो सकता है।

यह संसार तो बहुत बड़ा है। इसमें अरबों लोग रहते हैं। कुछ व्यक्तियों के अहिंसक, सत्यनिष्ठा, सदाचरणशील, समत्व-भावयुक्त हो जाने से इसमें क्या अंतर आएगा ? यहाँ समझने की बात यह है कि समष्टि के मूल में व्यक्ति है। एक-एक व्यक्ति के मिलने से समाज बनता है। व्यक्ति-व्यक्ति में प्रसार पाती हुई अहिंसा, करुणा और मैत्री-भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जाए तो हम क्यों असंभव माने कि समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हो सकता।

गीता में कहा गया है कि व्यक्ति फल की आसक्ति रखे बिना कर्तव्य-कर्म करे। आसक्ति कर्म की पवित्रता को मिटा देती है। जब वह कर्म से अपगत हो जाती है, तब वह कर्म न रहकर योग बन जाता है। गीताकार ने इसी को कर्म-कौशल कहा है। अहिंसा केवल वैचारिक आदर्श नहीं है। वह मानव का धर्म है, स्वभाव है। हिंसा स्वभाव नहीं है, वह विभाव है। स्वभाव की कसौटी यह है कि उसका प्रतिक्षण आचरण किया जा सकता है। विभाव के साथ यह घटित नहीं होता। व्यक्ति निरंतर अहिंसा परायण रहे, किसी की हिंसा न करे, किसी को उत्पीड़ित न करे, यह संभव है, किंतु वह निरंतर हिंसा ही हिंसा करे, मारे ही मारे यह कदापि संभव नहीं है, क्योंकि हिंसा मानव का स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार सत्य मनुष्य का स्वभाव है, असत्य नहीं। इसे यथावत् रूप में समझते हुए अहिंसा और सत्य में निष्ठाशील प्रत्येक व्यक्ति को आशावान रहना चाहिए कि अहिंसा और सत्य का स्वीकार और प्रचार सार्थक होगा। जिस प्रकार एक दीपक की लौ से अनेकानेक दीपक जल उठते हैं, उसी प्रकार हम क्यों न आशा करें कि उत्तरोत्तर विकासशील अहिंसा भी व्यापक रूप ले सकती है।

एक ज्वलन्त प्रश्न

आज लोगों के सामने एक प्रश्न है। **What is the future of regligion and what is the religion of future** – अर्थात् धर्म का भविष्य क्या है और भविष्य का धर्म क्या है ? इस पर गहराई से चिंतन करना होगा।

आज लोगों के दैनंदिन जीवन की स्थिति की ओर दृष्टि डालें तो ऐसा प्रतीत होता है कि युवा पीढ़ी धर्म से दूर हटती जा रही है। धार्मिक स्थानों में, प्रवचन-सभाओं में अधिकतर ऐसे लोगों की उपस्थिति होती है, जो वृद्ध हैं अथवा जो अपने कार्यों से विमुक्त हैं। युवा-वृन्द की रुचि धर्म से उत्तरोत्तर घटती जा रही है। केवल व्यावहारिक रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने हेतु वे यदा-कदा धार्मिक आयोजनों में उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु उनमें उन आयोजनों के प्रति कोई रस नहीं होता।

ऐसा क्यों हो रहा है, इसकी खोज करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म की चर्चा करने वाले, धर्म का संदेश देने वाले तथा धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाने वाले लोगों के क्रियात्मक एवं व्यावहारिक जीवन में धर्म के आदर्श सिद्धांत परिलक्षित नहीं होते। कथनी और करनी में बड़ा विपर्यास प्रतीत होता है। जब युवाजन यह स्थिति देखते हैं तो सहसा उनकी श्रद्धा पर आघात होता है।

वे सोचते हैं, यह कैसा धर्म है, जहाँ केवल शब्द है, कर्म नहीं। तथाकथित धार्मिक जन ऐसा क्यों करते हैं ? इस बात की तथ्यात्मकता में जाएं तो यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि जिस आध्यात्मिक आनंद का धर्म विश्लेषण करता है, उसकी अपेक्षा उनको भौतिक सुख प्रिय लगता है। वे उसकी आपात्-रमणीयता में विमुग्ध रहते हैं, परिणामविरसता या दु:खोत्पादकता को नहीं देखते।

'खाओ, पीओ, मौज करो', चार्वाक ने जो सहस्राब्दियों पूर्व कभी यह बात कही थी, वह वैसे लोगों के जीवन में सही घटित हो रही है, जिनके केवल वाणी में धर्म है, कर्म में नहीं। नि:संदेह यह बड़ी दयनीय एवं दु:खद स्थिति है।

वास्तव में यह धार्मिकता नहीं है, किंतु ऐसा होते हुए भी आज उन्हीं तथाकथित धार्मिक लोगों की प्रतिष्ठा है, जो साधन संपन्न, अधिकार संपन्न और शक्ति संपन्न हैं। ये नगण्य हैं, किन्तु यही आज मान्यता-प्राप्त हैं। यह चिंता का विषय है। यह क्रम यदि उत्तरोत्तर गतिशील रहा तो जिसे आज धर्म के नाम से पूजित और प्रतिष्ठित किया जा रहा है, उसका भविष्य नि:संदेह अंधकारपूर्ण है।

आज का युवक बुद्धिवादी, यथार्थवादी और मूल्यवादी है। यदि धर्म की यथार्थता, शुद्धता और मूल्यवत्ता प्रस्फुटित नहीं होगी तो उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। धर्म के तथाकथित स्तंभ टूटते जाएंगे, क्योंकि वे सचाई को खोते जा रहे हैं, इसलिए वे जर्जर हो रहे हैं।

इस ओर धार्मिकों को विशेष रूप से ध्यान देना होगा, आत्मावलोकन करना होगा। भौतिक आकर्षण और मानसिक विकृतता के कारण उनमें जो धर्म की मात्र प्रदर्शन-प्रिय-प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, उसे परिवर्तित करना होगा।

भौतिक अभीप्साओं की प्रबलता तथा स्वार्थपरता आदि अनेक विकृतियों को पनपाने के बावजूद वर्तमान युग ने एक ऐसी बौद्धिक चेतना मानव में अवश्य संयोजित की है, जिस द्वारा वह उपयोगिता अनुपयोगिता का निर्णय करने में काफी सतर्क है। उस निर्णय की कसौटी पर धार्मिकता का क्रिया-शून्य रूप नहीं टिक पाएगा। उसके आश्रय पर जीवित रहने वाले, तथा अपनी एषणाओं की पूर्ति में लोक-श्रद्धा का दुरुपयोग करने वाले, आध्यात्मिक शोषण करने वाले लोगों को युग सह नहीं पाएगा।

इसलिए यह कहना अतिरंजित नहीं है कि आडंबरपूर्ण, नि:सत्त्व, केवल आयोजनात्मक, कोलाहलमय धर्म को आने वाला युग कदापि स्वीकार नहीं करेगा।

सार्वजनीन धर्म

भगवान् महावीर ने जो धर्म बतलाया, वह नितांत सार्वजनीन है। 'वत्थु सहावो धम्मो', ... धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'– इत्यादि वाक्यों द्वारा धर्म के लक्षण की ओर जो संकेत किया है, उससे यह व्यक्त होता है कि धर्म तब अन्तरात्मा में घटित होता है, जब व्यक्ति के जीवन में हिंसक भाव न हो, विषमता न हो, सबके प्रति समता का भाव हो, शांति, धृति, उदारता, सहृदयता, अनुकंपा एवं करुणा का भाव हो। व्यक्ति अपने संकीर्ण स्वार्थ में अनुबद्ध न हो जाए , उसके आचार और व्यवहार में सत्य सम्यक् परिव्याप्त हो, निर्लोभता हो। वह तुच्छ वासनाओं से, परिग्रह की लालसा से विमुक्त हो।

अधिकार और कर्तव्य का समन्वय

मनोविज्ञान का यह सिद्धांत है कि व्यक्ति और समाज का जीवन तभी सुखपूर्वक चल सकता है, जब उसमें अधिकार और कर्तव्य का समन्वय हो। यह सही है कि हर किसी मानव को मानवता के नाते अपने अधिकार हैं। यदि कोई उनका हनन, प्रतिषेध या प्रतिरोध करता है तो उसे कष्ट होता है, जो स्वाभाविक है। इसलिए यह वांछनीय है कि किसी के अधिकारों का हनन न किया जाए , किन्तु अधिकार के साथ-साथ मानव-जीवन में कर्तव्य होता है। यदि वह उसका पालन नहीं करता है तो वह व्यक्तिगत रूप में तथा सामाजिक रूप में दोषी है। जिस उत्साह और दृढ़ता से वह अपने अधिकारों की मांग करता है, उसी उत्साह से उसे अपने कर्तव्य को भी समझना चाहिए।

आज लोगों की स्थिति इससे भिन्न दिखलाई पड़ती है। प्राय: सभी एक स्वर से अधिकारों की मांग तो करते हैं, परंतु अपने कर्तव्यों को वे भूल जाते हैं। इससे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। परस्पर संघर्ष होते हैं, सामूहिक रूप में आंदोलन होते हैं, वे हिंसक बन जाते हैं, रक्तपात होता है, राष्ट्र की उन्नति में बाधा उत्पन्न होती है, व्यवसाय-उद्योगादि प्रभावित होते हैं।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य केवल अधिकारों की मांग न करे, वरन् वह अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों के सम्यक् निर्वाह की दिशा में अत्यंत जागरुक भी रहे। वे कर्त्तव्य पारिवारिकता से आगे बढ़कर समाज, धर्म, अध्यात्म एवं राष्ट्र तक को अपनी परिसीमा में गृहीत करते हैं। उनमें धार्मिक या आध्यात्मिक कर्त्तव्यों की परिपूर्ति प्राथमिकता में आती है, क्योंकि वैसा होने पर सहज ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्वों के निर्वाह में ऐसा बोध प्राप्त होता है, जो जीवन की तुच्छ संकीर्णता और एषणाओं को भस्मीभूत कर डालता है। दुर्भावना, विद्वेष और घृणा जैसे भाव विध्वस्त हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने इसी प्रकार के निर्विकार, निर्दोष, समस्त प्राणीवृन्द के लिए श्रेयस्कर एवं

कल्याणप्रद धर्म का संदेश दिया, जो जन-जन में, व्यक्ति-व्यक्ति में उदात्त और सात्त्विक भावों का औदार्यपूर्ण संचार करता है।

किसी भी समाज, जाति, धर्म या राष्ट्रों की मूल इकाई व्यक्ति है। ये सब व्यक्तियों द्वारा संचालित होते हैं। कितने ही उच्च आदर्श हों, किन्तु यदि उनके निर्वाहक, नियामक या अधिनायक की मानसिकता उन आदर्शों के स्तर तक नहीं जाती हो, निम्न हो, दया, ईर्ष्या, लोभ, असहिष्णुता आदि विकारों से ग्रस्त हो तो वहाँ प्रदर्शन में तो आदर्श होंगे, किन्तु क्रियान्वयन में वे परिलक्षित नहीं होंगे। राष्ट्र, समाज और मानवता के लिए उनका सुखद परिणाम आ नहीं सकेगा। इसीलिए भगवान् महावीर ने व्यक्ति की अंतरात्मा के विकारों को ही महान् शत्रु बतलाया और कहा कि उनके साथ युद्ध करो, अपने आपको विकार-शून्य बनाओ, वैचारिक संकीर्णता को नष्ट करो, सभी को आत्मतुल्य समझो। अपने चिन्तन के आयाम को इतना विस्तीर्ण बनाओ कि कोई परकीय रह ही न पाए अर्थात् व्यक्ति में इतनी विराटता आ जाए।

उन्होंने और भी कहा– धर्म की आराधना का शुभारंभ 'स्व' से होता है। धर्म का अर्थ ही धारण करने योग्य है। मानव को वही धारण करना समुचित है, जिससे आत्मा का, सभी का हित सधे। यही धर्म का सर्वांगीण, सर्वस्पर्शी, सर्वग्राह्य रूप है। इसका किसी से विरोध नहीं है। भविष्य का यही धर्म हो सकता है।

यह शंका होती है कि भगवान् महावीर जैन धर्म के तीर्थंकर थे, वर्तमान युग में जैन धर्म के उन्नायक थे। क्या भविष्य का धर्म, जैन धर्म होगा ?

इस पर भी गहराई से, सूक्ष्मता से विचार करें। तत्त्वत: जैन कोई संप्रदाय या मजहब नहीं है। जैसा पूर्व पृष्ठों में यथाप्रसंग विवेचित हुआ है, वह तो एक जीवन-दर्शन है, जिसे जिनों, वीतरागों महापुरुषों, सर्वज्ञों ने उपदिष्ट किया है। वह जाति, वर्ग, वर्ण, संप्रदाय आदि सभी बाह्य भेदों से सर्वथा अस्पृष्ट है। वह एक मात्र आत्मा में सहज गुणों पर समवस्थित है। इसका यह साक्ष्य है कि भगवान् महावीर क्षत्रिय जाति में उत्पन्न थे। उनके प्रमुख शिष्य ग्यारह गणधर वेद-पाठी, यज्ञ-यागादि निष्णात ब्रह्मण-वंश से थे, जिन्होंने उनसे प्रतिबोध पाकर श्रमण-प्रव्रज्या स्वीकार की। अस्पृश्यों तक के लिए जिन्हें चांडाल कहा जाता था, भगवान् महावीर के श्रमण-संघ के– संयम-साधना के द्वार खुले थे। उत्तराध्ययन-सूत्र के बारहवें अध्ययन में हरिकेश नामक मुनि का वर्णन है। उनका श्वपाक पुत्र के रूप में परिचय दिया गया है। कहा गया है-

सक्खं खु दीसई तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएस साहू, जस्सेरिस्सा इड्ढि महाणुभागा।।

श्वपाक पुत्र– चांडाल कुलोत्पन्न हरिकेश मुनि है, जिनके तप की विशेषता साक्षात् दृष्टिगोचर होती है। जाति की विशेषता नहीं दिखलाई देती। इनके तप और तेज की रिद्धि वास्तव में अत्यंत प्रभावपूर्ण तथा चामत्कारिक है।

जिस धर्म में उच्च-निम्न जाति आदि का कोई भी भेद न हो, वह वास्तव में सर्वग्राह्य होता है।

अनेकान्तवादी व्यापक दृष्टिकोण भगवान् महावीर की चिंतन के क्षेत्र में एक बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। उन्होंने किसी भी विषय में, उसके प्रातिपादन में एकांतिक आग्रह का निषेध किया है। उन्होंने बतलाया कि पदार्थ में अनेक गुण, विशेषताएँ होती हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की दृष्टि से वह अनेक रूप में व्याख्येय है।

अनेकांतवादी दर्शन चिंतन और कथन में अनाग्रह पूर्ण वृत्ति को उत्पन्न करता है, दृष्टिकोण को व्यापक और उदार बनाता है। आज संसार में जितने विवाद एवं संघर्ष चलते हैं, उन सबके साथ प्राय: ऐकांतिक आग्रह का भाव जुड़ा हुआ है। इसके कारण विचारों में परस्पर समन्वय नहीं हो पाता। परिवार, समाज, तथा राष्ट्र तक सर्वत्र आज ऐसे ही स्थिति दृष्टिगोचर होती है।

राजनैतिक, प्रशासनिक, व्यावसायिक, औद्योगिक आदि क्षेत्रों में, जिनमें विभिन्न रुचि और मनोवृत्ति के लोग सम्मिलित होते हैं, आग्रहवृत्ति के कारण ही सामंजस्य नहीं हो पाता। तरह-तरह के विवाद खड़े हो जाते हैं, मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका परिणाम संघर्षों के रूप में उत्पन्न होता है। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाए तो ये स्थितियाँ कभी नहीं आतीं, जो आज हमारे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन को क्षत-विक्षत कर रही हैं।

उपर्युक्त अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत पर आधारित धर्म ही भविष्य का धर्म हो सकता है।

निष्कर्ष

सिद्ध-पद भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म का अन्तिम लक्ष्य है। णमोक्कार मंत्र में स्वीकृत पाँच पदों में यह एक है, किन्तु अपने अतिरिक्त चारों पदों का साध्य या प्राप्य यही हैं। 'णमो सिद्धाणं' पद सिद्धों के प्रति साधक के अत्यन्त आदर, भक्ति, कृतज्ञता और विनय का बोधक है। प्रस्तुत ग्रंथ में सिद्ध-पद के साथ अनुस्यूत तत्त्व, आचार, साधना-पथ इत्यादि पर समीक्षात्मक, तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। यदि महान् और परम साध्य को व्यक्ति समझ ले तो उसके दृष्टिकोण में नि:संदेह परिवर्तन आ सकता है, क्योंकि आन्तरिक भाव और क्रियात्मक जीवन का कारण-कार्य रूप संबंध है। यदि कारण विशुद्धिपूर्ण हो तो कार्य की निष्पत्ति विकारपूर्ण नहीं होती। सिद्धत्व, मुक्तत्त्व अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार या परिनिर्वाण के प्रति मनुष्य के मन में निष्ठा व्याप्त हो जाय तो वह भौतिकता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व न देकर यथार्थता के मार्ग का अवलंबन कर सकता

है। ऐसा होने का सहज परिणाम यह होगा कि आज मानव-जीवन में परिव्याप्त दूषित एवं अभिशप्त क्रियात्मकता का अपगम हो सकता है। इसके साफल्य, सार्थक्य को काल की सीमा में तो नहीं बाँधा जा सकता, किन्तु आत्मा की अपरिसीम, अनन्तशक्ति को आंकते हुए यह क्यों न आशापूर्ण कल्पना की जाय कि उसकी स्वत्वोन्मुख, सत्योन्मुख धारा एक ऐसे उज्ज्वल भविष्य की संसृष्टि कर सकती है, जो मानवीय एकता, समता, नि:स्वार्थता, अहिंसा, सेवा और वत्सलता के उत्तम भावों से परिपुष्ट हो।



परिशिष्ट: प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

- ☆ पुस्तक नाम
- ☆ लेखक, संपादक, अनुवादक
- ☆ प्रकाशक
- ☆ संस्करण

☆ अवधूत गीता

प्रणेता : भगवान् दत्तात्रेय

सस्तुं साहित्य मुद्रणालय ट्रस्ट, भद्र पासे, अहमदाबाद अने प्रिंसेस स्ट्रीट, मुंबई-२. ई.स. १९७४

☆ अनुप्रेक्षानां अजवाला

श्री भद्रंकरविजयजी

श्री पार्श्वनाथ जैन पुस्तक भंडार, कुवारा सामे, पालीताणा-गुजरात. वि.सं. २०४०

☆ अरिहंत-ध्यान

श्री चन्द्रशेखरविजयजी

कमल प्रकाशन ट्रस्ट, जीवतलाल प्रतापशी संस्कृति भवन, २७७७, निशा पोल जवेरीवाड, रिलीफ रोड, अहमदावाद-१.

☆ अनुप्रेक्षा किरण-१, २, ३

श्री भंद्रकरविजयजी

श्री सूर्यशशी जैन तत्त्वज्ञान पाठशाला, के. सी./५ आरती जूना, नागरदास रोड़, चिनोय कॉलेज सामे, अंधेरी (ईस्ट) मुंबई-४०० ०६९. ई.स. २०३६.

☆ अध्यात्म-अमृत

श्री गुणवंतभाई बखारिया, डॉ. नीलेश दलाल, मनसुखभाई कोठारी

जैन अध्यात्म स्टडी सर्कल, जोशी लेन, तिलकनगर, घाटकोपर-ईस्ट, मुंबई. ई.स. १९९९.

☆ अनुप्रेक्षा

श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर

श्री सूर्यशशी जैन तत्त्वज्ञान पाठशाला, के. सी./५ आरती जूना, नागरदास रोड़, चिनोय कॉलेज सामे, अंधेरी (ईस्ट) मुंबई-४०० ०६९. तीसरी आवृत्ति, वि.सं.२०३६

☆ अखंड ज्योत

श्री विजयलब्धिसूरीश्वरजी, श्री शीलगुणविजयजी

चंपकलाल टी. खोखर, खोखरवाड,ऊंझा (उ.गु.) वि.सं.२०३१

☆ अध्यात्म पत्र सार

श्री चन्द्रकान्त अमृतलाल दोशी

जैन साहित्य विकास मंडल,९६ बी. एस. बी. रोड़, ईरला, विलेपारले-पश्चिम, मुबई-५६. वि सं. १९८४

☆ अरिहंत

साध्वी डॉ. दिव्यप्रभा

जैन पुस्तक मन्दिर, भारती भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर. ई.सं. १९९२

☆ अरिहंत ने ओळखो

मुनिश्री जयानंदविजयजी म.

गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल-३४३०२९ (राज.).

☆ अनुप्रेक्षानुं अमृत

श्री भद्रंकरविजयजी

विमल प्रकाशन, जसवंतलाल गिरधरलाल दोशी, वाडानी पोल, अहमदाबाद-१.

☆ अपना दर्पण अपना बिंब

युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.). ई.स. १९९१.

☆ अहिंसा : विचार और व्यवहार

डॉ. नरेंद्र भानावत

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, दुकान नं. १८२ - १८३ के ऊपर, बापू बजार, जयपुर-३. ई.स. १९९३.

☆ अर्हम्

युवाचार्य महाप्रज्ञ

प्रेक्षाध्यान एकेडमी, अनेकान्त भारती, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन मार्ग,

अंबाबाड़ी, अहमदाबाद-१५. ई.स. १९९३.

☆ अमृताशीती

प्रणेता : योगीदुंदेव, सम्पादक : सुदीप जैन

दिगबर जैन मुमुक्षु मंडल, उदयपुर, राजस्थान. ई.सं. १९९०.

☆ अनंतनो आनंद

जैन साध्वी आरतीबाई

रति आग्र साहित्य प्रकाशन समिति, ४, जमना सदन, जेठाभाई लेन,

घाटकोपर, मुंबई-७७. ई.स. १९९६.

☆ आगम युग का जैन दर्शन

पं. दलसुखभाई मालवणिया

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर एवं श्री जैन श्वे. नाकोड़ा तीर्थ, मेवानगर (राज.). ई.स. १९९०

☆ आत्म समीक्षण

आचार्य नानेश

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, बीकानेर (राज.). वि.सं.१९९५

☆ आत्म प्रसिद्धि

हरिलाल जैन

दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, ६२, धनजी स्ट्रीट, मुम्बई-३. वि.नि.सं. २४९०

☆ आत्म उत्थान नो पायो

श्री भद्रंकरविजयजी

भद्रंकर प्रकाशन, ४९/१, महालक्ष्मी सोसायटी, शाहीबाग, अहमदाबाद-४. वि.सं. २०५१

☆ आगमयुग का जैन-दर्शन

पण्डित दलसुख मालवणिया, सं. विजयमुनि शास्त्री

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा. ई.स. १९६६

☆ आचार्य हेमचन्द्रः काव्यानुशासनञ्च : समीक्षात्मकमनुशीलनम्

डॉ. छगनलाल शास्त्री

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

स्व. भीखांदेवी शास्त्री प्राच्य-विद्या-निधि, सरदारशहर-३३१४०३. ई.स. १९९९.

☆ आवश्यक सूत्र का सारांश

तिलोकमुनि

सेठ श्री मनमोहनराजजी छगनराजजी लूंकड, महेसाणा (गुजरात). ई.सं. १९९३.

☆ आनन्दघन चौबीसी

विवेचनकार : मुनि सहजानन्दघन

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, हम्पी (कर्णाटक). ई.सं. १९८९.

☆ आगम के अनमोल रत्न

श्री हस्तीमुनिजी म. मेवाड़ी

धनराज घासीराम कोठारी, लक्ष्मी पुस्तक भंडार, गाँधी मार्ग, अहमदाबाद. ई.स. १९६८.

☆ आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध

स्वामी सत्यानंद सरस्वती

बिहार योग विद्यालय, गंगा दर्शन, मुंगेर (बिहार). ई.स. १९९२.

☆ आराधनानो मार्ग

श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

श्री महावीर तत्त्व ज्ञान प्रचारक मंडल, वासुपूज्य स्वामी जिनालय, अंजार (कच्छ). वि.सं. २०३५

☆ आचार्य कुंदकुंद और उनके पंच परमागम

डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल,

पं. टोड़रमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५. द्वितीयावृत्ति, ई.स. १९७७

☆ आगमदीप (आगम-५, २४-३९, ४०-४५)

मुनि दीपरत्नसागर,

आगमदीप प्रकाशन, डॉ. पिनाकीन एन. शाह, २१ , सुभाषनगर,

गिरधरनगर, शाहीबाग, अहमदावाद. ई.स. १९९७

☆ आगम और त्रिपिटक- एक अनुशीलन (खंड-१, इतिहास और परंपरा)

मुनि श्री नगराजजी डी. लिट्

कॉन्सैप्ट पब्लिशिंग कंपनी, संख्या १३, मालीनगर, नई दिल्ली. द्वितीयावृत्ति, ई.सं. १९८७

☆ आत्मानुशासन

ए. एन. उपाध्येय

गुलाबचन्द हीराचन्द दोशी, जैन संस्कृत संरक्षा संघ, फल्टन गली, शोलापुर. ई.स. १९६१

☆ ईशादि नौ उपनिषद्

हरिकृष्णदास गोयनका

गीता प्रेस, गोरखपुर-२४३००४. चौदहवाँ संस्करण : वि.सं. २०४९

☆ उज्ज्वल वाणी

विश्वसंत उज्ज्वलकुमारी जी म.

उज्ज्वल धर्म ट्रस्ट, १०, महेश विला, १२, वल्लभ बाग लेन, घाटकोपर-१९. ई.स. १९९४

☆ प्रशमरति प्रकरण (भाग-२)

आचार्य उमास्वाति

श्री भद्रगुप्तविजयजी

श्री विश्वकल्याण ट्रस्ट, संघवी पोल, महेसाणा-३८४००१. प्रथमावृत्ति वि.सं.२०३७

☆ उपमिति भवप्रपञ्च कथा (प्रथम-द्वितीय खंड)

श्री सिद्धर्षि गणी

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान एवं सम्यक् ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर. ई.सं. १९८५

☆ ओंकार एक अनुचिन्तन

श्री पुष्करमुनिजी महाराज

शाह हीरजी उमरशी गाला, सुरेश स्टोर, कीर्तिकर मार्केट, दादर (वेस्ट) मुंबई-२८. ई.सं. १९७१.

☆ कबीर ग्रंथावली

डॉ. भगवतस्वरूप मिश्र

विनोद पुस्तक मंदिर, रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२.

☆ कबीर

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

राजकमल प्रकाशन, १-ठ, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२. ई.स. १९९५

☆ कुंदकुंदाची तीन रत्ने

पं. नरेन्द्रकुमार

श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, संतोष भवन, फल्टण गली, सोलापुर. द्वितीयावृत्ति ई.स. १९८९

☆ कल्याण (उपनिषद् अंक)

गीता प्रेस, गोरखपुर. वर्ष २३, ई.स. १९४९

☆ कर्म-ग्रन्थ (भाग-१)

व्याख्याकार : मरुधरकेसरी श्री मिश्रीलालजी म.

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर-३०५९०१ (राज.) ई.स. १९९९

☆ कायोत्सर्ग ध्यान

अमृतपाल कालिदास दोशी

जैन साहित्य विकास मंडल, मुंबई. ई.स. १९८३.

☆ काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मट, व्याख्याकार- विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, (बनारस). वि.सं.२०१८.

☆ गागर में सागर

डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापू नगर, जयपुर-३०२०१५. ई.सं.१९८९

☆ गीता प्रवचनो

आचार्य विनोबा भावे

ग्राम सेवा मंडल, परम धाम प्रकाशन, पवनार, वर्धा (महाराष्ट्र). १२वीं आवृत्ति, ई.स. १९६९

☆ गीता-ज्ञान-प्रवेशिका

स्वामी रामसुखदास

गीता प्रेस, गोरखपुर. तृतीय संस्करण, वि. सं. २०२५

☆ चुंटेलु चिंतन

श्री भंद्रकरविजयजी गणिवर

श्री विमल प्रकाशक ट्रस्ट, अहमदाबाद. वि. सं. २०३६

☆ चिंतनधारा

श्री भद्रंकरविजयजी

बाबुभाई कडीवाला चेरिटेबल ट्रस्ट,

२२, महावीर नगर, महाविदेह, नवसारी. वि. सं. २०५२

☆ छान्दोग्योपनिषद् (खण्ड-३, सानुवाद शांकरभाष्य सहित)
गीताप्रेस, गोरखपुर. आठवाँ संस्करण, वि.सं. २०५२

☆ जैन धर्म : अर्हत् और अर्हताएं
युवाचार्य महाप्रज्ञ
जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.). ई.स. १९९१

☆ जैन आगम वनस्पति कोश
गणाधिपति तुलसी
जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान). ई.स. १९९७

☆ जैन विद्या गोष्ठी (भाग-१,२)
सम्पादक : डॉ. भद्रेशकुमार जैन
भगवान महावीर स्वाध्याय पीठ, ४६, बर्किट रोड़, टी.नगर, चेन्नई. ई.स. १९९९

☆ जैन दर्शन : आधुनिक दृष्टि
डॉ. नरेन्द्र भानावत
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, दुकान नं. १८२-१८३ के ऊपर, जयपुर. ई.स. १९८४

☆ जैन ज्ञान कोश भाग- १
मोतीलाल हीराचन्द गाँधी, मा. चतुरबाई जैन ग्रंथमाला ट्रस्ट, औरंगाबाद. वि.सं. २०२८

☆ जप अने नामस्मरण
रामनराव पटेल (भिक्षु अखंड आनंदनी प्रसादी)
सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय
भद्र पासे, अहमदाबाद और प्रीन्सेस स्ट्रीट, मुंबई-२.

☆ जिनतत्त्व (भाग-६)
रमणलाल चीमनलाल जे. शाह
श्री मुंबई जैन युवक संघ, ३८५, सरदार वल्लभभाई पटेल मार्ग, मुंबई-४०००० ४. ई.स. १९९६

☆ जिनोपासना
धीरजलाल टोकरशी शाह
जैन साहित्य प्रकाशन मन्दिर, लधाभाई गणपत बिल्डिंग, चींचबंदर, मुंबई-९. वि.सं.२०२०

☆ ज्योतिपुंज जैन दिवाकर (तृतीय खण्ड)

जैनदिवाकर चौथमलजी म.

जैन दिवाकर प्रकाशन समिति, चित्तौड़गढ़ (राज.) प्रथम संस्करण , ई. स. १९९९

☆ जपयोग

श्री कलापूर्णसूरीश्वरजी म.

श्रीमहावीर जैन कल्याण संघ (रजि.)९६, वेपेरी हाई रोड़, चेन्नई-६०००० ७ ई.स. १९९४

☆ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

पं. बेचरदास दोशी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५ ई.स. १९६६

☆ जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण

आचार्य देवेन्द्रमुनि शास्त्री

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्किल, उदयपुर (राज.) ई.स. १९७५

☆ जैन परम्परा का इतिहास

युवाचार्य महाप्रज्ञ

श्रमण संस्कृति संकाय, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.) ई.स. १९९४

☆ जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व

मुनि नथमल , प्रबंध संपादक : डॉ. छगनलाल शास्त्री

मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, १/४ सी, खगेन्द्र चटर्जी रोड़,

काशीपुर, कलकत्ता-२. ई.स. १९६०

☆ जैन योग ग्रंथ चतुष्टय

आचार्य हरिभद्र सूरि, अनुवाद : डॉ. छगनलाल शास्त्री

मुनि श्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन समिति,

पिपलिया बाजार, ब्यावर-३०५९०१. ई.स. १९८२

☆ जैन साहित्य का इतिहास (पहला भाग)

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

मंत्री, श्रीगणेश प्रसादवर्णी जैन ग्रंथमाला, १/१२८, डुमरॉव कोलोनी,
अस्सी, वाराणसी-५. वी.नि.सं. २५०२

☆ जैन धर्म में अहिंसा
डॉ. वशिष्ठनारायण सिन्हा
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैन इंस्टिट्यूट, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५. ई.स.१९७२

☆ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग-२,३)
क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी
भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड़, नई दिल्ली-३. ई.स. १९४४

☆ जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
डॉ. जगदीशचंद्र जैन
चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१. ई.स. १९६५

☆ जैन धर्म की मौलिक उद्‌भावनाएँ
आचार्यप्रवर श्री जीतमलजी महाराज
जयध्वज प्रकाशन समिति, चेन्नई,
श्रीजयमल जैन ज्ञान भण्डार, कालाभाटा, पीपाड़शहर (जोधपुर-राजस्थान). ई.स. १९७६

☆ जैन अंग शास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्त्व का विकास
डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन
सन्मति ज्ञान पीठ, लोहामंडी, आगरा-२. ई.स. १९७४

☆ जैन लक्षणावली
सम्पादक- बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली-६. ई.स. १९७२

☆ जेना हैये श्रीनवकार, तेने करशे शुं संसार?
श्री गुणसागरसूरीश्वरजी म. के शिष्य-प्रशिष्य
श्रीकस्तूर प्रकाशन ट्रस्ट, १०२,लक्ष्मी एपार्टमेंट, डॉ. एनीबेसेन्ट रोड़, वरली, मुंबई-१८. वि.सं.२०४७

☆ जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण
मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी म.

श्रीमरूधर केसरी प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५९०१. ई.स. १९९०

☆ जैन आराधनानी वैज्ञानिकता

डॉ. शेखरचन्द्र

वीरचंद गांधी, समन्वय प्रकाशन, भावनगर. वी.नि.सं. २५०७

☆ जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा

आचार्य देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (राजस्थान). ई.स. १९७७

☆ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-२)

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, डॉ. मोहनलाल मेहता

पार्श्वनाथ शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५. ई.स. १९६६

☆ जैन तत्त्व रहस्य

श्री भद्रंकरविजयजी

सेवंतीलाल वी. जैन, २०,महाजन गली, झवेरी बाजार, मुंबई-२. वि. सं. २०४४

☆ जैन तत्त्व प्रकाश

श्री अमोलकऋषिजी म.

श्री अमोलक जैन ज्ञान प्रसारक संस्था, कल्याण स्वामी मार्ग, धूलिया (महाराष्ट्र). ई.स. १९८२

☆ जैन धर्म का मौलिक इतिहास (भाग-१,२,३,४)

आचार्य हस्तीमलजी म.

जैन इतिहास समिति, लालभवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर. ई.स. १९८८

☆ जैन सिद्धांत बोल संग्रह (भाग-५,६,७)

संयोजक : भैरोदान सेठिया

श्री अगरचंद भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, ग्रंथालय भवन, बीकानेर (राज.). वि.सं.२००५

☆ त्रिकालवर्ती महापुरुष

श्री चैत्यसागरजी म.

तीन चौबीसी, कल्पवृक्ष समिति, जुल्ली ब्लॉक एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स,

गणगौरी बाजार, जयपुर-१. ई.स. १९९२

☆ तीर्थंकर (मासिक पत्रिका)

संपादक- डॉ. नेमीचंद जैन

हीरा भैया प्रकाशन, ६५१, पत्रकार कॉलोनी, कानोडिया रोड़, इन्दौर-१. नवम्बर-दिसम्बर १९७७

☆ तीर्थंकर (णमोकार मंत्र विशेषांक-१,२)

(वर्ष १०, अंक ७, ८, ९ नवम्बर, दिसम्बर, जनवरी १९८०-८१)

संपादक- डॉ. नेमीचंद जैन

६५१, पत्रकार कॉलोनी, कानोडिया रोड़, इन्दौर-४५२००१. वि.सं. २०३७

☆ तत्त्वदोहन

श्री भद्रंकरविजयजी

विमल प्रकाशन, अहमदाबाद-१. वि.सं.२०३६

☆ तत्त्वार्थसार

रचयिता : श्री अमृतचंद्र सूरि, सम्पादक : पंडित पन्नालाल साहित्याचार्य

श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, डुमराव बाग, अस्सी, वाराणसी-५. ई.स. १९७०

☆ त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित

अनुवादक- गणेश ललवानी एवं श्रीमती राजकुमारी बेंगानी

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर. ई.स. १९९१

☆ दर्शन अने चिंतन (गुजराती)

पंडितवर्य सुखलालजी सिंघवी

पूज्य पंडित सुखलालजी सम्मान समिति, अहमदाबाद.

☆ दर्शन और चिंतन (हिंदी)

पंडितवर्य सुखलालजी

पूज्य पंडित सुखलालजी सम्मान समिति, अहमदाबाद.

☆ ध्यान जागरण

प्रज्ञाश्रमण श्री देवेन्द्रमुनिजी म.

शांतिकुमार खण्डारे जैन, औरंगाबाद. द्वितीयावृत्ति, ई.स. १९९५

☆ धर्मों की फुलवारी (धर्म क्या कहता है ?)

श्री कृष्णदत्त भट्ट

सर्व सेवा संघ, राजघाट, वाराणसी. ई.स. १९६४

☆ ध्यान शतक

आचार्य श्री विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी

दिव्यदर्शन कार्यालय, कालुशीनी पोल, अहमदाबाद. वि.सं. २०३०

☆ धम्मपद

राहुल सांकृत्यायन

भिक्षु ग. ज्ञानन्द, बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ. द्वितीय संस्करण, ई.स.१९५७

☆ धर्मश्रद्धा

श्री भद्रंकरविजयजी

जैन साहित्य विकास मंडल, मुबई. द्वितीयावृत्ति, ई.स.१९७८

☆ नमस्कार मीमांसा

श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर

श्रीमहावीर तत्त्वज्ञान प्रचारक मंडल, श्रीवासुपूज्यस्वामी जिनालय, अंजार (कच्छ).वी.नि.सं. २५०३

☆ नवकार प्रभावना

डॉ. सर्वेश प्रवोरा

नमस्कार प्रतिष्ठान ईश प्रसाद, पहले माले, ब्लॉक नं. ११, ओल्ड पुलिस लेन, अंधेरी (ईस्ट) मुंबई-६९.

☆ नमस्कार स्वाध्याय (भाग-३)

तत्त्वानन्दविजयजी महाराज

जैन साहित्य विकास मंडल, ११२, स्वामी विवेकानंद मार्ग, ईरला, विलेपारले, मुंबई-५६. ई.स. १९८०

☆ नवकार मंथन

साध्वी प्रतिभाकंवरजी म.सा.

'नवकार मंथन' प्रकाशन समिति.

☆ नमस्कार चिंतामणि

श्री कुंदकुंदविजयजी म.
श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४१०. ई.स. १९९९

☆ नमस्कार मंत्र सिद्धि
श्री धीरजलाल टोकरसी शाह
नरेन्द्र प्रकाशन, सरस्वती सदन, बीजे माले, ११३-१५, केशवजी नायक रोड़, मुंबई-९. ई.स. १९८४

☆ श्री नवकार मंत्र अे सर्व धर्मनो सार
श्री कांतिऋषिजी महाराज
पटेल पुंजालाल भाईलाल अकीकवाला, खंभात स्थानकवासी जैन संघ,
कंसारावाड, खंभात. ई.स. १९८१

☆ श्री नमस्कार महामंत्रनुं दर्शन
श्री कान्तिलाल मोहनलाल पारेख
श्री सिद्धिमेघ धर्म संग्रह साहित्य प्रकाशन समिति,
जीवनलाल छोटालाल संघवी जैन विद्याशाला, अहमदाबाद. वि.सं.२०१७

☆ नमस्कार महिमा
श्री धीरजलाल टोकरशी शाह
श्री जैन मित्र मंडल, शांताक्रुज, मुंबई-५४. वि.सं.२०१७

☆ णमोकार महामंत्र
दिनेशभाई मोदी
श्री अल्केश दिनेश मोदी मेमोरियल ट्रस्ट, ९२४, स्टॉक एक्सचेंज टावर,
दलाल स्ट्रीट, मुंबई-२३. ई.स.१९९३

☆ णमोकार ग्रंथ
संपादक- श्री देशभूषणजी म.
श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषणजी म. ट्रस्ट, श्री लाला सरदारीमल रतनलाल जैन अतिथि भवन,
४१७/ कुचा बुलाकी बेगम, एस्प्लेनेड रोड़, दिल्ली-६. द्वितीय संस्करण, ई.स. १९७७

☆ नमस्कार दोहन
श्री भद्रंकरविजयजी

विमल प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद. द्वितीयावृत्ति, वि.सं.२०३७

☆ नमस्कार महामंत्र

मुनि श्री जयानन्दविजयजी महाराज

शा. छगनलालजी भीमाजी सतावत, शा. देवीचन्द छगनराज, सियाणा, (भीनमाल-जालोर).

☆ नित समरो नवकार

श्री भद्रंकरविजयजी

सोमचंद डी. शाह, जीवन निवास के सामने, पालीताना (गुजरात).

☆ नामजपाचें महत्त्व (भाग पहला)

रामचंद्र कृष्ण कामत, चंदगडकर

केशवभिकाजी ढवले, श्री समर्थ सदन, गिरगाँव, मुंबई-४.. शक सं. १८९५

☆ नवपद प्रकाश (अरिहंत-पद)

श्री विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी म.

दिव्यदर्शन साहित्य प्रकाशन समिति, कुमारपाल वी. शाह, ६८, गुलालबाड़ी, तीसरी मंजिल, मुंबई-४.

☆ नवपद प्रकाश (सिद्ध-पद)

आचार्य विजयभूवनभानुसूरीश्वरजी म.

दिव्यदर्शन साहित्य प्रकाशन समिति, कुमारपाल वी. शाह,

६८, गुलालबाड़ी, तीसरी मंजिल, मुंबई-४. वि. सं. २०३७

☆ नमस्कार चिंतामणि

पू. मुनिराज श्री कुन्दकुन्दविजयजी म.

श्री जिनदत्तसूरि मंडल, दादावाड़ी, अजमेर-३०५००१. वी. नि. सं. २५०२

☆ नामचिंतामणि

श्री रामचंद्रकृष्ण कामत

धनंजय बालकृष्ण धवल, पहली भट्टवाड़ी, गिरगांव, मुंबई-४. ई.स. १९७६

☆ नमस्कार महामंत्र

भद्रंकरविजयजी गणिवर

श्रीमहावीर तत्त्व प्रचारक मंडल, अंजार (कच्छ). वि.सं.२०३५

☆ नवकार यात्रा

संकलन : जिज्ञासु

नमस्कार फाउण्डेशन, ईश प्रसाद ब्लॉक-११, ओल्ड पुलिस लेन, अंधेरी-ईस्ट, मुंबई-६९.

☆ णमो सिद्धाणं (भाग-१,२)

श्री लालचंद हरीशचंद्र, मानवत

ब्रह्मचारिणी विद्युल्लता शहा श्राविका प्रकाशन, सोलापुर.

☆ नवकार सिद्धि

श्री गोविन्दजी जीवराज लोडाया

हेमस्मृति, विजयविलास, एन ब्लॉक, शेठ वालजी लधाभाई रोड़, मुलुंड-वेस्ट, मुंबई-८०. ई.स. १९९१

☆ णमोकार सागर स्मारिका

संपादक- श्री श्रीपाल जैन

श्रीवर्धमान जैन साधना समिति, न्यू लाइट कॉलोनी, टोंक रोड़, जयपुर-१८. ई.स. १९९७

☆ नामजप

श्री जयदयाल गोयनका

गीताप्रेस, गोरखपुर.

☆ नवपद हृदयमां परमपद सहजमां

श्री रत्नसुंदरविजयजी म.

रत्नत्रयी ट्रस्ट, वीणकुमार डोशी, २५८, गाँधी गली, स्वदेशी मार्केट, मुंबई-२. ई.स. १९९५

☆ णमोकार मंत्र के चमत्कार

उपाध्याय डॉ. विशालमुनि

दिवाकर प्रकाशन, ए-७, आवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड़, आगरा-२.

☆ पातंजल योग प्रदीप

श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ

गीताप्रेस, गोरखपुर. वि.सं.२०४५

☆ प्रशमरति प्रकरण (भाग-१)

आचार्य उमास्वाति, अनुवादक- भद्रबाहुविजय
विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा-३८४००२ (गुजरात). वि.सं.२०४०

☆ पंचपरमेष्ठी तथा प्रश्नोत्तरी

श्री धन्यकुमारजी म.
श्रीमती हंसाबेन किशोरकांत शाह, वापी. ई.स. १९८१

☆ पंचपरमेष्ठि नमस्कार महामंत्र याने जैन धर्मनुं स्वरूप

संपादक- श्रीचरणविजयगणिवर
गाँधी चिमनलाल नाथालाल, आखंड छोटालाल लल्लुभाई, अहमदाबाद. ई.स. १९९५

☆ पंचपरमेष्ठी विधान

कविवर राजमल पवैया
अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन, ए-४, बापू बाजार , जयपुर-१५. द्वितीय संस्करण, ई.स. १९९४

☆ परमेष्ठी नमस्कार

श्री भद्रंकरविजयजी
श्री जिनदत्तसूरि मंडल, दादावाड़ी, अजमेर. ई.स. १९७४

☆ प्रवचनसार

आचार्य कुन्दकुन्द, हिंदी अनुवाद : श्री पं. परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ
श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुज.). तृतीयावृत्ति, वि.सं.२०३२

☆ पंचपरमेष्ठी मंत्रराज ध्यान माला तथा अध्यात्मसार माला

कविराज नेमिदास रामजी शाह
जैन साहित्य विकास मंडल, मुंबई. ई.स. १९७१

☆ परमेष्ठी नमस्कार अने साधना

श्री भद्रंकरविजयजी
श्री नमस्कार आराधना केन्द्र, कांतिलाल सोमचंद गाँधी,
मुक्ति निलय जैन धर्मशाला, के.तलेटी रोड़, पालीताणा (सौराष्ट्र) वी.नि.सं.२५०५

☆ प्रेक्षाध्यान : आहार-विज्ञान

आचार्य महाप्रज्ञ
जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान). ई.स. १९९७

☆ पंच परमेष्ठी नमस्कार स्वरूप मंत्र
पन्नालाल जगजीवनदास गाँधी
श्री जैन श्वे. मू. पू. तपागच्छ संघ, ध्रांगध्रा-गुजरात. वि. सं. २०४९

☆ प्राकृत-सूक्ति-कोश
मुनि चन्द्रप्रभसागर
जयश्री प्रकाशन, २२ ए , बुध ओस्ता नगर लेन, कलकत्ता. ई.स. १९८५

☆ पच्चक्खाण क्यों और कैसे ?
श्री चांदमल कर्नावट
श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद, सी-२३५, दयानंद मार्ग,
तिलकनगर, जयपुर-३०२००४. ई.स. १९८८

☆ भारतीय दर्शन के प्रमुखवाद
मुनि राकेशकुमार
आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान). ई.स. १९८८

☆ भुवनभानुना अजवाळा
संपादक- जयसुन्दरविजयजी म., श्री मुक्तिवल्लभविजयजी म.
भुवनभानुसूरीश्वरजी स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति, कुमारपाल वी.शाह,
३९,कलिकुंड सोसायटी, धोलका-३८७८१०. वी.नि.सं.२५२०

☆ बृहद् द्रव्य संग्रह (ब्रह्मदेव विरचित संस्कृत वृत्ति सहित)
हिन्दी अनुवाद- राजकिशोरजी जैन
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर. ई.स. १९९५

☆ भारतीय दर्शन
पं. बलदेव उपाध्याय
शारदा मंदिर, वाराणसी. सप्तम् संस्करण, ई.स. १९६६

☆ भारतीय दर्शन (भाग-१)
डॉ.राधाकृष्णन्
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली-६. ई.स. १९६९

☆ भारतीय दर्शन (भाग-२)
डॉ. राधाकृष्णन्
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली. ई.स. १९७२

☆ भगवती आराधना
आचार्य श्री शिवार्य
संपादक : पं. कैलाशचंद्र सिद्धान्तशास्त्री
हीरालाल खुशालचंद जैन ग्रंथमाला, फल्टण-महाराष्ट्र. ई.स. १९९९

☆ ब्रह्मसूत्रभाष्यम्
आद्य शंकराचार्य
कामकोटिकोशस्थानम्, ४,फ्रांसिस जोसेफ स्ट्रीट, चेन्नई. ई.स. १९५४

☆ भगवतीजी संग्रह (भाग-३)
आचार्य विजयलब्धिसूरीश्वरजी म., सम्पादक : राजयशविजयजी
लब्धिसूरिश्वरजी स्मारक केन्द्र, मुंबई-४.

☆ बौद्ध धर्म दर्शन
नगीन जे. शाह,
सरदार वल्लभ पटेल युनिवर्सिटी, विद्यानगर-३८८१२०. ई.स. १९७८

☆ भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार
युवाचार्य डॉ. शिवमुनि, अनुवादक- डॉ.भागचंद्र जैन
श्री अखिल भारतीय जैन विद्वद् परिषद्, सी-२३५ए ,
दयानंद मार्ग, तिलकनगर, जयपुर-४. ई.स. १९८८

☆ बहुआयामी महामंत्र णमोकार
डॉ. नेमीचंद जैन
हीराभैया प्रकाशन, पत्रकार कॉलोनी, कानोडिया मार्ग, इन्दौर-४५२००१. ई.स. १९१३

☆ बीस स्मृतियाँ (प्रथम-द्वितीय खण्ड)
संपादक- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
डॉ. चमनलाल गौतम संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली-२४३००३. ई.स. १९८७

☆ बृहदारण्यकोपनिषद् (सानुवाद शांकरभाष्यसहित)
गीताप्रेस, गोरखपुर. सातवाँ संस्करण, ई.स. २०५२

☆ बौद्ध दर्शन मीमांसा
डॉ. बलदेव उपाध्याय
चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१. द्वितीय संस्करण, ई.स. १९५४

☆ भागवत सुधा
श्री रमेशभाई ओझा
सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, पोरबंदर. ई.स. १९९३

☆ महामंत्र नवकार
उपाध्याय अमरमुनि
भारत जैन महामंडल, मुंबई-१. ई.स. १९७४

☆ महामंत्र नवकार
उपाध्याय केवलमुनि,
श्री जैन दिवाकर सेवा संघ, बाजार रोड़, चिकबालापुर (कर्नाटक). वि.सं.२०४७

☆ मुक्तिनी मौलिकता
जैन साध्वी डोलरबाई
दोशी ब्रदर्स, ४१-४८८, ट्रीप बाजार, हैदराबाद-५००००१. ई.स. १९९९

☆ मंगलमय नवकार
आचार्य जयन्तसेनसूरि
राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, श्रीराजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमंदिर, रतनपोळ, हाथीखाना ,
श्रीराजेन्द्रसूरि चौक, अहमदाबाद. ई.स. १९९०

☆ मंत्र जपो नवकार

मुनिश्री जितरत्नसागरजी 'राजहंस', संपादक : मुनिश्री चन्द्ररत्नसागर
श्री रत्नसागर प्रकाशन निधि, ३५, कुंवरमण्डल, इन्दौर. वि.सं.२०४७

☆ महामंत्रनी साधना
श्री कुंदकुंदविजयजी म.
मफतलाल संघवी, डीसा (बनासकांठा). ई.स. १९९९

☆ मंत्रों की महिमा
श्री देवनन्दीजी
श्री प्रज्ञाश्रमण दिगम्बर जैन संस्कृति न्यास,
ज्योति निलय, गरुड़ खांब चौक, इतवारी, नागपुर. वी. सं. २५२२

☆ मंत्रविज्ञान अने साधना रहस्य (भाग-४)
विश्वशांति चाहक
विश्व अभ्युदय आध्यात्मिक ग्रंथमाला, हरसुखराय बी. मेहता, पुष्पकुंज, फ्लेट नंबर-१
१/७९, ए. दीक्षित रोड़, विले पारले-ईस्ट, मुंबई. ई.स. १९८३

☆ मंत्र रहस्य
डॉ. नारायणदत्त श्रीमाली
हिन्द पुस्तक भण्डार, खारी बावली, दिल्ली-११०००६. ई.स. १९८७

☆ महामंत्रना अजवाळा
श्री अभयसागर
श्री आगमोद्धारक जैन ग्रंथमाला, मु. कपड़गंज (गुजरात). वि.सं. २०२१

☆ मोहमुद्गर
आद्य शंकराचार्य
गीताप्रेस, गोरखपुर.

☆ मोक्षमाला
श्रीमद् राजचन्द्र
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास, वाया आणंद पोस्ट- बोरिया-३०(गुजरात). ई.स. १९८६

☆ नमस्कार चिंतामणि

श्री कुंदकुंदविजयजी म.
श्री नमस्कार आराधना केन्द्र, पालीताना. ई.स. १९७९

☆ णमोकार महामंत्र

श्री रतनचंद भारिल्ल
दिगम्बर जैन संघ, कानजीस्वामी प्लोट, पंचनाथ मार्ग, राजकोट-१. ई.स. १९८८

☆ निर्वाणमार्गनुं रहस्य

श्रीमद् राजचंद्र
श्री ए.एम.मेहता, ३५. मोरवी हाऊस, गोवा स्ट्रीट, मुंबई-१. ई.स. १९७७

☆ नमस्कार मीमांसा

श्री भद्रंकरविजयजी
श्री जैन धार्मिक तत्त्वज्ञान पाठशाला, के. सी. १५. आरती जूना नागरदास रोड़,
चीनोय कॉलेज सामे, अंधेरी-ईस्ट, मुंबई-४०००६८. वि.सं.२०३६

☆ नमस्कार महामंत्र महात्म्य

संपादक : चन्दनमल नागौरी
चन्दनमल नागौरी जैन पुस्तकालय, छोटी सादड़ी (मेवाड़). वि.सं. २०१०

☆ योगबिन्दु

आचार्य हरिभद्र सूरि
अरिहंत आराधक ट्रस्ट, द्वारा- हिन्दुस्तान मिल स्टोर्स, ४८१, गनी अपार्टमेंट,
मुंबई आगरा रोड़, भिवण्डी-४२१३०५. ई.स. १९९७

☆ योगशास्त्र

आचार्य हेमचंद्र
श्रीऋषभचंद्र जौहरी, किसनलाल जैन, दिल्ली. एवं पिपलिया बाजार, ब्यावर. ई.स.१९६३

☆ विचारसागरः

श्री वासुदेवब्रह्मेन्द्र सरस्वती स्वामीगल
श्रीवासुदेवब्रह्मेन्द्र सरस्वती स्वामीगल लाइब्रेरी कमेटी,
८८. पट्टामंगलम स्ट्रीट, मयीलादुथुरई, जिला- तंजौर (तमिलनाडु) ई.स. १९८६

☆ वंदनीय साधुजनों

जसुबाई महासती

भानुमतीबेन के. महेता, चेन्नई. ई.स. १९९१

☆ वेदांत परिभाषा

धर्मराज अध्वरिन

दी अडयार लाइब्रेरी, अडयार, मद्रास. ई.स. १९६३

☆ विश्व प्रहेलिका

मुनि महेन्द्रकुमारजी द्वितीय

भारत बिजली लिमिटेड, उद्योग नगर, किंग्स सर्कल, मुंबई. द्वितीयावृत्ति ई.स. १९६९

☆ वैराग्य भावना

श्री भक्तिविजयजीगणी

शेठ नवलचंद खीमचंद झवेरी, गोपीपुरा, सूरत. ई.स. १९३३

☆ विवेक चूड़ामणि

स्वामी शंकराचार्य, संकलनकर्ता : स्वामी हरिनारायण

उपाध्याय नारायणदास आत्मज कानीराम, दियातरा (बीकानेर). वि.सं. २०४९

☆ वैराग्यशतकम्

श्री भर्तृहरि

चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी. द्वितीय संस्करण, ई.स. १९६७

☆ योग प्रयोग अयोग

साध्वी डॉ. मुक्तिप्रभा

उमरावमल चोरड़िया, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर. ई.स. १९९३

☆ श्री केवल नवकार मंत्र प्रश्नोत्तर ग्रंथ(भाग-४)

श्री धन्यमुनि 'विद्यानंद'

श्रीमती ललिताबेन रसीकलाल मेहता, ३४. शामशेट स्ट्रीट, मुंबई-२. सन् १९८७

☆ श्रावक जीवन (भाग-४)

श्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी
श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, मेहसाना-२. वि.सं. २०५०

☆ श्री नमस्कार महामंत्रनुं अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान (प्रथम पदनुं विवेचन)
श्री अरुणविजयजी
श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र, ३९, वसंतविलास, बीजे माळे,
डॉ.डी.साठे मार्ग, वी. पी. रोड़, प्रार्थना समाज, मुंबई-४. ई.स. १९९४

☆ श्री अर्हद्गीता
संपादन- डॉ. सोहनलाल पटनी
जैन साहित्य विकास मंडल, मुंबई-५६. ई.स. १९८१

☆ श्री नवकार महामंत्र
रसीकलाल छगनलाल सेठ
श्रीपार्श्वनाथ इस्टेट कोर्पोरेशन, ५०, हरसिद्ध चेम्बर्स, आश्रम रोड़, अहमदाबाद-३८००१५.

☆ श्री पंचास्तिकाय संग्रह
श्री कुंदकुंदाचार्य, अनुवादक : हिम्मतलाल जेठालाल शाह
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (सौराष्ट्र). द्वितीयावृत्ति, वि.सं. २०३२

☆ श्री अर्हत् तत्त्वार्थ मीमांसा
श्री आनन्दीलाल मेहता
श्री वर्धमान महावीर सम्यग्ज्ञान प्रचार- प्रसार समिति, उदयपुर. ई.स. १९९६

☆ एकार्थक कोश
आचार्य तुलसी
जैन विश्व भारती, लाडनूं. (राज.). ई.स. १९८४

☆ एकादश स्कन्ध (श्रीमद्भागवत)
टीकाकार- श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती
गीताप्रेस, गोरखपुर. तीसरा संस्करण, वि.सं. १९८९

☆ शांत सुधारस
उपाध्याय विनयविजयजी, विवेचक- मोतीचंद गिरधरलाल कापड़िया

श्रीमहावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रांति मार्ग, मुंबई-३६. ई.स. १९७६

☆ शांत सुधारस

श्री विनयविजयजी, संकलन : विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, मेहसाना-२. ई.स. १९९१

☆ सांख्यकारिका

श्री ईश्वरकृष्ण (श्रीगौड़पादाचार्यकृत भाष्यसहित)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी. चतुर्थ संस्करण, ई.स. १९६३

☆ सर्वार्थसिद्धि

(पूज्यपाद आचार्य गृद्धपिच्छ प्रणीतस्य तत्त्वार्थसूत्रस्य वृत्तिः)

संपादक- पं. फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६. ई.स. १९४४

☆ समयसार

श्री कुंदकुंदाचार्य, गुजराती अनुवाद : हिम्मतलाल जेठालाल शाह

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) चतुर्थ आवृत्ति वि.सं. २०३३

☆ समरो मंत्र णवकार (महामंत्र महिमा)

श्री रतनमुनिजी म.

श्री मंगल प्रकाशन, जवाहर चौक , दूर्ग-४९१००१,

श्रीराम प्रसन्न प्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर- ४४२४०२. ई.स. १९९३

☆ समाधि-सोपान

मराठी अनुवाद : श्री मनोहर मारवडकर

श्रीमद् राजचन्द्र ज्ञान मंदिर, यवतमाल (महाराष्ट्र). ई.स. १९९४

☆ सचित्र णमोकार महामंत्र

संपादक : श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

दिवाकर प्रकाशन, आगरा. ई.स. १९९१

☆ संस्कृत-हिन्दी कोश

वामन शिवराम आप्टे

मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लिमिटेड. द्वितीय संस्करण, ई.स. १९६९

☆ समरो मंत्र भलो नवकार

श्री कुंदकुंदविजयजी

भक्ति प्रकाशन मंदिर, सी. के. शाह, ११, नवरंग कॉलोनी, नवरंगपुरा, अहमदाबाद. ई.स. १९८१

☆ साधनानुं हृदय

मुनिश्री अमरेन्द्रविजयजी

आत्म-जागृति ट्रस्ट, बड़ोदरा. ई.स. १९७१

☆ शांत सुधारस

संपादक : मुनि राजेन्द्रकुमार

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू. ई.स. १९९५

☆ शंकर प्रश्नोत्तरी

स्वामी श्रीशंकराचार्य

गीताप्रेस, गोरखपुर.

☆ सर्व दर्शन संग्रह

श्री माधवाचार्य, सम्पादक : प्रो. उमाशंकर शर्मा

चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी. वि.सं. २०२१

☆ सामायिक-सूत्र

उपाध्याय अमरमुनि

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा. ई.स. १९६९

☆ सद्‌गुण साधना

मुनि कुंदकुंदविजयजी म.

साधना प्रकाशन मंदिर, जामनगर. ई.स. १९६७

☆ सर्व धर्म सार, महामंत्र नवकार

आचार्य पूज्य श्री कांतिऋषिजी

श्री श्वे. स्था. जैन संघ, वेल्लूर. ई.स. १९८४

☆ सुभाषित-रत्न भाण्डागारम्
संकलनकर्ता : नारायणराम आचार्य, काव्यतीर्थ
मुंशीराम मनोहरलाल, नई सड़क, चाँदनी चौक, दिल्ली. ई.स. १९५२

☆ सुमरो नित नवकार
मुनि शुभकरण
संबोधि पब्लिकेशन्स, लेवां का तालाब, टाडावाला गूजरान,
चारभुजा-३१३३३३, राजसमन्द (राजस्थान). ई.स. १९९६

☆ अभिधान राजेन्द्रकोष में सूक्ति सुधारस (भाग-१-९)
संकलन : डॉ. प्रियदर्शनाश्री, डॉ. सुदर्शनाश्री
शा. देवीचंदजी छगनलालजी, सदर बाजार, भीनमाल-३४३०२९. ई.स. १९९८

☆ साहित्य और संस्कृति
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
भारतीय विद्या भवन प्रकाशन, वाराणसी. ई.स. १९७०

☆ समीक्षण ध्यान एक मनोविज्ञान
आचार्य श्री नानेश
अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर. ई.स. १९८७

☆ श्री पंचपरमेष्ठी प्रभाव
संपादक : श्री शिवलालजी म.
वोरा ठाकरसी जसराज (बोटाद वाला), माटुंगा, मुंबई. ई.स. १९५५

☆ श्री जिनभक्तिनो महोत्सव
श्री विजयरामचन्द्रसूरी
श्री जैन प्रवचन प्रचारक सार्वजनिक धार्मिक ट्रस्ट, सेठ मनसुखभाईनी पोल सामे,
कालुपुरा रोड़, अहमदाबाद. वि.सं. १९६२

☆ श्री जिनभक्ति कल्पतरू
धीरजलाल टोकरशी शाह

नरेन्द्र प्रकाशन, लधाभाई गणपत बिल्डिंग, ११३-१५, केशवजी नायक रोड़,
चींचबंदर, मुंबई-४००००९. ई.स. १९८२

☆ हिन्दी साहित्य की भूमिका
हजारी प्रसाद द्विवेदी
नाथूराम प्रेमी, हिन्दी रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, मुंबई. ई.स. १९४०

☆ हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ
डॉ. जयकिशनप्रसाद खंडेलवाल
विनोद पुस्तक मंदिर, रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२. ई.स. १९८५

☆ हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास
पं. परशुराम चतुर्वेदी,
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी. वि. सं. २०२५

☆ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
डॉ. रामकुमार वर्मा
रामनारायणलाल बेनीमाधव, २, कटरा रोड़, इलाहाबाद-२. ई.स. १९७१

☆ हठयोग प्रदीपिका
श्री स्वात्माराम योगीन्द्र
खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर मुद्रणालय, मुंबई. वि. सं. २००९

☆ **A Scientific Treatise on Great Namokar Mantra**
Dr. R.K. Jain
Keladevi Sumatiprasad Trust, B-5/263 Yamuna Vihar, Delhi-53. Pub. 1993